श्री शुभशीलगणि-विरचितः

पञ्चशतीप्रबोध (प्रबन्ध) सम्बन्धः

(- ञ्चश ी)

सपादकः

मुनिश्री मृगेन्द्र मुनिजी
(न्यायतीर्थ.)

आमुखः

डॉ० श्री हरिवल्लभ चुनीलाल भायाणी.
M. A, P H. D

प्रकाशकः
सुवासित साहित्य प्रकाशन
१/ ३७८७. मोटी देशाई पोळ
सूरत

प्रकाशक:—
शांतिलाल वी. शाह
सुवासित साहित्य प्रकाशन
१/३७८७ मोटी देशाई पोल
सूरत-१

मूल्य रु० पंदर

जनवरी १९६८

मुद्रक:
पं० परमेष्ठीदासजी जैन न्यायतीर्थ
जैनेन्द्र प्रेस
ललितपुर (झांसी) उ० प्र०



ત્યાગ, તિતિક્ષા અને તપના ત્રિવેણી સગમ સમુ સયમ–જીવન જીવીને જેમણે જીવનને પવિત્રતમ બનાવ્યુ છે, એવા પૂ માતુશ્રી સાધ્વીજી શ્રી **વિનીતાશ્રીજી**ના કરકમલમા મારો આ સપાદિત ગ્રથ સમર્પણ કરુ છુ

લિ

તમારો વિનીત–શીશુ

મૃગેન્દ્ર

[illegible]

Library of Tubingen university of Bonn (West Germany) માથી
ઉપલબ્ધ પ્રબન્ધ–પંચશતીની પ્રતિનું એક પૃષ્ઠ

SHRI SHUBHASILA GANI'S

PANCHASHATI PRABANDHA SAMBANDHA

OR

(P A ANDHA-PANCH SHATI)

EDITED BY
MUNI SHRI MRUGENDRA MUNIJI

with an Introduction by
DR SHRI HARIVALLABH C BHAYANI.
M A, P. H D.

Publisher
SUVASIT SAHITYA PRAKASHAN
1/3787 Moti Desai Pole, Surat 1

Publisher
Suvasit Sahitya Prakashan.
1 / 3787 Moti Desai Pole
SURAT-1

FIFTEEN RUPEES
JAN 1968

Printer
Pt Parmeshthidas Jain Nyayatirtha.
JAINENDRA PRESS
LALITPUR (Jhansi) U P.

प्रस्तावना

ग्रन्थनुं नामकरण :

प्रस्तुत "पञ्चशती प्रबोध (प्रबन्ध) सम्बन्ध" श्री शुभशीलगणिनी रचना छे -

ग्रन्थकारे प्रस्तुत ग्रंथना नामनो उल्लेख ग्रथना प्रारंभमां "ग्रंथोऽयं पञ्चशतीप्रबोध—सम्बन्धनामा क्रियते मया तु" आ मुजब 'पञ्चशतीप्रबोध सम्बन्ध'ना नामथी कर्यो छे. 'जिनरत्न कोश'मां पण प्रा.ह.दा वेलणकरे प्रस्तुत कृतिनो आज नामथी उल्लेख कर्यो छे ‡ ते सिवाय अन्य कथा-कोशोनी जेम प्रस्तुत कृति "कथा-कोश" तरीके पण क्वचित् जाणीती छे तदुपरांत "प्रबन्ध प ती" अे रीतनुं अहिं संक्षिप्त नाम पण में सूचव्युं छे

ग्रन्थकारनो समय अने तेमनी रचनाओः

विक्रमना १५ मा शतकमां थई गयेला आचार्यश्री सोमसुंदर सूरिनो शिष्य-समुदाय विद्वान तेमज विपुल प्रमाणमां हतो तेमना युगमां अनेकविध साहित्यनु सर्जन थयु.

श्रीसोमसुन्दरसूरिना पट्टशिष्य, सहस्रावधानी आ० मुनिसुंदरसूरि हता तेमना अन्य गुरु-भ्राताओ पण अनेक ग्रथोना रचयिता हता. आ० सोमसुंदरसूरिनो प्रशिष्यपरिवार पण घणो मोटो हतो. आ ग्रथना कर्ता पं० शुभशीलगणि के जेओ आ परिवारना जाणीता अेक साहित्य-सर्जक विद्वान् छे.

ग्रन्थकार श्री शुभशीलगणिए आ ग्रथनी समाप्तिनी अंतिम प्रशस्तिमां पोताने श्री रत्नमंडन-सूरिना शिष्य होवानुं जणाव्यु छे ग्रथना अंतर्गत अधिकारनी एक प्रशस्तिमां लक्ष्मीसागरसूरिना शिष्य तरीके पण उल्लेख मळे छे तेमज ग्रथना मंगलाचरणमां पण—

लक्ष्मीसागरसूरीणां पादपद्मप्रसादतः ।
शिष्येण शुभशीलेन, ग्रन्थ एष विधीयते ॥ (श्लोक ३)

आ रीते पोताना प्रगुरु लक्ष्मीसागरसूरिना शिष्य तरीके पोताने जणाव्या छे.

'विक्रमादित्य चरित्र' "भरतेश्वर-वृत्ति" वगेरेमां श्रीशुभशीलमुनिसुन्दरसूरिना शिष्य होवानुं पण कबूले छे † आ जोतां संभवित छे के ग्रन्थकारे कृतज्ञतानी पुन्य-भावनाथी प्रेराईने विद्या शिक्षा अने दीक्षा अेम त्रणे प्रकारना गुरुनुं स्मरण करवुं उचित मान्युं होय.

---

‡ पञ्चशती प्रबोध सम्बन्ध—In four chapters Containing 600 Stories in all composed in Sam. 1521 by Subhashila pupil of Laxmisagarasuri of the Tapagaccha

† मुनिसुन्दरसूरीशविनेय. शुभशीलभाक् ।
चकार विक्रमादित्य-चरित्रं मन्दधीरपि ॥
(विक्रमचरित्रम् प्रशस्ति-१२)

शुभशीलगणिनी लगभग प्रत्येक कृति १६ मा शतकना पूर्वार्धमां रचाइ छे. प्रस्तुत ग्रंथनी रचना वि० सं० १५२१ मां थई छे ग्रंथकारे ग्रंथनी प्रशस्तिमां रचना-समय साथे पोतानो नामोल्लेख पण कर्यो छे—

विक्रमार्काद् विधु-द्वीपु-चन्द्र (१५२१) प्रमितवत्सरे ।
अमुं व्यधात प्रवन्धं तु, शुभशीलाऽभिधो बुधः ॥

अथ स्पष्ट छे (पृ० ३५२)

शुभशीलगणिनो अन्य कृतिकलापः

(१) विक्रमादित्य चरित्र—वि० सं० १४९९ (अथवा १४९०) आ कृति प्रकाशित छे.

(२) भरतेश्वर-बाहुबलि वृत्ति (कथाकोश)—वि० सं० १५०२, 'भरतेश्वर बाहुबलि' नामक प्राचीन सज्झाय उपरनी आ कथा-रचना छे, अेमां ५३ महापुरुषो अने ४७ सन्नारीओनी कथाओ जीवन-वृत्तान्तो रजू थयां छे आ कृति दे० ला० जै० पुस्तकोद्धारक-संस्था सूरतथी प्रकाशित थइ छे

(३) शत्रुञ्जय-कल्पवृत्ति—वि० स० १५१८ आ० धर्मघोषसूरिरचित (?) आ प्राचीन रचना छे. तेनी उपर शुभशीलगणिए १२५०० श्लोक प्रमाण वृत्ति रची छे.

शत्रुंजयकथाकोश, शत्रुंजयकल्पकथा, तेमज शत्रुंजयबृहत्कल्पना नामथी पण आ वृत्ति प्रचलित छे अने प्रकाशित छे.

(४) भोज-प्रबन्ध—लगभग ३७०० श्लोक प्रमाणनी आ रचना छे. राजा भोज विषे अेकंदरे ६ भोजप्रबन्धो अने १ भोजचरित्र रचायां छे

(५) प्रभावक-कथा—वि० स० १५०४ आ कृतिमां शुभशील गणिए पोताना छ गुरु-भ्राताओना नामनो उल्लेख कर्यो छे. ते आ मुजब छे-उदयनन्दि, चारित्ररत्न, रत्नशेखर, लक्ष्मीसागर, विशालराज अने सोमदेव.

(६) शालिवाहनचरित—वि० स० १५४०. आ कृति १८०० श्लोक प्रमाण छे.

(७) पुण्यधननृपकथा—वि० सं० १४९६ ।

(८) पुण्यसार कथा—१३११ श्लोक प्रमाण रचना छे 'जिनरत्नकोश'मां जणाव्या प्रमाणे 'महावीर जैन सभा' तरफथी सन् १९१९ मां प्रसिद्ध थइ छे अने आज-कृति ते पुण्यधनचरित्र छे, अेम जि० र० कोशमां निर्देश करायो छे. अने ते संभवित छे

आ उपरान्त 'पुण्यसार' उपर अन्य त्रण कृतिओ पण रचाई छे. ते नीचे मुजब छे—
'पुण्यसारकथानक' वि० सं १३३४, कर्ता-विवेकसमुद्र.
पुण्यसारचरित्र-कर्ता भावचन्द्र
पुण्यसारकथा—अजितप्रभसूरि.

(९) जावड़-कथा—आ कृतिनी हस्तप्रत बीकानेर-वडा-उपाश्रयना भंडारमां छे. प्रायः अप्रकाशित छे.

(१०) भक्तामरस्तोत्र माहात्म्य.

(११) पंचवर्गसंग्रह नाममाला.

(१२) उणादिनाममाला.

(१३) अष्टकर्मविपाक (कर्मविपाक) ※

प्रस्तुत ग्रंथ परत्वे जो दृष्टिपातः

प्रस्तुत 'प्रवन्ध पंचशती' ग्रंथ ४ अधिकारमां विभक्त छे तेमां ६०० उपरांत कथा-प्रबन्धोनो संग्रह छे. अधिकार दीठ प्रबन्धोनी संख्या आ प्रमाणे छे—

अधिकार	प्रबन्ध-संख्या
१	१ – २०३
२	२०४ – ४२६
३	४२७ – ४७६
४	४७७ – ६२५

ग्रन्थकारे कथा-प्रबन्धोनुं जे आ विस्तृत संकलन-रचना करी छे तेमां तेमणे अन्य आधारभूत ग्रंथोनो उपयोग कर्यो छे अेम तेमना ज शब्दो परथी कही शकाय तेम छे. "किञ्चिद्गुरोरानननतो निशम्य, किञ्चि निजान्यादिकशास्त्रतश्च" ग्रंथकार, आधारभूत जैन-जैनेतर ग्रथोनो उपयोग कर्यानुं पण नोंधे छे. अने ते रीते आ ग्रथना घणाखरा प्रवन्धो के कथा-सामग्री प्रबन्धकोश, प्रबन्धचिन्तामणि, पुरातनप्रबन्धसंग्रह, उपदेशतरंगिणी, आवश्यकनियुक्ति-टीका इत्यादि ग्रथोमांथी लेवामा आवी छे हितोपदेश के पचतन्त्रने अनुसरती केटलीक आख्यायिकाओनो पण आमां समावेश थाय छे

तदुपरांत, गुरु-परंपराथी उपलब्ध कथा-साहित्यनो जुनो वारसो पण आमां सचवायेलो छे आ दृष्टिअे शुभशील गणिनी आ रचना घणी महत्त्वपूर्ण छे

शुभशीले मोटे भागे सरल संस्कृतमां कथा-साहित्यनुं सर्जन कर्युं छे तेथी ग्रथकारनो उद्देश आ रीते कथा-साहित्यनुं संकलन करवा द्वारा अे विशेषुं साहित्य अेकत्रित करी तेने लोकभोग्य बनावी, कथा-वार्ताना माध्यम द्वारा जनताने धर्माभिमुख बनाववानुं होइ शके अने आ लोकप्रिय मार्ग पण छे.

※ शुभशीलगणिकृत ग्रथोनी नोंध "जैन धर्मप्रकाश" (वि० स० २०१२ ना अंक १) मा छपायेला प्रो० ही० र० कापडियाना लेखना आधारे तैयार करी छे

जो के प्रस्तुत रचनामां कथा-प्रबन्धोनो कोइ निश्चित क्रम देखातो नथी, छतां तेनुं त्रण विभागमां पृथक्करण करी शकाय—

(१) ऐतिहासिक प्रबन्धो,

(२) धार्मिक (शास्त्रीय) कथाओ, अने

(३) लौकिक वार्ताओ, (किंवा दंत , Legends)

ग्रन्थना अते बे परिशिष्टो आपवामां आव्या छे जेमां अकारादि क्रमथी पद्य-सूचि तथा ग्रंथमां आवतां विशेष नामोनी यादी आपवामां आवी छे

ग्रन्थनी शैली—

ग्रथनी भाषा गद्य-पद्य मिश्रित छे, सस्कृत, प्राकृत अने अपभ्रंश सुभाषितो अवतरण रूपे स्थाने स्थाने दृष्टिगोचर थाय छे. संस्कृतने व्याकरणना कठिन प्रयोगोथी ी बने तेम सरल बनाववा प्रयत्न करायो छे लोकभाषामां प्रचलित घणाखरा शब्दोनुं संस्कृतीकरण करी ग्रंथकारे अेमने अेम ज साचवी राख्या छे आवा शब्दोनो जथ्थो सारा प्रमाणमां छे. जे भाषा-विशारदो माटे अनेक उपयोगी माहिती पूरी पाडे छे

डा० हरिवल्लभ चूनीलाल भायाणीजीओ आ विषयनी विस्तारपूर्वक चर्चा "प्रबन्ध शतीनी भाषा सामग्री अने कथा-सामग्री" ओ नामना अहिं अपेला निबन्धमां करी छे

प्रति परिचय—

आ ग्रंथनुं सम्पादन जे हस्तप्रतना आधारे कर्युं छे तेनी प्रतिसंज्ञा A. आपी छे आ प्रति छाणी (वडोदरा) ना श्री जैन श्वे० ज्ञानमन्दिरना उपा० श्रीवीरविजयजी शास्त्र संग्रहनी छे अने संपादनमां मुख्यतया सविशेष आधारभूत आ ज प्रति छे प्रतिनुं कद १० × ४" छे अने दरेक पृष्ठमां १५ पंक्तिओ छे, लिपि पडिमात्रामां छे. प्रतिना ५९७ पृष्ठ छे, प्रतिनी बे बाजु घणास्थले हांसियामां सुधारा-वधारा, पाठ-शुद्धि करेल होइ प्रतिनो ठीक ठीक उपयोग थयानुं कल्पी शकाय छे.

आ सिवाय 'प्रबन्ध पचशती'नी अन्य हस्तप्रतो नीचेना भंडारोमां उपलब्ध छे. परंतु सविशेषता न होवाने कारणे पाठ-शुद्धि माटे तेनो उपयोग नहिंवत् थयो छे. आ प्रतिओनी स्थल-सूचि नीचे मुजब छे,

B. जिनदत्तसूरि ज्ञान भडार, मुबइ, (पायधुनी, महावीर स्वामि जैन देरासर)

C. मोहनलाल जी श्वे० ज्ञानभंडार, सूरत

D. हंसविजयजी शास्त्रसग्रह—वडोदरा,

E. लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर-अमदावाद।

आ उपरांत बर्लिन (जर्मनी) नी लायब्रेरीमां प्रस्तुतप्रबन्धनी हस्तप्रत छे, आनो उल्लेख V. A. Weber Verzeichniss der Sanskrit and Prakrit Handschriften der Koniglichen

Bibliothek zu Berlin, V. II. 3, Berlin, 1892, II 3, 1112 ff No 2020 आ नोंधमां आ ग्रंथनो प्रारम्भ तथा प्रशस्तिनो भाग पण आपवामां आव्यो छे आ प्रतिनी माइक्रोफिल्म कोपी प्रो० हामे (Prof F R Hamm Indologisches Seminar, 53, Bonn, lieb frauencey 7) मुनिश्री जम्बूविजयजीनी भलामण द्वारा मने मोकली हती आ फिल्म ज्यारे मने मळी त्यारे मूल ग्रन्थ (Text) लगभग छपाई गयो हतो छतां ये पाछळथी आ फिल्म वाचता प्रति प्राचीन अने उल्लेखनीय जणाई प्रतिना १९४ पृष्ठ छे अने दरेक पृष्ठमां १३ पंक्ति छे अंतमां लेखकनुं नाम आपेलु छे.

॥ छ ॥ ० श्रीग(छ)र० हीरजीनिभंडाररक्षणीक सा० राघवनी लेखक भ० जीवराज ।

पृ० १९४ ना पृष्ठभागमां लखेल छे के—पो० ३५ प्र० २६ ॥ खमा(त) यतिना भंडारनी प्रति छे.

आभार-विधि

प्रस्तुत ग्रंथना संपादनमां सहायक थनार उल्लेखनीय व्यक्तिओमां पू० चिदानन्द मुनिजीओ मने सतत उत्साह अने प्रेरणा आपीने मारुं कार्य सरळ बनाव्यु छे.

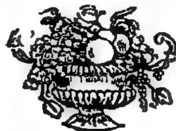
डॉ० हरिवल्लभ भायाणीजीओ (अध्यापक, भाषा विज्ञान विभाग, गुजरात युनिवर्सिटी, अमदावाद) पोतानो अमूल्य समय आपीने खास आ ग्रंथ माटे विद्वत्तापूर्ण पुरोवचन लखी आपी आ ग्रंथनु गौरव वधार्यु छे, आ माटे हु तेमनो अत्यन्त ऋणी छुं. आज रीते प्रो० सुरेश जं० उपाध्याय (भारतीय विद्या भवन, संस्कृत संशोधन विभाग, चोपाटी, मुंबई.) के जेमणे मारा कार्यना अंतसुधी दरेक रीते सलाह-सूचनो आपीने मने अत्यन्त उपयोगी बन्यां छे ते बदल हु तेमने भूली शकु तेम नथी

पू० मुनिश्री जंबूविजयजी म० अने प्रो० अेफ आर हाम द्वारा प्रतिनो माइक्रोफिल्म हु मेळवी शक्यो ते बदल तेमनो पण आभारी छु.

संपादनना क्षेत्रमां हु अनभ्यासी होई क्षतिओ माटे क्षमा-याचना

मुंबई,
ता ३-४-६७

—मुनिश्री मृगेन्द्रमुनि.



जो के प्रस्तुत रचनामां कथा-प्रबन्धोनो कोइ निश्चित क्रम देखातो नथी, छतां तेनुं त्रण विभागमां पृथक्करण करी शकाय—

(१) ऐतिहासिक प्रबन्धो,
(२) धार्मिक (शास्त्रीय) कथाओ, अने
(३) लौकिक वार्ताओ, (किंवा दंतकथा, Legends)

ग्रन्थना अंते बे परिशिष्टो आपवामां आव्या छे जेमां अकारादि क्रमथी पद्य-सूचि तथा ग्रंथमां आवतां विशेष नामोनी यादी आपवामां आवी छे

ग्रन्थनी शैली—

ग्रंथनी भाषा गद्य-पद्य मिश्रित छे, संस्कृत, प्राकृत अने अपभ्रंश सुभाषितो अवतरण रूपे स्थाने स्थाने दृष्टिगोचर थाय छे. संस्कृतने व्याकरणना कठिन प्रयोगोथी ी बने तेम सरल बनाववा प्रयत्न करायो छे लोकभाषामां प्रचलित घणाखरा शब्दोनुं संस्कृतीकरण करी ग्रंथकारे अेमने अेम ज साचवी राख्या छे आवा शब्दोनो जथ्थो सारा प्रमाणमां छे. जे भाषा-विशारदो माटे अनेक उपयोगी माहिती पूरी पाडे छे

डा० हरिवल्लभ चूनीलाल भायाणीजीअे आ विषयनी विस्तारपूर्वक चर्चा "प्रबन्ध शतीनी भाषा सामग्री अने कथा-सामग्री" अे नामना अहिं अपेला निबन्धमां करी छे

प्रति परिचय—

आ ग्रंथनुं सम्पादन जे हस्तप्रतना आधारे कर्युं छे तेनी प्रतिसंज्ञा A. आपी छे आ प्रति छाणी (बडोदरा) ना श्री जैन श्वे० ज्ञानमन्दिरना उपा० श्रीवीरविजयजी शास्त्र संग्रहनी छे अने संपादनमां मुख्यतया सविशेष आधारभूत आ ज प्रति छे प्रतिनुं कद १० × ४" छे अने दरेक पृष्ठमां १५ पंक्तिओ छे, लिपि पडिमात्रामां छे. प्रतिना ५९७ पृष्ठ छे, प्रतिनी बे बाजु घणास्थले हांसियामां सुधारा-वधारा, पाठ-शुद्धि करेल होइ प्रतिनो ठीक ठीक उपयोग थयानुं कल्पी शकाय छे.

आ सिवाय 'प्रबन्ध पञ्चशती'नी अन्य हस्तप्रतो नीचेना भंडारोमां उपलब्ध छे. परंतु सविशेषता न होवाने कारणे पाठ-शुद्धि माटे तेनो उपयोग नहिंवत् थयो छे. आ प्रतिओनी स्थल-सूचि नीचे मुजब छे,

B. जिनदत्तसूरि ज्ञान-भंडार, मुंबइ, (पायधुनी, महावीर स्वामि जैन देरासर)
C. मोहनलाल जी श्वे० ज्ञानभंडार, सूरत
D हंसविजयजी शास्त्रसंग्रह—बडोदरा,
E, भाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर-अमदावाद ।

आ उपरांत बर्लिन (जर्मनी) नी लायब्रेरीमां प्रस्तुतग्रंथनी हस्तप्रत छे, आनो उल्लेख V. A. Weber Verzeichniss der Sanskrit and Prakrit Handschriften der Koniglichen

"प्रबन्धपंचशती"नी भाषासामग्री अने कथासामग्री

लेखकः—डा० हरिवल्लभ चूनीलाल भायाणी

(अध्यापक–भाषाविज्ञान, गुजरात युनिवर्सिटी, अमदावाद)

बारमी शताब्दी पछीथी रचावा मांडेला संस्कृत प्रबन्धो ओ मोटे भागे तो गुजरात–राजस्थानना विशिष्टपणे जैन रचनाप्रकार छे 'प्रबन्धचिंतामणि' 'चतुर्विशतिप्रबन्ध' वगेरे संग्रहोना प्रबन्धो उपरथी जोई शकाय छे के तेमां अेवी व्यक्तिओनो वृत्तांत गूंथातो, जे व्यक्तिओ परंपराथी विख्यात होय अने जेमणे जैनधर्मना वृद्धि-विकास अने रक्षण-पालनमां स्मरणीय फाळो आप्यो होय आमा जैन आचार्यो राजवीओ, मन्त्रीओ, श्रेष्ठीओ वगेरे जेवी इतिहास, पुराण के दन्तकथामां जाणीती व्यक्तिओनो समावेश थतो अने ओ प्रभावक व्यक्तिओना चरित्रनी मुख्य विगतो अने सालवारी अथवा तो तेमना जीवननी कोई विशिष्ट घटनाओ, रसिक प्रसंगो अने टुचकाओ क्वचित् आलंकारिक भाषा अने शैलीनो पुट आपीने रजू करवामां आवता प्रयोजन इतिहास आपवानु नहीं पण प्रभावकता दर्शाववानु होवाथी भार कथाना के दृष्टांतना तत्त्व पर रहेतो अने समय जता, जेम प्रस्तुत संग्रहमा बन्यु छे तेम, लोक–प्रचलित के साहित्य–प्रचलित दृष्टांतकथाओ अने परंपरागत लोककथाओने पण प्रबन्धोमां स्थान मळ्यु गयु

धार्मिक व्याख्यान प्रसंगे उपयोगमा लई शकाय ते दृष्टिओ जाणे के तैयार थया होय तेवा आ संग्रहोमा भूतकाळनी अनेक शक्तिशाळी महान् व्यक्तिओओ जैन धर्मनी महत्ता अने गौरव वधारवा माटे करेला कार्योनी वातो, उपरांत जीवननी सामान्य नीतिरीति माटे बोधप्रद होय तेवी घणीये लोकप्रिय कथा–वार्ताओ, प्रसंगो अने टुचकाओ पण अपाया छे

आ प्रबन्धसाहित्यनी संस्कृत भाषा पोतानी आगवी विशिष्टता धरावे छे प्रबन्धोनु संस्कृत ओ व्याकरणनी शिष्टपरंपराने मान्य अेवुं विशुद्ध प्रशिष्ट संस्कृत नथी ओ संस्कृत अेक प्रकारनुं लौकिक संस्कृत छे. तेमां तत्कालीन लोकभाषानो, तेना उच्चारण, व्याकरण, शब्दभंडोळ अने रूढि प्रयोगोनो गाढ प्रभाव पडेलो छे जेम जेम पाछलना समयमा आवता जईओ छीओ तेम तेम आ प्रभावनुं प्रमाण वधतु जाय छे, बौद्ध अने जैन ओ बन्ने परंपरामा पंडितमान्य रूढ संस्कृतने बदले बोलचालना प्रयोगोना पासवाळु लौकिक संस्कृत वापरवानु वलण हतु. विशाळ मध्यम वर्गने ते समजवु सरळ पडे, व्यवहारभाषा अने उपदेशभाषा वच्चेनु अंतर ओछु थाय अने छतां उपदेश-भाषानो ऊंचो मोभो जळवाई रहे अेवा हेतुओ आ प्रकारनी 'सवळी संस्कृत' द्वारा सिद्ध थता.

प्रशिष्ट संस्कृतथी आ संस्कृत जुदी शैलीनु होवाने कारणे, तेमज मध्यम भारतीय–आर्य तथा अर्वाचीन भारतीय-आर्य लोक-भाषाओना तत्त्वो धरावतु होवाने कारणे तेणे अनेक अर्वाचीन विद्वानोनु ध्यान खेंच्यु छे अने ते अनेक अध्ययन–संशोधननो विषय बनतु रह्यु छे संस्कृतना

"प्रबन्धपंचशती"नी भाषासामग्री अने कथासामग्री

लेखकः—डा० हरिवल्लभ चूनीलाल भायाणी

(अध्यापक—भाषाविज्ञान, गुजरात युनिवर्सिटी, अमदावाद)

बारमी शताब्दी पछीथी रचावा मांडेला संस्कृत प्रबन्धो अे मोटे भागे तो गुजरात-राजस्थाननो विशिष्टपणे जैन रचनाप्रकार छे. 'प्रबन्धचिंतामणि' 'चतुर्विंशतिप्रबन्ध' वगेरे संग्रहोना प्रबन्धो उपरथी जोई शकाय छे के तेमा अेवी व्यक्तिओनो वृत्तांत गूथातो, जे व्यक्तिओ परंपराथी विख्यात होय अने जेमणे जैनधर्मना वृद्धि-विकास अने रक्षण-पालनमां स्मरणीय फाळो आप्यो होय आमां जैन आचार्यो राजवीओ, मंत्रीओ, श्रेष्ठीओ वगेरे जेवी इतिहास, पुराण के दन्तकथामां जाणीती व्यक्तिओनो समावेश थतो अने अे प्रभावक व्यक्तिओना चरित्रनी मुख्य विगतो अने सालवारी अथवा तो तेमना जीवननी कोई विशिष्ट घटनाओ, रसिक प्रसगो अने टुचकाओ क्वचित् आलकारिक भाषा अने शैलीनो पुट आपीने रजू करवामां आवतां प्रयोजन इतिहास आपवानु नहीं पण प्रभावकता दर्शाववानु होवाथी भार कथाना के दृष्टान्तना तत्त्व पर रहेतो अने समय जतां, जेम प्रस्तुत सग्रहमा बन्यु छे तेम, लोक-प्रचलित के साहित्य-प्रचलित दृष्टांतकथाओ अने परंपरागत लोककथाओने पण प्रबन्धोमां स्थान मळ्यु गयु

धार्मिक व्याख्यान प्रसगे उपयोगमां लई शकाय ते दृष्टिअे जाणे के तैयार थया होय तेवा आ सग्रहोमा भूतकाळनी अनेक शक्तिशाळी महान् व्यक्तिओअे जैन धर्मनी महत्ता अने गौरव वधारवा माटे करेलां कार्योनी वातो, उपरांत जीवननी सामान्य नीतिरीति माटे बोधप्रद होय तेवी घणीये लोकप्रिय कथा-वार्ताओ, प्रसगो अने टुचकाओ पण अपाया छे

आ प्रबन्धसाहित्यनी सस्कृत भाषा पोतानी आगवी विशिष्टता धरावे छे प्रबन्धोनु सस्कृत अे व्याकरणनी शिष्टपरपराने मान्य अेवु विशुद्ध प्रशिष्ट सस्कृत नथी अे सस्कृत अेक प्रकारनु लौकिक सस्कृत छे तेमां तत्कालीन लोकभाषानो, तेना उच्चारण, व्याकरण, शब्दभडोळ अने रूढि प्रयोगोनो गाढ प्रभाव पडेलो छे जेम जेम पाछलना समयमा आवता जईअे छीअे तेम तेम आ प्रभावनुं प्रमाण वधतु जाय छे, बौद्ध अने जैन अे बन्ने परपरामा पडितमान्य रूढ सस्कृतने बदले बोलचालना प्रयोगोना पासवाळु लौकिक सस्कृत वापरवानु वलण हतु. विशाळ मध्यम वर्गने ते समजवु सरळ पडे, व्यवहारभाषा अने उपदेशभाषा वच्चेनु अतर ओछु थाय अने छता उपदेश-भाषानो ऊचो मोभो जळवाई रहे अेवा हेतुओ आ प्रकारनी 'सवर्की सस्कृत' द्वारा सिद्ध थता.

प्रशिष्ट सस्कृतथी आ सस्कृत जुदी शैलीनु होवाने कारणे, तेमज मध्यम भारतीय-आर्य तथा अर्वाचीन भारतीय-आर्य लोक-भाषाओना तत्त्वो धरावतु होवाने कारणे तेणे अनेक अर्वाचीन विद्वानोनु ध्यान खेंच्यु छे अने ते अनेक अध्ययन-सशोधननो विषय बनतु रह्युं छे सस्कृतना

प्रकाण्ड विद्वान् अने येइल युनिवर्सिटीना संस्कृतना अध्यापक सद्गत फ्रेन्कलिन अेजर्टने वीस वर्षना अभ्यासने परिणामे १९५३ मां "बुद्धिस्ट हायब्रिड संस्कृत" विशेना व्याकरण अने शब्दकोश प्रसिद्ध कर्यां जैन संस्कृत आवा कोई प्रखर विद्वानना सतत अनुशीलननो लाभ मेळववा हजी सुधी भाग्यशाळी नथी बन्युं. छतां तेनां अमुक अमुक पासाओनुं, अथवा तो व्यक्तिगत कृतिओना प्रयोगोनुं अध्ययन समय समय पर अनेक अभ्यासीओने हाथे थतुं रह्युं छे

जैन संस्कृतना महत्त्व तरफ विद्वानोनुं लक्ष्य खेंची तेनां जुदां जुदां पासांओ तारवीने अेक विशिष्ट अध्ययन पहेलवहेलां प्रस्तुत करवानो यश अमेरिकाना महान संस्कृत विद्वान् सद्गत मोरिस ब्लूमफिल्डने फाळे जाय छे तेमणे सन् १९२४ मां जर्मन विद्वान वाकर्नागेलने समर्पित सन्मान-ग्रन्थ Antidoron मां प्रकाशित Some aspects of Jain Sanskrit—आ लेखमां नीचेना जैन कथाग्रंथोमांथी विशिष्ट भाषासामग्री तारवी आपीने तेनी विचारणा करेली—

'अघटकुमार कथा' 'भरटकद्वात्रिंशिका' 'शालिभद्रचरित्र' 'अंबडचरित्र' 'धर्मपरीक्षा' हेमविजयकृत 'कथारत्नाकर' 'कथाकोश' 'पालगोपालकथानक' 'पंचदंडछत्रप्रबन्ध' 'परिशिष्टपर्वन्' भावदेवसूरिकृत 'मल्लिनाथचरित' 'प्रबन्धचिन्तामणि' 'प्रभावकचरित' हेमचन्द्रकृत 'महावीरचरित' विनयचन्द्रकृत 'पार्श्वनाथचरित' 'रौहिणेयचरित' 'समरादित्यकथासंक्षेप' 'सिंहासनद्वात्रिंशिका' 'उत्तमकुमारचरित'

जैन संस्कृतनी केटलीक विशिष्टताओ अने लक्षणो पांच वर्ग नीचे तेमणे गोठवीने मूक्यां छे. ते पांच वर्गो आ प्रमाणे छे.—

(१) गुजराती वगेरे स्थानिक बोलीओनो प्रभाव दर्शावता प्रयोगो.

(२) प्राकृत शब्दसामग्री अने व्याकरणप्रयोगोनो स्वीकार अने तेमनुं संस्कृतीकरण

(३) शुद्ध संस्कृत शब्दोनो पण क्वचित अतिसंस्कार.

(४) संस्कृत व्याकरणसाहित्य अने कोशसाहित्यमांथी सीधी ज केटलीक सामग्रीनो स्वीकार.

(५) केटलीक एवी पण सामग्री जोवा मळे छे, जेने माटे प्रशिष्ट भाषामां के स्थानिक बोलीओमां कशो आधार नथी, जे विशिष्टपणे जैन अंश छे

ब्लूमफिल्डना आ दृष्टिपूर्ण व्यवस्थित लेखथी जैन संस्कृतना शास्त्रीय अभ्यासनी दिशा स्पष्ट थई अने पछीना प्रयासो माटे ते घणो प्रेरक बन्यो. ते पूर्वे पण "उपमितिभवप्रपञ्चाकथा"ना संपादनमां पिटर्सन अने याकोबीओ विशिष्ट संस्कृत शब्दो अने प्रयोगोनी एक यादी भूमिकामां आपेली....

पूर्णभद्रकृत "पंचाख्यानक"ना तेमना संपादनमां हर्टले, 'जैन गुर्जरकविओ'नी भूमिकामां मो द देशाईए, हेमचन्द्राचार्यना 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित'ना अंग्रेजी भाषान्तरना जुदा जुदा खंडोमां हेलन जोन्सने असाधारण के विरल संस्कृत शब्दो अने प्रयोगो तारवीने अर्थ साथे आप्या छे. प्राकृत अने जैन साहित्यना मूर्धन्य विद्वान आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्येओ सिंघी जैन ग्रन्थमालामां प्रकाशित हरिषेणकृत 'बृहत्कथाकोश'नी तेमनी भूमिकामां (१९४३) जैन संस्कृत विशेना पूर्ववर्ती अध्ययनोनो ख्याल आपीने 'बृहद्कथाकोश'मांथी तारवेला नोंधपात्र प्रयोगोनी अेक विस्तृत सार्थ यादी रजू करी छे. पण अमुक कृतिओ लईने तेमांना अमुक अमुक दृष्टिओ नोंधपात्र बधा शब्दो अने प्रयोगोनी पद्धतिसरनी यादी अर्थ अने

अर्वाचीन समान्तर प्रयोगो सहित रजू करवानो विस्तृत प्रयास भोगीलाल जे सांडेसरा अने जे पी ठाकरना Lexicographical Studies in Jain Sanskrit (१९६२)मां थयो तेमा 'प्रबन्धचिन्तामणि', 'प्रबन्धकोश' अने 'पुरातनप्रबन्धसंग्रह'माथी लगभग अढी सो पृष्ठ भरीने सामग्री आपी छे अनेक स्थळे मूळमांथी उद्धरणो, समान्तर प्रयोगस्थानो, व्युत्पत्तिनोंध के अर्वाचीन भाषाओमाथी तुलनात्मक सामग्री पण प्रस्तुत करी छे. तेमना अध्ययननो आगळनो खड पण तेमणे 'जर्नल ओफ धी ओरिअन्टल इन्स्टिट्यूट–वरोडा'ना गोविंदलाल भट्ट स्मारक अक (पृ० ४०६–४५६) मा प्रकाशित कर्यो छे तेमा लगभग एकावन ग्रथोमांथी सामग्री तारवीने आपी छे प्रबन्धोनी तथा इतर जैन सस्कृत कथाग्रथोनी भाषा लोकभाषाना प्रयोगोथी अेटली भरचक होय छे के अेक ज ग्रथमाथी सेकडो प्रयोगो तारवीअे तो पण घणा प्रयोगो वणनोंध्या रही जाय आ दृष्टिअे साडेसरा अने ठाकरे 'प्रबन्धकोश' माथी तारवेली सामग्री साथे Jozef Deleuअे तेमना Lexicographical Addenda from Rajasekharasuri's Prabandha Kosa (Indian Linguistics Turner Jubilee Volume II १९५९, पृ० १८०–२१९) अे लेखमा तारवेली सामग्री सरखाववा जेवी छे जोसेफ डेलेवनो लेख वधु पद्धतिसर, झीणवटवाळो अने सामग्रीना वर्गीकरण परत्वे वधु माहिती आपतो छे तो गुजराती वगेरे भारतीय भाषाओनो अने जैन साहित्यनी परपरानो जे लाभ साडेसरा अने ठाकरना कार्यने मळ्यो छे तेथी डेलेवने वचित रहेवु पडयु छे उपरांत बनेनी पसदगीनी दृष्टिमा पण सारो एवो फरक छे बने प्रयासने एकबीजाना पूरक गणवाना रहे छे

'प्रबन्धपचशती'मांथी अहीं आपेली सामग्री पण नि शेषकथननी दृष्टिअे तारववानो प्रयास नथी कर्यो, तेम करवा जतां अेक स्वतन्त्र ग्रन्थ ज तैयार करवो पडे. अहीं नमूना रूपे ज केटलाक शब्दो अने प्रयोगो आप्या छे. आमा केटलाक प्रयोगो सीधा कशा फेरफार विना गुजरातीमांथी सस्कृतमां लई लीधेला छे तो बीजा केटलाक स्पष्टपणे तत्कालीन गुजराती शब्दो अने प्रयोगोने सस्कृतरूप आपीने घडी काढेला छे सस्कृतमाथी प्राकृतमा आवता शब्दोना ध्वनिपरिवर्तनना जे व्यापक वलणो प्रतीत थाय छे, तेमने यान्त्रिकपणे लागु पाडीने प्रचलित गुजराती शब्दनु पूर्वरूप कृत्रिम रीते घडी काढवामा आव्यु छे तेमां खरेखरा मूळनी कशी चिंता नथी करी, तेम संस्कृत अने गुजराती विभक्तिसम्बन्धो वच्चेना भेदने अने बदलायेली अर्थछायाओ अने रूढिप्रयोगोने पण अवगण्या छे आ दृष्टिअे ख्याल आपवा माटे 'प्रबन्धपचशती'माथी विशिष्ट शब्दोनी यादी आपवा साथे अहीं केटलाक गुजरातीमूलक रूढिप्रयोगो (तेम ज कोईक अन्य विशिष्ट प्रयोगो) नोंध्या छे

आमा मुस्लिम राजवीओ साथेना प्रसगोनी वातमा फारसी शब्दोना प्रयोगो छे. जेम के— 'कलन्दर', 'कागद' 'खुरशान' 'गोहरि' 'बीबी' 'भूत' 'मसीत' 'मीर' 'मुद्गल' 'मुलाण' 'मुशलमान' 'सुरत्राण' 'हज' 'हरीमज' इत्यादि.

'प्रबन्धपञ्चशती'मां आपणने अेवा पण अनेक शब्द मळे छे, जेमनो अर्थ अस्पष्ट के अज्ञात रहे छे. आना विविध कारणो छे. सस्कृतीकरणने लीधे पायानु गुजराती रूप कळवु मुश्केल बने, तत्कालीन गुजराती शब्द अत्यारे वपराशमाथी लुप्त थयो होय के बोलीओमा ज प्रचलित होय, प्रयोग पूर्वना प्रबन्धोनी भाषामाथी लीधो होय पण पछीनी लोकभाषामा ते अप्रचलित होय, लहियाओनी भूलथी मूळ शब्दरूप विकृत थईने जळवाई रह्यु होय वगेरे.

'प्रबन्धपचशती'मांथी मने जेमनो अर्थ बेठो नथी तेवा शब्दोनी अेक यादी जुदी तारवीने आपी छे. व्युत्पत्ति के अर्थचर्चानी दृष्टिअे कशो विस्तार कर्यो नथी मुनि जिनविजयजी संपादित 'उक्ति-व्यक्तिप्रकरण' के 'औक्तिकसग्रह'मां आपेली यादीओमां गुजराती–राजस्थानी शब्दो अने प्रयोगोनु जे विशाळ पाया पर संस्कृतीकरण थयु होवानु जोवा मळे छे ते उपरथी कही शकाय के आ जातनी भाषा अने शैलीनी घणी लांबी परपरा हती. अने वर्णन माटे जेम वर्णकोमांथी, तेम भाषा माटे औक्तिकोमांथी केटलीक तैयार सामग्री मळी रहेती. अने 'प्रबन्धपंचशती'ने तो, जेम वस्तुनी बाबतमां तेम भाषानी बाबतमां पुरोगामी प्रबन्धसाहित्यमांथी सारो एवो लाभ मळेलो छे. अनेक प्रयोगो आगला साहित्यमांथी पण तुलना माटे टांकी शकाय तेम छे.

जैन सस्कृत प्रबन्धोना अने कथाग्रंथो तथा टीकाग्रन्थोना सस्कृतनु सर्वांगीण अने व्यवस्थित अध्ययन एक बृहद् प्रयास मागी ले छे, तेमां कोश अने व्याकरण अे बन्ने पासांओनो समावेश थवो जरूरी छे. कोशमां नवा शब्दो अने नवा अर्थो नोंधाय अने व्याकरणमां उच्चारण, जोडणी, समास, शब्दसाधक प्रत्ययो नामिक अने आख्यातिक विभक्तिप्रयोगो, वाक्यरचना, रूढिप्रयोगो अने विशिष्ट कहेवतोनी नोंध थाय. आमां सातमी–आठमी सदीथी लईने सोळमी–सत्तरमी सदी सुधीना साहित्यमांथी काळक्रम अने पायानी बोलीओना भेदने लक्षमां राखीने सामग्रीसचय थवो जोईअे

गमे तेम पण प्राकृत–अपभ्रशना अने विशेषे तो प्राचीन अने मध्यकालीन गुजराती राजस्थानी (अने हिन्दी) ना अभ्यास माटे प्रबन्धोमा अने कथाग्रन्थोमां, वृत्तिग्रंथो अने औक्तिकोमां अढळक सामग्री भरी पडी छे अने अे दृष्टिअे ते साहित्य अमूल्य खजाना जेवु छे

उपरांत मध्यकालीन लोककथाना अध्ययननी दृष्टिअे पण आ प्रबन्धोमांथी घणी सामग्री प्राप्त थाय छे पचतत्रादि लोकप्रिय कथाग्रन्थोमांथी घणी कथाओ 'प्रबन्धपचशती'मां लीधेली छे अन्य लोक-प्रचलित के जैन परपरामां प्रचलित कथाओ पण थोडाक फेरफार साथे अहीं स्थान पामी छे. कथा-घटकोनी परंपरानी तपास करनार माटे प्रबन्धसाहित्य जोवु पण अनिवार्य गणाय

'प्रबन्धपचशती'नी जे केटलीक कथाओने मळती कथाओ के घटको अन्यत्र जाणीता छे तेवो पण नीचे सहेज निर्देश कर्यो छे.

आ रीते जैन परपरानी दृष्टिअे तथा इतिहास अने दन्तकथानी दृष्टिअे 'प्रबन्धपचशती'नु महत्त्व होवा उपरात, गुजराती भाषा अने लोककथाओना अध्ययननी दृष्टिअे पण तेनु केटलु महत्त्व छे तेनो काईक ख्याल मळशे

जेमनो उपर निर्देश कर्यो ते (१) शब्दसूचि, (२) सदिग्ध अर्थवाळा शब्दो, (३) केटलाक नोंधपात्र प्रयोगो अने (४) कथाओ विशे टूकी नोध नीचे आप्या छे.



शब्द-सूचि



अग्रे	२-१७ १८, ३-२, ४-९	आगळ
अङ्गरक्षिका	२५७-१, २	अगरखो, अेक प्रकारनुं बखतर
अङ्गीष्टक	६-१६ १७	अगीठु, तापणु
अट्ट	१६६-३१	हाट (?)
अड्डागर पत्र	३८-१०	अड्डागरपान (नागरवेलीनु)
अणक्षक	१५२-२	सरखावो गुज० "अणख" 'अणक्ख' 'अदेखाइ' अेना उपरथी बनावेलु व्यक्तिनाम (जुओ १५२-१०मां अणक्ख)
अद्यकल्ये	५५-५	आजकाल
अनस्ति (स्त्री०)	३१४-२९	अणाथ, अछत, अभाव, खोट
अंधल	२४-१३	आंधळो (प्रा अंधल)
अपभ्राजना	३३-१६	अवहेलना
अपलप्	७७-१८, २५	ओळववु
अपवरक	१३७-१७, ३४८-१०	ओरडो
अबोटिकाः	२७२-१	अबोटिया
अमत्र	८७-३०	प्यालो
अयोगोवरह	३४७-१	(?)
अररि	२९८-८	बारणानुं पाटियु, फळी
अलवडी महिषी	२०४-११	अलवाई, एक-बे मासना बच्चा वाळी भैंस
अवटु	२७३-२४	ओड
अवरक	२५४-२२	ओरडो
अवहीलना	१००-८, ९	अवहेलना
अवाह	२४२-२९	हवाडो, आवाह
अहिफीण	२४५-१४	अफीण
आ+कार्	४ २७	बोलाववुं
आभछिटी (?)	२३५-१०	आभडछेट

आयाति	१०३ ४	आवडे छे
आलम् (कूटम् आरम्)	३३-१५-२१	(कुडु) आळ
इङ्गिष्टकम्	२८-१६	अगीठु, तापणु
इलिका	१७-५	इयळ
इष्टिका	३-९	ईंट
उकेशज्ञाति	४-१६	उपकेशज्ञाति, पोरवाड़ ज्ञाति
उच्चाट	३०-१६, २०६-३५, २२९-२१	उचाट
उच्चै. कृ	२५३ १०	ऊचु करवु
उच्छ्वसित	५-२	अदरथी हवा नीकळी (?)
उच्छाल्	२-१२	उछाळवु
उजागरित	३२१-१३	जाग्यु
उज्वालित	४८-१८	उजाळी-घसीने उजळी करी
उड्डाह	३४-४, २५० २८, २७२-१५	निंदा (प्रा०)
उत्करटक	११०-१९, १२५-८	उकरडो
उत्खिल	२४८-४, ३१०-१६	उखेळवु
उत्तर्	१-१९, ३-२८, ५-२३	ऊतरवु
उत्तारक	५४-२४	उतारो
उत्पाट्	४६-२७ ९५-११, २००-८	उपाडवु
उत्पत्	२-२८	ऊपडवु
उत्सूर	१४-२२, ७५-२८, १२९-९ २१४-२६, २३० १३	मोडु, असूरू
उद्गर्	३०१ २४	ऊगरवु
उद्दाल्	३४०-३	आंचकी लेवु
उद्धार	२४३-७	उधार
उद्घाणक	६९-५	गीरवी, अडाणे ('अड्डाणक'ने बदले ?)

उद्‌वलिता	२४६-२०	उगरी (सरखावो हिं० उबरी. सं० उद्+वृ०, प्रा० उव्वर)
उद्‌वर्स	३२-५	उज्जड
उन्दिर	३०५-२३, २४	ऊदर
उपलक्ष्	३०-२२, २६३-९	ओळखवुं
उपवरक	२१५-१०	ओरडो
उल्लोचन	३४८-२७	उल्लोच, चंदरवो, छत
ऊर्ध्वस्थितः	१०-३	ऊभो ऊभो
ओलगा	२३४-२४	चाकरी
कच	११-२४	काचुं
कचोल	१४७-१०	कचोळुं
कचोलक	२९१-२५	
कछडक	२११-२४	काछडो
कच्छडक	२५६-१०	
कणवीर	२५३-१०	कणेर, करेण
कण्ठ	३०९-१३, ३३०-१२	काठो
क	२४३-१, ३ ५	तावीज, मादळियुं (प्रा० कंडय)
कपिशीर्ष	९६-२	कणसलुं
कपिशीर्ष	३१२-२७	कागरो, कोशीशुं
कम्बा	२५३ १०	कांब, कामडी, सोटी,
करणबार, करणबारकारक	२१३-७, २१६-३,	न्याय न्यायाधीश
कर्कर	२-२१	कांकरो
कत्	१४४-२ २०८-३०	कातवुं
कर्पाटक	२४१-३ ४	देवळना चणतरनुं काम (?)
कर्ष्	२५-३, ९४-१७, १६८-२१, १८९-१०, २३२-७	काढवुं
कलंदर	३४६-२९-३०	फकीर (अरबी)
कल्ये	४-९, १७०-२३	आवती काले
कल्हरी	८४-१२. १७९-१८	काळरी, घासनी गंजी
काका	५५ ४ १०१-३०, १०२-१९	काका
कागद्	२७-६ ९ १९४-२ ३१२-७	कागळ (फारसी)
काछिक	१२९ १७	काछियो

काणक	१२९-१७	काणो
कापोती	१३६-१६	
कामुक्र (कार्मुक ?)	१६०-२८, १६१-१	काम करनार नोकर
कार्पटिक	३८-२६	रखडतो भिक्षुक, कापडी
कार्मण	७८-२, ३१५-२	ण
कार्वाटिक	१९६-६, १०, १२,	कबाडी, कठियारो
कावडि	१३६-१२, १५	कावड
कावडिका	१६-४	
काहलिक	६८-३	(?)
कांबिक	१०७-६	(?)
कांसाराः	१९०-१	कसारा (स कांस्य , प्रा. कसार)
कांस्य	५२-२१	कंसाल, कांसाजोड
किरतार	३४७-१	ार, सृष्टिकर्ता
कुङ्कुमपत्रिका	१९१-१७	कंकोत्री
कुतप	१२-८	कूडलुं
कुद्दाली	२३६-१५	कोदाळी
कुक्षा	४५-२६	अे नामनी देवी
कुहाडि	२३६-१५	कुहाडी
कुर्कुट	११-११	कूकडो
कुविन्द	१३७-५, ७, ८	साळवी
कुहेडा	५४-३०	कोयडा
कूट	४-२,१०६-१२, २४६-२, ३२३-११	कूडुं, खोटुं
कूप	१९२-२	(तेलनो) कूंपो, डुं
कूपिका	३५-५	कूपी
कूपिक	१४-२२	कूडलु ड ार (?)
कूपवाहक	३०-१९	कूवामांथी पाणी काढी खेती करनार (?)
केलय्	५४-३२	केळववु
कोकिल	२९८-५, ६	अेक कोळीनुं विशेष नाम (कोळीनी अेक जात)
कोत्थलक	२७८-८	कोथळो
कोथळ	२०८-२९, २०९-१	कोथळो

कोरउट्टिका (? कुट्टिका ?)	(सूत्र कोरउट्टिका ३१०-१५)	कोकडी (सूतरनी कोकडी)
कोर	३१६-१८	कोरुं कपडुं
कोरणिकार	२४०-१८	कोरणी कोरवावाळो
कोल	२५-२	कोळ, जवरो उदर
कोलिक	५६-१५	वणकर
कोष्ठिका	२०६-१४	कोठी
कौटुंबिक	३०-५, १६६-२१	कणवी
कौसुंभिका	२३६-१२	कसुंबी वस्त्रनो टूकडो (?) (वळदने शींगडे बांधवानो)
क्रम	१७१-८	पगलुं
क्रमेलक	३२८-२८, ३२९-४	ऊंट
क्रयाणक	९६-१३	वेचवानी वस्तु
क्षारा	१२-६	खारी
क्षिप्रचट	२९८-२७	खीचडो
क्षिप्रचटिका	३०-१०	खीचडी
क्षीरपूपिका	१६६-३	दूधनो पूरी (?)
खग	८२-२५, २७	विद्याधर
खञ्ज्	९८-१७	खजवाळवु
खटिका	२५१-६	खडी
खड खड शब्द	९४-२	खडखडाट
खडी	१२९-१	खडो
खनि॰	३५-११	खाण
खरण्ट	३९-१३, १०७-९	खरडवुं
खरशान	४०-२७	खुरासान (फारसी)
खरशाण	४० २८	
खरसाणी वणिक्	४-१६, २२, २३	(?)
खलखलम्	२८३-२२	खळखळ अवाज साथे
खलि	३९-१३	खळ
खा	९० ३, ६	खावु (स॰ खाद्, प्रा खाअे)
खातिका	३४९-१८	खाइ
खाल (पु॰)	२८३-२२	खाळ

(नगरखाल	૧૫-૨૩, ૨૪	નગરની)
खासरक	૩૧૬-૨૨	ખાસડું
खिङ्ग	૫૦-૨૭	વિટ, ભડવો
खिराहिलिक (थिराइलिक)	૨૭૧-૨૧	કોલસા (?)
खिलिका	૨૦૨-૬	ખીલી
खुङ्कारक	૨૯૮ ૧૦	ખોંખારો
खुण्टक	૮૫-૨૦	લબાડ (?) (નટ, વિટ અને ખુંટક એવા સંદર્ભમાં)
खेट्	૩૦-૫, ૧૧-૭, ૨૦૬-૭	ખેડવું (ખેતર), હાંકવું (ગાડું)
खेल्	૨૫૪-૨૨	ખેલવું, રમવું
गजवेली	૫૫-૧૦	ગજવેલ
गड्डुरिका	૭૩-૧૩	ગાડર
गदीयानक	૧૩૦-૧૧, ૧૬૧-૬	ગદિયાણો
गलटुम्पक	૧૬૧-૧૭	ગળાટુંપો
गलश्री	૨૦૪-૧૭, ૧૮	ગળામાં પહેરવાની સેર કે માળા
गल्ल	૩૪૧-૭	ગાલ
गाञ्छिक	૧૨૧-૮, ૯	ગાંછો, વાંસફોડો
गाञ्छिका	૧૪૭-૨૭	ગાંછણ
गावह	૨૦૪, ૧૦-૧૫	ગધેડો (સં. ગર્દભ, પ્રા ગદ્દહ)
गिरिनार	૪-૫	ગિરનાર (સં-ગિરિનગર)
गुञ्छनक	૩૧૪-૧૨	ગૂંછળું
गुप्तिगृह	૨૭-૨૨	કારાગૃહ (સર૦-જૂ૦ ગુજ૦ "ગોતિહર")
गुफा	૧૫૫-૨૨	ગુફા
गूहर	૪૨ ૧	તંબૂ (ઉપજાવેલું સંસ્કૃત "ગુરુદર" પણ અન્યત્ર મળે છે)
गूहली	૧૮૨-૧, ૩૫૧-૪	ગહુળી સુશોભન માટે ફૂલ લિંપણ વગેરેથી પાડેલી- ભાત, રંગોળી
गूहलिका	૧૮૪-૧૭, ૩૫૧-૩૦	
गृहोटिक	૩૧૭-૨૧ ૨૪	ગરોળી
गृहोलिका	૨૪૧-૧૪, ૧૫, ૧૪૭-૧૧, ૧૭૭ ૧૦	

गोमाणि	२०६-१३, ३२	गमाण
गोमाणिका	२०६-१५	
गोलानदी	१८५-१०	गोदावरी नदी (प्रा गोला)
गोस्वामिन्	३-२७	महीपति, राजा
गोहृरि	३४७-५	घोर, कबर (फारसी)
गौरव	१७०-२३	भोजन वगेरेथी करातु' स्वागत
ग्रथिल	२१-१७, ५४-३, ७७ २५, २०९-२	घेलुं
ग्रन्थि	५७-१२	गांठडी, पैसानी गांठडी
ग्रहणके मुक्तम्	३९-२७, ४०-८	घराणे मू'क्यु'
ग्रास	६२-२४	गरास
ग्रैथिल्य	७८-१	घेलापणु
घट्	८८-१३	घडवु
घटन	२४१-४	घडवु ते
घटक	२४१-५	घडनार
घन	२८-२२	घणु
घरट्टिका	२१४-२७	घटी
घर्घर	२३६-११	घूघरा
घस	८९-४	घसमसाट
घाञ्चिक	१३९-१६, १९२-३	घाची
घाञ्चिका	९६-२९, ९७-४, १६९-४	घांचण
घाणिका	१३९-१७	घाणी
घीवणी	२५६-१०	अे नामनो अेक छन्द
घृतवर	१६६-३	घेवर
घोटक	५३-८	घोडो
घोटिका	१९७-१३, १४, १७०-९	घोडी
घोलवटक	१४१-२१	अेक प्रकारनां वडा
चट्	६-१०	चडवु
चटितः	४४-२९	हाथे चड्यो, हाथ आव्यो
चट उत्तर	१६१-१	चड (अने) उतर (आज्ञार्थ)
चटक चटिका	३३०-२२, २३	चकलो-चकली
चटी	१५९-१२	चकली
चटक	२१८-५	चटको

चटुक	३२२-८	
चट्ट्	३२२-६, २२	चाटवो
चट्टक	३२२-२१	
चणिचणिका	३४६-८	चणचणाट
चतुरिका	२७८-८	चोरी (लग्ननी)
चन्दिका	८१-८, ३२४-१, २, ५	चाँदी, माथामां के शरीरे
चन्द्रिका	३३८-१९, २१-२३	पडतुं नानुं चांदुं
चन्द्रोदय	३४८-२३	चदरवो, वि
चमत्कृ	२-१९ २१	चमत्कार पामवो, चोंकवुं
चम्प्	२७-१५, १०२-४	चापवुं
चर्भटिक	३१-१५	चीभडुं
चर्भट	६१-५	
चवल	२०६, १-५	चोळा
चाखडिका	३९-२६, ४० ४	चाखडी
चाडिका	१०२-१७	चाडी
चारि	७६-१२, १३०-५, २०८-१३	चार (ढोरनी)
चालनी	३४-५	चालणी
चालिनी	२२०-९	
चिकचिकाय्	२६२-२	चकचकवुं
चिक्खिल्ल	२८३-२३	कीचड, चीखल
चित्रकर	२०-२१, २२	चितारो (सर० हिन्दी 'चितेरा')
चिर्भट	६१-५, ३२३-९	जुओ 'चर्भटिक'
चुकिता	१६१-१९	चूकी
चुकलडा	२३३-४, ५, ६	चाकळण, बे मोढा वाळो आंधळो सर्प
चुट्टक	१४१-२४	चोट, मुक्का वडे प्रहार (?)
चुणि	८२-१६, ३३१-२७	चण
चुण्ट्	१५२-६	चूंटवुं
चुल्लक	३२-२५	चूलो
चुल्हक	९२-६, ७	
चूरिम	३३१-५, १७	चूरमुं

चेल्लक	१४-२ ५ २३१-२१	चेलो
चेल्लक=पल्लुं		
तुलाचेल्लक	१२२-१७	त्राजवानुं पल्लुं
चोक्ष	१६५-२१	चोक्खुं
चोपड्	१४२-१	चोपडवु
चैत्रयष्टि	३२०, १२-१४-१५	मूरख, गमार
	१५८-१२, २११-२४	छाण, १६९-३ छाणुं
छत्रिका	२२८-१४	छत्री
छत्रम्	६-२०, १२-१, १६९ ३, २०७-१, ३२१-१४	छातुं छातुं
छव्वा	६२-७, २९०-२, ३२८-२	छाब
छार	१४५-९	राख
छारपुञ्ज	१०१, १३-१४	राखनो ढगलो
छिक्का	११४-२	छींक
छिक्का	६७-१५	
छिम्पिका	४९,२१-२३	छीपण (कपडा पर छापकाम करनारी स्त्री)
छुट्	२७-११, २९-१४, १६६-२३ ३५१-३१	छूटवुं
छोतरक / छोत्तरक	छोतरं आम्रछोत्तरकं १७१-२३	केरीनुं छोतरुं
छोति	५५-३७	छूताछूत, आभडछेट
जड वस्त्रं	३१६-२०-२२,	जाडुं कपडुं
जडित	२०२-७	जडेलुं
जन्मपत्री	२७४-२९	जनमोतरी
जम्पाण	९६-२७	ठोठडी
जालि	३५-२५	पीलुडीनुं जाळुं
जिम्	२-१, ३-१२, २०६-१०	जमवु
जी-जी कृ	१०२-५	'जी जी' करवुं
जुहार	१०२-१९	जुहार, वदन
जेमन	२०४-१३	जमवुं ते
जेमनवार	११६-२९	जमणवार
जोन्कार	२०६, ६-१४	नमस्कार, जय जय
जोत्कार कृ	३-२२	नमस्कार करवा
ज्ञ	१९-३, ४, २५-२०	ज्ञानी

ज्योतिक	१७१-३०, १७२-१	जोशी
झगझगाय्	१५८-९	झगमगवुं
झगटक	४-२१	झगडो (सिद्धहेम ८-४-४२ उपरनी टीकामां "झकट" अेवारूपे आपेलछे)
झम्पा	१२९-२५	कूदको
झर	२-१६	झरवुं
झल्	१७१-२४	जळवुं, दाह थवो
झूर्	२०२-९	झूरवुं
झोलिका	१४ ७	झोळी
टङ्कक	४, ६-११	सिक्को (सरखावो गुज० 'टको' व 'टाका', सं॰ टंकशाळा.)
टालि	१०७, २-३-८	टाल
टीड	३६-२९	तीड (देश्य 'तेड्ड')
टुम्पक	१६१-१७	(गळा)टूंपो
टोकरक		टोपलो (हिन्दी 'टोकरा')
वंशटोकरक	१३८-२४	वांसनो टोपलो
टोडर	४५-२५, ३५०-२३	तोडो
टोप	२५७ १-२	अेक प्रकारनुं शिरस्त्राण, टोप
टोपिका	२, १२-१४	टोपी
टोहन	११०-१	टोवुं ते, पक्षीओने टोयो करीने उडाडवा
ठीकरी	३३०-२२	ठीकरी
ठुण्ठक		ठूंठुं
वृक्षठुण्ठक	७०-१०	झाडनुं ठूंठुं
डाकिन	२०६-२२	डाकणो
डोल्लकर	२०८-९	डोकरो
ढल्	१४५, १९-२२	ढळवु
ढाल्	७७-१२	ढाळवु
ढालन	१५८-८, २३६-११	ढाळवुं ते
ढकन	४-८	ढांकवुं ते
ढंकनिका	३५०-४	ढांकणी
ढोल्ली	२-२२	दिल्ली

ढेढ	२५-२६, १०९, २८-२९ १६५-१९, २१०-२८	ढेढ
ढोल्	१०१-१	ढोळवुं
तटी	२८-१	तोफानी नदी, दुस्तटी,
तडफडायमान	२७१-४	तडफडवुं
तनुगमनिका	२३३-२९	जमीन पर वहेता वरसादना पाणीनो नानो प्रवाह
तप्ति	२९९-२	चिंता, पंचात (प्रा० तत्ति, जू. गुज. ताति)
तमलगक (?)	३-९	'तमंग' के 'तवग' नामनो
लगक (?)	३-१०	किल्लानो बूरज जेवो भाग (?)
तम्बोल	२९-२३	तंबोल (सं. ताम्बूल)
तर्णक	३६-१७	वाछडो
तलहट्टिका	१९०-२	तळेटी
तलिकातोरणबन्धन	२००-१७	तळियां तोरण बाँधवां
ताजनक	३४६-४	ताजणो, चाबुक
तुम्बटिका	११२-८	तगोटी (नानो तंबू)
तुरी	२२४-४	वणकरनुं वणवानुं अेक साधन (देश्य 'थूरी' 'तूरी')
तुलछी	११६, ८-९-१३-१५-१६	तुलशी
त्रपु	१३०-१९	कलाई
त्रपुसी	१०७ ४	काकडी
दण्डक	२१०-२७	केडो, मार्ग, पगदंडो
दवरक	१६२-१४, २९५-४	दोरो
दवरिका	९६ २	दोरी
दारिद्रत्व	१८६-३१	दळदर, दळदरीपणुं
दीनार	३-२१	अेक सिक्को
दीपवर्तिक	८८-७	दीवेटियो
दुर्गा	१७२, १४-१६ २००-२५, ३१२-३	समळी
देवगृह	२ २८	देरू
द्रह	७०-२६	धरो (स. ह्रद)
धटी	३१२-१६	धडी, वजननुं अेक माप
धाटी	७३-२३, ८३-३	धाड
धीरा	६७-१०, २१३-१८	धीर (स्त्री.), धीरज

धुरि	४४-२६, १६५-२६	सौथी आगळ, सौथी पहेलां (सर गुज. धरवी)
धूरिधावक	२३९-७	धूळधोयो
धोरणी	१००-१०	सतत धारा
धौतक	१६२-२२	?
धौतिक	१७, १५-१६, ११९-४, ३४६-१	धोतियुं
ध्रुवङ्क	२९८-१५	धूवको, धुवाको
नक्र	१५२-८	नाक
नवडाकारेण	१०-१४	नवडाना आकारे
नाटक	५३-२४	नृत्य
नाणावटी	१९१, ९-१०	नाणावटी
नात्रक	२२-७ १३४-७, १३९-१४	नातरुं, सगाईसम्बन्ध
निन्दन	३०-५	नींदण करवी ते (सं निर्+दो)
निर्घोट	७०-२	काढी मूकवुं
नि:श्रेणी	२४६-८	नीसरणी
नि:सरणी	२४६-९	
नेजक	१४३-१३	धोबी
नौवित्त	२४३, १७-२९	वहाणवटी
पक्वान्न	८-११	पक्वान, मि
पटकुटी	४९-१	तंबु
पटह	३४ ६	पडो, घोषणा करवानो ढोल
पट्टकः	५३-२२, १६७-२३	पाटो
पट्टकूल	३५-१४, ५५-२१	पटोळु
पट्टयल	२१६-५	पटेल
पण	२४६-४	पण, प्रतिज्ञा
पतद्ग्रह	२ १	पात्र व
परिणेतृ	२००-५	परणेतर
परिधाप्	४-२४	पहेरामणी करवी
परिवारित	२१?-२७	परवारवु
पर्षद्	२-५	परिषद्
पाखण्डी	३३-१४	पाखण्डी, ढोंगी, धर्मथी छेतरनारो
पानीयहारिका	२-१७, १६८, १०-१२. २१०, २६-२७	पानीयहारी पाणियारी, पनीहारी
पापर्धि	२९-२०, २१९-८	शिकार

पार्श्वे	१-१२, ३-१८ ४, ११-१९	पासे
अेकस्मिन् पार्श्वे	२-२४	अेक बाजु
पालनक	१६९-१५	पारणुं (बालकने सुवाडवानु)
पित्तल	१५८, ४-६	पित्तल
पिप्पल	१६६, ७-८-९	पीपळो
पिप्पलवृक्ष	८३-२४	पीपळानुं झाड
पिप्पलाद	२९-३०	पिप्पलाद (विशेष नाम)
पीठक	१९२-२	पीठुं
पूजारक	३४६-२०	पुजारो
पूलक	१४७-१८, २९९-५	पूळो
पृष्टि पृष्ठि	८६-५, १००-१४, २१५-१६ ४२-२	पीठ
पृष्ठवाह	९३-८	बळद
पेटा पेटिका	८४, २३-२४, १३४-९ ५५-१९	पेटी
पोतिका	३३९-२०	पोतडी
पोसि पोसि	९१, ७-१३	गाडु हांकवानो शब्द (सर० पोइस पोइस)
पोलत्व	७८-५	पोल
पौटलिक	१४-२२	पोटलुं उपाडनारो, पोटलियो
पोट्टलक	३४३-९	पोटलुं
पौषधशाला	१८४-२४	पोशाळ (उपाश्रय)
प्रगे	४७-६	वहेली सवारे, पहो फाटतां, (जू० गुज० 'प्रहि')
प्रति (स्त्री.)	१९३, २५-२६, २०३-२१	हस्तलिखित प्रत
प्रतिकार	५५-१०	पडियार, म्यान
प्रमाडि भूप	५५, १६-२०	परमर्दी राजा
प्रमिला	३२ २२	निद्रा
प्रस्तर	५-२४ ३४०-२	पथरो
प्राघूणक	३२२-८	परोणो, अतिथि
प्रातिवेश्मिक	१२९ १०	पाडोशी
प्राध्वरमार्ग	२१४-१३	पाधरो रस्तो
फाडक		आंटी

सूत्रका	२००-१८	सूतरनी आंटी (सर० 'फाळको')
फुल्लक	२६, १९-२०-२३-२४	
फेत्कार	६१-१०	फु फवाटो
फेर्	२५३-१०	फेरववु
बर्जरिका	१०९-२८	बाजरी
बर्जरी	१०९-२९, ११०-१	बाजरी
बाउलक	५३ १४-३०	बावळ
बांठ	१८६-३	बांठियो, वामन
बाहिरलो	११४, ३०-३१	बहारनो
बाह्याली	२४७ २०	घोडाने खेलाववानो मार्ग (जू० गुज० 'बाह्याली' 'बाहियाली' पण मळे छे)
बिलाडिका	१३९, १८-१९	बिलाडी
बीटक	४८, २६-२७-२९ ९५-११, २०९, १६-१७	(पाननुं) बीडुं
बीबी	१८२-१३	बीबी (फारसी)
बुस	२७४-२०	भूसुं, फोतरां
बेडी	२३३-३०	होडी
बोत्कट	१४७, १८-१९-२०-२१	बोकडो
ब्रुण्ट	२७१-३	ठूठुं, ठोंडुं
ब्रूड्	२८८-१९	बूडवु
भट्ट	५०-२७, १६६-२१	भाट
भड्	६८-२६	भडवुं, युद्धमां अेक बीजा साथे भडवुं
भण्	२५-२०, २०३-१८	भणवुं
भण्डन	६८-२२	भांडण, युद्ध ( )
भरटक	१७८, २५-२७, २५९-४, ३५१-२१	भरडो (शैव साधु के पुजारी माटे कुत्सा .)
भरडक	१७८-२६	भरडो (शैव साधु के पुजारी माटे कुत्सा .)
भलायित	२६४-३	भळाव्यु
भल्लकघर	२३४-२५	भिस्ती
भस्त्रिका	८३, १०-१३	धमण
भाण्डागार		ग्रंथभंडार
भाभी	२०८-४	भाभी

माम्भिक	१६५-१८ २७	'ढोली' अेटले के ढेढ, चांडाल (सं० मम्भा)
भारपट्ट	२७९-२ ३५१-३०	भारवटियो, पाटडो.
भारिका	३१४-२५	भारी
भिल्लघाटी	८९-२१	लुटारु भीलोनु धाडुं
भुत	२ २५	बुत, मूर्ति (फारसी)
भूतस्थानक	२-२७	देवस्थान
भ्रातृज	१०२-१९	भत्रीजो
मक्खिका	८३-५	मांखी
मज्जारी	३०६ १५-१६	(कुकडानी) मांजर
मठवासनिका	१६५-२२ }	मठवासिनी
मठवासि	१६५-२८ }	
मठी	१६७ १५	मढी
मढ्	२३२-११	मढवुं
मढि	२५१-१० }	मढी (सं मठिका)
मढी	७१, १६-१७ }	
मण्ड्	३--९ ६-८	मांडवु, गोठववुं
मत्त	२११, १२-१३	मातो
मत्स्यबन्ध	१०९, २-४ }	माछी
मत्स्यबन्धक	३३०-७ }	
मदन	६, ९ ११-१२-१३, १७६-१५	मीण (प्रा. मयण, सं. मदन)
०मत्थे	३-१९, ६-२०	०मां
मन्द	१०२-१४	मांदो, रुग्ण
मर्कोटक	३१८-२५	मकोडो
मसीत	२-२३, ३४६-२८ }	मसीद (अरबी)
मसीतिका	२, २३-२४ }	
महानुभाग	११-१३	महानुभाव
माछिक	३०५, १३-१६	माछी
मात्रिका	२०३-२८	वर्णमाला, मातृका
मात्स्यिक	१४०-६, ३०४, १९-२०	माछी
मान्	१३२-१	मानता राखवी
मानक	३१-४, ८५-१२, २९८-२८	माणुं
माम, मामक	२०६-६	मामो
मार्ग	१७-१७	मांगवुं

मा	३२७-३०, ३३०-३३	माळो
मालिक	६६, १२-१३	माळी
मालिका	६६, १२-१३	माळण
माहिलओ	११४-३०	मांहलो, अंदरनो
मिळ्	१२-६	(ने) मळवुं (मळवुं अर्थमां)
मिष्ट	२३९-१३	मीठुं
मीणाकाराः	१८९-३१	मीनाकारी करनारा
मीर	१४३-१५	सरदार (फारसी)
मु वर्धननृपाः	२७९-७	मोडवंशा राजा (जू० गुज० 'म ष')
मुक्त	४२-११	मूकेलुं
मुत्कल	५-१०, ८२-२७, १६३-१४, २१८-२१	मोकळुं, छूटुं
मुद्गल	४०-२७	मोगल (तुर्की)
मुलाण	२,१७-१८-२०, ३४६-१५, ३४७-६	। (अरबी)
मुलाणक	२-१२	
मुशलमान	३४७-३	मुस (फारसी)
मुष्टि	५५, ८-३०	मूठ
मूटक	४५-९	मूडो, सो मण
मूढक	६, ३१-३३-३४, १९०-२३	
मृत्स्ना	५०-१३ २७४-२०	माटी
मृष्टा	३-१४	मीठी
मेळ	११३-६	मेळ
मोचिक	१६६, १४-३०	मोची
मोट्	१५२-८	मरडवुं (हिं मोडना)
मोटिम	१५२-२	मोटाइ, मोटम
मैनिक	१४०, ९-१३-१५	माछीमार
यानपात्र	५-२२	वहाण (प्रा० जाण)
युज्	२५-२०	जोडायेलो, सहित
युगन्धरी	२८-३०, २९-१, ३१८-१९	जुवार
युगान्धरी	२००-२५	बू सरी
रक्ष	३१-२०, ४१-३	राखवुं
र ठ	२२३-३	र ळ
रक्षा	१०७, १२-१३	राख

रट्	४२-२३, १३४-१६	रडवु
रन्धनी	१२-३	रांधनारी, रांधण
रबारिक	९२-१२	रबारी, ऊंटनो रखवाळ
रब्भा	२४५, १७-१८, २७१, २१-२२	राव
रल्	१११-२६, २१२-९	रळवुं, कमावुं
रसवती	८-१२, १६६-४-५-१८-१९	रसोई
राउल	५४-२९	राजकुल, राजदरबार
राजपाटिका	७१-२४, २८०-८	राजा फरवा नीकळे ते, रयवाडी
राटि	३२४-२०	राड, बूम
राटि	२९८, २३-२८	झगडो, कलह
राणिमा	२३४-२६	राजत्व, राजपद
राव	८५-३०	राव
रिंखू	१६९-१५	रींखवुं
रिच्छः	२३, १-२-३	रींछ (सं ऋक्ष)
रीरी	३५१-८	पित्तल
रुत	७४-२८, २०८, २९-३०	
	२०९-१, २४३-२७, २७८-८	क कपास
रोक्क	२४३-६	रोकडुं
रोक्यद्रव्य	७२-२६	रोकडुं द्रव्य, रोकड
रै	४७, ३-७-८	धन
रोर	२८२-८	भिखारी, निर्धन
लक्ष्मी	४, ११-१५	धन
लग्	३४४-२२, ३४८, २३-२६	आग लागवी, बळावुं
लग्न	३४८, २३-२६	आग लागी, युं
लगाप्	१०७-१२	वु
लघुनीति	२०९-७	लघुशंका
लपनश्री	१८६-१७ }	लापशी
लप्पनश्री	२०६, १४-२०-२२ }	
लहन	२४६-८	लेणुं
लहनक	१२९-२६, १६९-२५	लहेणुं
लिप्सय	२८३-२३	लपसवुं
लिम्ब	६-१३	लीमडो (स निम्ब)
लिलासु	५०-५	लेवानी इच्छावाळो ('सा'='लेवुं'नुं इच्छादर्शक वि०)

लुट्	१३३-३	लूंटवुं
लूप्	१६४ ५	लूछवुं
लोऊआ कौटुम्बिकाः	१९०-१	लेउआ कणबी
लेखशाला	६५ ५	निशाळ
लेखशालि	६५-५	निशाळियो
लोट्टक	४४ २८	लोटो
लोमातक	३३६, १-६-८	लोमडो, लोंकडीनो नर
लोट्टडिक	१६४ १५	लोढानो सि ो (?); ओछामां ओछी किम्मतनो सिक्को
वचणि	४-७	वण (देश्य 'ववणी' = स; दे० ना० ६-८२, ७-३२)
वणन	९६-२	वणवुं ते
वधूटी	३४ ११. २०७-२६	पुत्रवधू
वनक	१२०-१३	वणकर
वनकपुष्प	७४ २७	वणवुं फूल
वन्तोल	३४६-२९	वंटोळियो
वर्त्	७-३, ८८-३, १६४-१२	वाळवुं
वर्त्मभंग	२४३ २३	वाट (मार्ग) पाडवी ते
वर्धय्	३-१९, ३-२६, ४-६	वधाववुं ते (दीवो) ओलववो ते
वर्य्	२-१३ २-२०, २-२९	सारुं, उत्तम, सरस
वल्	५-७	पाछुं वळवुं
वल्ल	९७ २७	वाल
वल्लक	९७-२८	वाल
वसहिका	२६९ २२	उपाश्रय (सं वसति, प्रा वसहि)
वस्करिका	५ २२-२३-२४	वखार (सं. उपस्कर)
वहिका	५४, २-३, २४३-५, २८१-५०	वही
वाटक	२ ०, ११ १३	वाडो
वाटी	१०७, ४ ५	वाडी, बगीचो
वारक	८-१२	वारो
वारके	५४-२९	वारीमां, वमां
वार्ध	७०-९	वाघर
वालीनाह	३५१, ६-७	अेक व्यंतर

वासनिका	१४-७, २३-४, १८-९-१०-११-१२, १६९ २२ १९६ १८ २२०,१५ १७, ३-६ १०	वांसळी (पैसा राखवानी)
वाह	२८-२६ ९६-१६	
	१७२-२७, २४४-२०	छेतरवु
वाहन	७३-२०	वहाण
वाहनिका	६१-१५, ६२, २-३-६-१३-१६	मोजडी (जू. गुज 'वाहणी', सं. उपानह्+इका, प्रा वाहणाओ)
वाहरा	८५-७, २०९-२३	वार, मदद, कुमक
विगोप्	१२७-१७, २४५-१९, ३२६-२१	वगोववु
विघट्	२१५-३०	उखडवु, छूटु थवु (हिं.बिछडना)
विचाले	८४-२८, १७७-१	वचाळ, अधवच
विटाल्	१६५-२८	वटाळ करवो, वटलाववुं
विण्टनक	५५-२१	वींटणुं, वेष्टन, वींटेलुं वस्त्र
विध्याप्	५१-६, ३४८-२६	बुझाववुं
विलक्ष	८५-२९	विलखु, छोभीलुं
विलगित	२१५-४	वळग्युं
विशुष्का	२००-२१	वसूकी गयेली
विश्वलप्रिय	२१५, २४-२६-२७-२९-३१	वीसलप्रिय नामनो द्रम्म
विस्तर	८४-८	भपको, आटोप (प्राकृत'विच्छड्ड')
विहर्	६-२३; १०४-२७	
	३१४-१०, ३१६, १८-२२-	वहोरवुं
विंशोपक	५० १	ए नामनो नानो सिक्को (जू. गुज. वीसा. सर. अर्वाचीन प्रयोग "वीश वसा" "सो वसा")
वृद्ध	४, ९-[illegible]-४-७	वडु मोटु (हिं बढिया)
वेलाकूल	५-२१ १४८-५	बंदर (तेमांथी गुज 'वेरावळ')
व्यक्त्या	१६३-२३	वीगते
व्यापार	२३८, ७-८	वेपार
शकुनिका	४१-२४ ३५०-२२	समडी, समळी
शण्ड	५८-१ १४१-२	सांड, सांढ
शण्ढ	१ ६-१०	(सं. षण्ड)
शव	२९७-४	शब (सं. शव.)

शाड्वल	२४-४, १०७-२६	लीलो (सं. शाड्वल)
शालापति	१३६-२८	साळवी
शिक्षय्	३१३, ५-७	शीखववु
शिल्कु	१५५-१५	सलाट
शिलापट्टकः	५१-२६	ट
शुंडक	३१२-१	सूंडलो
शुण्डलक	१२९-१६	सूंडलो
शृगालः श्रेष्ठी	४४-१७	शा शेठ
शेर	३०-४	शेर
शोधि	१३८-१५	शुद्धि (प्रा० सोही)
श्राद्ध	५-६	श्रद्धालु, जैन श्रावक
श्राद्धी	३१४-१५	श्राविका
श्रीकरी	२३६-१३	अेक जातनी ी
श्वभ्र	७२-२८ ७३-१, ७५, ८-९	नरक
श्वभ्रपाव	७८-१४	ं पडवु
षष्टितन्दुल	११-१५	साठी चोखा
षुवद्रम	३२८, १६-२४	गळीरंग्या शियाळ्वु वरेलु
		प्र
मू	३२-२३ }	
सकाळे	१४-२२ }	वहेलु
संकुल	२१७-१२	सांकळ
सज्जीकृ	३३-२२, ११५-१३, ३५०-८	साजु करवु
संडक	२०-२९	अंगुठो अने पहेली आंगळी
सत्क	१०८-११	०नु
सन्दूरिक सर्पं	३५० १९-२०	सींदूरियो
सन्धि. (स्त्री)	३५०-१	संधि
समलिका	८०-२५, ८१, १५-१६-१७	ी मादा, श्वेनिका (सर०—गुज० समळी)
समा (स्त्री.)	४-२२	सम, सोगन
समेति	१०३-३	डे छे
सम्भाल्	१७-२४, २७३-२३	संभाळ्वु
संमुख	२-१३, ६-१८	सामुं
सरट } सरढ }	६८, १५-२२-२५-२८	, काकीडो

सर्वावसर	५५-४	दिवाने आम
सहेलक	३४५, १०-११-१२	शेलो
साकेतनपुर	४७-२	साकेतपुर
सातूआ	१८५-१३	साथवो
साधु	४-९	शाहुकार
सारा	६९-२६, ९२-२२,	सार, सारसंभाळ
	१०८, २०-२२, १३०-८	मदद
सिंदर	१९५, ९-१०	सींदरु
सिन्दूरिकः सर्पः	४५-२१	सींदूरियो
सिमिसिमा	२७१-४	समसमतुं (अप० सिमिसिम्)
सीमाल भूप	२५७-१२	सीमाडियो राजा
		सीमाडा पासेना राज्यनो राजा
मारिका	१०४-८	सुंवाळी
सुखासन	५४-४	पालखी
सुरङ्गा	५३-१३	सुरंग
सुरत्राण	२, ११-१५, ३, १-३	सुलतान (अरबी)
सूघरी	१५९-१३	सूघरी
सूचिक	१९२-३	सई, दरजी
सेजवाल	१८२-२१, २३६-१२	अेक प्रकारनी पालखी
सेतिनका	८५-११	सेतिका, अेक माप
सेर	८७ २३	शेर
सेरिका	६५-११	शेरी
सेल्लहस्त	९६-१९	दंडनायक
सेलपहस्त	९६-२१	(सं० शल्यहस्त, प्रा०-सेल्लहत्थ
		अप०-गुज०-'शेलत')
सेवधि	४९-२५	खजानो, (सं० शेवधि)
सोनी	१९१-६	सोनी (सं० सौवर्णिक, प्रा०
		सोवण्णिअ)
स्कन्धिक	९६-२७	खांधियो
स्त्यानघृत	२५५-८	थीनुं घी
स्थग्	४४-५	ढां

स्थगी	२६६, २५-२७ २६७, १-७	पानना वाटवो उं र सेवक=तांबू हक (जू. गुज. थइया) (' ी' ' 'ना अर्थमां होय छे-जेमके 'तांबूलस्थगीधर' अही ओवा सेवक माटे वपरायो लागे छे)
स्पर्धक (न.)	२३, ४-६-७, ८२-१२ ११४-२६, १६८-१७ २४०, २४-२५	फदियुं के बीजो कोई सिको (?)
स्फेट्	१३-८, ८३-४	फेडवुं
स्यक	३२२-७	सगुं
हक्क्	५-१४, ६-१४	हाक मारीने, धमकावीने काढवुं
हज	२४३, १७, २८, २९	हज, मक्कानी जात्रा (अरबी)
हडि (हिडि)	२०१-२५, २०२, १-३	हेड, पगमां जडाती लाकडानी ओक जातनी बेडी (शृंखला)
हद्	३२३-८	हगवुं
हरीमजद्वीप	५-२२	होरमजनो टापु (सी)
हल्ल् मह्	३००-१८	हालवुं मालवुं
हला (स्त्री०)	३००-१७	हळ
हाडि हाडि	२०२-१४	हड हड
हिण्ड्	१३८-८	हींडवुं, भमवुं
हिण्डोला-खट्वा	२१५-९	हींडोला खाट
हदित	१६८-८	हग्यो, मळत्याग कर्यो (सं. हदित)

बन्ध-

अनुक्रमा

थ प्रथमोऽधिकारः ।

अथ द्वितीयोऽधिकारः

अथ तीयोऽधि रः

अथ चतुर्थोऽधिकारः


सम

પ્રાસંગિક નિવેદન

આગમ પ્રભાકર મુનિ શ્રી પુણ્યવિજયજી

આજે વિદ્વાનોના કરકમલમા પચશતી પ્રબધ નામનો ગ્રથ ઉપહૃત કરવામા આવે છે આ ગ્રથ એક ઐતિહાસિક ગ્રંથ છે એના રચયિતા શ્રી શુભશીલગણી છે શ્રી શુભશીલગણી, એ વિક્રમના પદરમા–સોળમા સૈકાના એક વિશિષ્ઠ ગણી શકાય તેવા વિદ્વાન હતા તેમણે ભરતેશ્વર બાહુબલીવૃત્તિ, શત્રુજયકલ્પવૃત્તિ, કથાકોશ આદિ જેવા દસ દસ હજાર શ્લોકપ્રમાણ, મહાકાય કહી શકાય તેવા અનેક ગ્રથોની રચના કરી છે દાનાદિકથા, પુણ્યસારકથા, સ્નાત્રપચાશિકા જેવા નાના–મોટા કથાગ્રથોની પણ રચના કરી છે, ઉણાદિનામમાલા, પચવર્ગસગ્રહનામમાલા જેવા ગ્રથો રચ્યાનો ઉલ્લેખ પણ 'જૈનગ્રથાવલિ'મા જોવામા આવે છે તેમજ શાલિવાહનચરિત્ર, ભોજપ્રબધ આદિ જેવા ઐતિહાસિક સામગ્રી પૂરા પાડતા ગ્રથો પણ રચ્યા છે પ્રસ્તુત પચશતી પ્રબધ સગ્રહ ગ્રથ એ આ કોટિમા મૂકી શકાય તેવો એક ઐતિહાસિક ગ્રથ છે શ્રી શુભશીલગણીએ આ ગ્રથમા ઘણી ઘણી ઐતિહાસિક સામગ્રીનો સચય કર્યો છે અલબત્ત આવા ગ્રથોમા કેટલીક કિવદન્તીઓ કે અનુશ્રુતિઓનો સગ્રહ કે સમાવેશ થતો હોવાથી એને શુદ્ધ ઐતિહાસિક ગ્રથ ન કહી શકાય એમ વિદ્વાનો માનતા હોય છે, તેમ છતા કેટલીક કિંવદન્તીઓ કે અનુશ્રુતિઓમા ઇતિહાસનાં બીજ પડેલા હોઈ આવા ગ્રથો વિદ્વાનો માટે ઐતિહાસિક ગ્રથ જ બની જાય છે આજે આપણા પ્રાચીન ઈતિહાસના સર્જનમા આવા પ્રબધોનો ઘણો મોટો ફાળો છે જો આવા ઐતિહાસિક સામગ્રીઓ પૂરા પાડતા ગ્રથોની ઉપેક્ષા કરવામા આવે તો આપણા પ્રાચીન ઈતિહાસને શોધી કે લખી જ ન શકીએ. ઘણી વાર એવુ બન્યુ છે અને આજે પણ બન્યે જ જાય છે કે વિદ્વાનો જેને શુદ્ધ ઐતિહાસિક ગ્રથ કે સામગ્રી તરીકે માનતા હોય છે તેવા ગ્રથો કે સામગ્રીમા પણ પૂર્વ-ગ્રહ, પક્ષપાત કે સાપ્રદાયિક આદિ રગોથી રગાએલા વિદ્વાનોએ તેના આલેખનમા અતિશયોક્તિ અને હીનોક્તિદોષો કરેલા જોવામા આવે છે એટલે ભિન્ન ભિન્ન દૃષ્ટિએ ઐતિહાસિક વિદ્વાનો ગમે તેવી માન્યતા ધરાવતા હોય તે છતા એ હકીકત તો નિર્વિવાદ છે કે ઇતિહાસલેખક કે ઇતિહાસજ્ઞ મધ્યસ્થ વિદ્વાનો માટે આવા પ્રબધસગ્રહો ઇતિહાસને લગતી ઘણી વિશાળ અને મહત્ત્વની સામગ્રી પૂરી પાડે છે આ દૃષ્ટિએ જોતા પ્રસ્તુત પચશતી પ્રબધ ગ્રથનુ ઐતિહાસિક ક્ષેત્રે ઘણુ ઊચુ સ્થાન છે શ્રી શુભશીલગણી એ પોતાના યુગના એક ઇતિહાસરસિક મહાનુભાવ વિદ્વાન હતા તેઓશ્રીએ અનેક મહત્ત્વની વિગતો અને માહિતીઓથી પ્રસ્તુત પ્રબધસગ્રહને સમૃદ્ધ કર્યો છે આશા છે કે આવો એક અમૂલ્ય પ્રબધસગ્રહ અનેક પ્રતિઓ દ્વારા શુદ્ધ અને વ્યવસ્થિત કરી વિદ્વાનોના કરકમલમા અર્પણ કરવામા આવે છે, એ અવશ્ય વિદ્વાનોને ઉપયોગી બનશે જ

અંતમા જે મહાનુભાવોએ પ્રસ્તુત ગ્રથના સશોધન–પ્રકાશન આદિમા અનેક રીતે શ્રમ લીધો છે અને જે મહાનુભાવોએ આવા અમૂલ્ય ગ્રથના પ્રકાશન માટે પોતાના ધર્મ્ય ધનની સહાય કરી છે તેમજ જે સસ્થા આ ગ્રથનું પ્રકાશન કરે છે તેઓને હાર્દિક ધન્યવાદ અને અભિનદન છે

समाप्त

पञ्चशतीप्रबोध(प्रबन्ध)सम्बन्धः — प्रबन्धपञ्चशती

(रचना, वि. सं. १५२१)

A-संज्ञकप्रति, छाणी(वडोदरा)ना श्रीजैन श्वे. ज्ञानमंदिरना उपा. श्रीवीरविजयजी-संग्रहनी प्रति— प्रथम पृष्ठनी प्रतिकृति.

पञ्चशतीप्रबोध(प्रबन्ध)सम्बन्धः — प्रबन्धपञ्चशती

(रचना, वि. सं. १५२१)

A–संज्ञकप्रति, छाणी(वडोदरा)ना श्रीजैन श्वे. ज्ञानमंदिरना उपा. श्रीवीरविजयजी–
शास्त्रसंग्रहनी प्रतिना प्रथम पृष्ठनी प्रतिकृति.

॥ अर्हम् ॥

श्रीशुभशीलगणि-विरचितः

श ी ोध(न्ध) ः

(प्रबन्धपञ्चशती)

युगादिदेवादिमवर्द्धमाना-न्तिमान् जिनान् केवलिनः परांश्च ।
श्रीपुण्डरीकादिगुरून् यतींश्च, नमाम्यहं बोधिसमाधिहेतोः ॥१॥
किञ्चिद्गुरोराननतो निशम्य, किञ्चिन्निजान्यादिकशास्त्रतश्च ।
ग्रन्थोद्यय पञ्चशतीप्रबोध-सम्बन्धनामा क्रियते मया तु ॥२॥

लक्ष्मीसागरसूरीणां, पादपद्मप्रसादतः ।
शिष्येण शुभशीलेन, ग्रन्थ एष विधीयते ॥३॥

[1] अथ श्रीगौतमस्वाम्यष्टापदतीर्थवन्दनसम्बन्धः ।

एकदा श्रीअष्टापदतीर्थनमनफल श्रीवर्धमानजिनपार्श्वे श्रुत्वा श्रीगौतमस्वामी यदा अष्टापद-तीर्थसमीपे गतः तदा तत्रस्थास्तापसा दध्युरेष किं करिष्यतीति, एव तेषु ध्यायत्सु गौतमस्वामी सूर्यकिरणानवलम्ब्य तीर्थस्योपरि ययौ ।

तत्र भरतकारितप्रासादे चतुर्विंशतिजिनेन्द्रान् मानप्रमाणदेहाऽऽकारवर्णादिकान् अनु-क्रमेण वन्दते स्म[1] ।

चत्तारि अट्ठ दस दोय, वंदिआ जिणवरा चउव्वीसं ।
परमट्ठनिट्ठिअट्ठा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसतु ॥१॥

तत्र देवान् नमस्कृत्य तीर्थादुत्ततार यदा तदा १५०३ तापसा गौतमस्वामिवचसा प्रबु-द्धाश्चारित्र जगृहुः । ततः श्रीगौतमो मार्गे चलन् कस्माद्ग्रामात् [कुतश्चिद्ग्रामात्] शुद्ध क्षीर-

१ C प्रतौ नास्ति ।

भृत पतद्ग्रहमानीय स्वाङ्गुष्ठ तन्मध्ये क्षिप्त्वा सर्वान् तापसान् भाजयामास । तेषु जिमत्सु गौतमस्वामिलब्धिं ध्यायत्सु ५०० तापसाना केवलज्ञानं जातम् । ततो वर्त्मनि श्रीवर्द्धमानजिन-वर्णनं श्रुत्वा ५०० तापसाना केवलज्ञान बभूव । प्रभौ दृक्पथागते ५०३ तापसाना ज्ञानमुत्पन्नम् । गौतमस्वामी केवलज्ञानोत्पत्तिमजानन् तान्प्रति प्राह्—प्रभोः प्रदक्षिणा दास्यन्ते [दीयन्तामिति] ततस्ते प्रदक्षिणा दत्त्वा यदा केवलिपर्षद्युपविष्टाः तदा गौतमः प्राह्—ये मूर्खास्ते मूर्खा एव प्रभु न वन्दन्ते जल्पिता अपि, तदावग् वर्धमानः स्वामी केवल्याशातना मा कुरु [कार्षीः], गौतमः प्राह्—भगवन् ! का केवल्याशातना ? ततः प्रभुणा तेषा केवलज्ञानोत्पत्तिसम्बन्ध प्रोक्तः, ततो गौतमः तेषा पादान् नत्वा क्षमयित्वा च प्रभोः पुरः प्राह्—येषामह दीक्षा दास्ये [प्रादाम्] तेषां केवलज्ञान, मम न, ततः तत्खेद गौतमे दधाने प्रभुः प्राह् तवापि केवलज्ञान भविष्यतीति ॥१॥

[2–17] षोडश श्रीजिनप्रभसूरिप्रबन्धाः ।

एकदा श्रीजिनप्रभसूरयः पीरोजसुरत्राणेन सम गोष्ठीं कुर्वाणा उपविष्टाः । तदा तत्र मुलाणका आगताः, एकेन मुलाणकेन निजटोपिका आकाशे उच्छालिता, सा च तत्र निराधारा तस्थौ, सुरत्राणः श्रीजिनप्रभसूरिसंमुख प्रेक्ष्याऽऽह–अहो महदाश्चर्यं ! सूरिः प्राह्–वर्यम् । ततः सूरिणा तत्रैव स्तम्भिता । ततः सुरत्राणोऽवग्–आनीयता टोपिका, ततः स आकर्षणमन्त्र प्रयुञ्जयामास परं नैति सा, ततः सुरत्राणः प्राह—जिनप्रभसूरे ! त्वमानय । ततः सूरिणा क्षिप्तो रजोहरणस्तत्र गत्वा टोपिकामानिनाय ततःसुरत्राणश्चमच्चक्रे ।

द्वितीयदिने मस्तकस्थवारिभृतघटा पानीयहारिका यावद्राज्ञोऽग्रे चचाल तावत्तथा मुलाणेन कृत यथा घटयुग व्योम्नि निराधारं स्थितं, स्त्री तु अग्रे गता घट मस्तके अदृष्ट्वा तत्र [तद्] निराधारं च वीक्ष्य राजा चित्ते चमच्चक्रे । ततो राज्ञा स प्रशंसितो यदा, तदा गुरुः प्राह—निराधार जल यदि तिष्ठति तदा वर्या कला । ततो राज्ञोक्तः स मुलाणस्तत्कलामजानन् मौनीबभूव, ततो गुरुणा कर्करेणाऽऽहत्य घटयुगं जल निराधार स्थापित [दृष्ट्वा] राजा चमच्चक्रे ।

एकदा सुरत्राणेन कान्हडग्रामो भग्न, तत्रत्या श्रीवीरप्रतिमानीय यवनैः ढील्या[1] मसीतद्वारे सोपानकस्थाने स्थापिता । तत एकदा सुरत्राणः श्रीसूरिस्कन्धे हस्त दधानो मसीतिकाया यावत्प्रविशति तावत्सूरिः वीरप्रतिमा वीक्ष्यैकस्मिन्पार्श्वे स्थितः । तदा सुरत्राणोऽवग्–एव किं कृत ? जिनप्रभसूरिः प्राह—प्रभुर्देवोऽस्ति । सुरत्राणोऽवग्–अय भूतः किं जानाति ? न किंचित् । सूरिः प्राह–अय देवः सत्यवादी ज्ञानी विद्यते । भूपोऽवग्–तर्हि जल्पय । सूरिः प्राह स्वामिन् ! भूतस्थानकमुपदेशाय कार्यते, तत्र मह्यते, पूज्यते, ततः पृच्छयते, ततः पृष्ट कथयति, ततः स्वामिना. देवगृह कारित । यदा प्रतिमा नोत्पतति तदा सूरिः प्राह्—त्व हस्त लगय यथोत्तिष्ठति, ततस्तथा कार्ये कृते प्रतिमा ता देवालये निवेश्य वर्यभोगेन पूजयित्वा अन्तरा वस्त्रं बन्धयित्वा राजा यद्यद्वृशसम्बन्धं पृच्छति तत्तस्योत्तर दत्ते । २१ प्रियाः प्रोक्ताः, सुरत्राणो हृष्टः, शङ्कया वस्त्रेऽपसारितेऽपि तथैव प्राह । ततो विशेषतो वीरः पूजितः, कान्हडोमहावीर इति [च] ख्यातिरभूत् । इति कान्हडा[ड] महावीरस्थापनजिनप्रभाचार्यसम्बन्धः ॥२॥

१ 'दिल्ही' इति भाषायाम् । —सपा० ।

एकदा सुरत्राणो ग्रीष्मे पुराद्बहिः वटवृक्षे स्थितः, सच्छाय वटवृक्ष वीक्ष्य प्राह–जिनप्रभाग्रे [जिनप्रभसूरिणः पुरतः] यदि एवंविधा शीतला छाया सार्द्धमायाति तदातीव सुख भवति । तत सूरिणोक्त समेष्यति सार्द्धं वृक्षः, ततश्चलति सुरत्राणे सोऽपि वृक्षश्चचाल गव्य यावत्, पश्चाद्विलोकित स्थान तत्र न ज्ञातः [ज्ञातं] पश्चाद्विसर्जितो वृक्षः स्वस्थाने गतः, राजा चमत्कृतः ॥ इति वृक्षचालनसम्बन्धः ॥ ३ ॥

एकदा सुरत्राणेनोक्त जिनप्रभसूरे ! त्व विज्ञोऽसि, कथय अद्य अह कस्मिन्पुरद्वारे [केन पुरद्वारेण] निस्सरामि। ततो जिनप्रभसूरिणा पत्रे लिखित्वा मुद्रयित्वा लेखोऽर्पितः, सुरत्राणस्य प्रोक्त च पुरस्य [पुराद्] बहिर्गमनादनुवाचनीयो लेखः । ततः सुरत्राणो वप्रस्यैकविंशति [त]मलगक[?]पार्श्वे इष्टिका अपसार्य बहिर्निर्गतः, ततो लेख वाचयामास यथा निर्गतस्तथैव लिखितमभूत् राजा हृष्टः॥ इति वप्रलगकनिर्गमनसम्बन्धः ॥४॥

एकदा सुरत्राणोऽवग्—अद्याह किं भोक्ष्ये, ततः सूरिर्लेख लिखित्वा मुद्रयित्वा ददा, जेमनादनुवाच्यः ततः सुरत्राणेन खलो भक्षितः ततो लेखे विलोकिते खलभक्षणलिखन दृष्ट राजा हृष्टः॥ ॥ इति खलभक्षणसम्बन्धः ॥५॥

एकदा सुरत्राणोऽवग्–सूरे ! कथय, शर्करा कस्मिन् क्षिप्ता मृ[मि]ष्टेति, मन्त्रिणः पण्डिताः पृष्टाः, केनापि नोक्त यदा तदा सूरिर्जगौ "मुखे क्षिप्ता" ॥६॥

एकदा सुरत्राणो बहिरुद्याने गतः, महत्सरो जलभृत दृष्ट्वा सर्वेषामग्रे प्राह—एतत्सरो रजःपूरण विना कथ लघु भवति । एव प्रोक्ते यदा न केनापि उत्तर दत्तस्तदा सूरिः प्राह—अस्य पार्श्वे द्वितीय सरो महत्तम कार्यते तदा भवति लघु, राजा हृष्टः ॥७॥

एकदा सुरत्राणो मरुस्थलीमध्ये समायातो । यदा ग्रामनार्योऽक्षतानानीय वर्द्धयन्ति । सुरत्राणो धन वितीर्य प्राह—कथमाभरणरहिताः स्त्रियो दृश्यन्ते, केन लुण्टिता दण्डिता वा ? सूरिणा प्रोक्त—इय मरुस्थली रुक्षा धनहीना विद्यते, ततः सुरत्राणः स्त्रिय स्त्रियं प्रति शत दीनारान् दत्त्वा जोत्कार चक्रे ॥ ८ ॥

एकदा सुरत्राणो जगौ–यथा चमत्कारितीर्थं कान्हडकमहावीरोऽस्ति, तथाऽन्यदपि किमस्ति ? ततः शत्रुञ्जयतीर्थव्याख्यान कृत, ततः ससघो जिनप्रभसूरियुतः शत्रुजये गतः, तत्र तीर्थं दृष्ट्वा चमत्कृतो यदा, तदा[1] सूरिः प्राह—मुक्ताफलैरिसा [रिय] राजादनीयाद्रि [यद्रि] वर्ध्यते तदा क्षीर झरति, ततस्तथा कृते राजादनी क्षीर वृष्टा, राजा [राज्ञा] सघपतेराचारः कारितः तत्र लेखितो, योऽस्य तीर्थस्यावज्ञा करिष्यति स गोस्वामिन करोति । ततस्तत्र सप्तरेखा कारिता पाषाणैः । ततोऽधस्तादुत्तीर्य सर्वान् जनान् प्रति प्राह—आत्मीयमात्मीय देवमानयत । ततो लोकैः स्वस्वदेव हर–हरि–ब्रह्म–जिनादिरानीतः, राज्ञा सर्वान् मण्डयित्वा पृष्टम् एतेषु—

१ तदेति B प्रतौ नास्ति ।

[पृष्टसेतेषु][1] देवेषु को वृद्धः ? यदा लोको न वदति तदा जिनप्रतिमा मुख्यस्थाने उपविश्य [उपवेश्य] हरिब्रह्मादिप्रतिमाः परितो निवेशिताः, स्वयमासने उपविश्य परितः सेवकान् सायुधान् स्थापयित्वाह—को वृद्धः ?, लोका जगुः, स्वामी एव वृद्धः। सुरत्राणः प्राह—यद्येव तर्हि जिनो वृद्धः, शस्त्ररहितत्वात् सायुधाः सर्वे सेवका, ततो लोकैरुक्तं प्रभुवचःप्रमाणमिति।।९।।

ततः सुरत्राणो गिरिनारगिरौ गतः, तत्र अच्छेद्याभेद्यप्रतिमा नेमिनो ज्ञात्वा घातैः स्फुलिंगनिःसरणैः सुरत्राणः प्रभु प्रणम्य क्षमयित्वा १०० मित स्वर्णटङ्कैर्वर्द्धयामास ।।१०।।

एकदा जिनप्रभः पृष्टः सुरत्राणेन, भूमौ कि पुष्प वृद्धम् ? सूरिः प्राह— वडणि’ (?) जगढंकनत्वात् ।।११।।

एकेन सुरत्राणस्याग्रे प्रोक्तं—जगसिंहः साधुः कूट न जल्पति, ततः सुरत्राणेन पृष्टं जगसिंह ! तव गृहे कियत् धन विद्यते ? तेनोक्तम्—कल्ये कथयिष्यते। ततो गृहे गत्वा साधुः सर्वगृहलक्ष्मीसंख्या कृत्वा सुरत्राणपार्श्वे गत्वा प्राह—मम गृहे ८४ लक्षाः हेमटङ्कका विद्यन्ते। ततः सुरत्राणेन सत्यं त ज्ञात्वा १६ लक्षाः स्वकोशाद्दापिताः कोटीध्वजः कृतः सः ।। १२ ।।

एकदा सुरत्राणेन स्वहस्ते वर्यं रत्न गृहीत्वा प्रोक्तं—भो जगसिंह ! अस्माद्रत्नादन्यत्किमपि महद्वर्यं रत्न विद्यते न वा ?, साधुः प्राह—अस्माद्वर्यो भवान् रत्न। सुरत्राणो रञ्जितः बहुलक्ष्मीं ददौ ।। १३ ।।

अन्यदा उकेशज्ञातिमुख्यसाधुजगसिंहगृहे कोऽपि खरसाणी (?) वणिग् पञ्चलक्षटककान् न्यासीकृत्वा गतः। सप्तवर्षाणि गतानि। इतस्तेन जगसिंह मृतं श्रुत्वा ध्यातं न्यासीकृत धनं गतम् पुनर्ध्यातं तस्य पुत्रो मुहणसिंहो विद्यते, तस्य परीक्षा क्रियते। ततस्तत्रागत्य सः प्राह भो मुहणसिंह ! तव पिता मम मित्रसभूत्, मया तु तव पितुः पार्श्वे पञ्चलक्षटकका न्यासीकृताः तानर्पयेदानीं। मुहणसिंहोऽवग्—यदि मम पितुरक्षराणि दर्शयिष्यसि तदाऽर्पयिष्यामि। तत्र [तस्य] पार्श्वेऽक्षराणि न सन्ति, झगटके जाते सुरत्राणपार्श्वे गतौ, स्व स्व सम्बन्ध प्रोचतुः। स खरसाणी प्राह—भवान् पितुः समा[2] करोतु। मुहणसिंहः प्राह—पञ्चलक्षैः पितर किं विक्रीणीषे ? ततः पञ्चलक्षा दत्ताः तस्मै। खरसाणी जगसिंहाक्षराणि दर्शयित्वा प्राह—सिंहात्सिंह एव जायते सत्यम्। ततो मुहणसिंह एकलक्षेण परिधापितः मैत्रीकृत्य, स मुहणसिंह उभयकाल प्रतिक्रमण त्रिकाल देवपूजा करोति। साधून् विहार्यैव जिमति। वर्षमध्ये साधर्मिकवात्सल्यत्रय सघार्चात्रय करोति स्म ।। १४ ।।

एकदा सुरत्राणस्याग्रे केनचिद्रत्नत्रय विक्रेतुमानीतं, रत्नपरीक्षका आकारिताः सर्वे, रत्नानि व्यावर्णितानि, ततो जगसिंहाय दर्शितानि। साधुर्जगौ एकममूल्य, द्वितीयं लक्षमूल्य, तृतीयं

---

१ एतेपु को वृद्ध इति B प्रतौ वर्तते ।
२ शपथ, सोगन इति भाषायाम् । नपा०

कपर्द्दिकामूल्य । राज्ञा पृष्ट कथ ज्ञायते ? प्रथम घनघातशतेनापि न भग्नम । द्वितीय घनघात-दशके मनागुच्छ्वसितम् । तृतीय घनघाताद्द्विधा जातम् । प्रथमघाते मध्ये मण्डूकिका सूक्ष्मा निर्गता, ततः साधुर्मानितः, तस्य वणिजः प्रथमरत्नस्य लक्षत्रयं दापित, द्वितीयस्य लक्ष दापित, तृतीयस्य कपर्द्दिका दापिता ॥ १५ ॥

एकस्मिन्पुरे श्राद्धमध्ये रोग उत्पन्नः कथमपि न निवर्त्तते, ततः श्राद्धद्वय श्रीजिनप्रभसूरि-पार्श्वे प्रेषित । तौ श्राद्धौ जिनप्रभसूरीणां ध्यान कुर्वता पार्श्वे यावदायातौ तावद् गुरुपार्श्वे युवतीद्वय ददर्शतुः । ततस्तौ दध्यतुः, गुरूणां स्त्रीणां परिग्रहो विद्यते, ततो यावद्वलितौ स्तम्भितौ, ततो ध्यानानन्तर ते देव्यौ प्रोचतुः—आवां कथमत्रानीते ? गुरुभिः प्रोक्त युवाभ्या श्रीसघस्योपद्रव' क्रियतेऽतः शिक्षा [शिक्षा] दास्ये । ततस्ते प्रोचतुः अद्यप्रभृति श्रीसघस्योपद्रवो न कार्य' । ततस्ते विर्सजिते । श्राद्धद्वय मुत्कल जात, गुरवो नताः, स्त्रीसम्बन्धः पृष्टः । गुरुभिः प्रोक्त भवता पुरे श्राद्धानामुपद्रवः श्रुतः, स चाधुना निवारितोऽस्ति, भवद्भ्यां दृष्टम्, ततस्तौ श्राद्धौ स्वपुरे गत्वा गुरुकृत ज्ञापितवन्तौ ॥ १६ ॥

एकदा मेदपाटीयः पाल्हाको वैद्य. सुरत्राणचिकित्साकृते आगतोऽभूत्, स च कोमल्ल-सूरिशालायां गतस्तत्र श्रीतपागच्छसूरिवराणां तैर्निन्दा कृता, ततस्तेन हक्कितास्ते यतयः कोमलाः, ततः कलिर्जातः केषाचित् हस्तो भग्न, केषांचिन्मुखं ततः सर्वे वाद कुर्वाणाः सुरत्राणपार्श्वे गताः सुरत्राणेन सर्वेषां चेष्टित ज्ञात्वोक्तम्—कस्य दण्डः क्रियते, सर्वे न्यायिन , सर्वे चान्यायिनः, अद्यप्रभृति केनापि कलहो न कर्तव्यः । ॥ इति समतायां पीरोजसुरत्राणसम्बन्धः ॥ १६ ॥

॥ इति कियन्तो जिनप्रभसूरीणामवदातसम्बन्धाः ॥१७॥

[18] प्रस्तररत्नप्राप्तौ जगडूसम्बन्धः ॥

भद्रेश्वरपुरे वेलाकूले श्रीमालज्ञातीय जगडू साधुर्वसति, स च जलस्थलव्यवसाय करोति स्म । एकदा जगडू वणिजो यानपात्र वस्तुभिर्भृत्वा हुरीमजद्वीपे गतः तत्र वस्कारिका गृहीता वस्तु उत्तारित, क्रयविक्रये[यौ] कर्त्तुं लग्नः तत्र च बहवो वस्कारिकाः सन्ति ।

एकदा द्वयोर्वस्कारिकयोरन्तरे महान् प्रस्तरो निर्ययौ । स च वहिः कर्पितोऽन्तराले स्थापितः । तस्योपरि उपविशतो द्वावपि वणिजौ । क्रमाद्विवादोजातः । एकः कथयति मदीयः अपरोऽपि वक्ति मदीयोऽयम् । एव विवादे जाते राजपार्श्वे गत्वा अपरेण वणिजा सहस्रत्रय टङ्कानां मूल्य कृतम् । जगडूवणिजा बहुधन दत्त्वा स प्रस्तरो गृहीतः, याने क्षिप्तः, यानपात्र चलित भद्रेश्वरोपकण्ठे समागत यावत्तावदेकेन नरेण जगडूपार्श्वे प्रोक्तं भवतो वाणिजकः प्रचुर धन-मुपार्ज्यागतः वयं एको महान् पाषाण आनीतोऽस्ति तेन गेहमपि भरिष्यति । इति हास्येनोक्ते जगडूः प्राह—"वणिजो यदि वर्ज्यं चावर्ज्यं चानयन्ति तच्छ्रेष्ठिनः प्रमाणमेव । यादृशं भाग्य धनिकस्य भवति तादृगेव वस्तु आयाति, लाभोऽपि तादृक्ष एव भवति, अत्र विचारो न क्रियते । ततो जगडूः समुद्रतीरे तस्य सम्मुख गत्वा सन्मह वणिक्पुत्र प्रस्तर च स्वगृहे नीतवान् प्राह

धर्मज्ञो धर्मकर्त्ता च, सदा धर्मप्रवर्त्तकः ।
सत्त्वेभ्यो धर्मशास्त्रार्थ-देशको गुरुरुच्यते ॥२॥
अज्ञानतिमिगन्धानां, ज्ञाना शलाकया ।
नेत्रमुन्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥३॥

इति धर्मोपदेशं श्रुत्वा धर्मिष्ठानुरागं च ज्ञात्वा जगसिंहः साधुः सविशेषां श्रीजिनप्रभसूरीणा भक्तिं चक्रे वर्यवस्त्रान्नपानदानात्[1] ॥२०॥

[21] साधर्मिकभक्तौ जगसिंहसाधुसम्बन्धः ।

साधर्मिकवात्सल्यफल मुक्तिशर्मप्रापकं श्रुत्वा जगसिंहसाधुर्देवगिरौ ३६० प्रमाणाः [णान्] स्वतुल्यव्यवहारिणो धनव्यवसायादि-सान्निध्यकरणादिभ्य साधर्मिकांश्चक्रे, ततः प्रतिदिनमेकैकस्मिन् गृहे पक्वान्नादिरसवती निष्पाद्यते[2] । तत्र सकुटुम्बा सर्वे श्राद्धा जिमन्ति स्म । तत्र दिन प्रति [प्रतिदिन] ७२ सहस्रद्रव्यव्ययो भवति । एव प्रतिगृहे जिमतः वर्षप्रान्ते द्वितीयवारं वारकः समायाति, ततो धर्मकृत्यं कुर्वाणेन जगत्सिंहसाधुना भरतदण्डवीर्यराजानौ स्मारितौ ॥२१॥

[22] जगसिंहशत्रुञ्जययात्रासम्बन्धः ।

एकदा जगसिंहसाधुः श्रीसोमतिलकसूरिपार्श्वे धर्मरूप [स्वरूप] पप्रच्छ । तदा गुरुभिः प्रोक्तमेवं धर्मतत्त्वम् ये मिथ्यात्वतिमिरान्धा न भवन्ति तेषा पुर एव धर्मः प्रोक्तव्यः जैनमते—

धम्मेण धणं विउलं, आउं दीहं सुहं च सोहग्गं ।
दालिद्दं दोहग्गं अकालिमरणं अहम्मेण ॥१॥
कथमुत्पद्यते धर्मः, कथं धर्मो विवर्धते ।
कथं वा स्थाप्यते धर्मः, कथं धर्मो विनश्यति ॥२॥
सत्येनोत्पद्यते धर्मो, दयादानेन वर्धते ।
क्षमया च स्थाप्यते धर्मः, क्रोधलोभाद्विनश्यति ॥३॥
अहिंसालक्षणो धर्मो-ऽथाधर्मः प्राणिनां वधः ।
तस्माद् धर्मार्थिना नित्यं, कर्त्तव्या प्राणिनां दया ॥४॥
स्वाख्यातः खलु धर्मोऽयं, भगवद्भिर्जिनो ः ।
यं समालम्ब्य[लम्ब]मानो हि, न मज्जेद्भवसागरे ॥५॥
संयमः[1] सूनृत[2] शौचं[3], ब्रह्मा[4]किञ्चनता[5] तपः[6] ।
क्षान्ति[7]र्मार्दव[8]मृजुता[9], मुक्ति[10]श्च दशधा स तु ॥६॥

---

१ ०पानमदात्० B   २ निष्पद्यते० B C

धर्मसिद्धौ ध्रुव सिद्धि-र्द्युम्नप्रद्युम्नयोरपि ।
दुग्धोपलब्धौ सुलभा, संपत्तिर्दधिसर्पिषोः ॥७॥

नमस्कारसमो मन्त्रः, शत्रुञ्जयसमो गिरिः ।
गजेन्द्रपदजं नीरं, निर्द्वन्द्व भुवनत्रये ॥८॥

कृत्वा पापसहस्राणि, हत्वा जन्तुशतानि च ।
शत्रुञ्जय समाराध्य, तिर्यञ्चोऽपि दिवं गताः ॥९॥

स्पृष्ट्वा शत्रुञ्जयं तीर्थं, नत्वा रैवतकाचलम् ।
स्नात्वा गजपदे कुण्डे, पुनर्जन्म न विद्यते ॥१०॥

इत्युपदेश श्रुत्वा जगसिंहसाधुरेकोनत्रिंशत्शतमितशकटसहस्रानुमितघोटकद्वापञ्चाशद्देवालयादिश्रीसघ' श्रीसोमतिलकसूरियुक्तः श्रीशत्रुञ्जय-गिरनारयोर्यात्रां चक्रे ।

यस्मात् श्रीभरतेश्वराग्रिमनृपाः सजज्ञिरे चक्रिणः ।
श्रीमच्छ्रेणिकसम्प्रतिप्रभृतयस्तीर्थेशभावाचिताः ॥
निःसीमद्रविणानुबन्धिसुकृताः श्रीशालिभद्रादय-
स्तस्मिन्निर्मलधर्मकर्मणि सदा कार्यः प्रयत्नो बुधैः ॥११॥

फलं च पुष्पं च तरुस्तनोति, वित्तं च तेजश्च नृपप्रसादः ।
वृद्धिं प्रसिद्धिं तनुते सुपुत्रो, भुक्तिं च मुक्तिं च जिनेन्द्रधर्मः ॥१२॥

इति जगसिंहशत्रुञ्जययात्रासम्बन्धः ॥२२॥

[23] नापितमन्त्रिकरणसम्बन्धः ।

एकस्मिन्पुरे भीमस्य भूपस्य नापितः प्रधानो बभूव । मन्त्रिणो न मन्यन्ते मनागपि, क्रमात् वैरिभि' परितो व्याप्त राज्यम् । ततो नैके जल्पन्ति मन्त्रिणो विना राज्य यास्यति । मित्रैरपि प्रोक्तम्-नापितस्य परीक्षा कुरु, वैरिपु समेतेपु कथ राज्य रक्षिष्यति । एकदा राज्ञा नापितः पृष्टः । यदि कदाचित्परचक्र समेष्यति तदा त्वया कथ जेष्यते, का बुद्धिः कथ करिष्यते च ? । ततो नापितोऽवग् आदर्शान् हस्ते कृत्वा निर्गमिष्यते [निर्गमिष्यामः] पुराद् तैरादर्शैरेव युद्ध करिष्यते ततस्ते नष्ट्वा यास्यन्ति । ततो राज्ञा ज्ञातमेष नापितो न प्रधानः, यन्मया मन्त्रिणोऽपमानितास्तदयुक्त कृतम । यदि मन्त्रिणो न मानयिष्यन्ते तदा राज्य गमिष्यति । ततो राज्ञा मन्त्रिणो मानिताः । ततो मन्त्रिबुद्ध्या ये ये वैरिणोऽभूवन् ते ते वशीकृताः ॥

इति नापितमन्त्रिकरणसम्बन्धः ॥२३॥

[24] आलस्ये धनश्रेष्ठिकुन्तलपुत्रसम्बन्धः ।

श्रीपुरे धनश्रेष्ठिनः पुत्रं कुन्तलाभिधं परिणयनयोग्य श्रुत्वा चन्द्रपुरात् मदनश्रेष्ठी स्वा पुत्रीं रूपवतीं दातुं समागात् । तदा श्रेष्ठिपुत्रः पादमुच्चैः कृत्वोर्ध्वस्थितः सूर्याभिमुख स्थित्वा च कलशीमध्ये मूत्रयामास । तदा मदनश्रेष्ठी तत्रस्थस्वमित्रपार्श्वे श्रेष्ठिपुत्रस्य कुन्तलस्य वरस्य स्वरूपं पप्रच्छ । अस्य धनस्य श्रेष्ठिनः कियन्तः पुत्राः सन्ति ? तेन व्यङ्ग्यवचनात्प्रोक्तम— अस्य नवपुत्राः सन्ति । क्षणात्पुनः पृष्टम् कियन्तः पुत्राः श्रेष्ठिनः स्म ? ततः स प्राह—पञ्च पुत्रा. सन्ति । पुनः पृष्ट तेन कियन्तोऽस्य पुत्राः ? ततस्तेनोक्त—त्रयः पुत्राः । पुनः पृष्ट कियन्तः पुत्राः श्रेष्ठिन स्म ? ततः स प्राह—पञ्च पुत्राः सन्ति । पुनः पृष्ट तेन कियन्तोऽस्य पुत्रा' ? ततस्तेनोक्त—त्रयः पुत्राः । पुनः पृष्टं कियन्तः पुत्रा अस्य सन्ति ? [स प्राह,] एक एव पुत्रः । ततो मदनः प्राह—मित्र ! त्वयाऽहं भ्रान्तौ कथं पातितः पृथक्पृथग् जल्पनात् ? मित्रः प्राह—यन्मयोक्तं तत्सत्यमेव, यतोऽसौ श्रेष्ठिपुत्रः उच्चै स्थित्वा सूर्याभिमुख भूत्वा कलशीमध्ये मूत्रयामास अतोऽस्मिन् श्रेष्ठिपुत्रे त्रयत्व मयोक्तम्, यतः पञ्च मनुष्या यावन्मात्रमाहार भुञ्जते तावन्मात्रमेक एवाय भुङ्क्ते अतः पञ्चपुत्रभावः प्रोक्तो मयाऽस्मिन्, निद्राक्षणे कुण्डलीदेहकरणात् [देहकुण्डलीकरणात्] नवङ्काकारेण [नवाकारेण] स्वपित्यसौ अतोऽस्मिन्नवपुत्रत्वं विद्यते, यत एवंविधो वरोऽन्यत्र कुत्रापि न दृश्यते अत एकपुत्रत्वमस्य मयोक्तम् । एवंविधगुणो वरो विद्यते यदि रोचते तव तदा दीयता पुत्री, स मूत्रयश्च त्वया दृष्टः किं कथ्यतेऽधिक ततः । श्रेष्ठी समुत्थाय स्वपुरे गतः । ततो वर विलोकयन् पद्मपुरे वीरमहेभ्यस्य धरणपुत्राय श्रेष्ठी स्वां पुत्रीं ददौ । तत इतो धनश्रेष्ठिना बहुशिक्षितोऽपि पुत्रो नालसत्वं मुमोच । ये ये वरं दृष्टुमायान्ति ते ते तादृश दृष्ट्वा ददुर्न स्वपुत्रीं यतः—

गच्छन् जल्पन् हसंस्तिष्ठन्, शयानो भक्षयन्पुनः ।
मूर्खः सर्वत्र लभते, पदे पदे पराभवम् ॥१॥

तत. सोऽलसता श्रयन् न परिणीत, तत्पितरि मृते मूर्खत्वादलसत्वाद्विशेप पराभव-स्थान बभूव ॥

इति अलसत्वविषये धनश्रेष्ठिकुन्तलपुत्रसम्बन्धः ॥२४॥

[25] नागार्जुनसम्बन्धः ।

सुराष्ट्रदेशभूषणे ढुङ्कपर्वते राजा रणसिंहो राज्य कुर्वन् न्यायाध्वना पृथिवीं पालयति स्म । तस्य पद्मावती पत्नी बभूव । तयोर्भोपालाह्वा सुताजनि क्रमात्सा विद्याकलाः पाठिता क्रमाद् राजा वर विलोकयन् नवसारिकानगरे अरिमर्द्दननरेन्द्राय ददौ, इतस्तस्या रूपेण मोहितो वासुकिरभूत्, यतः—

ण[र]सणी कम्माण मोहणी, हंत वयाण बंभवयं ।
गुत्तीण य मणगुत्ती, चउरो दुक्खेण जिप्पंति ॥ १ ॥

ततो वासुकिः शुक्र(रूप)परावृत्तिं कृत्वा तां सेवते । पुत्र क्रमादभूत् । तस्य नागार्जुनेति नामाभूत । स च जनकेन स्नेहेनाभ्येत्य सर्वासामौषधीना फलानि मूलानि दलानि भोजितो । बलेन तस्य प्रभावात् सिद्धपुरुषो जातो, विख्यातः स च क्रमात्प्रतिष्ठानपुरे शातवाहनभूपस्य विद्यागुरुरभूत्, यतः—

विद्वत्वं च नृपत्वं च, नैव तुल्य कदाचन ।
स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ॥ २ ॥

स च नागार्जुनो व्योमगामिविद्यार्थं श्रीपादलिप्तानकपुरे श्रीपादलिप्ताचार्यान् सेवते स्म । ते चाचार्याः पादलिप्तौषधीबलेन वरेऽवसरे अष्टापद–समेतशिखर–शत्रुञ्जय–गिरिनारार्बुदाचल-तीर्थस्थान् जिनेन्द्रान् वन्दते स्म । तेषा पश्चादागताना सूरीणा पादौ प्रक्षालयन्नागार्जुनो नासा-बलेन सप्तोत्तरशतौषधीना नामानि जज्ञौ, गुरूपदेश विनापि ताभिरौषधीभिः पादलेप कृत्वा कुर्कुटपोत इवोत्पतन् निपतति भूमौ, ततो व्रणजर्जरिताङ्गोऽन्यदा गुरुभिः पृष्टः किमेतदिति, ततस्तेन यथास्थिते प्रोक्ते तस्य च कौशल्येन चमत्कृतमानसा गुरव शिरसि हस्त दत्त्वा जगु., महानुभाग[व] ? सम्पूर्णमाम्नाय गुरुदत्तं विना विद्या न स्फुरति नृणाम । तेनोक्तम्—भगवन ! प्रसद्य विद्याम्नाय देहि, ततो गुरुणोक्तम्—यदि त्व शत्रुञ्जयादिपञ्चतीर्थं नत्वैवासि तदाह् अष्टोत्तरशतमौषधं कथयिष्ये ततस्तेन गुरूक्तं प्रतिपन्न, ततो गुरवो जगुः—षष्टितन्दुलोदकेन सर्वा औषधीर्घर्षयत, ततस्तासा लेपेन पादलिप्तेन व्योमगामी भविष्यसि, त विद्याम्नाय प्राप्य नागार्जुनो व्योमगामी बभूव । ततः स प्राप्तखगविद्यो गुरूक्त देवनतिं कृत्वैवात्ति । एकदा गुरुमुखात्स्वर्ण-रससिद्धिनिष्पत्तिं श्रुत्वा साधयितुं प्रवृत्तः रसो निष्पादितः पर स्थैर्यं न याति ततो गुरुपार्श्वे रसस्थैर्यस्वरूपं पप्रच्छ, गुरुभिरुक्त–सप्रभावायाः श्रीपार्श्वप्रतिमायाः दृष्टौ साध्यमानो रसो लसल्लक्षणलक्षितया महासत्यास्त्रिया मृद्यमान स्थिरो भविष्यति, एतत् श्रुत्वा नागार्जुनेन वासुकिः स्वपिता ध्यातः प्रत्यक्षोऽभूत् । पृष्ट च तस्य पार्श्वनाथप्रतिमा दिव्या कथय । वासुकिः प्राह—पूर्वं द्वारवत्या कृष्णेन श्रीपार्श्वप्रतिमा सप्रभावा श्रीनेमिमुखात् श्रुत्वा सप्तवर्षौ यावत्पूजिना द्वारवत्या दाहे समुद्रमध्ये देवेन मुक्ता । काले कान्तिपुरीवासिनो धनदत्तस्य समुद्रमध्ये यान वलितं तत्र देवतयाभ्येत्योक्तम्—अत्राधस्तात् श्रीपार्श्वविम्ब समस्ति तच्च कच्चसप्ततन्तुभिर्मुक्तैर्वहिः समेष्यति, तेन तथा कृते पार्श्वविम्ब निर्गतम् । कान्तिपुर्यामानीतम् यत —

सुप्रभावमयं पार्श्व–नाथबिम्बं मनोहरम् ।
कान्त्या पुरि जनैः पूज्य–मानमस्ति जिनालये ॥३॥

ततो नागार्जुनस्तत्र गत्वा बहुषु लोकेषु वन्दनार्थं दिवानिशमाग[च्छ]त्सु हर्तुं न शक्नोति । एकदाऽवसर प्राप्य छलेन सा प्रतिमा तेन हृता सेढीनदीतटे रसबन्धनार्थं मण्डिता सातवाहनस्य भूपस्य चन्द्रलेखा महासतीं रसमर्दनार्थं तत्रानिनाय, सा नागार्जुनेन भगिनीति कृत्वा स्थापिता रस मर्दयति स्म, तया तदौषधीना रसमर्दनकारणे पृष्टे स्वर्णसिद्धिनिष्पत्तिहेतुं स तस्याः पुरो

जगौ, तया च तत्रागतयोर्द्वयोः महोक्षयोः[1] पुरो रससम्बन्धस्वरूपं प्रोक्तम्, ततस्तौ राज्यसुखं मुक्त्वा रसलुब्धौ कैतवेन नागार्जुनं सेवेते स्म । रसं जिघृक्षू यत्र नागार्जुनो जिमति तत्र तौ छन्न रन्धनीं पृच्छतः स्मेति । अत्र कः को जेमितुमायाति । तया नागार्जुनागमनमुक्तं ताभ्यामुक्त च ततः त्व नागार्जुनाय सलवणा रसवतीं कुर्या सदा, यदा स क्षारा वदेत् तदा प्रोक्तव्य[प्रवक्तव्य]मस्मत्पुरः । बह्वी श्रीरर्पिता ताभ्या तस्याः । अन्येद्युः षण्मासान्ते तया प्रोक्तम्—अद्य तेन क्षारा रसवती प्रोक्ता ततस्ताभ्या राजकुमाराभ्या रसो मिलितो ज्ञातः, ताभ्या पृच्छद्भ्या वासुकिना प्रोक्तं कुशाकुरात् मरणस्य[मरणमस्य] नागार्जुनस्य ज्ञातमितो नागार्जुनः शुद्धरसेन कुतपौ द्वौ भृत्वा ढुंकपर्वतस्य गुहाया रहसि चिक्षेप । ततः पर्वताद्वलमानो नागार्जुनो विमृश[विमर्श] विना ताभ्या क्षत्रियाभ्या दर्भाङ्कुरेण जघ्ने तदा मृतः सः ।

अजाते चित्रलिखिते, मृते च मधुसूदनः ।
क्षत्रिये त्रिषु विश्वाम-श्चतुर्थो नोपलभ्यते ॥४॥

तौ कुतुपौ देवतयाधिष्ठितौ राजपुत्रयोः किमपि न चटित हस्ते देवतया हतौ तौ पापिनौ नरकं गतौ एवं जीवा. पापपराः पापफलं सद्यो लभन्ते । रसस्तम्भनात्त्रम्बावत्यास्तम्भननामाभूत् । पार्श्वदेवस्यापि स्तम्भनमिति नाम ततः कालान्तरे सेढीनदीतटस्थं स्तम्भनपार्श्वनाथबिम्ब स्तम्भनपुरे समायातं तच्चाद्यापि तत्र पूज्यते ॥ इति नागार्जुनसम्बन्धः ॥ २५ ॥

[26] खलभक्षणे धनश्रेष्ठिकथा ।

चन्द्रपुरे धनश्रेष्ठी, तस्य गृहे सुवर्णस्य चतस्रः कोटय सन्ति । सदा मधुराहारवरवस्त्रपरिधापनदेवगुरुश्रीसघपूजादिना सज्जनसन्मानादिना च काल गमयति ।

एकदा राजा राजमार्गे गच्छन् तस्य सदनस्योपरि चतस्रो ध्वजपताका दृष्ट्वा मन्त्रिपार्श्वे पप्रच्छ, किमतो ध्वजपताका अत्र दृश्यन्ते, मन्त्रिणोक्तम्—अस्य गृहे चतुःकोटिमित स्वर्णमस्ति ततस्तद्गृहीतुकामो भूपोऽन्यत्र ग्रामान्तरे गतः, तदानीं श्रेष्ठिनस्तदाकस्मात् खलभक्षणे वाञ्छा जाता, ज्ञात तेनेति एतया वाञ्छया राजा मम धन ग्रहीष्यति अथवा चौराग्न्यादयो ग्रहीष्यन्ति यतः—

दायादाः स्पृहयन्ति तस्करगणा मुष्णन्ति भूमीभुजो,
गृह्णन्तिच्छलमाकलय्य हुतभुग्भस्मीकरोति क्षणात् ।
अम्भः प्लावयति क्षितौ विनिहितं यक्षा हरन्ते हठात्,
दुर्वृत्तास्तनया नयन्ति निधनं धिग्बह्वधीनं धनम् ॥ १ ॥

एवं विमृश्य तेन श्रेष्ठी सर्वां श्रिय सप्तसु क्षेत्रेषु दीनदुस्थादिषु व्ययीचक्रे । राजा पश्चादागच्छन् ध्वजपताका अदृष्ट्वा लक्ष्मीव्ययसम्बन्ध च ज्ञात्वा चमत्कृतोऽभूत्, चेतसि श्रेष्ठी

(१) ०महोदरयो, B C.

आकारितः। पृष्टो राजा [राज्ञा] तदावदन स्वसम्बन्ध खलभक्षणदोहदलक्षण च ततो राजा हृष्टस्तस्मै स्वकोशाच्चतुःकोटिमित स्वर्णं दापयामास। तस्य पुण्यप्रभावात्ततो यावन्मात्रा श्रियं व्ययति तावन्मात्रा श्रीरकस्मान्मिलति, ततश्चिरं स्वां श्रियं सप्तसु क्षेत्रेषु व्ययन् कालक्रमाद् दानवितरणेन स्वर्गं श्रेष्ठी ययौ॥ इति खलभक्षणे धनश्रेष्ठिकथा॥ २६॥

[27] नीचकुलोत्पन्नोऽप्युत्तमो भवतीति द्विजकथा।

कस्मिन्पुरे [कस्मिंश्चित्पुरे] वेश्या क्रमाज्जरती जाता, तस्या एकः पुत्रोऽस्ति। तया चिन्तित मया बहु पाप कृत पुत्रजननात्, यदि हन्यते तदापि पाप भवति अतोऽह गङ्गाया गत्वा पाप स्फेटयिष्यामि इति ध्यात्वा सा वेश्या पुत्रेण सह तत्र नद्यां गता मठवासिकारूप कृत्वा स्थिता गगाया स्नानादिपुण्य पुत्रयुता करोति द्विजमुखाद्वेदस्मृतिपुराणादि जज्ञे। स वेश्यापुत्रः। क्रमात्तत्र द्विजो मुकुन्दस्त तादक्ष विचक्षण वेदविदुर बहुदानपर दृष्ट्वा दध्यौ अय वर्यो वरोऽस्ति मम पुत्री विद्यते विवाहार्हा जाता यद्यस्मै दीयते तदा वरमस्य माता च धर्मशीला विद्यते, गृहे धनमप्यस्ति एवं विमृश्य द्विजेन पुत्री तस्मै मठवासनिकापुत्राय दत्ता। पुत्रं वधूयुत परिणीत स्कन्धयोरुभयतः कृत्वा नर्त्तयन्तीति प्राह—

सोनईशाखा धनि कुलकोड्ड वेद वियारि।
दे मति केरो वेटडो परिणइ दीक्षित कुआरि॥१॥

ततस्तेन मुकुन्देन तस्याः पार्श्वात्तस्य वरस्य सम्बन्ध श्रुत्वा मौन कृतं, बहुलक्ष्मीविद्यादिगुणयुतत्वात् अतो न कुलादि वीक्ष्यते किन्त्वाचार एव यतः—

कैवर्त्तीगर्भसभूतो व्यासो नाम महामुनिः।
तपसा ब्राह्मणो जात–स्तस्माज्जातिरकारणम्॥१॥
शुशुकी[शशकी]गर्भसभूतो, ऋष्यश्रङ्गो महामुनिः।
तपसा० ॥२॥
मण्डूकीगर्भसंभूतो, माण्डव्यश्च महामुनिः।
तपसा० ॥३॥
उर्वशीगर्भसंभूतो, वशिष्ठश्च महामुनिः।
तपसा० ॥४॥
शील प्रधान न कुल प्रधान, कुलेन किं शीलविवर्जितेन।
बहवो जना नीचकुले प्रसूताः, स्वर्गं गताः शीलमुपेत्य वर्यम्॥५॥

ततः सर्वेषु द्विजेषु वेदविदुरेषु मुख्योऽभूत्॥

इति नीचकुलजातोऽप्युत्तमो भवतीति ब्राह्मणकथा॥२७॥

[28] निर्ग्रन्थत्वे योगिकथा

एकस्मात्पुरात् योगी चेल्लकयुतोऽचालीत्, अग्रे गच्छन् योगी चन्द्रपुरमार्गं पप्रच्छ, पुमान् प्राह—एको मार्गः सरलोऽदूरेऽस्ति परं चौरादिविघ्न विद्यते तत्र। द्वितीयो मार्गो विषमोऽस्ति परं निरुपद्रवः। तदा योगी द्रव्यरहितः सोपद्रवेऽपि मार्गे गन्तुं वाञ्छति चेल्लकस्तु नेच्छति द्रव्यापहरणभयात्, मार्गे योगी दध्यौ असौ चेल्लकः कथं स्तेनक्लेशयुक्तमार्गं गन्तु नेच्छति एवं ध्यायन् चेल्लकस्य वचोऽवगणय्य सोपद्रवमार्गे चलितुं तस्थौ इतश्चेल्लके पुरान्तरे गते कस्मैचित्कार्याय झोलिकामध्ये रूप्यटंककभृतां वासनिका वीक्ष्य दध्यौ। असौ चेल्लको धनगमनभयात् सोपद्रवमार्गे यान्तुं नेहते ततो द्रव्य न वर तपस्विनः। एवं ध्यात्वा वासनिका छन्न कूपे चिक्षेप। चेल्लकः पुरादागतो वासनिकामदृष्ट्वा प्राह—यस्मिन् मार्गे रोचते तत्र गम्यताम्। ततो द्वावपि निर्ग्रन्थीभूतौ निर्भयौ सोपद्रवेऽपि मार्गे चेलतुः। ततो धनं तपस्विना क्लेशभूतं मत्वा निस्पृहौ श्वेताम्बरश्रीदमघोषसूरिपार्श्वे धर्मं श्रुत्वा जैनीं दीक्षा गृहीत्वा तपस्कुर्वाणौ स्वर्गं जग्मतुः क्रमान्मुक्ति गमिष्यतः॥

इति निर्ग्रन्थत्वे योगिकथा ॥२८॥

[29] धर्मशालानिष्पादनपुण्ये भीमसाधुकथा ।

एकदा भीमसाधोरावासार्थं वर्यकाष्ठानि आगतानि। तदा हृष्टं भीम दृष्ट्वा पत्नी प्राह—गृहाणि वर्याणि वर्यतराणि भवे भवे कारितानि सन्ति, स्वर्विमानेऽपि स्थितं भूरिशः। पर तत्सर्वमिहलोकार्थं, धर्मकार्ये यदि धर्मशालादिनिष्पत्तये काष्ठानि समायान्ति तदा वर। भीमः प्राह—कुत्र धर्माय काष्ठानि स्थापयिष्यन्ते? भार्या जगौ—धर्मशाला कार्यते तत्र बहुपुण्यं भवति यतः—

वसही–सयणासण–भत्त–पाण–भेसज्ज–वत्थ–पत्ताइ ।
जइवि न पज्जत्तधणो थोवाविहु थोवयं देइ ॥१॥

एवं विमृश्य स्तम्भतीर्थे आलिंगवसत्यां धर्मशाला कारिता पुण्यार्थं। तत्र १४०० टकका लग्ना। तदैकेन केनचित् पुसा भीमसाधुपुरतः प्रोचे—द्रव्यं बहु व्ययितं, शाला तु पुराद्बहिरस्ति तत्र को धर्मं कर्तुं समेष्यति? ततो भीमोऽवग् कदाचिदुत्सूरे सकाले वा कोऽपि कूपिकः पौटलिको विश्रामार्थं स्थित एकसामायिक लास्यति तदा शालालग्नधनादनन्त पुण्य भविष्यति, यतः—

सामाइयंमि उ कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा ।
एएण कारणेणं, बहुसो सामाइअं कुज्जा ॥ १ ॥
सामाइअं कुणंतो, समभावं सावओ घडीदुग्गं ।
आउं सुरे सुबंधइ, इत्तीमित्ताइं पलिआइं ॥ २ ॥
बाणवइकोडीओ, लक्खा गुणसट्ठि, सहसपणवीसा ।
नवसय पंचवीसाए, सतिहा अडभाग पलिअस्स ॥३॥

अकतः ९२,५९,२५,९२५ एकसामायिकलाभः ॥ इत्यादिधर्मशालानिष्पादनपुण्ये भीमसाधुकथा ॥२९॥

[30] धर्मदृढतोपरि आलिंगविप्रप्रासादकथा ।

आलिंगवसतीति नाम जातम् । पूर्वम् आलिंगाह्वो द्विजोऽभूत् । तेन श्रीधर्मघोषसूरिपार्श्वे जिनप्रासादादिकरणे महत्पुण्य भवति [तीतिश्रुतम्] । एकदाऽसौ अवग्–भगवन् ! लोका वदन्ति सन्तान विना स्वर्गो न भवति । गुरवः प्रोचुः—सन्तान विनाऽपि स्वर्गं गच्छन्ति जनाः, सन्ताने सति कदाचित्स्वर्गः, पुण्यप्रभावादेव । सन्तानेन यदि स्वर्गः स्यात्तदा शुनीशुनादि [श्वानादि] जीवा बह्वपत्याः प्रथम स्वर्गं गच्छन्ति [गच्छेयुः] । असन्ताना अपि [च] मुक्ति गमिष्यन्ति [गच्छन्ति], यतः—

बहूनि हि सहस्राणि, कुमारब्रह्मचारिणाम् ।
दिवं गतानि विप्राणा–मकृत्वा कुलसन्ततिम् ॥१॥

गुरुणोक्तं–श्रीऋषभदेवस्य यदि कृष्णवर्णा प्रतिमा कार्यते तदाऽनन्तं पुण्यं मुक्तिगमनयोग्यं भवति, पर सन्तान न भवति । अग्रतः एतद् श्रुत्वा आलिंगो जगौ—भगवन्नहं श्रीऋषभदेवस्य कृष्णवर्णा प्रतिमा कारयिष्यामि, बहुपुण्यलाभात्, सन्तानेन किं प्रयोजनम् ? सन्ताने सत्यपि रावण–श्रीकृष्ण–दुर्योधन–सुभौम–ब्रह्मदत्तचक्रवर्त्यादयो बहवो नरक गताः । अतोऽह श्रीऋषभदेवप्रतिमां श्यामवर्णा कारयिष्यामि । ततस्तेन सन्तानाभावमवलम्ब्यादि[पि] श्रीऋषभदेवप्रतिमा श्यामवर्णा कारिता, स्थापिता स्वकारितप्रासादे, तत आलिंगेन तत्र प्रतिमां तां पूजयता मुक्तिगमनयोग्य पुण्यमुपार्जितम् ॥ इति धर्मदृढताविषये आलिंगविप्रप्रासादकथा ॥३०॥

[31] शनि–शिवसंवादसम्बन्धः ।

एकदा बहुषु ब्रह्मादिदेवेषु मिलितेषु स्वस्वोत्कर्पं जल्पत्सु शनिना प्रोक्तम्—अह सर्वेषु देवादिषु सुखदुःखे कर्तुं समर्थः । तदेश्वरेणोक्तम्—ज्ञास्यते तव कृतं सुखं दुःखं च । एव प्रोच्य शम्भुः स्वगृहेऽभ्येत्य पार्वतीं प्रति स्वचेष्टित जगौ । ततः शम्भुः स्वय महिषरूप, पार्वत्या महिषीरूप कारयित्वा नगरखाले अशुचिमये स्थितौ, द्वावपि तृतीये दिने तस्मिन् व्यतीते ईश्वरपार्वत्यौ खालान्निर्गत्यागतौ गृहे, तत ईश्वर शनिपार्श्वे गत्वाऽवग्–त्वदीया दशा गता कल्ये त्वया किमपि मम दुःख न कृतम् । शनिर्जगौ त्व कुशस्थाः [कुत्राऽस्थाः ?] ईश्वरः स्वस्थितिं जगौ, ततः शनिः प्राह—अह किं स्कन्धे हन्मि जेतु हृदये वा किन्तु तां तादृशीं धिय ददामि यया स्वयं दुःखे पतति त्व त्वशुचिमये खाले स्थितः अतः परं किं दुःखम् अह यद्दुःखादि जनेभ्यो ददामि तदपि कर्मणा प्रेरितः । ततः शम्भुर्जगौ सत्यमेव कर्मकृत सुख दुःख जीवा लभन्ते—

यादृशं क्रियते चित्तं, देहिभिर्वर्णनादिषु ।
तादृशं कविवन्नूनं, जायते सन्ततं जने ॥१॥

इति लौकिककथा शनिशम्भुजल्पनविषया समाप्ता ॥३१॥

[32] निष्कूपोपरि मरुस्थलीवर्णनम् ।

माता गंगासमं तीर्थं, पिता पुष्करमेव च ।
तीर्थं फलति कालेन, माता–तीर्थं पुनः पुनः ॥१॥

इत्यादि ध्यात्वा मातापितरौ कावडिकाया स्थापयित्वा विप्रस्तीर्थानि करोति । तीर्थानि कुर्वन् मरुस्थल्या गच्छन् अधः प्रचुरसिकताया हिण्डितुमशक्नुवन् जलं स्तोकं पिबन् मृगतृष्णिका पश्यन् पदे पदे जलभ्रान्त्या धावन् खिन्नः सन् प्रथम पितरं स्कन्धादुत्तारयामास । पिताऽवग् अहमक्षमस्तीर्थं [कर्तुं], कथमुत्तारयसि ? पुत्रोऽवग् इयं तु मरुस्थली रुक्षा एवं मातरमपि स्कन्धादुत्तार्य स्वेच्छयाऽचालीत । मातापितरौ पादचरिणौ पुत्रस्य पृष्ठौ [पृष्ठतः] दुःखेन चलत ॥

इत्यादि मरुस्थलीवर्णनं निष्कूपोपरि ॥३२॥

[33] ध्याने [विचारे] वैद्यकथा ।

यादृशं क्रियते चित्तं, सदसद्वस्तुवर्णने ।
कवेरिव भवेत्तादृग्, जनानां भावुकात्मनाम् ॥१॥

तथाहि—एकदा श्रीरामस्य सुबुद्धिनामा कविरभूत्, स च श्रीरामकारित पम्पासरः काव्यैर्नित्यं वर्णयति स्म । वैद्या बहवः श्रीरामस्य परिवारस्य रोगोत्पत्तौ चिकित्सा कुर्वन्ति स्म । अन्यदा सुबुद्धिकवेः सरो वर्णयतस्तद्ध्यानाज्जलोदर वर्द्धितं, वैद्यो विचारविज्ञस्तस्य चिकित्सा कारयति बहुप्रकारैः, परं गुणो न भवति, यतः—

वैद्यस्तर्कविहीनो, निर्लज्जा कुलवधूर्व्रती पीनः ।
कटके च प्राघूर्णको, मस्तकशूलानि चत्वारि ॥२॥

तत एकस्तत्र वैद्यो वृद्धो विचारज्ञः समागात् । राज्ञा तस्य रोगचिकित्सायै आदिष्टम् । ततस्तेन वृद्धेन वैद्येन शरीरस्वरूप विलोक्य शालिशालिघृतादिवर्यं [भोजन दत्तम्] ददता तस्य तथा भोजन कुर्वाणस्य वैद्येनेत्यादिष्टम्, मरुस्थल वर्णय । तत एव वर्णयति—

मृगतृष्णा सदा दर्शं, दर्शं तृषितवक्षसम् ।
ओष्ठ तालु गलादीनि, शुष्यन्ति स्म दिने दिने ॥३॥

इत्यादि वर्णयतस्तस्य रोगिणो जलोदररोगो गतः । श्रीरामेण पृष्टं—भो वैद्य ! मरुस्थलवर्णनेन कथमस्य रोगो ययौ ? वैद्योऽवग् पूर्वमनेन सरो जलभृत भूरिशो वर्णित तेन जलोदररोगोऽभूत् सरोध्यानात्, अधुना मरुस्थलवर्णनाद् रोगो गतः 'यादृशं ध्यान तादृश मनः, यादृग्मनस्तादृग्वपुर्भवति', शुभाशुभाकर्णनाच्छरीरी प्रसन्नोऽप्रसन्नो भवति, यतः—

वीतरागं स्मरन् योगी, वीतरागत्वमश्नुते ।
सरागं ध्यायतस्तस्य, सरागत्वं तु निश्चितम् ॥४॥

येन येन हि भावेन, युज्यते यन्त्रवाहकः ।
तेन तन्मयतां याति, विश्वरूपो मणी यथा ॥५॥

इलिका भ्रमरीध्यानात्, भ्रमरी जायते यथा ।
तथा ध्यानानुरूपः स्यात्, जीवोऽशुभशुभात्मवान् ॥६॥

अतोऽस्य मरुस्थलं वर्णयतो रोगो गतः । ततो वैद्यो मानितः । यतः—

अलंकरोति हि जरा, राजामात्यभिषग्यतीन् ।
विडम्बयति पण्यस्त्री—मल्लगायन[क]सेवकान् ॥७॥

इति ध्याने वैद्यकथा ॥३३॥

[34] नीचानीचविचारविषयिकी लौकिकी कथा ।

जन्मना तु ध्रुवं वर्य—मवर्यं जायते कुलम् ।
प्रायो भवति मर्त्यानां, क्रियया विप्रवज्जने ॥१॥

तथाहि—कस्यचिद्विप्रस्य विज्ञस्य यजनयाजनाध्ययनाध्यापनादिषट्कर्मकारकस्य गृहे एकस्तपस्वी स्व धौतिक मुक्त्वा गतस्तीर्थयात्रायै, स तपस्वी देवदत्ताह्वः तपःप्रभावाद्दीर्घायुष्कः सन् तीर्थे भ्रमति स्म। इतः स द्विजो मृत्युसमये स्वं पुत्रं प्रति प्राह—इदं धौतिकं तपस्विनो देवदत्तस्यास्ति यदा मार्गयति तदाऽर्पणीय त्वया। पितरि मृते क्रमाद् द्विजपुत्रो निर्वाहाभावात् कुम्भकारकर्म करोति। इतः स तपस्वी तत्रागतः स्वस्य धौतिकस्यार्थं गृह पृच्छन् (जज्ञौ)। परमस्य गृहे कुम्भकारकर्म दृष्ट्वा धौतिक तथैव मुक्त्वाऽन्यत्र तीर्थयात्रायै गतः। क्रमाद् स द्विजः कुम्भकारकर्म्म मुक्त्वा भारवाहोऽभूत्। पुनस्तत्रागत. स्वं धौतिक पूर्ववत्तत्र दृष्ट्वा तथैव मुक्त्वा गतः। स भारवाहः परलोक गच्छन् स्वपुत्राय परम्परागत धौतिकसम्बन्ध जगौ। ततस्तस्मिन् तत्पुत्रो राजसेवकोऽभूत्। तत्रापि पूर्ववत्तत्रागतस्तस्य गृहेऽन्यत्कर्म दृष्ट्वा यात्रायै गतः, स सेवको मृतः, तस्य पुत्रो ग्रामहट्टकोऽभूव। पुनः स तपस्वी तत्रागात्। तस्य गृहे अनीदृशं कर्म्म दृष्ट्वा धौतिकं सम्भाल्य तथैव मुक्त्वा गतः। ततो ग्रामहट्टको वैदिकद्विजयोगाद् चतुर्वेदी द्विजो जातः। इतो भ्रान्त्वा तपस्वी तत्रागात् पूर्वक्रिया वैदिकीं यजनयाजनादिकां दृष्ट्वा हृष्टोऽभूत्। ततस्तेन द्विजेनोक्त—भो तपस्विन्! भवता कथ हृष्ट, तपस्व्यवग्—यजनादिविद्ब्राह्मणादारभ्य सर्वं सम्बन्ध तस्याग्रे, ततः स तपस्वी स्वधौतिक लात्वा जगौ—यादृशो योगस्तादृक् पुमान् भवति। उत्तममध्यमजघन्यादिविचारो न क्रियते। ततः स तपस्वी स्वस्थान ययौ ॥

इति नीचानीचादिविचारकथा लौकिकी ॥ ३४ ॥

[32] निष्कृपोपरि मरुस्थलीवर्णनम् ।

माता गङ्गासमं तीर्थं, पिता पुष्करमेव च ।
तीर्थं फलति कालेन, माता–तीर्थं पुनः पुनः ॥१॥

इत्यादि ध्यात्वा मातापितरौ कावडिकाया स्थापयित्वा विप्रस्तीर्थानि करोति। तीर्थानि कुर्वन् मरुस्थल्या गच्छन् अधः प्रचुरसिकताया हिण्डितुमशक्नुवन् जल स्तोकं पिबन् मृगतृष्णिका पश्यन् पदे पदे जलभ्रान्त्या धावन् खिन्नः सन प्रथम पितरं स्कन्धादुत्तारयामास। पिताऽवग् अहमक्षमस्तीर्थं [कर्तुं], कथमुत्तारयसि ? पुत्रोऽवग् इयं तु मरुस्थली रुक्षा एवं मातरमपि स्कन्धादुत्तार्य स्वेच्छयाऽचालीव। मातापितरौ पादचारिणौ पुत्रस्य पृष्ठौ [पृष्ठतः] दुःखेन चलत ॥

इत्यादि मरुस्थलीवर्णनं निष्कृपोपरि ॥३२॥

[33] ध्याने [विचारे] वैद्यकथा ।

यादृश क्रियते चित्तं, सदसद्वस्तुवर्णने ।
कवेरिव भवेत्तादृग्, जनानां भावुकात्मनाम् ॥१॥

तथाहि—एकदा श्रीरामस्य सुबुद्धिनामा कविरभूत्, स च श्रीरामकारित पम्पासरः काव्यैर्नित्य वर्णयति स्म। वैद्या बहवः श्रीरामस्य परिवारस्य रोगोत्पत्तौ चिकित्सा कुर्वन्ति स्म। अन्यदा सुबुद्धिकवेः सरो वर्णयतस्तद्ध्यानाज्जलोदरं वर्द्धितं, वैद्यो विचारविज्ञस्तस्य चिकित्सा कारयति बहुप्रकारैः, पर गुणो न भवति, यतः—

वैद्यस्तर्कविहीनो, निर्लज्जा कुलवधूर्व्रती पीनः ।
कटके च प्राघूर्णको, मस्तकशूलानि चत्वारि ॥२॥

तत एकस्तत्र वैद्यो वृद्धो विचारज्ञः समागात्। राज्ञा तस्य रोगचिकित्सायै आदिष्टम्। ततस्तेन वृद्धेन वैद्येन शरीरस्वरूप विलोक्य शालिदालिघृतादिवर्यं [भोजन दत्तम्] ददता तस्य तथा भोजन कुर्वाणस्य वैद्येनेत्यादिष्टम्, मरुस्थल वर्णय। तत एव वर्णयति—

मृगतृष्णा सदा दर्शं, दर्शं तृषितवक्षनम् ।
ओष्ठ तालु गलादीनि, शुष्यन्ति स्म दिने दिने ॥३॥

इत्यादि वर्णयतस्तस्य रोगिणो जलोदररोगो गतः। श्रीरामेण पृष्ट–भो वैद्य ! मरुस्थलवर्णनेन कथमस्य रोगो ययौ ? वैद्योऽवग् पूर्वमनेन सरो जलभृत भूरिशो वर्णित तेन जलोदररोगोऽभूत् सरोध्यानात्, अधुना मरुस्थलवर्णनाद् रोगो गतः 'यादृशं ध्यान तादृश मनः, यादृग्मनस्तादृग्वपुर्भवति', शुभाशुभाकर्णनाच्छरीरी प्रसन्नोऽप्रसन्नो भवति, यतः—

[35] धर्मे भोजकथा ।

भोजराजा मरणसमये सर्वदर्शनिनो यथायोग्यं सन्मान्य मंत्रीशानाकार्य जगौ—'पुण्यं स्तोकं कृतं, पापं बहु' तेन भवद्भिर्मम मरणादनु मम एको हस्तोऽञ्जनलिप्तो, मनाक्चन्दनरसालिप्तो हस्तो द्वितीयो विधातव्य. । मन्त्री प्राह—कथमेवं प्रोच्यते ? भोजः प्राह—लोको मामेवविधं मत्त्वा [मत्वा] पुण्यं कुर्वन्ति । ततो भोजे मृते तथैव कृत्वा दाहार्थं नीयमानं भोज भूपं, लोका जगुः—कथं राज्ञो हस्तावीदृशौ कृतौ । ततो मन्त्रिभिर्भूपोक्तं प्रोक्तं ततो बहवो जनाः पुण्ये कृतादरा बभूवुः ॥ इति धर्मविषये भोजकथा ॥ ३५ ॥

[36] कृपणत्वे छलभूपकथा ।

एकदा श्राञ्जोवाटिकाधिपच्छलराजा पूर्वं दानं न ददौ । मरणसमये दानेच्छाऽभूत् । पुत्राणामग्रे प्राह—मम एतासां गवां, एतेषां घोटकानां एतेषां रथानां, [एतासां च] रमाणां दानेच्छाऽस्ति । तदा मन्त्र्यादिभिः पुत्रैश्च विमृष्ट—असौ सर्वं राज्यं दास्यति, उत्तरमस्य दीयते-ऽधुना—"मरणादनु सर्वं दास्यते" । एवं जल्पिते [जल्पिताः] ते भूभुजा पुत्राः किमपि न ददुः, स च मृतः । एवं यत्स्वहस्तेन प्रथमं दीयते, तदेवात्मीयं, नान्यत् । मरणसमये हिता अपि पुत्रा विघटन्ते ॥ इति कृपणत्वे छलभूपकथा ॥३६॥

[37] धर्मदृढतोपरि डीसावालसारङ्गसम्बन्धः ।

वटप्रदे डीसावालः मन्त्री सारंगाह्व, स च मिथ्यात्वं करोति । तस्य माता जैन धर्मं करोति । एकदा माताऽवग् पुत्र ! त्वं तु मिथ्यात्वं कुरुषे जिनधर्मं तु न कुरुषे । जिनधर्मं विना मुक्तिर्न भवति वीतरागासेवनत्वात् । मम तु मरणावसरोऽस्ति, त्वया मम मरणादनु जैनाः साधवो धर्म-शालाया वन्दनीयाः । सारंगो जगावेवमस्तु त्वयार्त्तिर्न कर्त्तव्या । मातरि मृताया सारंगो जैनान् साधून् न वन्दते मिथ्यात्वमेव करोति । माता स्वर्गता सती पुत्रस्नेहात्पुत्रबोधनार्थं रात्रावभ्येत्यैक श्लोकं दत्त्वाऽवग्—योऽस्य श्लोकस्यार्थं कथयति तस्य पार्श्वे त्वया धर्मः कार्यः । अहं तव माता । एवं प्रोच्य गताया मातरि, सारंगः स्थाने स्थाने द्विजादीनां पार्श्वे श्लोकार्थं पप्रच्छ, पर न जज्ञौ । ततः सिद्धपुरे श्रीदेवसुन्दरसूरेस्तपागच्छाधिपस्य पार्श्वे श्लोकार्थं पप्रच्छ जज्ञौ—

कामकान्तं व्रजे स्थानं, शिशिरा चापय भुते ।
अत्रोदितं मतं ग्राह्यं, त्वया पुत्रान्तदर्शनात् ॥१॥

'मत जैन शिवाय ते', ततो जैनं धर्मं प्रपद्य सम्यक्त्वधारी श्राद्धोऽभूत् । शत्रुञ्जये गतः, तत्र श्रीऋषभ नत्वा स्तुतिमेव चक्रे 'धन्यः स मासः, धन्यः स दिवसः, धन्य स पक्षः' इत्यादि-देवैरपि चालितः सन् न चालितः ॥ इति धर्मदृढताविषये डीसावालसारंगसम्बन्धः ।

[38] प्रस्तरतरणे राममहिमा ।

एकदा पीरोजसुरत्राणेन मुकुन्दपण्डितस्याग्रे प्रोक्तम्—अहं महान् अथवा राम ? ततस्तेन ज्ञेन जलमानायित, तत्र अय पाषाणो जले क्षिप्यता। राज्ञा पाषाणो जले क्षिप्तो ममज्ज। ततो राज्ञोक्तम्-[व्यक्त्या] व्यक्तं जल्प, भयो नानेयः। ततो ज्ञोऽवग्-रामस्य सेवकैर्हनुमदादिभिर्जले मुक्ताः प्रस्तरास्तेरुः, अय तु पाषाणो मग्नः, यत.—

ये मज्जन्ति निमज्जयन्ति च परांस्ते प्रस्तरा दुस्तरे,
वार्द्धौ वीग (?) तरन्ति वानरभटान् सतारयन्तेऽपि च ।
नैते ग्रावगुणा न वारिधिगुणा नो वानराणां गुणाः,
श्रीमद्दाशरथेः प्रतापमहिमा सोऽयं समुज्जृम्भते ॥१॥

एवं प्रोक्तो राजा हृष्टः ॥ इति प्रस्तर तरणे राम महिमा ॥३८॥

[39] औचित्योत्पत्तिवुद्धौ छाग–छागमातृकथा ।

एकदा छागो मातरं प्रति जगौ मातर ! दीपालिका समेष्यति मदीयौ शृगौ त्व भूषयेस्तदा माताऽवग्-पुत्र ! यदि महिणिमाया (?) अश्विनशुक्लनवम्यां तव कुशल भविष्यति तदा तव कथित करिष्ये। एतच्छ्रुत्वा भीमभूपेन छागमारणेऽभिग्रहो गृहीतो, महिणिम पर्वणि जीवहिंसा त्यक्ता, अन्यत्पक्वान्नादिबलिश्च कृतः ॥

इति औचित्योत्पत्तिवुद्धौ छागछागमातृकथा ॥३९॥

[40] अनित्यतायां भोजसम्बन्धः ।

भोजराजोऽन्यदा रात्रेर्मध्ये काव्यपदत्रयमेव पुन पुनरुच्चैर्जजल्पेति—

चेतोहरा युवतयः स्वजनोऽनुकूलः, सद्बान्धवाः प्रणयगर्भगिरश्च भृत्याः ।
वल्गन्ति दन्तिनिवहास्तरलास्तुरङ्गाः, ...॥ इति

पदत्रय भूपेन प्रोच्यमान पुनः पुनः श्रुत्वा चौरः पूर्वं गृहान्तः प्रविष्टो जगौ—

'सम्मीलने नयनयोर्नहि किञ्चिदस्ति' इति

ततो राजा त चौरं मत्वा भृत्यपार्श्वात् भृत्वा प्रातस्त विज्ञं लक्ष्मीदाने[न]सम्मानयामास ॥ इति अनित्यतायां भोजसम्बन्धः ॥४०॥

[41] अनित्यतायां वस्तुपालमन्त्रि ।

एकदा श्रीवस्तुपालमन्त्री स्तम्भतीर्थे ययौ। तदा लोकाः समेत्योचु—'युष्माकं शरीरे कुशलमस्ति ! तदा वस्तुपालमन्त्री अवग्—

लोकः पृच्छति मे वार्ता, "शरीरे कुशलं तव" ।
कुतः कुशलमस्माक—मायुर्याति दिने दिने ॥१॥

इत्यनित्यतायां सम्बन्धः ॥४१॥

[42] कूटतुलाद्यर्जितविषये श्रेष्ठिकथा ।

कस्मिन् [कस्मिश्चिव] पुरे श्रेष्ठी कूटमानतुलादिभि. कूटं व्यवहरति । एकपुष्कर-द्विपुष्कर-त्रिपुष्कर-चतुष्पुष्कर-पञ्चपुष्करेत्यादीनि मानतुलाना नामानि ददौ । अधिकं गृह्णाति, स्तोक दत्ते इत्येवं कुर्वतो व्यवसायात् मिलितं धनं वर्षप्रान्तेऽग्निना दह्यतेऽथवा स्तेनैर्गृह्यते राज्ञा वा । एकदा लघुपुत्रवध्वा कूटादिव्यवहारं दृष्ट्वा प्रोक्तं—कूटव्यवहारे श्रीर्यात्येव । ततो वध्वा स्वर्णमयं गोलक कारयित्वा जले क्षेपितः । पुनः स एव मात्सिकैरब्धिमध्यात् कर्षितमीनहृदयात्प्राप्यसेरभ्रान्त्या दत्तः । ततो वध्वोक्तं—भो श्वसुर ! शुद्धमार्गेण व्यवसायं कुर्वतः एवं गृहान्निष्काशितापि श्रीः समेति स्वयम्, ततः शुद्धं व्यवसायं कुर्वतस्तस्य गृहे स्थिरा श्रीर्जाता ॥

इति कूटतुलाद्यर्जितविषये श्रेष्ठिकथा ॥४२॥

[43] बुद्धिविषये मृगावतीकथा ।

कौशाम्ब्यां शतानीको भूपः, तस्य पत्नी मृगावती चेटकभूपपुत्र्यभूत्, अन्यदा राजा सभास्थो दूतमप्राक्षीत्, मम राज्ये यादृशं विद्यते तादृक्कस्यचिदन्यस्य विद्यते न वा ? दूतोऽवग् चित्रसभा वर्या नास्ति । ततो राज्ञा चित्रसभा कारयितुमारब्धा, चित्रकृन्मुख्यः सोमश्चित्रकृत् चित्रशालां चित्रयति । सोमोऽन्यदा मृगावत्याः पदाङ्गुष्ठं दृष्ट्वा मृगावत्या रूपं चित्रयति स्म, पर तस्या गुह्ये कृष्णो बिन्दुः पुनः पुनरपसार्यमाण पपात । ततो राज्ञा राज्ञ्या रूपं चित्रलिखितं कृष्णबिन्दु गुह्यस्थं च वीक्ष्य दध्यौ । अनेन चित्रकृता किं मम पत्नी समग्रा दृष्टा ? ततो राज्ञा सोमो वधायादिष्टः । तदाऽन्ये चित्रकारा जगुः, असौ न हन्यते अस्य दैवतवरोऽस्ति, तथाहि—साकेतनपुरे सुरप्रियो यक्षोऽभूत् । स च प्रतिवर्षं चित्र्यते, चित्रकर च हन्ति, कोऽपि न चित्रयति यदा तदा पुरं हन्ति । ततो राज्ञा चित्रकराणां वारकः कृतः । चित्रलेखने यस्य नाम घटमध्याद् निर्याति स चित्रयति यक्षम् । एवं प्रतिवर्षं क्रियमाणे एकदा एकस्या स्थविर्याः [स्थविरायाः] एक एव पुत्रस्तस्य वारकः समागात्, तदा माता रौति, तदा तत्र सोमश्चित्रकर समागात्, ज्ञातं तस्याः पुत्रस्य वारकागमनं, जगौ सोमः, मातस्त्वं मा रोदीः, तव पुत्र रक्षिष्यामि । ततः षष्ठ कृत्वा शुचीभूय मुखकोशं पिधाय यक्षं चित्रयितुं लग्नः सोमः । यक्षस्तुष्टः जगौ—वरं याचस्व । चित्रकृतोक्तम्—अतः परं त्वया जीवहिंसा न कार्या । मम च देहांशे दृष्टे सम्पूर्णदेहचित्रकलाकरणशक्तिं देहि, तेन तुष्टेन यक्षेण तथाकृत, सोऽत्रागतोऽसौ सोमः । ततो राज्ञा (तस्या) अङ्गुष्ठ दर्शयित्वा दास्या रूपं चित्रयामास । ततो राजा चमत्कृतः । पुनस्तस्य छिन्नसंडको हस्तः कारितो राज्ञा । ततः स चित्रकृद् मृगावत्या रूपं पट्टे लिखित्वा चण्डप्रद्योतनायादर्शयत् । चण्डप्रद्योतनः शतानीकपार्श्वात् मृगावतीं याचते स्म । स न दत्ते । प्रद्योतनस्तत्रागात । दुर्गं वेष्टयामास । तदा

तमरिं दृष्ट्वाऽकस्मात् शतानीको मृतः। पत्युर्मृत्युकृत्य कृत्वा मृगावत्या धीमत्या ज्ञापित मम भर्त्ता मृतः। अह त्वां वाञ्छामि। पर पुत्रस्य लघोर्दृढ वप्र कारय पश्चादहं त्वामङ्गीकुर्वे। यदि बलात्कार करोषि तदात्महत्या करोमि। ततो राज्ञा वप्रो दृढः कारितः धनधान्यादिभिः पूरितश्च। ततो नायाति सा चण्डपार्श्वे, ततः योद्धुं लग्नः परं दुर्गं लातु न शक्नोति। इतः श्रीवीरस्तत्रागात्, राजा तत्र गतः, मृगावत्यपि तत्रागाव नन्तु प्रभुम्। उपदेशः श्रुतो द्वाभ्याम्। मृगावती दीक्षा याचते तदा चण्डो मोह त्यक्त्वा मृगावतीं क्षमयामास। मृगावती दीक्षामलात्। चण्डप्रद्योतनः प्रभु महासतीं च नत्वा स्वस्थानमगात्॥ इति बुद्धिविषये मृगावतीकथा ॥४३॥

[44] गर्वोपरिश्रीधराचार्यकथा ।

एकदा श्रीधराचार्यो नितवासनिकत्रिंशतिकादिगणितग्रन्थान् कृत्वा तेषा प्रान्ते स्वनाम लिखित्वा गर्वं दधान एक काव्य चकारेति—

उत्तरतः सुरनिलयं, दक्षिणतो मलयपर्वतं यावत् ।
प्रागपरोदधिमध्ये, नो गणकः श्रीधरादन्यः ॥१॥

तस्य कवेः 'सरस्वतीपुत्रे'ति विरुद नाम दधानस्य सरस्वती दध्यौ, अहो एष विज्ञोऽपि मूर्खः, यत एव गर्वं धत्ते। ततो ब्राह्मी जरतीस्त्री [जरत्स्त्री] रूप कृत्वा श्रीधराचार्यपार्श्वे समेत्येद प्राह—अहं लेखक न जाने त्व तु सर्वं जानासि तेनेद कथय एकेन द्विकेन किं भवति, श्रीधरोऽवग्–त्रयो भवन्ति, एव न प्रोच्यते, सम्यग् कथय, ततः श्रीधरः प्राह—द्वादश भवन्ति, एवमपि न भवति। श्रीधरोऽवग्– भो जरति ! त्व ग्रथिलाऽसि एतदपि न जानासि, मदुक्त क्वचित् कूट न भवति, स्त्रियोक्तम् एकविंशतिः, अङ्काना वामाङ्गत्वाव। ततः श्रीधरो धूनितशिराः प्राह—मातः ! का त्व, तयोक्तमह कास्मी[श्मी]रदेशवासिन्यस्मि, तव गर्वं स्फेटयितुमत्राऽगां। श्रीधरोऽवग् को गर्वो मया कृतः, तयोक्तम्—"उत्तरतः सुरनिलयेति" श्लोककरणमेव गर्वस्तव, श्रीधरोऽवग्–मातस्त्व स्वरूपं प्रकटय, मा कथ विप्रतारयसि, ततो ब्राह्मया निजं रूप प्रकटित। वाग्देवीरूप दृष्ट्वा श्रीधर उत्थाय तस्याः पादयोः पतित्वाऽवग्–मातरह मुग्धोऽस्मि, यत एव मया गर्वः कृतः। तयोक्त–पुत्र ! त्वयाऽतः पर गर्वो न कार्यः, गर्वेण जीवा दुःखिनः स्युरिह परत्र च, यतः—

ज्ञानं मददर्प्पहरं माद्यति यस्तेन तस्य को वैद्यः ।
अमृतं यस्य विषायति तस्य चिकित्सा कथं क्रियते ॥२॥
विद्ययैव मदो येषां, कार्प्पण्यं विभवे सति ।
तेषा दैवाभिभूतानां, सलिलादग्निरुत्थितः ॥३॥

एव ब्राह्मीवचः श्रुत्वा श्रीधरो गर्वं तत्याज ॥ इति गर्वोपरिश्रीधराचार्यकथा ॥४४॥

[45] गर्वोपरि कृष्णद्वी[द्वै]पायन कथा ।

महाभारतान्ते श्रीकृष्णद्वी [द्वै]पायनव्यासेनाभिमानिना श्लोक ईदृशोऽलेखि—

अहं वेद्मि शुको वेत्ति, संजयो वेत्ति वा (नवा) ।
भारतं भारती वेत्ति, देवो जानाति केशवः ॥१॥

दक्षिणसमुद्रात् ११४ योजनैरुत्तरस्या दिशि अयोध्यात' कुम्भकारो जैनो गिरिनारगिरौ यात्रार्थं गतः, तत्रस्थैः कृष्णद्वी[द्वै]पायनशिष्यैरुक्तम्—अस्माकं गुरु. सर्वं वेत्ति, कुम्भकृद्ध्यावेवं सर्वज्ञं विना न कोऽपि वेत्ति, ततः स कुम्भकारः कृष्णद्वी[द्वै]पायनपार्श्वे गतः सन्प्राह—भारते भवत्कृते कथायाः पतिः कः ? कृष्णद्वी[द्वै]पायनोऽवग् युधिष्ठिरादयः कथेशाः, द्रौपद्याः समं तेषां कः सम्बन्धो भवति, कानि नात्रकानि भवन्ति ततो व्यासोऽवग् न जाने, ततः कुम्भकारोऽवग्—

पतिस्वसु[श्वशु]रताज्येष्ठे पतिदेवरताऽनुजे ।
मध्यमेषु च पाञ्चाल्या–स्त्रितयं त्रितयं त्रिषु ॥२॥

तत उत्थाय द्वी[द्वै]पायनः कृताञ्जलिर्जगौ—

त्वमेव विदुरो धीमान् , त्वमेव धर्मिशेखरः ।
त्वमेव वन्दनीयोऽसि, त्वमेवासि कलानिधिः ॥३॥

अहं मूर्खोऽस्मि मूढोऽस्मि, गर्ववान् पापवान् पुनः ।
कृतघ्नोऽस्मि निष्कलोऽस्मि, निर्गुणोऽस्मि च कुम्भकृन्[त् ?] ॥४॥

इति गर्वोपरिकृष्णद्वी[द्वै]पायनकथा ॥४५॥

[46] दाने धनकथा ।

श्रीपुरे धनश्रेष्ठी महेभ्यः, तस्य वहवः स्वजना., तस्य भार्या धनवती, पुत्रः कमलः, तस्य पत्नी कमला, धने पत्नीयुते स्वर्गं गते कमलः क्रमात्स्वल्पधनोऽभूत्, कमलस्तु गुणवान् भार्या च पतिहितकारिणी, प्राघूर्णकाः वहवः समायान्ति। कमला सर्वेषां प्राघूर्णकाना पत्यानीतानां भक्तिं करोति । अन्यदा श्रेष्ठी कृशशरीरा पत्नीं वीक्ष्य प्राहेति—

किं दीससि पिए संपइ, दुब्बला सुगुणावहे ।
जं ते अत्थि अणूंरङ्खं, तं पूरेमि कहेह ॥१॥

भार्याऽवग्—घरि आवइ घरि मग्गिड्डिअ, पिय तुम्ह नामगुणेहिं ।
तिणि कारणि हूं दूवली, झूरउं रातिदीएहिं ॥२॥

ततो विशेषाद्धनानुसारेण दान ददतो मुक्तियोग्यं पुण्यमर्जयतस्तौ ।

इत्यादिदाने धनकथा ॥४६॥

[47] धीविषये रिंछग्राहिकथा ।

कोऽपि पुमान् मार्गे निर्ययौ, वने तस्य मार्गे मिलित एको रिञ्छः । यदा रिञ्छस्तस्य पृष्टौ प्रधावति हन्तु तदा तेन पुसा कर्णे घृतो रिञ्छः । यथा रिञ्छो त हन्तुमिच्छति तथा तथा स कर्णयोर्द्दढ मर्दयितु लग्नः । तदा तस्य वासनिका त्रुटिता, कियन्ति स्पर्धकानि पतितानि भुवि तदा इतोमार्गे कोऽपि आगच्छन्पुमान् तं तथा दृष्ट्वा जगौ किं त्वया क्रियमाणमस्ति तेनोक्त असौ रिञ्छः कर्णयोर्मृद्यमानः स्पर्धकानि मुञ्चन्नस्ति, द्वितीयोऽवग्-यदि त्वं मह्यमनु ज्ञस्व तदाऽहमपि कियन्ति स्पर्द्धकानि अर्जयिष्यामि, तेनोक्तमेव कथ रिञ्छोऽसौ मया तुभ्यं दीयते । द्वितीयोऽवग्-त्व कृपापरोऽसि, ततस्तेन रिञ्छो दत्तस्तस्य हस्ते । स च तस्य कर्णौ मर्दयितु लग्नः । प्रथमः स्वस्पर्द्धकानि गृहीत्वा जगौ—कियन्ति स्पर्द्धकानि तव हस्ते चटितानि न वा । स रिञ्छकर्णौ मर्दयन् जगौ—असौ तु किमपि न दत्ते हन्तु मा वाञ्छति असौ, परोऽवग्, तर्हि मुञ्चासु । रिञ्छग्राह्यवग्—रिञ्छकर्णागृहीतो लातु मोक्तु न शक्यते, ततः स दुःखी जातः । प्रथमः स्वस्पर्धकानि लात्वा सुखीभूत्वा बुद्ध्या स्वगृहे गतः ॥

इति धीविषये रिञ्छग्राहिकथा ॥४७॥

[48] उत्कृष्टसुखदुःखसम्बन्धः ।

एकदा श्रीकुमारपालोऽवग् भगवन् ! संसारे कुत्र बहुसुखं पुनः बहुदुःख, कुत्र सदासुखं पुनर्दुःखमत्यन्त कुत्रास्ति ? गुरवो जगुः—

अनुत्तरविमानात्तु नाधिकं विद्यते क्वचित् ।
सप्तमं नरक मुक्त्वा दुःखं नास्त्यधिकं क्वचित् ॥१॥

यतः—अनुत्तरविमानवासिनां सुराणा त्रयस्त्रिंशत्सागराणि नित्यं सुख, सप्तमनरकवासिनां नरकाणा दुःख भवति त्रयस्त्रिंशत्सागराणि यावत् । मुक्तश्च सदा निरन्वयं सुख [प्राप्नोति] जन्ममरणजराद्यभावात् । अतः कारणात् जीवेन पुण्ये आदरः कर्त्तव्यो, न पापे इति उत्कृष्टसुखदुःखसम्बन्धः ससारे यत्र भवतीति तत्कथा ॥४८॥

[49] श्री प्रभाचन्द्रकथा ।

चन्द्रपुरे श्रीधरो दिगम्बरोऽभूत् । तस्य शिष्यः प्रभाचन्द्रआसीत् । एकदा प्रभाचन्द्रोऽवग्-भगवन्नह सर्वविद्यापारगाम्यस्मि । तेन यथाऽऽदेशो दीयते श्रीपूज्यैः तदाह पूर्वगतं श्रुत सस्कृतं स्फेटयित्वाऽज्ञवत्प्राकृत करोमि । गुरुणोक्तम्—तव पाराञ्चित प्रायश्चित्त लग्नम् । प्रभाचन्द्रोऽवग्—कथ ममास्मात्पापान्निस्तारो भविष्यति ? गुरुणोक्त-राजान प्रतिबोधय । ततः श्रीपुरे श्रीधरभूपस्य प्रतिबोधाय गतः । तेन राज्ञा स्वपुत्री पाठनाय अर्पिता । यद्यन्तरे तां कन्यां भरतशास्त्रादि पाठयामास । क्रमात्तयोः प्रीतिरभूत् । तयो रागान्मैथुनमपि जात, ज्ञात राज्ञा । राजा तयोश्चरित्रं दृष्टु तत्रागात् प्रच्छन्नम् । तदा प्रभाचन्द्रेण काव्य प्रोक्तम्—

अहो संसारजालस्य, विपरीतः क्रियाक्रमः ।
न पर जड[ल]जन्तूना, धीवरस्यापि बन्धनम् ॥१॥

एतदाकर्ण्य राज्ञा तस्यैव स्वपुत्री दत्ता । क्रमाद् गुरुभिर्ज्ञातं शिष्यस्वरूपं, ततो गुरुभिरिति ज्ञापितम्—

संसारे हयविहिणा, महिलारूवेण मंडिअं कूडं ।
बज्झंति जाणमाणा, अयाणमाणा न बज्झंति ॥२॥

तेन गुरुपुरो ज्ञापितम्—

तावन्महत्वं पाण्डित्यं, कुलीनत्वं विवेकिता ।
यावत् ज्वलति नाङ्गेषु, हतः पञ्चेषुपावकः ॥३॥

गुरुप्रोक्तमवगणय्य स्थितस्तत्र तदा गुरुणा ध्यातम्—

नान्यः कुतनयादाधि–र्व्याधिर्नान्यः क्षयाऽऽमयात् ।
नान्यः सेवकतो दुःखी, नान्यः कामुकतोऽन्धलः ॥४॥

कालेन तस्य सर्वा विद्या विस्मृता, मूर्खो बभूव, यतः—

नारीसक्तो जनस्तातं, पितरं भ्रातरं तथा ।
विद्यां न विन्दते लक्ष्मी–वानिव क्वचिदेव तु ॥५॥

एवं केचिन्नारीवशीकृता कृत्याकृत्ये न जानन्ति ॥ इति प्रभाचन्द्रकथा ॥४९॥

[50] लक्षणादिकूटकौतुककलाकथा ।

पद्मपुरे लक्ष्मीधरो राजाऽऽसीत् । तस्यामात्या बहवः । राजा तु याचकेभ्यो भूरिदानं दत्ते । मन्त्रीश्वरा जगुः–एव दानात्कोशो रिक्तो भविष्यति ।

यथा तथा प्रजाः सर्वाः, प्रपीड्य विभवश्चिरम् ।
मेलितः किं मुधेदानीं व्ययतेऽर्थिप्रदानतः ॥१॥

ततो राजा जगौ—यो मां विशिष्टश्लोककरणेन रञ्जयिष्यति तस्मै दानं दास्ये, नान्यस्मै । ततोऽनेके बुधा वर्यकाव्यादि कृत्वा राज्ञः पुरः कथयन्ति । परं राज्ञः [राजा] शिरो न धूनयति ।

इतः कोऽपि कविरेवंविधं श्लोकं कृत्वा प्रभाते राज्ञः पुरः प्राह—

उत्तिष्ठ नृपशार्दूल ! मुखं प्रक्षालयस्व टः ।
यदा भाषयते (?) –स्तदा रात्रिर्विभावरी ॥२॥

तदा राज्ञोक्त—'प्रक्षालयस्व ट' अत्र त्वया टो निरर्थः कृतः । कविनोक्त–कुर्कटशब्दस्य यो 'टो' विद्यते स 'मुखं प्रक्षालयस्व ट' इत्यत्र टः क्षिप्तः । एवंविधा लक्षणकला तस्य दृष्ट्वा राजा जहर्ष, भूरिदानं तस्मै ददौ ॥ इति लक्षणादिकूटकौतुककलाकथा ॥५०॥

[51] सहसाकृतकार्योपरि—कृष्णकोलयोः कथा ।

वृद्धपुरे विप्रो मुकुन्दोऽभूत्। तस्य कृष्णाह्वः पुत्रः। तस्य गृहमध्ये एकः सदा कोलो मृत्तिका कर्षयति स्म । एकदा मुकुन्देन धूलिमध्ये रूप्यटङ्कको ददृशे। तेन स गृहीतश्च। द्वितीयेऽह्नि पुन' रूप्यटङ्ककः प्राप्तः। एव सप्तदिनेषु सप्त रूप्यटङ्काः प्राप्ताः। एकदा पितरि ग्रामे गते कृष्णो दध्यौ बिल खनित्वा सर्वे रूप्यटङ्कका ग्रहीष्यन्ते यदि तदा वर भूयसी श्रीर्भवति । मद्गृहे आवास कारयामि । ततो बिले खनिते कोलो निर्गत' । हतश्च तेन निर्दयेन। अग्रतो बिल बहु खनित किमपि न निर्गच्छति । इतः पिता ग्रामादागात् पुत्रः पृष्ट' किमिदमारब्ध त्वया ? पुत्रोऽवग्— रूप्यटङ्कार्थं । पिताऽवग्—मुधाऽय कोलस्त्वया हत' । कोलाना विवराणि भूमौ बहुप्रकाराणि भवन्ति। को जानाति कस्मिन् विवरे गच्छति कस्मि[कस्मा]न्निर्गच्छति तेनास्य हननान्छ्रीरायान्ती स्वगृहे त्वया निषिद्धा । ततः पुत्रो दुःख करोति। तदा पिताऽवग्—"यस्य यद्भावि तद्भवति" यतः—

यस्य यादृग्स्वभावः स्यात्, जायते सोऽन्यथा नहि ।
वक्रं पुच्छ पुनः केन, सरलीक्रियते क्वचित् ? ॥१॥ इति ।

सहसा कार्यं कृतमनर्थाय भवति, यतः—

सहसा विदधीत न क्रिया—मविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं, गुणलब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥२॥

ततो द्वावप्यलब्धविभवौ दुःखिनौ जातौ चिरम् ॥

इति सहसाकृतकार्योपरि-कृष्णकोलयोः कथा ॥५१॥

[52] आचारविषये द्विजपत्नीकथा ॥

कस्मिंश्चित्पुरे मदनस्य द्विजस्य गौरी प्रिया, श्रीधरः पुत्रोऽभूत्। स क्रमात्तरुणो भूत्वा विद्यां भणितु विदेशेऽगच्छत् । श्रीपुरे गदाधरविप्रस्यान्ते[न्तिके]चतुर्दश विद्या पपाठ । तं तादृश ज्ञ ज्ञात्वा स्वा पुत्रीं तस्मै बहुश्रीयुता ददौ। स तया पत्न्या युक् बहुश्रीकस्त गुरुमुत्कलाप्य क्रमात्स्व-पितु पार्श्वे सोत्सवमगात् । अन्येद्युस्तस्य पुत्रोऽभूत्, जन्मोत्सवोऽभूत् वर्धमान इति नाम दत्त तस्य । ससमानवयोभि' क्रीडति सदा। एकदा तस्य गृहाङ्गणे राजपुत्रवणिजादयो बालाः क्रीडितु लग्नाः। वणिक्कुमारो धूल्या हट्ट कृत्वा क्रयाणकानि विक्रेतु लग्नः । द्विजपुत्रो मृता महिषीं स्वधिया प्रकल्प्य कर्षितु लग्न' । इत्यादि बहून् क्रीडापरान् मदनो दृष्ट्वा दध्यौ—अय पुत्रः ईदृशीं क्रीडा किं कुरुते । चकितः सन् मदनः श्रीधर पप्रच्छ—किं तव पत्नी ढेढपुत्री सम्यक् त्वया पृ[प्र]च्छनीया। ततस्तेन रहसि पत्नी पृष्टा—त्व तु मया परिणीता, पुत्रोऽपि त्वयि जातः, त्वया सम मयाऽनेकशो भुक्तम्, सत्य जल्प, कस्य त्व पुत्री ? तयोक्तम्—अह पूर्वं चाण्डालकुले उत्पन्ना, अह पञ्चवार्षिका[की]जाता। तावन्मत्पिता सकुटुम्बो विदेश प्रति चलितः। क्रमान्मम मातापितरौ मृतौ। अहमेकाकिनी तत्र स्थिता। अह दुःखिता सती अग्रतो गत्वा कस्मिंश्चिद्देवकुले स्थिता ।

इतस्तत्र गदाधरद्विज समागात्, तेन साह पृष्टा त्व का ? मयोक्तम्—अह द्विजपुत्री ।

मम मातापितरौ मृतौ, अहं निराधाराऽभूवं। ततस्तेन द्विजेन निरपत्यकेनाहं गृहे नीता। पुत्रीवाऽहं वर्धिता, तुभ्यं चाभीष्टत्वाद्दत्ता। ततः पुत्रः पितुरग्रे पत्नीस्वरूपं प्राह। ततो मिथो विमृष्टं रहसि पूर्वमेको द्विजः चण्डाली[तः]जातः, यतः—

कैवर्त्तीगर्भसंभूतो, व्यासो नाम महामुनिः।
तपसा ब्राह्मणो जात—स्तस्माज्जातिरकारणम् ॥१॥
मण्डूकीगर्भसंभूतो, माण्डवश्च महामुनिः।
तपसा० ब्राह्मणो जात—स्तस्माज्जातिरकारणम् ॥२॥
शशकीगर्भसंभूतो, ऋष्यशृङ्गो महामुनिः।
तपसा०... ... ... ॥३॥
उर्वशीगर्भसंभूतो, वशिष्ठस्तु महामुनिः।
तपसा०... ... ... ॥४॥

तस्मादाचार एव प्रधानः, यतः—

आचारः कुलमाख्याति, देशमाख्याति भाषितम्।
संभ्रमः स्नेहमाख्याति, वपुराख्याति भोजनम् ॥५॥

ततो न केनापि स्वपूर्वजातसम्बन्धः प्रोक्तः कस्याग्रे (कस्यचिदग्रे) प्रवचनीयः।

इति आचारविषये द्विजपत्नीकथा ॥५२॥

[53] उचितवैद्यविषये कथा ॥

यो यादृशो भवति तस्य तादृश उपदेशो दातव्यस्तथाहि—लक्ष्मीपुरे चन्द्रभूपो राज्यं कुरुते। स च दयावान् एकदा स्वकर्मकर एक इन्धनानि समानयत्। एकाक्षिसमुत्पन्नफुल्लको दृष्टो राज्ञा। करुणया राज्ञा(तेन)पञ्चशतवैद्यस्याग्रे प्रोक्तम्—अस्य निःस्वस्य नेत्रात्फुल्लकमपसारय। तेन वैद्येन तदा जीर्णकुटीरतीव्रस्थजीर्णतृणान्यादाय प्रज्वाल्य च तद्भस्मना तस्य नि[निः]स्वस्य नेत्रमञ्जितम्। द्वित्रिवारे तस्मिन्नञ्जिते नेत्रात्फुल्लकं गतम्। अन्येद्युर्भूपो निज नेत्र कृत्रिमफुल्लयुक्त कृत्वा वैद्यस्याग्रे प्राह—मम नेत्रोत्पन्नं फुल्लकमपसारय। वैद्येन जात्यमुक्ताफलरत्नादि[दीनि]भस्मकृते आनायिते। राजाऽवग्—नि[निः]स्वस्य तृणभस्मना फुल्लक गत मम त्वेवमौषधं किं क्रियते। भो वैद्य! तस्य नि[निः]स्वस्य नेत्रफुल्लकाऽपसारायान्यदञ्जनं कृत, मम च बहुमूल्यमौषध कथम्?। वैद्येनोक्तम्—राजन् त्व भूपस्तेन बहुमूल्यमौषध नि[निः]स्वस्य तु दरिद्रत्वात्तादृशमेव युक्तम्। ततो राजा यथास्थितनेत्र कृत्वा प्राह—वर्यं त्वया कृत, त्वमुचितज्ञोऽसि। ततो वैद्यो वर्यभूषणादिना मानितः॥ इति उचितवैद्यविषये कथा ॥५३॥

[54] मणकपरीक्षितवैद्यकथा ।

वीरपुरे भूपडनृपस्य वैद्याना पञ्चशतानि विद्यन्ते । तस्य चैको मणको राज्ञां मनो रञ्जयति । सर्वान् वैद्यान् विदुषमन्यान् दृष्ट्वा मणको वैद्यस्योपान्ते गत्वा नालिकेरमेकं तस्मै ददौ, प्राह चेति ममातीव शिरोर्त्तिर्विद्यते, स्फेटय त्व, ततस्तेनौपध[प्र]योग' प्रोक्त । एव प्रच्छन्नं सर्वेषा वैद्यानां गृहेपु गत्वा नालिकेरं दत्त्वा शिरोर्त्तिस्फेटनविपये पृथक्पृथगौपध जज्ञे । सर्वेषा वैद्यानामुक्तान्यौपधानि कागदे लिलेख मणकस्तेपा हस्तेभ्यः, ततो राज्ञोऽग्रे प्राह मणकः स्व कृतम् । एते वैद्याः किमपि न जानन्ति । ततो भूपोऽवग्–भो वैद्या ! यूय किं सम्यग् रोग-स्वरूप न जानीथ ? तैरुक्तम्—अस्माभिर्ज्ञायते सम्यग् । ततो मणको वैद्यलिखितौपधमय कागद राज्ञा[ज्ञोऽ]ग्रे मुक्त्वाऽवग्–मम रोगस्य स्वरूप न ज्ञात, कथमन्येपा नृणा ज्ञास्यति ? अह मुधा दण्डितोऽस्मि भवद्भिः । एव लोका अपि दण्ड्यन्ते । मम शिरोर्त्तिस्वरूप न ज्ञात ततो राजाऽवग् अस्य मणकस्य यद्गृहीतं तद्दशगुण ददत, नो चेन्न छुटिष्यते । ततोऽखिलैर्वैद्यैर्दश-गुण प्रत्यर्पितम् ॥ इति मणकपरीक्षितवैद्यकथा ॥५४॥

[55] कर्मोपरि दुष्टभूपकथा ।

चन्द्रपुरात् धनश्रेष्ठी सेवकयुक् चचाल विदेश प्रति । मार्गे वृक्षस्याधस्तात् तस्थौ श्रेष्ठी । भृत्यः पादौ श्रेष्ठिनश्चम्पयति स्म । वार्त्तां कुर्वन् सेवकः प्राह—स्वामिन् ! यदि तव राज्य भवति तदा त्व कथ राज्य पालयति ? श्रेष्ठी प्राह—'वा मन्त्रिण करिष्ये सर्वा प्रजा सुखिनीश्च करिष्ये । ततः श्रेष्ठी प्राह—कदाचित् कर्मयोगात्तव राज्य स्यात्तदा त्वं कथ राज्य करिष्ये[सि ?] । भृत्योऽवग्–यद्यह राज्य लभिष्ये[लप्स्ये] तदा सर्व जन दुःखिनमेव करिष्ये । ततश्चलित श्रेष्ठी मार्गे गच्छतोस्तयोरकस्माल्लक्ष्मीपुराधीशे पुत्ररहिते मृतेऽमात्यैर्गजाद्यधिष्ठानयोगतः श्रेष्ठिसेवकस्य चम्पकस्यास्य राज्य दत्तम् । जाते राज्ये भृत्योऽवग्—असौ मम स्वामी गच्छन् वाल्यताम्, ततो भीतः श्रेष्ठी, पश्चादानीतोऽमात्यैश्चम्पकभूपोपान्ते । तेन राज्ञा श्रेष्ठी मन्त्रिमुख्य कृतः । राजा सर्वान् बहुकरग्रहणात् दुःखीचकार, केचिल्लोका गुप्तिगृहे क्षिप्ताः, केचित्कदर्थ्यन्ते, केचिद्बद्धाः शृङ्खलायाम् ।

इतो दीपालिका समागात्तदानी गुप्त्यादिस्थैजनैः श्रेष्ठी प्रोक्तः वर्षेण दीपपर्व समागच्छ-न्न[दस्ति]स्ति । यदि दिनत्रय[दिन]चतुष्टय वा राज्ञा मोच्यन्ते[मोच्यामहे] वय तदा वय स्वजने मातृपितृभ्रात्रादिभिः[मातापिताभ्रात्रादिभिः] सह मिलित्वा सुखमनुभवामः । तत श्रेष्ठिनाऽमात्येन राजान विज्ञप्य लोकः स्वस्वगृह प्रेषित, मिलिता' स्वजनादिभिः सह वर्यान्नपानमोदकादिभि भक्षणात्सुखिनोऽभूवन् ।

इतो रात्रौ राज्याधिष्ठितदेवेन समेत्य राजान कशाघातैस्ताडयन्नाह—त्वं मया राज्ये स्थापितोऽसि लोकाना दुःखोत्पादनार्थं, कथ सुखिनस्तान् करोषि, यदतः पर लोकान् सुखिनस्त्वं करोषि तदैव कुट्टयिष्यते मया । प्राग्वत् राजा लोकान् तथैव दुखिनश्चकार । श्रेष्ठी प्राह—स्वामिन् ! कथ कुट्यन्ते एते लोकाः ? राजा तदा रात्रिस्वरूप प्रोक्तवान्, अहं कथ करोमि

"इतो व्याघ्र इतस्तटी"। ततो लोकैरुक्तम्—अस्माकं भाग्यानुसारेण भवानेव राजाकृतो दैवेन कस्य दोषो दीयते ॥ इति कर्मोपरि दुष्टभूपकथा ॥५५॥

[56] स्वभाग्यविषये मेघकथा ।

श्रीपुरे चन्द्रभूपो राज्यं करोति स्म । तत्र धीरः श्रेष्ठी, धारिणी [तस्य]प्रियाऽभूत् । क्रमात्पुत्रो मेघाह्वोऽभूत् । धर्मकर्मशास्त्राणि पाठितः । स पित्रा परिणायितः । एकदा पितुः पार्श्वे पुत्रोऽवग्—अहं श्रियोर्थं विदेशं यास्यामि । यतः—

विदेशे मनुजाः प्राप्ताः, प्रायोऽर्जयन्ति वैभवम् ।
स्वस्य शक्तिं च जानन्ति, चरित्रं देहिनामपि ॥१॥
यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः, स पण्डितः स श्रुतवान्गुणज्ञः ।
स एव वक्ता स च माननीयः, सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति ॥२॥

इत्युक्त्वा बलात् पितरं पर्यवसाप्य चन्दनैः शकटानि भृत्वा चलितुं प्रस्थानं बहिर्ददौ, तदा पिताऽवग् यदि त्वं कुसुमपुरेऽगमिष्यः[गमिष्यसि] तदा तत्र त्वया सावधानेन चिन्त्यम् । तत्र धूर्त्ताः सन्ति । ते तु त्वां छलयिष्यन्ति । प्रथमं तत्रत्या मण्डपिका ग्राह्या, चन्दनं तु स्वर्णतौल्येन विक्रीष्यते त्वया । पुत्रः प्राह—तव वचः प्रमाणं । ततश्चलितो मेघो गच्छन् कुसुमपुरार्वाग् पञ्चगव्यूतीर्गतः । तदा तत्र चत्वारो धूर्त्ताः तत्र [तस्य] सम्मुखमीयुः । सार्थसमीपे चन्दनैरग्निष्टकं कृत्वा शीतमुत्तारयितुं तस्थुः । इतस्तत्रागतो मेघश्चन्दनं ज्वाल्यमानं दृष्ट्वा प्राह—किं भवद्भिश्चन्दनं ज्वाल्यते ? तैरुक्तम्—अस्मत्पुरे चन्दनं कणसमं तोलयित्वा विक्रीयते गृह्यते च । मेघो दध्यौ—अत्र चन्दनं स्वर्णतुल्यं श्रुतं साम्प्रतमेते चन्दनं कुर्वन्तः सन्ति । ततः किं करिष्यते मया । तदा मेघं कृष्णास्यं वीक्ष्य ते जगुः—किं भवता कृष्णास्यं कृतं ? सम्मुखमग्रतः स्वागमनपितृजल्पनादिस्वरूपं जजल्प सः । कोऽत्र चन्दनस्य लाताऽस्ति । विक्रीयतोऽत्रैव मया शुल्कमुद्धरति । यूयं चन्दनं यदि ग्रहीष्यथ तदा भवद्भ्यो दास्ये । ते जगुरस्माकं चन्दनेन किं प्रयोजनम् । अस्मद् गृहेऽपि चन्दनं घनं विद्यते । पुरेऽपि च यदि चन्दनं विक्रेतुं वाञ्छाऽस्ति तदाऽत्रैव पुरे वणिग्भ्यो दापयिष्यतेऽस्माभिः । ततस्तैस्तत्र वणिजा कर्णबन्धेन कणतौल्येन दापितम्, सत्यकारोऽपि दत्तः । स च मेघश्चन्दनं तेभ्यः सत्यकारतो दत्त्वा पुरमध्ये गतो द्रष्टुं पुरीं चन्दनं स्वर्णतौल्येन विक्रीयमाणं दृष्ट्वा कृष्णाननोऽभूत् किं करिष्यते ? चन्दनं तु पुरा विक्रीतम् । कामसेना वेश्यागृहे गतः, तया पृष्ठ, स चन्दनविक्रयसम्बन्धं जगौ । वेश्ययोक्तं—त्वं वाहितस्तैः अत्र धूर्त्ताः एव बहवः सन्ति, ते वैदेशिकं छलयन्ति । यदि मदुक्तं कुरु तदा तथा धियं दास्यामि यथा तव चन्दनं वलति । तेनोक्तं—भवदुक्तं करिष्यते मया । वेश्या जगौ—त्वं तत्र गच्छ, चन्दनं कर्षयित्वा चन्दनग्राहकाणां पुरः प्रोक्तव्यं[प्रवक्तव्यम्] कणा[न्] आदावानयन्तु यथा तैः सह चन्दनं तोलयित्वा दीयते । यदा तैर्युगन्धरी तत्रानीयते तदा त्वया वक्तव्यं—वयं तु वैदेशिकाः स्वर्णमूल्यं चन्दनं ज्ञात्वाऽत्रागच्छामः । भवद्भिस्तु कणैरित्युक्त्वा चन्दनं गृहीतम् ।

तेन मुक्ताकणा आनीयन्ता भवद्भिः। युगन्धरीयमस्मत्पुरेऽस्ति, ततो विवादे जायमाने राजपार्श्वे तैः सह गन्तव्यम्। राजा मुक्ताफलैः सह तोलयित्वा चन्दनं तावकं तेभ्यो दापयिष्यते। ततो वैश्योक्तमङ्गीकृत्य मेघो राजपार्श्वे तैः सह विवादेन सदृश क (कण्ठ) शिथिल कारयामास। ततो मण्डविका पितुर्वचसा लात्वा शनैश्चन्दन विक्रीय वह्वीः कोटीरर्जयामास मेघः, ततोमदनावेश्यायै बहुधन दत्त्वा पश्चात्स्वपुरीमागात्। पितुर्मिलितः पिता मुमुदेतराम्। ततः सप्तक्षेत्र्यां श्रियं व्ययति स्म पितरि स्वर्गं गते स्वय गृहस्वामी भूत्वा दानादि ददानो महातीर्थेषु शत्रुञ्जयादियात्रां चकार, मुक्तिगमनयोग्य पुण्यमर्जयामास।

मेघस्यापि सोमनामा पुत्रोऽभूत्, जन्मोत्सवः कृतः, पाठितः धर्मकर्मशास्त्राणि, परिणायितश्च। श्रेष्ठी मेघः समुत्पन्नवैराग्यः पुत्रे गृहभार मुक्त्वा दीक्षा ललौ, कर्मक्षयान्मुक्ति ययौ मेघः॥ इति स्वभाग्यविषये मेघकथा ॥५६॥

[57] कर्मोपरि अनिरुद्धभूपकथा।

एकदा अनिरुद्धराजा प्राह—गुरुपार्श्वे–भगवन्! पाण्डवा विज्ञा अभूवन्। तैरेवं युद्ध किं कृतम्? तेषां वारके श्रीनेमिनाथो जिनोऽभूत्।

गुरवो जगुः—भवितव्यताग्रे को [कोऽपि] न छुटति।

अनिरुद्धोऽवग्—यदि सावधानीभूय स्थीयते तदा किं करोति कर्म? तदा—

गुरवो जगुः—त्वयैतानि कार्याणि न कर्तव्यानि, यद्येतानि करिष्यन्ते तदाऽनर्थो भविष्यति।

अनिरुद्धोऽवग्—कानि कार्याणि?

गुरुराह—त्वया चतसृषु दिक्षु न गन्तव्य। यदि कार्यं कदाचिद्भवति तदा न पूर्वस्यां गन्तव्यम्। यदि पूर्वस्या गच्छेस्तदा पापर्द्धिर्न कार्या। यदि पापर्द्धि कुरुषे तदा सूकरो न हन्तव्यो। यदि सूकर हनिष्यसि तदा सूकरी न हन्तव्या। यदि सूकरीं हसि तदा धवला त्याज्या। यदि धवला हता तदा त्वया गृहे न नेया। यदि गृहे नयसि तदा तस्या मासं न भक्षणीयम्। यदि भक्षयसि मास तदा त्वया उपरि पानीय न पेय। यदि पानीय पिबसि तदा तम्बोलो न भक्षणीय [ताम्बूल न भक्षणीयम्] इत्यादि नियममङ्गीकृत्यऽनिरुद्धभूपः स्वगृहे समागात्, क्रमात्सर्वं नियम विसस्मार। कुष्ठी जातः, ततस्त तादृश दृष्ट्वा गुरुभिरुक्त—कर्मणोऽग्रे कोऽपि न छुटति। ततो विशेषतोऽनिरुद्धभूपः पुण्य कुर्वाणः पूर्वकृतानि कर्माणि नाश चकार, यतः—

कत्थई जीवो वलिओ, कत्थइ कम्माइं हुंति बलिआइं।
जीवस्स य कम्मस्स य, पुव्वनिबद्धाइ वयराइं ॥१॥

एव सर्वैं जीवैरपि कर्मवशगतैः ससारे दुःखसुखानि पापपुण्ययोगाल्लभ्यन्ते।

इति कर्मोपरि अनिरुद्धभूपकथा ॥५७॥

[58] अतिथिसंविभागव्रते सांतलकौटुम्बिकादि ।।

वीरपुरे धीरस्य कौटुम्बिकस्य मदनाह्वा पत्नी बभूव । क्रमात्तयोः सप्त पुत्रा बभूवुः । नामान्यमूनि तथाहि—

१ २ ३ ४ ५ ६ ७

चन्द्र-भीम-सोम-देवदत्त-धनदत्त-मदन-सान्तला इति सप्त परिणायिता. ।

एकदा सप्तसु पुत्रेषु हलानि खेटयत्सु सप्तापि वध्वः कौटुम्बिकेन निन्दनार्थं प्रेषिता । तदा सप्तापि वध्वो निन्दनार्थं क्षेत्रं प्रतिचेलु । मेघे वर्षति सप्तापि वध्वो वटवृक्षस्याध स्थिता मिथो वार्त्ता कर्त्तुं लग्ना ।

इत कौटुम्बिकोऽपि क्षेत्र प्रति चलितो मार्गेऽब्दे वर्षति छन्नं वटतरो समीपे वधूजल्पितं श्रोतुं स्थित वृद्धा वधू. प्राह—मम क्षीर रोचतेतराम् ।

द्वितीयाऽवग्—क्षिप्रचटिकाम् ।

तृतीया चाह—सालिदालिघृता[ढीन्] रोचते ।

चतुर्थी—ओदन मुद्गघृतयुतम् ।

पञ्चमी—पक्वान्नम् ।

षष्ठी—मोदकान् ।

सप्तमी जगौ—यदि भवति किमपि तदाऽर्थिभ्यो दत्त्वा जिम्यते यादृशमन्नादि यदा चटति तदा तादृशेन निर्वाह. क्रियते । उबाटो नानीयते च सन्तोष एव कर्त्तव्य । किं करोति श्वश्रूस्वसु[श्वसुर]रादिकः । कर्म एव प्रधान वीक्ष्यते ।

एतत्तासा प्रोक्तं श्रुत्वा श्वशुरो गृहे पश्चात्समेत्य भार्याया पुर (कौटुम्बिक.) प्राह—षण्णां वधूना क्षीरादि देयं, सप्तम्याश्चोद्धरित कदन्नं दातव्य, ततस्तया तथ। कृत यथा सप्तमी दुःखिनी जाता कान्तस्याग्रे प्राह—मह्यं श्वश्रु कदन्न दत्तेऽह मरिष्यामि ।

सान्तलोऽवग्—भो प्रिये ! त्वया दुःख न कार्यम् , अह दिश [विदेश] गत्वा तथा करिष्ये यथा तवेप्सितं भविष्यति। ततो मातुरह कदाचिद्बहुकालात्तव मिलामि तदा त्वयाऽहमुपलक्ष्यसे [क्षिष्ये] नवेति मातर पप्रच्छ ।

माताऽवग्—यो गर्भे नवमासान् व्यूढः स कथ नोपलक्ष्यते । ततो रात्रौ प्रियापार्श्वेऽवग् स त्वयाऽस्य कञ्चुको नोत्तार्य. ।

एव प्रोक्त्वा[प्रोच्य] सान्तलो विदेशं प्रति चचाल, सूर्यपुरोपान्ते सान्तल स्थितो विश्रामार्थम् ।

इत तस्मिन् पुरे नृपे पुत्ररहिते मृते पञ्चदिव्यैरभिमन्त्रितै सान्तलस्य राज्य तत्रत्यमभूत् । 'सहस्रमल्ल' इति स्वं नाम कथयामास राजा । क्रमाच्चतुर्दश प्रिया अभूवन् । मातापित्रो. सहोदराणां नामापि चित्ताद् विस्मृत. [व्यस्मरत्] ।

राज्ये जाते नृणां सर्वे, मातापित्रादिसोदराः ।
न चित्ते स्मृतिमायान्ति, यतोऽन्धं कुरुते रमा ॥१॥

तत्र पुरे स्तोकं वारि ज्ञात्वा सरो मन्त्रिपार्श्वात्खानयितु राजा[ज्ञा] प्रारब्ध, बहवो जना सर खनन्ति स्म, नर प्रति मानकं धान्यस्य घृतस्यार्धशेर दीयते एकैको द्रम्मश्च ।

इतश्चान्यदा राजा सरो द्रष्टुं गतः। सरो विलोकयन् स्वकुटुम्ब सरः खनत् वीक्ष्य राजा दध्यौ—किमिद मम कुटुम्ब विद्यते । कर्मणः पुरः कोऽपि न छुटति । स्व कुटुम्ब दृष्ट्वा राजा गृहे गतो द्वितीयदिने धीरस्य सकुटुम्बस्याघ्यर्धं ग्रासं राजा चकार । क्रमान्मातापित्रोर्मन्त्रिपार्श्वात् सरः खननं निषिद्धम् । धीरो दध्यौ किमय राजा करोत्येवम्। ततो राज्ञोक्तमन्यदा एकैका वधूर्वारकेण तक्रार्थं मम गृहे प्रेष्या । ततो दिन दिन [प्रतिदिन] वधूरेकैका तक्र ग्रहीतु याति । राजगृहे यदा षड् वध्वो यान्ति तदा राजा तक्र दापयति, यदा सप्तमी याति राजगृहे तदा नृपो दुग्ध दधि वा दापयति स्म तस्यै । यदा सा स्वगृहे याति तदा परा वध्वो जल्पन्ति—इय कुशीलिनी विद्यते, तेन न ज्ञायते मार्गे स्थास्यति न वा, सान्तलस्तु कुत्र गतो न ज्ञायते । जीवन्नस्ति मृतो वा । एकदा राज्ञोक्तम्—भो स्त्रि ! जीर्णं कञ्चुक त्यज, नवीनं परिधेहि । साऽवग्—त्व लोकस्य पाताऽस्ति तवैवं वक्तुं न युक्त । सर्वे तपस्विनो दुर्बला निराधारा प्रे[प्रो]-षितभर्तृकादयो ये वर्त्तन्ते तेषा धर्ममार्गे राजा स्थापयति । यदि वृत्तिश्चिर्भटिकान् भक्षयति तदा को रक्षिता । पूर्वं परिणीत पतिं मुक्त्वाऽस्मिन् भवे नान्यमङ्गीकरोमि । यदि बलात्कार करिष्यसि तदाहं तुभ्यं स्वस्य हत्या दास्ये । त्व प्रजापालोऽसि, मया किमुच्यते ।

इतो राज्ञा कौटुम्बिक सकुटुम्बमाकारयितु[तुं]भृत्यान् प्रेषीत् । भृत्यास्तमाकारयितु यदा गताः तदा स कौटुम्बिको नन्दनान्प्रति आह—न ज्ञायते राजा किं करिष्यते । प्रथमं भूपेन लघुपुत्रपत्नी रक्षिता । आत्म[अस्मा]भिरन्यायः कोऽपि न कृतः । राजा दुष्टो भवति, यतः—

वेश्याऽक्का नृपतिश्चौरो, नीरमार्जारमर्कटाः ।
जातवेदाः कलादाश्च, न विश्वास्या इमे क्वचित् ॥२॥

ततो बिभ्यन् कौटुम्बिक सकुटुम्बो राजपार्श्वे गतः, राज्ञोक्तम्—भवद्भिः सरो रुचिर न खनित तेन त्व कारागृहे क्षिप्यसे । कौटुम्बिकोऽवक्—अस्माभिरपराध कोऽपि न कृतः । यथा रुचिस्तव स्यात् तथा कुरु । ततो राज्ञा स्वगृहोपान्ते स्थापितः । स्वय स्नान कर्त्तुमुपविष्ट, तदा हस्ते चिह्न वीक्ष्य प्राह—भूपोऽय मत्पुत्र । ततो राजा स्नान विधाय मातापित्रो भ्रातृणा भ्रातृ-जायानां च पादेषु विनयात्पपात । ततो जनक भूपोऽप्राक्षीत्—तात ! त्वमत्र कथमागा ? कौटुम्बिकोऽवग्—तत्र नीवृति[तौ] दुष्कालोऽपतत् ततोऽस्माक निर्वाहो दुःशको जातः । ततोऽस्माभि पृथ्व्या भ्रमद्भिरत्रागतम् । ततो राजा ता पूर्वपत्नीं पट्टराज्ञीं चक्रे प्राहेति भूप—त्वमात्मीय मनोरथ दानादिषु पुण्यात्पूरय । लक्ष्मीस्तु भूयस्यस्ति । मातरं प्रति प्राह—त्वया पूर्वं प्रोक्त यो गर्भे उद्वह्यते स बहुकालादुपलक्ष्यते तदर्थं मयैतत्कृतम् । तत. सर्वेषां सोदराणां ग्रामाणि पञ्च

पञ्च ददौ। ततो लक्ष्मीवन्तो जाता सन्तो लघुभ्रातरं भप विनयेन न मन्यन्ते । प्रायः श्रीमतां विनयो न भवति—

भक्ते द्वेषो जडे प्रीति—रुचितं गु ङ्घनम् ।
मुखे कटुकतात्यन्तं, धनिनां ज्वरिणामिव ॥३॥

क्रमात्तेषामन्यायेन चलतां ग्रामा उद्वसा जाता पुनर्दुःखिनो जाता सन्तो भूप सेवन्ते श्रियोऽर्थं "क्षीणश्चन्द्र सूर्यं सेवते"। ततो राज्ञा सज्जनत्वात्ते भ्रातरो मानिता लक्ष्मीदानात् ।

अन्येद्युस्तत्र गुरुरागात् । धर्मं श्रोतुं नृपोऽगात् । धर्मं पप्रच्छ, मया किं कृत पुण्यम् । गुरुभिरुक्तम्—

पूर्वं श्रीपुरे कमलश्रेष्ठी बभूव । तस्य भार्या कमला । तौ द्वावपि गुरुपार्श्वे धर्मं श्रुत्वाऽतिथिसंविभागव्रतं ललतु । तद्व्रत सम्यक्प्रपाल्य त्वं स प्रियो भूपोऽभू, ततो विशेषतोऽतिथिसविभागव्रत शुद्धमाराध्य पञ्चमस्वर्गे राजा राज्ञी च मर्त्यजन्म प्राप्य कर्मक्षयात् मुक्ति जग्मतु ॥

॥ इति अतिथिसंविभागव्रते सान्तलकौटुम्बिकादिकथा ॥५८॥

[59] सत्योपरि मुनिकथा ।

एकस्मिन पुरे कोऽपि मुनि कस्यापि गृहे भिक्षार्थ प्रविष्ट । तेन नत्वा मुनि पृष्ट—भगवन् ! त्रिगुप्तिगुप्तोऽसि । मुनिनोक्तं—नाह गुप्तः । कथम् ? तेनोक्तम्—

एकदाऽहं कस्यापि गृहे भिक्षार्थमगम, तस्य प्रियाया वेणीदण्ड दृष्ट्वा स्वभार्यां स्मृतवानहम् । अतो मनोगुप्तिर्मम नास्ति । पुनरेकदा भिक्षार्थमिभ्यगृहेऽगममहं तेन कदलीफलानि मे दत्तानि अन्यगृहे मया पृष्टेन व्याहृतम् । तेन तद्वैरिणा तत् नृपाय निवेदितम्, देव ! भवद्वाटिकाया रम्भाफलानि श्रीदश्रेष्ठिगृहे यान्ति । राज्ञोक्तम्—कथं ज्ञायते ?

तेनोक्तम्—श्रेष्ठिना मुनेर्दत्तानि मया तु मुनिमुखात्श्रुतम् । एवविधानि सदाफलकदलीफलानि भवद्वाटिकां मुक्त्वाऽन्यत्र न सन्ति, तच्छ्रुत्वा नृपेण श्रेष्ठी दण्डित, अतो मे वाग्गुप्तिर्नास्ति। येन श्रेष्ठिदण्डनेऽहं हेतुरभूवम् । तथाऽहमेकदाऽटन्या श्रान्त विश्रान्तश्च प्रमिला[प्रमीला]प्रापम् । तत्रैक सार्थ स्थितोऽभूत् रात्रौ सार्थपतिनोक्तम्—प्रातरग्रे चलिष्यते तेन सकालमन्नानि कुरुत जना, तत सर्वो जनोऽन्नपाके लग्न एकेनान्धकारवशादेकस्मिन्पक्षे मम मस्तकपार्श्वे पाषाणं मुक्त्वा चुल्लकः कृत., तन्मध्ये वह्निरुद्दीपित, मया शिरोऽपाकृतम् अतो मे कायगुप्तिरपि नास्ति । अतो नाह भिक्षार्हं । तस्य सत्यभाषणे श्रेष्ठी हृष्ट प्रतिलाभ्य प्रेषितो मुनि । श्रेष्ठी प्रशसयाऽनुत्तरविमानादिसुखमर्जितवान् । मुनिस्तु तादृश तादृशमात्मानं निन्दन् चिरं चारित्र प्रपाल्य क्रमाद्दिवं गत ॥ इति सत्योपरि मुनिकथा ॥५९॥

[60] पूर्वकृतकर्मणि सीताकथा ।

नो चेव भासिअव्व, अत्थिणा दुक्खकारणं ।
अलिय अभक्खाणं, पेसुन्नं मम्मवेहाई ॥१॥
संतो विहु वत्तव्वो, परस्स दोसो न होइ विबुहाणं ।
किं पुण अविज्जमाणो, पयडो छन्नो अ लोअस्स ॥२॥
विअरइ अब्भक्खाणं, इअरस्स वि जो जणस्स दुबुद्धी ।
सो गरिहिज्जइ लोए, लहइ दुक्खाइ तिक्खाइं ॥३॥
जो पुण जईण समिआण, सुद्धभावाण बंभयारीणं ।
अब्भक्खाणं देई, मच्छरदोसेण दुट्ठमई ॥४॥
निव्वत्तिऊण पावं, पावेइ सो दुहमणतं ।
सीआ इव पुव्वभवे, मुणि–अब्भक्खाण–दाणाउ ॥५॥

यथा अत्रैव भरते मिणालाकुण्डपुरे श्रीभूति पुरोधाः, सरस्वती भार्या, पुत्री वेगवती, तत्रकदा साधुः शुद्धव्रत आगात्, उद्याने प्रतिमां स्थितः, लोको वन्दते भक्त्या, साधुपूजा दृष्ट्वाऽलीकमात्सर्येण वेगवती लोकानाह—एष मुण्डः पाखण्डी किं पूज्यते ? ब्राह्मणान्मुक्त्वा, एष मया रमण्या सह रममाणो दृष्टः इति कूटमाल साधोर्दत्तवती । लोका मुग्धास्तदनु साधुपूजनादिभ्यो निवृत्ताः, मुनिनापि लोकविरक्त्या ज्ञातम्—तदलीककलङ्कादि, ततो जिनशासनेऽपभ्राजना मन्निमित्ता[मा] भूयादिति मनसि कृत्वा यावत्तैष कलङ्को नोत्तरति तावता मया न भोक्तव्यमिति प्रतिज्ञाय कायोत्सर्गे स्थितः । तत. शासनदेवतासान्निध्यात्—

ततो—"वेगवईए देहे वि[वे]अणा समुट्ठिआ तिव्वा ।
पाउब्भूया अरई सूणं वयणं च सहसत्ति ॥१॥"

तस्तया सजातपश्चात्तापया साधुमूले गत्वा सर्वलोकसमक्ष स्वनिन्दापरया मुधैव तदाल साधोर्दत्त मात्सर्येणेति क्षमयित्वा पादयोर्लग्ना, ततः शासनदेव्या सज्जीकृता, धर्मं श्रुत्वा दीक्षा गृहीत्वा चिर पालयित्वा सौधर्मे देव्यभूत् । ततो जनकसुता सीता जाता । क्रमाद्रामेण परिणीता, रावणेनापहृता, सा च पश्चादानीता तदा पश्चाद्भवात्न्यस्थितालीककर्मयोगाल्लोकैः कलङ्को दत्तः । ततः पुण्ययोगादग्निचिताप्रवेशत. शुद्धा, ततो जिनशासने प्रभावना जाता ।

इति पूर्वकृतकर्मणि सीताकथा ॥६०॥

[61] सुभद्रा–कथा ॥

कायोत्सर्गे इहलोके यत्फलमभूत्सुभद्रायाः, तत् उदाहरण वक्ष्ये ।

वसन्तपुरे जिनदासश्रेष्ठी, तस्य सुता सुभद्रा बौद्धभक्तेन चम्पापुरीनिवासिना नरेण कपटश्राद्धीभूय बुद्धदासेन स्वगृह परिणीय नीता, सा कुटुम्बकलहे पृथग्गृहे स्थापिता सा, तत्र

पञ्च ददौ । ततो लक्ष्मीवन्तो जाता' सन्तो लघुभ्रातर भप विनयेन न मन्यन्ते । प्राय' श्रीमतां विनयो न भवति—

भक्ते द्वेषो जडे प्रीति—रुचितं गुरुलङ्घनम् ।
मुखे कटुकतात्यन्तं, धनिनां ज्वरिणामिव ॥३॥

क्रमात्तेषामन्यायेन चलता ग्रामा उद्वसा जाताः पुनर्दुःखिनो जाता सन्तो भूप सेवन्ते श्रियोऽर्थं "क्षीणश्चन्द्र' सूर्यं सेवते"। ततो राज्ञा सज्जनत्वात्ते भ्रातरो मानिता लक्ष्मीदानात् ।

अन्येद्युस्तत्र गुरुरागात् । धर्मं श्रोतुं नृपोऽगात् । धर्मं पप्रच्छ, मया किं कृत पुण्यम् । गुरुभिरुक्तम्—

पूर्वं श्रीपुरे कमलश्रेष्ठी बभूव । तस्य भार्या कमला । तौ द्वावपि गुरुपार्श्वे धर्मं श्रुत्वाऽतिथिसंविभागव्रतं ललतु । तद्व्रतं सम्यक्प्रपाल्य त्वं स प्रियो भूपोऽभू , ततो विशेषतोऽतिथिसविभागव्रत शुद्धमाराध्य पञ्चमस्वर्गे राजा राज्ञी च मर्त्यजन्म प्राप्य कर्मक्षयात् मुक्ति जग्मतु ॥

॥ इति अतिथिसंविभागव्रते सान्तलकौटुम्बिकादिकथा ॥५८॥

[59] सत्योपरि मुनिकथा ।

एकस्मिन पुरे कोऽपि मुनि कस्यापि गृहे भिक्षार्थं प्रविष्ट । तेन नत्वा मुनि पृष्ट—भगवन् ! त्रिगुप्तिगुप्तोऽसि । मुनिनोक्त—नाह गुप्त । कथम् ? तेनोक्तम्—

एकदाऽहं कस्यापि गृहे भिक्षार्थमगमं, तस्य प्रियाया वेणीदण्ड दृष्ट्वा स्वभार्यां स्मृतवानहम् । अतो मनोगुप्तिर्मम नास्ति । पुनरेकदा भिक्षार्थमिभ्यगृहेऽगममहं तेन कदलीफलानि मे दत्तानि अन्यगृहे मया पृष्टेन व्याहृतम् । तेन तद्वैरिणा तत् नृपाय निवेदितम्, देव ! भवद्वाटिकाया रम्भाफलानि श्रीदश्रेष्ठिगृहे यान्ति । राज्ञोक्तम्—कथं ज्ञायते ?

तेनोक्तम्—श्रेष्ठिना मुनेर्दत्तानि मया तु मुनिमुखात्श्रुतम् । एवविधानि सदाफलकदलीफलानि भवद्वाटिका मुक्त्वाऽन्यत्र न सन्ति, तच्छ्रुत्वा नृपेण श्रेष्ठी दण्डित, अतो मे वाग्गुप्तिर्नास्ति । येन श्रेष्ठिदण्डनेऽहं हेतुरभूवम् । तथाऽहमेकदाऽटन्या श्रान्त विश्रान्तश्च प्रमिला[प्रमीला]प्रापम् । तत्रैक सार्थ स्थितोऽभूत् रात्रौ सार्थपतिनोक्तम्—प्रातरग्रे चलिष्यते तेन सकालमन्नानि कुरुत जना, तत सर्वो जनोऽन्नपाके लग्न एकेनान्धकारवशादेकस्मिन्पक्षे मम मस्तकपार्श्वे पाषाणं मुक्त्वा चुल्लकः कृत, तन्मध्ये वह्निरुद्दीपित, मया शिरोऽपाकृतम् अतो मे कायगुप्तिरपि नास्ति । अतो नाह भिक्षार्ह । तस्य सत्यभाषणे श्रेष्ठी हृष्ट प्रतिलाभ्य प्रेषितो मुनि । श्रेष्ठी प्रशसयाऽनुत्तरविमानादिसुखमर्जितवान् । मुनिस्तु तादृश तादृशमात्मानं निन्दन् चिरं चारित्रं प्रपाल्य क्रमाद्दिवं गत ॥ इति सत्योपरि मुनिकथा ॥५९॥

[60] पूर्वकृतकर्मणि सीताकथा ।

नो चेव भासिअव्व, अत्थिणा दुक्खकारणं ।
अलियं अभक्खाणं, पेसुन्नं मम्मवेहाई ॥१॥
संतो विहु वत्तव्वो, परस्स दोसो न होइ विबुहाणं ।
किं पुण अविज्जमाणो, पयडो छन्नो अ लोअस्स ॥२॥
विअरइ अब्भक्खाणं, इअरस्स वि जो जणस्स दुब्बुद्धी ।
सो गरिहिज्जइ लोए, लहइ दुक्खाइ तिक्खाइ ॥३॥
जो पुण जईण समिआण, सुद्धभावाण बंभयारीणं ।
अब्भक्खाणं देई, मच्छरदोसेण दुट्ठमई ॥४॥
निव्वत्तिऊण पावं, पावेइ सो दुहमणंतं ।
सीआ इव पुव्वभवे, मुणि-अब्भक्खाण-दाणाउ ॥५॥

यथा अत्रैव भरते मिणालाकुण्डपुरे श्रीभूति पुरोधाः, सरस्वती भार्या, पुत्री वेगवती, तत्रकदा साधुः शुद्धव्रत आगात्, उद्याने प्रतिमां स्थितः, लोको वन्दते भक्त्या, साधुपूजा दृष्ट्वाऽलीकमात्सर्येण वेगवती लोकानाह—एष मुण्डः पाखण्डी किं पूज्यते ? ब्राह्मणान्मुक्त्वा, एष मया रमण्या सह रममाणो दृष्टः इति कूटमाल साधोर्दत्तवती। लोका मुग्धास्तदनु साधुपूजनादिभ्यो निवृत्ताः, मुनिनापि लोकविरक्त्या ज्ञातम्—तदलीककलङ्कादि, ततो जिनशासनेऽपभ्राजना मन्निमित्ता[मा] भूयादिति मनसि कृत्वा यावतैष कलङ्को नोत्तरति तावता मया न भोक्तव्यमिति प्रतिज्ञाय कायोत्सर्गे स्थितः। तत. शासनदेवतासान्निध्यात्—

ततो—"वेगवईए देहे वि[वे]अणा समुट्ठिआ तिव्वा ।
पाउब्भूया अरई सूणं वयणं च सहसत्ति ॥१॥"

तस्तया सजातपश्चात्तापया साधुमूले गत्वा सर्वलोकसमक्ष स्वनिन्दापरया मुधैव तदाल साधोर्दत्त मात्सर्येणेति क्षमयित्वा पादयोर्लग्ना, ततः शासनदेव्या सज्जीकृता, धर्मं श्रुत्वा दीक्षा गृहीत्वा चिर पालयित्वा सौधर्मे देव्यभूत्। ततो जनकसुता सीता जाता । क्रमाद्रामेण परिणीता, रावणेनापहृता, सा च पश्चादानीता तदा पश्चाद्भवात्स्यस्थितालीककर्मयोगाल्लोकैः कलङ्को दत्तः। ततः पुण्ययोगादग्निचिताप्रवेशत शुद्धा, ततो जिनशासने प्रभावना जाता।

इति पूर्वकृतकर्मणि सीताकथा ॥६०॥

[61] सुभद्रा-कथा ॥

कायोत्सर्गे इहलोके यत्फलमभूत्सुभद्रायाः, तत् उदाहरण वक्ष्ये ।

वसन्तपुरे जिनदासश्रेष्ठी, तस्य सुता सुभद्रा बौद्धभक्तेन चम्पापुरीनिवासिना नरेण कपटश्राद्धीभूय बुद्धदासेन स्वगृह परिणीय नीता, सा कुटुम्बकलहे पृथग्गृहे स्थापिता सा, तत्र

प्रायो भिक्षार्थं अनेके साधव आगच्छन्ति । एषा संयतेषु रक्ता इति अन्यवचोभिर्भर्त्सिताऽपि तेषु साधुषु भक्ति करोति । अन्यदा साधुलोचने पतितं तृण जिह्वया कर्षयन्तीं सुभद्रां दृष्ट्वा [श्वशुर]लोकेन तिलको भाले सङ्क्रान्तो भर्त्तुर्दर्शितः, स मन्दस्नेहोऽभूत्प्रियाया, सुभद्रया स वृत्तान्तो ', प्रवचनोड्डाहभीतया रात्रौ कायोत्सर्गः कृतः । ततस्तदा तत्र शासनदेव्योक्तं—प्रातरस्याः पुर्या द्वारेषु स्तब्धेषु मया, चालन्याऽऽकूपोदकेन त्वया प्रतोली उद्घाट्या, ततो जिनशासनप्रभावना भवति । तदा बह्वीभिः सतीभिरनुद्घाटितेषु द्वारेषु पटहस्पर्शनपूर्वं सुभद्रया देवतयोक्तविधिना प्रतोलीत्रयमुद्घाटितं, चतुर्थमद्युनापि तथैवास्ति तत्र ततो विशेषाज्जिनशासनप्रभावना जाता, ततः सर्वकुटुम्बेन जैनो धर्मः प्रपेदे, साधव आराधिता, जिनेन्द्र आराधितः, मिथ्यात्वं त्यक्त्वा सुभद्रा[श्वश्रू]दयोऽपि पुण्यमर्जयामासुः । इति सुभद्रा कथा ॥६१॥

[62] निर्मोहकुटुम्बे गोपालकथा ।

सुस्थितग्रामे गोपालकुटुम्बी वसति, तस्य प्रिया गुणवती, पुत्रः कालकः, वधूटी कामदेवी सर्वेऽपि विरहासहा. सुस्नेहमानसाः एकत्रैव तिष्ठन्ति स्म, न विदेश गच्छन्ति च ।

अन्येद्युस्तत्रागतश्रीधर्मघोषसूरिपार्श्वे संसाराऽसारता श्रुत्वा अनित्यता भावयन्ति स्मेति—

एगोहं नत्थि मे ` , नाहमन्नस्स कस्सई ।
एवमदीणमणसो, अप्पा णुसासई ॥१॥

अन्यदा वर्षाकाले कालके हलखेटनाय गते तत्र पितृमातृवध्वाद्या. समाजग्मुः ।

अत्रान्तरे स्वर्गे कोऽपि देवोऽन्यदेवं प्रति प्राह—अधुना यादृशं गोपालकुटुम्बं निर्मोहं मिथोऽस्ति तादृशमन्यत्र दृश्यते ततस्तत्रैत्य तौ देवौ मनुष्यरूप कृत्वा गतौ । एकः सर्परूपं कृत्वा हलं खेटयन्तं पुत्रं दशति स्म । पुत्रेऽचेतनीभूते यदा पित्राद्य शोकं रोदनादि न कुर्वते, तदा अपरो देवो मनुष्यरूपभृत्प्राह—भो भो गोपालादयः कालके मृतेऽपि भवद्भिः कथं न रुद्यते पिता प्राह तदा—अनाहूतो मया यातो, न मया प्रेषितो गतः ।
यथाऽऽयातस्तथा यातः का तत्र परिदेवना ॥१॥

जननी प्राह— एकवृक्षसमारूढा, नानारूपा विहंगमाः ।
प्रातर्दिशो दिशं यान्ति, का तत्र परिदेवना ॥२॥

' परिजगौ—पृथक्पृथक्स्थिते काष्ठे, अपरे तटिनीपतौ ।
संयुज्येते वियुज्येते, तत्र का परिदेवना ॥३॥

ततस्तौ देवौ प्रकटीभूय निर्विषीकृत्य पुत्र निर्मोहमिदं कुटुम्बमिति व्यावर्ण्य स्वस्थाने गतौ । इति निर्मोहकुटुम्बे गोपालकथा ॥६२॥

[63] प्रासादकरणे आरासणवासिपासिलपुण्यम् ।

आरासणे म० गोगासुत पासिलो दौर्बल्यादतीव दुःखितोऽभूत् । यतः—

वरं वनं व्याघ्रगणैर्निषेवितं, जलेन हीनं बहुकण्टकाकुलम् ।
तृणैश्च शय्या वसने च वल्कलं, न बन्धुमध्ये निधनस्य जीवितम् ॥१॥

अन्यदा तैलपूर्णां कूपिकां गृहीत्वा पत्तने विक्रयार्थं गतः । तत्र त्रिभुवनविहारप्रासादे देवान्नन्तु गतः । देवान्नत्वा विहारस्तम्भादिषु प्रमाण गृह्णन् तत्र वास्तव्या[1] श्र० छाण्डापुत्र्या हसितं, किमियत्प्रमाण प्रासाद कारयिष्यसि ?

पासिलेनोक्तम्—यदि कदाचिद्भगिनि ! प्रासादः कार्यते तदा प्रतिष्ठासमये त्वयाऽऽ-[गन्तव्यम्] गम्यम् । गतः स्वपुरे पासिलः । १० उपवासैरयम्बिकाऽऽराधिता प्रसन्नाऽभूत् । यत' अम्बिकाऽवग्—मार्गय [वृणु] वरम् । तेनोक्तम्—यथा नवीनः प्रासादः निष्पाद्यते तथा कुरु । देवतयोक्तम्—सीसकखनि रूप्यमयी कृता । ततस्तेन नमिनाथस्य प्रासादः कारितः ।

स च बिम्बप्रतिष्ठावसरे पत्तने गत्वा तां छाडापुत्रीं स्वभगिनीत्वेन प्रतिपन्ना[न्नः]ऽऽनीता सन्मानिता च तेन । सा प्रतिष्ठा जाता सघभक्त्यवसरे प्रथम गुरून् परिधाय श्रीसघः पट्ट[दु] कूलवस्त्रै परिधापितस्तेन । भगिन्या तया पट्टकूलेषु दीयमानेषु प्रोचे इमानि मम बहूनि सन्ति पर त्वया प्रासादः कारितः परं ममाय मण्डपोऽस्तु । तेनोक्तमेवं भवतु । तदा गुरुभिरिद काव्यमुक्तम्—

गोगाकस्य सुतेन मन्दिरमिदं श्रीनेमिनाथप्रभो-
स्तुङ्गं पासिलसंज्ञकेन सुधिया श्र [ ]वता मन्त्रिणा ।
शिष्यैः श्रीमुनिचन्द्रसूरिसुगुरोर्निग्रन्थचूडामणे-
र्वादीन्द्रैः प्रभुदेवसूरिगुरुभिर्नेमेः प्रतिष्ठा कृता ॥२॥

तत्पुण्येन स पासिल स्वर्गसौख्यमासाद्य क्रमात्स शिव गमिष्यति ।

इति प्रासादकरणे आरासणवासिपासिलपुण्यम् ॥६३॥

[64] प्रासादे फलवर्धितीर्थकल्पः ।

एकदा श्रीदेवसूरयो मेडताग्रामे चतुर्मासकं कृत्वा फलवर्धिग्रामे मासकल्प स्थिताः । तत्रत्य पारसाभिधश्राद्धेनान्यदा जालिमध्ये अम्लानपुष्पपूजितो लेष्टुराशिर्दृष्टि । ततः श्रीगुर्वादेशेन तद्विरलीकरणे श्रीपार्श्वबिम्बं दृष्टम्, तस्य प्रासादकारणाय श्रीपार्श्वनाथेनोच्यते स्वप्ने समागत्य । तत श्राद्धेन तेन पारसेन स्वस्य द्रव्याभावे उच्यमाने प्रत्यह मदग्रढौकिताक्षतसुवर्णीभवनेन द्रव्य बह्वपि भावीति प्रत्ययो दर्शित । ततः कारित प्रासाद, एकस्मिन्पार्श्वे मण्डपादि सर्वं निष्पन्न तावता तत्पुत्रेणैतद्द्रव्य कुत समेतीति निर्बन्धपूर्वं पृष्टेन सा० पारसेन यथावत्कथनेऽक्षता न सुवर्ण्यभवन् । द्रव्याभावात्प्रासादस्तावानेव तस्थौ । स० ११९९ वर्षे फा० शु० १० बिम्बस्थापन

१ 'मि' इति विद्यते, D प्रतौ ।

सं० १२०४ माघ शु० १३ कलशः रोप । श्रीदेवसूरिप्रहितात्मीयशिष्यश्रीमुनिचन्द्रसूरिभिः श्रीगुरुपादैः प्रतिष्ठितः [प्रतिष्ठापितः] प्रासाद' ।

तत्र फलवर्धिपार्श्वे अजमेरनागपुरादिश्राद्धा गोष्ठिकाश्चिन्ताकारा जाताः । तत्र प्रासादेऽधुनाऽप्येका प्रतिमा पूज्यते । द्वितीयां प्रतिमा न सहते पार्श्वदेवः ।

इति प्रासादे फलवर्धितीर्थकल्पः ॥६४॥

[65] अथान्तरिक्षपार्श्वकल्पः ।

स्नात्रजलैस्तैलैरिव, साम्प्रतमपि यस्य दीप्यते दीपः ।
स श्रीमदन्तरिक्ष–श्रीपार्श्वः श्रीपुरे जयति ॥१॥

रावणराज्यसमये पुष्पबटुकेन स्वस्वामिमालिविद्याधर पूजाकृते भविष्यत् श्रीपार्श्वप्रतिमा वालुकामयी विद्यया कृताऽग्रतश्चलिते च सरसि क्षिप्ता प्रतिमा सा च देवसान्निध्यादखण्डितरूपा चिङ्गउलिकदेश चिगल्लकपुराधिपतिश्रीपालराज्ञा[राजेन] समुत्पन्नासाध्यकुष्ठेन तस्मिन्सरसि स्नानं कृतं । तस्याः प्रतिमायाः पार्श्वराज्ञः [राजस्य] कुष्ठ गतं । सुमहोत्सव राजा गृहे समायातः । राज्ञ्या पृष्टं कुतो रोगोऽगमत् ।

राज्ञोक्तम्—अस्मिन्सरसि स्नात्रकरणात् ।

राज्ञ्योक्तम्—अत्र कोऽपि देवोऽस्ति, मध्ये बलिः कृतः अम्बया प्रत्यक्षीभूयोक्तं बिम्बनिष्पत्तिस्वरूपं च, ततश्चोक्तम्—

सप्तदिनजाततर्णकादिरथ कृत्वाऽत्रागन्तव्य । ततो मया बिम्बमर्पणीयं तथाकृते देव्योक्तम्—भवता पश्चान्न विलोकनीयं, प्रतिमा पश्चादायाति नवेति विकल्पादकस्मात् राज्ञा पश्चाद्विलोकितम् । अन्तरिक्षे स्थिता प्रतिमा । तत्रैव श्रीपुरं वासित । प्रतिमानयनसमयेऽम्बाया व्यग्राया समागच्छन्त्या एकः सुतो विस्मृतः, तस्यानयनाय क्षेत्रपाय प्रोक्तम्, तेनापि विस्मारितः, ततोऽम्बया रोषेण स सिरसि दण्डेन हतः, सोऽद्यापि क्षेत्रपशिरसि दृश्यते, ततो देवस्नात्रोदकेन सिक्तो दीपो वर्धते, दीप्यते देवस्नात्रजलेन, रोगा उपशमं गच्छन्ति । इति अन्तरिक्षपार्श्वकल्पः ॥६५॥

[66] टीडासम्बन्धः ।

कस्मिंश्चिन्नगरे टीडाह्वो ज्योतिष्कोऽस्ति । एकदा टीडेन रात्रौ मण्डकाः क्रियमाणा रात्रौ छन्न सुप्तेन गणिताः । प्रातस्तत्रैत्य मण्डकप्रमाणं प्रोक्त, ततो ज्योतिष्कोऽपि ख्यातोऽभूत् ।

एकदा कुम्भकारस्य गर्दभो गतः । तेन धन दत्त्वा पृष्टं—मम गर्दभः कदा लप्स्यते ? बुधोऽवग्—लभ्यते, रात्रौ गर्दभस्थितिं वीक्ष्य प्रातर्जगौ ।

अतीव ख्यातिरभूत्तस्य । कस्यचिद्धारो गतस्तेन बुधः पृष्टः । बुधेन मुद्रिकादासी हार गृहीता [ग्रहीत्री] ज्ञाता, ततो लग्न मण्डयित्वा हारो वालितः । ततो राज्ञा टीडमञ्जलिमध्ये कृत्वा प्रोक्तम्—किं मम हस्तमध्येऽस्ति ? टीडोऽबुधो यदा न जानाति तदा राज्ञा धृतः प्राह स्वं स्वरूपमिति—

इं इं मांडा गण्या, राति ममंतइं गादह लाघ ।
मुद्रडीइं इह हारज गलिओ; हवडां टीडो जोसी प्रहीओ ॥१॥

ततः राजा चमत्कृतो राजा बुधं तं बहुधनदानेन सन्मानयामास बुधोऽवग्—भूपाद्य-प्रभृति मया यथा तथा न वक्तव्यम् । इति टीडासम्बन्धकथा ॥६६॥

[67] "गरुआ सहजिइं" गाथा सम्बन्धः ।

गरुआ सहजिइं गुणकरइं, कंतमकारणजाजाणि ।
करसणसींचइं सरभरइं, मेघ न मागइं दाणु ॥१॥

तथाहि—कस्मिँश्चिन्नगरे धनदत्ताभिधो वणिग्वसति स्म । तस्य गृहे कश्चित्प्राघूर्णक आगतः । अस्य भोजन देयमित्यभिधाय श्रेष्ठी हट्टे गतः । स प्राघूर्णकः स स्वादु रसवत्या प्रीणितस्तया, तेन प्राघूर्णकेन पत्राणि अडागराणि भक्षितानि । कानिचिन्निर्विकल्प्य भगिनीत्य-भिधाय तस्यै अर्पितानि । ततो धनदत्तो गृहे आगतः तानि पत्राणि पत्यै अर्पितानि तया [तदा] तेन चिन्तितमहो असदृशमेतत्, ततस्तया मनोगतं भावं तस्य पत्युरवगत्याभिहितं—"गरुआ सहजि" इमां गाथा पूर्णां प्रोक्त्वा [प्रोच्य] तस्य निर्विकारप्राघूर्णकाऽर्पितपत्रसम्बन्ध प्राह पत्नी—भो पते ? त्वया किमपि अलीक न चिन्त्यं, पत्राणि भक्षय, ततस्तेन पत्न्योक्त कृतम् ।

इति 'गरुआ सहजिइं' गाथासम्बन्धः ॥६७॥

[68] कूपकम्बलिकापातकसम्बन्धः ।

व्ययन्ति केचिन्मनुजा धनं मुधा—विमृश्य कार्यैकपरा जडाशयाः ।
स कूपवाहा इव कूपकम्बली—प्रघातकान्मानवतोऽतिधूर्त्तकान् ॥१॥

तथाहि—कस्मिंश्चिन्नगरे बहवः कूपवाहका गोधूमान् वयन्ते स्म । अत्रावसरे कश्चित्-पथिकस्तस्मिन्मार्गे समागात्, तेन जलयन्त्रघट्या जल पीत्वा प्रोचे भो कूपवाहकाः ! कः कूपमध्ये एता जलघटीर्जलैः पूरयति ? ततस्तैः कूपवाहकैः प्रोक्त हसद्भि—भवत्पिता घटीर्भरति । पथिको ऽवग्—यदि मम पिता घटीर्भरति तन्न शीत लगन[द्] भावि । ततस्ते प्रोचुस्ततो निजपितुः शीत-रक्षायैका कम्बलिका[किं] न दीयते ? ततः प्राह तर्हि इय कम्बलिका कूपे मया शीतरक्षायै क्षिप्यमाणाऽस्ति, एव प्रोच्य कम्बलिका क्षिप्त्वा गतः । ततो यदा गोधूमा निष्पन्नाः तदा ते विभागीकर्तुं लग्नाः । ततः पथिकः प्राह—मम पित्रा कूपाज्जल कर्षितमस्ति ममापि भागः कर्त्तव्योऽतः, ततो विवाद कृत्वा राजकुले स्व भागं याचते स्म । तदा सर्वैरप्युक्तं—कूपे कम्बलिका तेन क्षिप्ता, अतोऽस्यापि गोधूमभागो दीयता । ततः सोऽपि गोधूमभाग प्राप ।

इति कूपकम्ब[लिका]पातकसम्बन्धः ॥६८॥

सं० १२०४ माघ शु० १३ कलशध्वजारोप. । श्रीदेवसूरिप्रहितात्मीयशिष्यश्रीमुनिचन्द्रसूरिभिः श्रीगुरुपादैः प्रतिष्ठितः [प्रतिष्ठापित·] प्रासादः ।

तत्र फलवर्धिपार्श्वे अजमेरनागपुरादिश्राद्धा गोष्ठिकाश्चिन्ताकारा जाताः । तत्र प्रासादेऽधुनाऽप्येका प्रतिमा पूज्यते । द्वितीयां प्रतिमां न सहते पार्श्वदेवः ।

इति प्रासादे फलवर्धितीर्थकल्पः ॥६४॥

[65] अथान्तरिक्षपार्श्वकल्पः ।

स्नात्रजलैस्तैलैरिव, साम्प्रतमपि यस्य दीप्यते दीपः ।
स श्रीमदन्तरिक्ष–श्रीपार्श्वः श्रीपुरे जयति ॥१॥

रावणराज्यसमये पुष्पबटुकेन स्वस्वामिमालिविद्याधर पूजाकृते भविष्यत् श्रीपार्श्वप्रतिमा वालुकामयी विद्यया कृताऽग्रतश्चलिते च सरसि क्षिप्ता प्रतिमा सा च देवसान्निध्यादखण्डितरूपा चिङ्गउलिकदेश चिंगल्लकपुराधिपतिश्रीपालराज्ञा[राजेन] समुत्पन्नासाध्यकुष्टेन तस्मिन्सरसि स्नानं कृतं । तस्याः प्रतिमायाः पार्श्वराज्ञ· [राजस्य] कुष्ठं गतं । सुमहोत्सवं राजा गृहे समायातः । राज्या पृष्ट कुतो रोगोऽगमत् ।

राज्ञोक्तम्—अस्मिन्सरसि स्नात्रकरणात् ।

राज्योक्तम्—अत्र कोऽपि देवोऽस्ति, मध्ये बलिः कृतः अम्बया प्रत्यक्षीभूयोक्तं बिम्बनिष्पत्तिस्वरूपं च, ततश्चोक्तम्—

सप्तदिनजाततर्णकादिरथं कृत्वाऽत्रागन्तव्यं । ततो मया बिम्बमर्पणीयं तथाकृते देव्योक्तम्—भवता पश्चान्न विलोकनीयं, प्रतिमा पश्चादायाति नवेति विकल्पादकस्मात् राज्ञा पश्चाद्विलोकितम् । अन्तरिक्षे स्थिता प्रतिमा । तत्रैव श्रीपुर वासित । प्रतिमानयनसमयेऽम्बाया व्यग्राया समागच्छन्त्या एकः सुतो विस्मृतः, तस्यानयनाय क्षेत्रपाय प्रोक्तम्, तेनापि विस्मारितः, ततोऽम्बया रोषेण स सिरसि दण्डेन हतः, सोऽद्यापि क्षेत्रपशिरसि दृश्यते, ततो देवस्नात्रोदकेन सिक्तो दीपो वर्धते, दीप्यते देवस्नात्रजलेन, रोगा उपशमं गच्छन्ति । इति अन्तरिक्षपार्श्वकल्पः ॥६५॥

[66] टीडासम्बन्धः ।

कस्मिंश्चिन्नगरे टीडाह्वो ज्योतिष्कोऽस्ति । एकदा टीडेन रात्रौ मण्डकाः क्रियमाणा रात्रौ छन्न सुप्तेन गणिताः । प्रातस्तत्रैत्य मण्डकप्रमाण प्रोक्त, ततो ज्योतिष्कोऽपि ख्यातोऽभूत् ।

एकदा कुम्भकारस्य गर्दभो गतः । तेन धन दत्त्वा पृष्टं—मम गर्दभः कदा लप्स्यते ? बुधोऽवग्—लभ्यते, रात्रौ गर्दभस्थितिं वीक्ष्य प्रातर्जगौ ।

अतीव ख्यातिरभूत्तस्य । कस्यचिद्धारो गतस्तेन बुधः पृष्टः । बुधेन मुद्रिकादासी हार गृहीता [ग्रहीत्री] ज्ञाता, ततो लग्नं मण्डयित्वा हारो वालितः । ततो राज्ञा टीडमञ्जलिमध्ये कृत्वा प्रोक्तम्—किं मम हस्तमध्येऽस्ति ? टीडोऽबुधो यदा न जानाति तदा राज्ञा धृतः प्राह स्वं स्वरूपमिति—

सूतइं इं मांडा गण्या, राति ममंतइं गादह लाघ ।
मुद्रडीइं इह हारज गलिओ; हवडां टीडो जोसी ग्रहीओ ॥१॥

तत राजा चमत्कृतो राजा बुधं तं वहुधनदानेन सन्मानयामास बुधोऽवग्—भूपाद्य-प्रभृति मया यथा तथा न वक्तव्यम् । इति टीडासम्बन्धकथा ॥६६॥

[67] "गरुआ सहजिइं" गाथा सम्बन्धः ।

गरुआ सहजिइं गुणकरइं, कंतमकारणजाजाणि ।
करसणसींचइं सरभरइं, मेघ न मागइं दाणु ॥१॥

तथाहि—कस्मिँश्चिन्नगरे धनदत्ताभिधो वणिग्वसति स्म । तस्य गृहे कश्चित्प्राघूर्णक आगतः । अस्य भोजन देयमित्यभिधाय श्रेष्ठी हट्टे गतः । स प्राघूर्णकः स स्वादु रसवत्या प्रीणितस्तया, तेन प्राघूर्णकेन पत्राणि अडागराणि भक्षितानि । कानिचिन्निर्विकल्प्य भगिनीत्य-भिधाय तस्यै अर्पितानि । ततो धनदत्तो गृहे आगतः तानि पत्राणि पत्यै अर्पितानि तया [तदा] तेन चिन्तितमहो असदृशमेतत्, ततस्तया मनोगतं भाव तस्य पत्युरवगत्याभिहितं—"गरुआ सहजि" इमां गाथां पूर्णां प्रोक्त्वा [प्रोच्य] तस्य निर्विकारप्राघूर्णकाऽर्पितपत्रसम्वन्ध प्राह पत्नी—भो पते ? त्वया किमपि अलीक न चिन्त्यं, पत्राणि भक्षय, ततस्तेन पत्न्योक्त कृतम् ।

इति 'गरुआ सहजिइं' गाथासम्बन्धः ॥६७॥

[68] कूपकम्वलिकापातकसम्बन्धः ।

व्ययन्ति केचिन्मनुजा धनं मुधा—विमृश्य कार्यैकपरा जडाशयाः ।
स कूपवाहा इव कूपकम्बली—प्रघातकान्मानवतोऽतिधूर्त्तकान् ॥१॥

तथाहि—कस्मिंचिन्नगरे बहवः कूपवाहका गोधूमान् वयन्ते स्म । अत्रावसरे कश्चित् पथिकस्तस्मिन्मार्गे समागात्, तेन जलयन्त्रघट्या जल पीत्वा प्रोचे भो कूपवाहकाः ! कः कूपमध्ये एता जलघटीर्जलैः पूरयति ? ततस्तैः कूपवाहकैः प्रोक्त हसद्भि—भवत्पिता घटीर्भरति । पथिको ऽवग्—यदि मम पिता घटीर्भरति तत्र शीत लगन्[द्] भावि । ततस्ते प्रोचुरतो निजपितुः शीत-रक्षायैका कम्वलिका[किं] न दीयते ? ततः प्राह तर्हि इय कम्वलिका कूपे मया शीतरक्षायै क्षिप्यमाणाऽस्ति, एव प्रोच्य कम्बलिकां क्षिप्त्वा गतः । ततो यदा गोधूमा निष्पन्नाः तदा ते विभागीकर्त्तुं लग्नाः । ततः पथिकः प्राह—मम पित्रा कूपाज्जल कर्षितमस्ति ममापि भागः कर्त्तव्योऽतः, ततो विवाद कृत्वा राजकूले स्व भाग याचते स्म । तदा सर्वैरप्युक्त—कूपे कम्बलिका तेन क्षिप्ता, अतोऽस्यापि गोधूमभागो दीयतां । ततः सोऽपि गोधूमभाग प्राप ।

इति कूपकम्ब पातकसम्बन्धः ॥६८॥

[69] मनोनियन्त्रणे तापसम्म्बन्धः ।

एकस्मिन्पुरे चन्द्रोभूपो राज्यं करोति स्म । तत्र पुराद्बहिरेकस्तापसस्तपस्तपन् नारीमुखं न वीक्षते कदाचित् । यदा चतुःपञ्चाष्टाद्युपवासे पारणकं समायाति । लोकैरप्यर्थितो लोकगृहे पृथक् पृथक्पारणकं चक्रे । एकदा स भूपेन पारणकायाभ्यर्थितः भूपगृहे पारणकं कर्त्तुं गतः । भूपेन भक्तिः कृता वर्याहारदानात्, ततो राज्ञा बहुमानतो वर्यसुखासनारूढः स्वस्थानकं प्रति चचाल राजमार्गे । इतोऽकस्मात्तस्य कामलतापण्यस्त्री संमुखा मिलिता, तापसो नेत्रे निमीलयामास । ततस्तया तस्य शीर्षे दृढं दशार्द्धपूजा कृता । ततः स सद्यः पश्चाद्वलितो, राज्ञो ज्ञापितं वेश्या ऽवहीलनस्वरूपम, ततो वेश्या साऽऽकारिता राज्ञा पृष्टा च । त्वया कथमेष ऋषिर्दशार्द्धपूजया पूजितः । सा प्राहाऽयमेव पृच्छयता । ततः स पृष्टः प्राह—मयाऽस्याः समुखाऽऽगताया नेत्रे निमीलिते । ततस्तयोक्तम्—

आंखि म मींचिसि मिंचि मन, नयनि निहाली जोइ ।
जइ मन मींचिसि आपणउं, अवर न बीजी कोइ ॥१॥

मनो यदि नियन्त्रितं तदा नेत्रे अपि वशीकृते यतः—

मन एव मनुष्याणां, कारणं बन्धमोक्षयोः ।
अत एव मनो बाढं, नियन्त्रणीयमन्वहम् ॥२॥

ततः स तापसो मनो नियन्त्र्य मृत्वा स्वर्गे गतः ।

इति मनोनियन्त्रणे ता सम्बन्धः ॥६९॥

[70] सुसंगतिकुसंगतौ हस्तिसम्बन्धः ।

पद्मपुरे भूपस्य हस्ती सहस्रयोधी सदा साधुशालायाः समीपे बध्यते । स च साधोः शान्तदान्तत्वादि दृष्ट्वा शान्तोऽजनि । ततो वैरिणो भूपहस्तिनं शान्तं ज्ञात्वा राज्यं ग्रहीतुं वाञ्छन्ति । क्रमाद् मन्त्रिणा श्रुतं, राज्ञो ज्ञापितं च ततो भूपेनोक्तं—सर्वत्र मन्त्रि[मन्त्री]बुद्ध्या राज्यरक्षां करोति । ततो मन्त्रिणा स एव हस्ती शौनिकशालायाः समीपे बद्धः । ततस्तेषां कर्म्म दृष्ट्वा हस्ती युद्धाय सज्जो भवति स्म । इति सुसंगतिकुसंगतौ[त्योः] हस्तिसम्बन्धः ॥७०॥

[71] यादृग्भूपमनस्तादृग्लोकमनःप्रबन्धः ।

एकदा विक्रमादित्यो भट्टमात्रयुतो बहिरुद्याने गतः ।

विक्रमार्कं प्राह—मम मनो गच्छतां कार्पटिकानां मारणेऽस्ति ।

भट्टोऽवग्—तर्हि तेषामपि तव मारणे समस्त्यधुना ।

ततो मन्त्रिणाऽग्रे भूत्वा तेषा पुर प्रोक्तं—विक्रमार्को मृतः, ततस्तैः प्रोक्तं—तर्हि वयं जातम् । अद्यास्माकं दारूणि महार्घ्याणि भविष्यन्ति । तेऽग्रे गताः । ततः राज्ञो जल्पितं—तेषां ज्ञापितं, ततो राज्ञोक्तम्—आगच्छन्त्य एता आभीर्यो भोज्यन्ते परिधाप्यन्ते ।

भट्टमात्रोऽवग्—एतासां मनो वर्यं भविष्यति ।

ततस्तासामग्रे भट्टमात्रेणोक्तं—विक्रमार्को मृतः ।

ततस्ताभिर्झटित्येव दध्यादिभाजनानि भग्नानि प्रोक्तं—हा विक्रमार्क ! सत्यवाटक ! सात्त्विक ! न्यायप्रवर्त्तक ! सर्वजीवसुखकारक ! किं मृत । ततस्ता भूमौ लोठं लोठं रुदन्ति ततस्तासामीदृश चेष्टितं राज्ञा प्रकटीभूय वहुधनदानान्मानितास्ताः ।

इति यादृग्भूपनस्तादृग्लोकमनःप्रवन्धः ॥७१॥

[72] दानपरीक्षायां कर्ण-युधिष्ठिरसम्बन्धः ।

युधिष्ठिरराजो दानं ददानः केनापि न चाल्यते ।

> कर्णभूमिपतिर्दत्ते, दानमभ्यर्थिते सदा ।
> युधिष्ठिरस्तु पूर्वाह्णे, नापराह्णे कदाचन ॥१॥

इति श्रुत्वा द्वौ देवौ धार्मिकरूप विधाय नृपगृहद्वारे गतौ, तदा दानं दत्त्वा राजा सुप्तः । प्रतीहारेण साधर्मिकागमन ज्ञापित राज्ञ । युधिष्ठिरेण ज्ञापित—सदावसरो न भवति दानदाने ।

ततस्तौ कर्णभूपगृहद्वारे गतौ, प्रतीहारेण तयोरागमन ज्ञापितं, ततः कर्णः स्नानार्थमुपविष्टः खलिखरण्टितदेहः प्राह—प्रेष्येता तौ, दानं दास्यते यतः—

> चलं चित्तं चलं वित्त, चलं जीवितमावयोः ।
> विलम्बो नैव कर्त्तव्यो, धर्मस्य त्वरिता गतिः ॥२॥

कर्णस्यैतद्वच श्रुत्वा तौ देवौ प्रकटीभूय प्रोचतुः—अधुना तव तुल्यो दानी भुवि न विद्यते । इति दानपरीक्षायां कर्णयुधिष्ठिरसम्बन्धः ॥७२॥

[73] अथ बुद्धौ अन्यायपत्तनगतश्रेष्ठिपुत्रसम्बन्धः ।

ताम्रलिप्तिपुरात्पुत्रस्य विदेशे व्यवसायार्थं गच्छतस्तातेनेति शिक्षा दत्ता—अन्यायपुरपत्तने न गम्यम् [गन्तव्यम्] । तत्र च अन्यायो नृप , अविचारको मन्त्री, सर्वग्राह्यारक्षक , अशान्तिनामा पुरोहितः, गृहीतभक्षः श्रेष्ठी, मूलनाशः तत्सुतः, यमघण्टा कुट्टिनी, रणघण्टा तत्पुत्री, अन्ये द्यूतकारा वहवस्तत्र । धूर्त्त सर्वलोक ।

ततः पितुः शिक्षामादाय चलन् दैवादनीतिपत्तने गत । प्रथमं तत्र चत्वारो मीलिताः श्रेष्ठिनः, तैरुक्त—व्यवसायकरणमिह दुःशक, क्रयाणकमस्मभ्य देहि, चलिता यन्मार्गयिष्यसि तदा वस्तुना तव यान भरिष्यते । ततस्तेन सर्वं वस्तु तेभ्यो दत्त, साक्षिण कृता , ततः स पुरमध्ये चचाल, वर्त्मनि एको धूर्त्तो वर्यं चाखडिके प्राभृतीकृत्य प्राह—यदा त्वं चलतः पुरात् तदा मां हृष्ट कुर्या । ततोऽग्रत एकधूर्त्तः सहस्रटङ्ककान् मम पित्रा नेत्रं ग्रहणके तव पितु पार्श्वे मुक्तमस्ति तच्चलतार्प्पणीयम् । ततः श्रेष्ठिसूः प्राह—अग्रे सर्वं वर्यं भविष्यति । ततः स श्रेष्ठिपुत्रः पुर्याः शोभां विलोक्य वेश्यापुत्र्या गृहे गतः । तत्र स्थित , तया समं प्रीतिर्जाताऽत्यन्त, ततस्तेन स्ववस्तुविक्रयादिस्वरूप तस्याः पुर प्रोक्त, तयोक्तं—वर्यं न कृतं, तथापि तथा करिष्ये यथा ते सुखं भविष्यति । ततः सखीवेष कारयित्वा रणघण्टाया मातुर्गृहे त साऽनैषीत् । तदा रात्रौ

ते चत्वारः श्रेष्ठिनः समेत्य पप्रच्छुः । अस्माभिरेकस्मान्नराद्वस्तु गृहीतमस्ति तस्याग्रे प्रोक्तमस्ति-यदा त्वं चलिष्यसे तदा यानं भृत्वा दास्यते। वेश्याऽवग्—कदाचिन्मशकैर्यानं भृतं मार्गयिष्यति तदा किं क्रियते भवद्भिः । ते प्रोचुरेवं बुद्धिः स्तस्य कुतः ।

तत उपानद्दाता धूर्त्तः समागतः, तेनाप्युक्तं—मया तस्यैव चाखड्यौ दत्ते प्रोक्तं—हृष्टं मा कुर्याः, अहं तु हृष्टो न भविष्यामि, ततस्तस्य वस्तु ग्रहीष्यते। वेश्याऽवग्—यदि स त्वा भूपपार्श्वे नीत्वा वदिष्यसि—राज्ञः सुतो जातः, त्वं हृष्टोऽथ न तदा किमु ।

तत एको धूर्त्तः पुनरागतः प्राह—मया सहस्रटङ्ककान् दत्त्वा तस्य श्रेष्ठिसूनोः प्रोक्तं—मम पित्रा तव पितुर्गृहे चक्षुर्ग्रहणके मुक्तं तच्चलता दातव्यम् । यदा चलिष्यति स तदा चक्षुर्मार्गयिष्यामि ।

वेश्याऽवग्—वयं न कुत कदाचित् स गदिष्यति अस्मत्पितुः पार्श्वे वहूना जनाना नेत्राणि ग्रहणके सन्ति, तेन त्व स्व चक्षुस्तुलाया मुञ्च, ततस्तेन द्वितीयचक्षुषा सम तोलयित्वा दास्यामि ततस्त्वं हारयिष्यसि ।

एव प्रोच्य सर्वे स्वस्थान गताः । एतत् श्रुत्वा चलनावसरे मशक राजपुत्रजन्म-चक्षुस्तोलनयुक्तिभिः साधिका श्रिय तेभ्यो ललौ । इति बुद्धौ अन्यायपत्तनगतश्रेष्ठिपुत्रसम्बन्धः॥७३॥

[74] निर्घृणत्वे वैद्यसम्बन्धः ।

एकस्मिन् पुरे द्वौ भ्रातरौ वैद्यौ वैद्यकशास्त्रकुशलौ लोकान् चिकित्सयन्तौ लक्ष्मीमर्जयतः स्म । एकदा वृद्धभ्राता कस्मिंश्चिद्ग्रामे गतः । तत्र कमपि पुरुष चिकित्सयित्वा धनमादाय पश्चादागच्छन् स्वपुरसमीपे समागात्, तत्र चिता प्रज्वलन्तीं दृष्ट्वा तु दध्यौ । अह ग्रामे ऽन्यत्रागममेकः कोऽपि मृतोऽत्र तस्य चिता ज्वलन्ती दृश्यते । मम भ्रात्रा नाडिं विलोक्य किमपि धनं गृहीतं न वेति । ततो वैद्यो दध्यौ—

साम्प्रतं दृश्यतेऽत्रैव, प्रज्वलन्ती चिता किल ।
ग्राममागामहं मे तु भ्रातुः किं चरितं नवा ॥१॥
चितां प्रज्वलितां दृष्ट्वा, वैद्यो विस्मयमागतः ।
नाहं गतो मम भ्रातुः, कस्येदं हस्तलाघवम् ॥२॥

इति निर्घृणत्वे वैद्यसम्बन्धः ॥७४॥

[75] ताजि न्थविरचनसम्बन्धः ।

एकदा गूर्जरधरित्र्यां मुद्गलाः वहवः खरशानतः समागताः । तैर्गूर्जरधरित्रीमनुजा धृताः । तेषु मध्ये एको विद्वान् आचार्यो धृतः । स च नीतः खरसाणे स च तत्रस्थस्तेषां मुद्गलानां भाषा स्तोकदिनैर्जज्ञौ । एकदा यस्य मुद्गलस्य गृहे तिष्ठति स्म । स मुद्गलो वैरिग्रामं लुण्टितुं गतः ।

इतो मध्याह्नसमये तस्य मुद्गलस्य माता पदच्छायामवित्वा विलोक्य क्षणमूर्ध्वंस्थिता उदरं कुट्टयन्ती रोदितु लग्ना । हा पुत्र ! कथ हतः ? किं करोमि त्वया विनाऽहम्, तवाऽऽधारे

इद कुटुम्बमासीत्, इत्यादि विलप्य विलप्य रुदतीं श्वश्रू दृष्ट्वा पुत्रवधूः पत्रच्छाया विलोक्य हृष्टमनाः श्वश्रूं प्रति प्राह—मातर्मा रोदन कुरु, तव पुत्रः कुशल्यस्ति। एकः शरो मस्तके लग्नोऽस्त्येकः पादे, एको वामहस्ते च, क्षेमेण सन्ध्याया समेष्यति, ततः श्वश्रूर्वध्वा रुदती रक्षिता। सन्ध्याया यादृश वध्वा प्रोक्त तादृश तेनाचार्येण दृष्ट। ततो दध्यौ—एते द्वे अपि कुशलिनी[न्यौ], पर वधूस्तु (श्वस्रा) अप्यधिका। ततस्तेन सूरिणा तत्रस्थेन यवनिक शास्त्रं पठित्वा ताजिको ग्रन्थो नवीनो बद्ध। ततः सोऽत्र गूर्जरधरित्र्या सूरिणा नीतः। सूरिस्तु ततस्तत्क्षणमत्रागतः, ग्रन्थस्ततो निराम्नायोऽभवत्। तस्मिन् ग्रन्थे अतीतानागत—भाविभूतादिसर्वं प्रोक्तमस्ति पर तादृग्बुद्धिं विना सम्यग् न ज्ञायते। स चाधुनाऽत्र विद्यते। इति ताजिकग्रन्थनिरचनसम्बन्धः ॥७५॥

[76] मकरवानरसम्बन्धः।

एकदा पुष्पाकरवनादेको वचनप्रियो वानरः कदाचिद् भ्रमन् वने वने फलाहार कुर्वन् समुद्रतटे गतः। तत्रैक समुद्रमर्यादाजलान्तर्लुठन्तं मकर वीक्ष्य वानरः प्राह—मित्र ! किं जीवितनिर्विण्णोऽसि त्व यदत्र व्याधभूमौ समागाः ? ततो मकरोऽवग्—

यस्य यद्विहितं स्थानं, यस्य यद्धेतवे कृतम्।
तत्रैव रमते चित्त, तत्र नान्यत्र वानर ! ॥१॥

उक्त च—सर्वस्वर्णमयी लङ्का, न मे लक्ष्मण ! रोचते।
पितृपर्यागतायोध्या, निर्धनापि सुखावहा ॥२॥

किंच—जणणी[1] जम्मुप्पत्ती,[2] पियसंगो[3] जीवियं[4] धणासा य[5]।
पच्छिमनिद्दा[6] वरकामिणी,[7] पंचवि [सत्तवि] दुक्खेण मुच्यंते ॥३॥

अद्याह सफलजन्माऽभूव तव दर्शनेन, उक्त च—
साधूनां दर्शनं श्रेष्ठं, तीर्थभूता हि साधवः।
तीर्थं पुनाति कालेन, सद्यः साधुसमागमः ॥४॥

तस्मादत्र भवान् स्थलोत्पन्नः समागतः। भवादृशा गोष्ठ्यपि दुर्लभा। ततो वानरः प्राह—हे मकर ! अद्यप्रभृति त्व मे प्राणाधिकमित्र वर्तसे, मित्रस्य पुरः स्वसुखं दुःखं च प्रोच्य प्रायः सुखी जनो भवति। उक्त च—

प्रयुक्तसत्कारविशेषमात्मना, न मां परं संप्रतिपत्तुमर्हसि।
यतः सतां सन्नतगात्रिसगतं, मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते ॥५॥

ततो मिथो वानरमकरयोः प्रीतिरजनि। वानरो वर्यफलानि मकराय विश्राणयति, मकरश्च निजपत्न्यै दत्ते, साऽपि फलाऽऽनयनसम्बन्ध पप्रच्छ। ततस्तेन वानरमित्रसम्बन्धः प्रोक्तः। ततः सा सगर्भा मकरी चिन्तयामास। यो वानरो नित्यमीदृशानि फलानि सुस्वादूनि भक्षयति तस्य हृदय पीनमतीव मृष्ट मासममृतोपम भवति, ध्यात्वेति पतिं प्रति मकरी प्राह—मम गर्भानुभावात् तव मित्रवानरहृदयभक्षणदोहदो जातोऽस्ति। तं दोहदपूरणं विना मम प्राणा गमिष्यन्ति।

ततो दयिताकदाग्रह मत्वा सोऽन्यदा वानरं प्रत्यवग्-मित्र ! त्वदीयभ्रातृजाया त्वामाकारयति, तत्र तव भक्तिं करिष्यति । ततः स वानरो भ्रातृजायामिलनार्थं मकरपृष्ठिमारूढः कियन्तीं वेलामतिक्रान्ता* । ततः कपिः प्राह—मया तत्रगतेन किं कर्त्तव्यं ? तव पत्नी मम कीदृशीं भक्तिं करिष्यति । तदहो मकरो दध्यौ-मया तु बहुजले समानीतोऽत्र । इदं जलमुत्तीर्य पश्चाद्गन्तुं मया विना न शक्नोति । अतः सत्यमेव वच्मि । ततः पत्न्या दोहदस्वरूपं प्रोक्तं तेन वानराग्रे । ततो वानरो दध्यौ-तत्र यदि गतोऽहं तदा मृत एव, अतो बुद्धिर्विधीयते मया । ततोऽवग्वानरः-मित्र ! मां त्वं तत्र नयन्नसि परं भ्रातृजयामनोरथ एवं पूर्णो न भावी। मकरोऽवग्-किमिदं वदसि ? वानरोऽवग्—मम वटे चित्तं विद्यते । हृदय तूदम्बरे वृक्षे समस्ति, तेन गृहीत्वा यदि गम्यते तदा भ्रातृजायामनोरथः सफलो भवति । ततो मकरः पश्चाद्वलितः अब्धितटे समागात् । ततो वानरो तत्पृष्ठित उत्तीर्य वृक्षमारूढः प्राह-मित्र गच्छ, पश्चात् मैत्र्याः श्रितं [स्थिति] मम भ्रातृजाया अग्रे प्रोक्तव्यं-वानरो वटाच्चित्तमुदुम्बरात् हृदयं मुक्तं लातुं गतोऽस्ति । अहं तु त्वया सह मैत्रीं न करिष्येऽत परं, यतः—

जलजन्तुचरैर्नित्यं, जलमार्गानुसारिभिः ।
स्थलजैः संगतिर्न स्याद्-ब्रुवन्ति मुनयो ध्रुवम् ॥६॥

इति वटचित्तमुदुम्बरिहृदयम् । इति मकरवानरसम्बन्धः ॥७६॥

[77] सत्पात्रदानसम्बन्धः ।

दानं धर्मेषु रोचिष्णु, तच्च पात्रे प्रतिष्ठितम् ।
मौक्तिकं जायते स्वाति-वारि शुक्तिगतं यथा ॥१॥
केसिं च होइ वित्तं, चित्तं केसिं पि, उभयमन्नेसिं ।
वित्तं चित्तं पत्तं, तिन्नि पुण्णेहिं लब्भंति ॥२॥

कश्चिद्राजा दानपराङ्मुखोऽन्यदा महाटव्या गतः । सपरिवारोऽटवीं पश्यन् भूपो मधूकाभिधस्य[वृक्षस्य]अधस्तात् स्थितः, स मधूको वृक्षस्तदा बिन्दून् मुञ्चति । राज्ञोक्तं—भो पण्डित ! अयं मधूकः कथ रटति ? तदैकेन पण्डितेन भूपप्रतिबोधायेति प्रोक्त—

यदास्ति पात्रं न तदास्ति वित्तं, यदास्ति वित्तं न तदास्ति पात्रम् ।
एवं हि चिंतापतितो मधूको मन्येऽश्रुपातै रुदनं करोति ॥३॥

श्रुत्वैतद्भूप. सत्पात्रदानपरोऽभूत् । इति सत्पात्रदानसम्बन्धः ॥७७॥

[78] दाने सुदर्शनश्रेष्ठिकथा ।

चम्पापुर्यां जिनदासश्रेष्ठी, तस्य गृहे महिषीपालः सुभगनामा बभूव । स च सदा महिषीं चारयितुं वने याति । एकदा शीतकाले वनमध्ये कायोत्सर्गस्थितं यतिं दृष्ट्वा दयापरो

* 'न्तौ' इति शुद्ध दृश्यते । —न्त । अथवा 'कियन्ती वेलाऽतिक्रान्ता' ।

महिषीपालस्तस्य साधोरुपरि शीतरक्षानिमित्तमेकं कम्बलं ददौ । तत्पुण्येन क्रमात्तस्य श्रेष्ठिनः सुदर्शननामा पुत्रोऽभूत्। स च क्रमात्पुरोहितपत्नीकपिलयाअभयाराज्ञ्या चाक्षोभितः सन् ताभ्यां कलाच्छूलायां क्षेपितः। शीलमाहात्म्यात्सा शूली स्वर्णमयं सिंहासनमभूत्। इत्यादिसम्बन्धः स्वयमेव ज्ञातव्यः। इति दाने सुदर्शनश्रेष्ठिकथा ॥७८॥

[79] दाने कृष्णकथा ।

मिथ्यादृष्टिसहस्रेषु, वरमेको ह्यणुव्रती ।
अणुव्रतिसहस्रेषु, वरमेको महाव्रती ॥१॥
महाव्रतिसहस्रेषु, वरमेको हि तीर्थकृत् ।
जिनाधिपसमं पात्रं, न भूतं न भविष्यति ॥२॥

एकदा मथुरायां नगर्यां नन्दगोकुलेन स्वपुत्रो नारायणो वनं भ्रान्त्वा समागतः पृष्ट इति भो वत्स ! त्वया भोजनं कृतं नवेति ? तदा नारायणेनोक्तं—

स्वच्छन्दतः स्वभवने स्वयमर्जितान्नं, कान्ताकराग्रपतितं यतिदत्तशेषम् ।
ये ते सुरपितॄनपि तर्प्पयित्वा, ते भुक्तवन्त इह, तेन, मया न भुक्तम् ॥३॥

यतः—पढमं जईण दाऊण, अप्पणा पणमिऊण पारेइ ।
असईसुविहियाणं, भुंजेई कयदिमालोओ ॥४॥

इति दाने कृष्णकथा ॥७९॥

[80] दाने कुरुक्षेत्रब्राह्मणादिकथा ।

कुरुक्षेत्र ब्राह्मणः, ब्राह्मणी, तत्पुत्रश्च एते त्रयः प्रीतिपरास्तिष्ठन्ति। एकदा स्वगृहागताभ्यां साधुभ्यां स्वस्वभागसक्तुमध्याद्भावात्सक्तवस्तैर्दत्ताः। तद्दानपुण्येन तस्मिन्नेव भावभूरिस्वर्णकोटिवृष्टिरभ्येत्य सुरैः प्रशंसा कृता तेषां च ततस्तेन पुण्येन मुक्तिमपि गमिष्यन्ति ।

इति दाने कुरुक्षेत्रब्राह्मणादिकथा ॥८०॥

[81] प्रतिक्रमणक्षमाविषये युधिष्ठिरकथा ।

एकदा युधिष्ठिरभूपो द्यूतहारितराज्यः भीमादिभ्रातृयुतो वनं प्रति चचाल । कस्मिंश्चिद्वने सन्धा[न्ध्यायां] तरोरधस्तस्थौ। तदानीं सामायिकं गृहीत्वा प्रतिकर्म[प्रतिक्रमण] कृत्यं कृत्वा स्मृतपञ्चनमस्कारो यावत्स्वपिति तावद्भीमोऽवग्—वने उपसर्गा उत्पद्यन्ते, रात्रौ तु विशेषतो भयं स्यात्तेनाऽहमादौ प्रथमयामे जागर्मि। भीमस्य जाग्रतः कलिनामा राक्षसस्तत्रागाद्भीमं क्षोभयितुं तदा मिथो द्वाभ्यां युद्धं बाढं कृतं न कस्यापि जयविजयौ भवतः स्म । मिथः खिन्नौ तौ पृथक्पृथक्स्थितौ भीमस्तु सुप्तः । ततो द्वितीयप्रहरे अर्जुनो जागर्ति, तत्रापि भीमवद्भमर्जुनेन तेन समं युद्धं कृतं ततो मिथस्तौ खिन्नौ पृथक्स्थितौ । तृतीयप्रहरे तथैव सहदेवनकुलौ तेन समं

चक्रतुः। चतुर्थप्रहरे युधिष्ठिरराजः स्वयमेवोत्थाय सामायिकं लात्वा नमस्कारान् गणयन् तस्थौ, यावत्प्रतिकर्म[प्रतिक्रमण]कर्तुकामो धर्मध्यानपरोऽभूत् तावदितः सोऽपि असुरः कलिः सप्तताल-प्रमाण वस्तु [वपु] कृत्वोपसर्गयितुं लग्नः। एवं षट्पञ्चचतुस्त्रिद्विप्रभृतिहीनहीनतरव्याघ्रादिरूपाणि कृत्वा युधिष्ठिरं ध्यानाच्चालयितुं लग्नः। युधिष्ठिरस्तु प्रतिक्रमणं कुर्वन् सर्वथा मुक्तवैरः सन् स्थितः। तदा तेन [शरीरं] कृष्णक्रमुकप्रमाण कृतं यावत् तावद्युधिष्ठिरेण वर्तुलकेन स्थगितः सः प्रातर्भीमादीन् सर्वान् भ्रातृन् सुप्तान् दुःखेनोत्थाप्य युधिष्ठिरः पप्रच्छ—भो भ्रातर! कथमेवं सुप्ता यूयं? तदा तैः स्वं स्वं रात्रिवृत्तान्तमुक्तं। तदा युधिष्ठिरोऽवग्—सोऽसुरोऽत्रास्ति यावद्वर्तुलकं पश्चात्करोति तावत् स कल्यसुरः सन्तुष्टः स्वरूपं प्रकटीकृत्य युधिष्ठिर तुष्टावेति—

धन्यस्त्वं पुण्यवानभाग्यात् सौभाग्यसरलाशयः।
विद्यसे धरणीपीठे, जगद्वन्द्यक्रमाम्बुजः ॥१॥

कल्यसुरोऽवग्—एवं यः क्षमा करोति स कलावपि स्वं कार्यं करोति मुक्तिभोग्यं सात-मर्जयति च। ततो युधिष्ठिरोऽपि प्रतिकर्म[प्रतिक्रमणं] कृत्वा सामायिकं पारयित्वाऽवग्—भो असुर! मया तव योऽपराधः कृतः स क्षम्यतां त्वया। एवं मिथस्तौ क्षमयांचक्रतुः।

इति प्रतिक्रमणक्षमाविषये युधिष्ठिरकथा ॥८१॥

[82] अथ कर्णकद्विजकल्पितसम्बन्धः।

कर्णं स्वर्णदान भूरि दत्त्वा स्वर्गे गतः। तत्र स्वर्णमेव पश्यति, नान्यत्। तत' पृष्टो गुरु प्राह—न त्वयाऽन्नादिदानं दत्त, तेन हेम पश्यन्नभूत्। ततो दातु चन्द्रपुरे शृगाल· श्रेष्ठी बभूव। तत्रान्न दत्त्वा जिमते एकदा कोऽपि नायातः तदा खिन्नः श्रेष्ठी। कोऽपि देवश्चालयितुं योगिरूपभृत् अन्नं लातुमागतः, श्रेष्ठी भोजन दातुमुत्थितः। सोऽवग्—नाहमन्न गृह्णामि, किन्तु तव पुत्रमांसं। ततः पुत्रं हत्वा तन्मास ददौ। ततः श्रेष्ठी जगौ मा स्वर्गं नय। स देवरूपभृत् तव पुत्रं विना नाह स्वर्गं दातुं क्षमः। ततः खिन्ने श्रेष्ठिनि देवेन पुत्रः प्रकटीकृतः ततो विशे-षतोऽन्नदानं ददौ। इति दाने कर्णकद्विजकल्पितसम्बन्धः ॥८२॥

[83] तीर्थे धनव्ययने दुर्गतसम्बन्धः।

मन्त्रिवाग्भट्टेन तीर्थोद्धारे विधीयमाने तदर्थद्रव्यार्थं सर्वव्यवहारिनामसु लिख्यमानेषु एकेन मारवेन—दुर्गतेन यात्रागतेन स्वसर्वस्व द्रम्मपञ्चक पुण्यार्थं मन्त्रिणोऽर्पित। मन्त्रिणा तन्नामनि धुरि लिखिते व्यवहारिणो रुष्टा·। तान् रुष्टान् दृष्ट्वा वाग्भट्टमन्त्री जगौ, एतेन सर्वस्व-मर्पितं तथा चेद्भवद्भिरर्प्यते तदा भवता नाम धुरि स्यादिति वचसा प्रसन्नीकृतास्ते महेभ्या उत्थाय तत्पदौ प्रणेमुः। तेन मारवेन पादलिप्तपुरे रन्धनाय चारीं यच्छता द्रम्मभृतो लोष्टको लब्धः। पारणानन्तर मन्त्रिणोऽग्रे मुक्तः। मन्त्री तं दृष्ट्वा जगौ त्वद्भाग्येनायं भवतश्चटितस्तेन त्वमेव गृहाण। ततो मारवेन लब्धधनार्द्धं तत्र तीर्थे व्ययितम्, मन्त्रिणः सन्मानितः, स क्रमात्प्रासादो निष्पन्नस्ततः बहुधनं व्ययितं मन्त्रिणा, तथाहि—

लब्धत्रयीविरहिता द्रविणस्य कोटीस्तिस्रो विविच्य किल वाग्भटमन्त्रिराजः ।
यस्मिन् युगादिजिनमन्दिरमुद्दधार, श्रीमानसौ विजयतां गिरिपुण्डरीकः ॥१॥

इति तीर्थे धनव्ययने दुर्गतसम्बन्धः ॥८३॥

[84] लूणिगवसहीति नामसम्बन्धः ।

पूर्वं धवलके लूणिग-माल[देव]-वस्तुपाल-तेजपाला सोदरा निर्द्रव्या वसन्ति स्म । अन्यदा लूणिगस्यान्त्यावस्थाया पुण्यव्यये लक्षलक्षनमस्कारा मानिताः भ्रातृभिः । तैरुक्तं च—अपर वस्तु याचस्व । विमलवसहिकाया देवकूलिकामनोरथोऽभूत् मे, यदि सिद्ध्यति तदा मम मनःसमाधिर्भवति । भ्रातृभिरुक्तम्—यदि श्रीः सपत्स्यते तदा कारयिष्यते । तदनु भाग्याज्जाते राजव्यापारे श्रीअर्बुदे श्रीमाताबोडापार्श्वाद् भूर्द्रम्मैराच्छाद्य गृहीता। ३६ द्रम्ममूटका[आ]स्तीरिताः। तैरुक्तमत. पर न त्व द्रम्मैः पर्वतमपि गृह्णासि ।

[स०] १२८३ प्रासादारम्भः । १२९२ सम्पूर्णः ।

द्रव्यकोटी १२५३ लक्षलूणिगवसहिकाया व्ययिताः ।

इति लूणिगवसहीति नाम दत्तम् ॥८४॥

[85] अथ देवसूरिकान्हडयोगिसम्बन्धः ।

अन्यदा भृगुकच्छे श्रीदेवसूरिपार्श्वे कान्हडकाह्वयोगी ८४ सर्पकरण्डिकाश्चाऽऽदायागतः । मया सम वाद कुरुत, आसन वा स्व त्यजत यूयम् । गुरुभिरासनोपविष्टैः परितः सप्त रेखाः कृताः । उक्त च—मयि सर्प्पान् यथारुचि मुञ्च । ततः कान्हडकेनैकोऽहिर्मुक्तः । एकां रेखामपि गुरुकृता नाक्रमति स्म । द्वितीयो द्वितीयाम्, एव बहवोऽह्यो मुक्ताः, पर षष्ठी रेखा केनापि सर्पेण नाक्रमिता नाक्रामि वा । योगिनोक्तमेकशो [मेकैकशो] भूमावुपविशन्तु । प्रभुभिरुक्तं—किं भूमावुपविशनेन, यः सबलोऽहिस्तमहिं मुञ्च । ततश्च कान्हडेन नलिकान्त आकृष्य [नलिकान्तराकृष्य] रक्तः सिन्दूरिकः सर्पो दृष्टिपातमात्रेण कदलीपत्रं भस्मसात्कुर्वन् मुक्तः । वाहनसर्पो रेखां न लङ्घते । इतः सिन्दूरसर्प्पेणोत्तीर्य जिह्वया रेखा भग्ना । वाहनसर्प्प सपरितनप्रेरणया आसनपादे चटितु प्रवृत्तः । लोको हाहारव कुरुते । गुरवो ध्यानपरायणा बभूवुः । एतस्मिन्नवसरे गुरुध्यानप्रभावादेत्य शकुनिकया सर्प्पद्वयमुत्पाद्य[त्य]दूरतर क्षिप्त । जितो योगी दीनवदनीभूय टोडरमुत्तार्य गुरुचरणयो पतितः प्राह—प्रभो ! ममैतदेव सर्पद्वयमाजीविका तेन क्वास्ति तत्सर्पद्वयम् ? प्रभुभिरुक्त नर्मदातीरे कुरुकुल्लयागत्योवाच । मास ४ [मासचतुष्टय] समुखवटाधिरूढया व्याख्यान श्रुत, तेन कथ प्रभूणा गुरूणामुपद्रव द्रष्टु शक्नोमीति सर्पोऽपाकृतः। गुरुभिः स्तुतिरूप काव्य जगदे । देव्योक्तं—इद कोशे तिष्ठतु, न प्रकाश्य । प्रातर्द्वारलिखित काव्यत्रयं मत्स्तुतिरूप यः पठिष्यति तस्य सर्पोपद्रवो न भविष्यतीति विज्ञप्य स्वस्थान गता। कान्हडो गुरुजितः। स्वां कला सर्वां मुक्त्वा गुरुपादसेवापरोऽभूत् ।

इति देवसूरिकान्हडयोगिसम्बन्धः ॥८५॥

[86] सुपात्रदाने कर्णभूपचारणसम्बन्धः ।

अन्येद्युः कर्णराजो दानफलं मुक्त्यादिसौख्यं श्रुत्वा प्रतिप्रभाते भारशतमितं सुवर्णं दत्त्वोत्तिष्ठति सिंहासनात् । अत्रान्तरे एकदा कर्णस्य सत्पात्रदानेच्छायां प्रातः प्रथमं चारणद्वयं श्राद्धमिथ्यात्वधर्मवासितं समागात् । तदा ध्यातं कर्णेनेति, सत्पात्राय मया पूर्वं दानं दातव्यं, सद्गतिहेतवे, यतः—

अन्नदातुरधस्तीर्थंकरोऽपि कुरुते करम् ।
तच्च दानं भवेत्पात्रे, दत्तं, बहुफलं यतः ॥१॥

एवं ध्यायन् कर्णः पात्रपरीक्षापरो यावद्दानं न दत्ते तावदेकेन चारणेनोक्तं—

पत्तपरिक्खह किं करुह, दिज्जउ मग्गंताह ।
वर ह किमु अंबुदहं, जोइं सम-विसमाइं ॥२॥

तदा कर्णः प्राह—वरसु वरसु अंबरहत-वरसीडां फल जोइ ।
धत्तूरइ विस इक्खुरस, एवडुं अंतर होइ ॥३॥

इति सुपात्रदाने कर्णभूपचारणसम्बन्धः ।

[87] अथ संसारासारतायां कथा ।

संसारम्मि असारे, नत्थि सुहं वाहिवेअणापउरे ।
जाणंतो इह जीवो, न कुणइ जिणदेसिअं धम्मं ॥१॥

तथाहि—श्रीपुरे धनश्रेष्ठी, धनो प्रिया, चन्द्रः पुत्रः, तस्य पत्नी रूपश्रीः, चन्द्रः पत्नीमोहितः पत्न्योक्तं कुरुते । एकदा पत्न्योक्तं—मां प्रति श्वशुराद्यो यथातथा जल्पन्ति । ततः स माता-पितृन् मुक्त्वा विदेशं प्रत्यचलत् । मार्गे तृषा लग्ना पत्न्याः । सा च जल्पति स्म पयो विना मम जीवितं नास्ति । ततो जगदे तेनाग्रतश्चलत सरो यावत् । साऽवग्—अत्रानय पयः । ततस्तस्यां मोहितः स पयो नेतु चचाल । सिंहो दृष्टः, जीवितव्यं तृणमिवावगणय्य सरसि गत्वा पयः पश्चादानीतवान्, यावत्प्रियाऽभूदचेतना । ता क्रमात्सचेतनीकृत्याग्रतश्चचाल । ततः कस्यचित्पुरोपान्ते कूपोपकण्ठे भार्यां मुक्त्वा पुरमध्ये भक्तमानेतुं गतः । तत्रस्था सा समीपकूपे एकं कुष्ठिनं पङ्गुं रागं कुर्वाणं दृष्ट्वा मोहिताऽभूत्, भर्तृविषये निःस्नेहाऽभूत् । तया पङ्गुपुरः [पङ्गोः पुर] प्रोक्त-त्वं मम भर्त्ता भव । तेनोक्तं-कथमेवं जल्पसि ? क्वाहं, क्व त्वं ? ततः क्षणाद्भर्त्ताऽगात् । आनीत भक्त त्रिधा कृत्वा एक भागं स्वस्य, एकं पङ्गोः, एकं पत्युः कारित तया । ततश्चलन्त्या तया स पङ्गुः सार्धं नीत । मार्गे कदाचित्तं पुरुपमुत्पाटयति । कदाचित्सा क्रमाद्धन्तुमिच्छति सा पतिं, क्रमात्कस्मिंश्चित्पुरे पुरपार्श्वे गत्वाऽवग् सा, ममापहृत्य यात्ययं, ततो राजाऽऽगात् । तयोक्तं-ममाय पङ्गुर्भर्त्ता, असौ मुधाजल्पकः । ततो राज्ञा निष्कासितोऽसौ चन्द्रो दध्यौ—

यस्यै निजं कुलं त्यक्तं, जीवितार्थं च हारितम् ।
सा मयि भवति निस्नेहा, कः स्त्रीणां विश्वसेन्नरः ॥२॥

ततो राज्ञां स्वस्वरूपं प्रोच्य संसारं तत्याज सः । इति संसारासारतायां ॥८७॥

[88] अथ पुण्यसारकथानकम्

साकेतनपुरे भानुप्रभस्य भूपस्य मान्यो धनामित्राभिधः श्रेष्ठी बभूव । तस्य श्रेष्ठिनो धनमित्राभिधा प्रियाऽभूत् । साऽन्यदा रैकुम्भं स्वप्नेऽपश्यत् । क्रमात्सा पुत्रमसूत । जन्मोत्सव कृत्वा तस्य सूनोः पुण्यसार इति नाम दत्त पितृभ्याम् । क्रमाद्यौवन प्राप सः । धन्या कन्यां धर्मकर्मशास्त्रकुशलः पुण्यसार पितृदत्तां समह परिणिन्ये । क्रमात् पितरि स्वर्गं गते पुण्यसारस्य स्वप्ने लक्ष्मीरभ्येत्यैवमवोचत्—अह त्वद्गृहे त्वदर्जितपूर्वपुण्यादेष्यामि । पुण्यसारोऽवग्—कथमेष्यसि त्व ? तयोक्त—प्रातस्त्वया गृहस्य चत्वारः कोणा विलोकनीयाः । तत प्रगे चत्वार' कुम्भा रैभृताः दृष्टा कोणेषु पुण्यसारेण । ततोऽनर्थभिया भूपस्याग्रे गत्वा रैकुम्भागमनोदन्त जगाद । राजा तत्रागतस्तान् रैकुम्भान् दृष्ट्वा विस्मितोऽभूत् । लोभाद्राजा तान् रैकुम्भान् स्वकोशे निनाय । द्वितीयेऽह्नि पुण्यसारस्तथैव रैकुम्भान् दृष्ट्वा भूपाग्रे जगाद । रैकुम्भस्वरूप लोभाद्भूपस्तानपि कुम्भान् स्वगृहे नीतवान् । एव तृतीयेऽपि दिने भूपेन रैकुम्भा गृहीताः । चतुर्थे दिने तथैव कुम्भेषु आनीतेषु भूपेन मन्त्री जगाद—कुम्भाः सर्वे गताः । न ज्ञायते केन हृताः । तदा देवतयोक्तं—भो राजन् ! पुण्यसारस्य पुण्येन । तस्य पुण्यसारस्य गृहे रैकुम्भा. मया मुक्ताः । त्वं तु मुधा गृह्णासि । ततो राजा तान् सर्वान् कुम्भान् श्रेष्ठिगृहे दृष्ट्वाऽवग्—भो श्रेष्ठिन् ! त्वं धन्योऽसि यस्येदृक्षं भाग्यं विद्यते । ततो राज्ञा सन्मानितः श्रेष्ठी गजारूढः स्वगृहे समागात् । ततो भूपस्तस्य श्रेष्ठिमुख्यतां ददौ । लोको जगौ—'लक्ष्मी' पुण्यानुगामिनी' भवति । ततः स पुण्यसारः सप्तक्षेत्र्यां स्वं धनं सफलीचक्रे ।

तत्र सुनन्दः केवली समागात्, भूपो नन्तु ययौ, पुण्यसारोऽपि गतः, सर्वेऽपि उपविष्टाः धर्मं श्रोतु । देशनान्ते धनमित्रोऽवग्—भगवन् ! मत्पुत्रेण प्राग्भवे किं पुण्य कृतं ? सूरिरवग्—
पुरे धनाढ्यो नरोऽभूत् । सद्गुरोः पार्श्वे धर्मं जीवदयामय श्रुत्वा जिनधर्मसङ्गीकृत्य शुद्धां जीवदयां पपाल । दानं शुद्ध दत्ते च यतिभ्यः, क्रमाद्गुरुपार्श्वे व्रतं जग्राह । सदा सिद्धान्तपठने श्रवणे गुरुवैयावृत्ये परः प्रान्तेऽनशनेन विपद्य तृतीये स्वर्गे देवो महर्द्धिकोऽभूत् । तत्रायुः प्रपाल्य पूर्वपुण्ययोगात्तवाङ्गजोऽजनि । तदा पुण्यसारः पश्चाद्भवसम्बन्धं श्रुत्वा जातिस्मृतिं प्राप्य विशिष्य ततो महातीर्थेषु शत्रुञ्जयादिषु स्वां श्रिय व्ययति स्म । पिताऽपि धर्मं करोति स्म । क्रमान्मातापितृभिः सम पुण्यसार सयम जग्राह । तपस्या शुद्धामाराध्य स्वर्गे सुरा अभूवन् । ततो मनुष्यभव प्राप्य शिव यास्यन्ति सर्वेऽपि । इति पुण्यसार कथानकं प्रबलपुण्यविषये ज्ञातव्य भव्यजनैः । इति प्रबलपुण्यविषये पुण्यसारकथानकम् ॥८८॥

[89] अथ जीवदयायां चतुर्मित्राणा कथा ।

सत्थवाहसुओ दक्खत्तणेणं, सिट्ठिसुओ सुरूवेण ।
बुद्धीइ अमच्चसुओ, जीवइ पुण्णेहिं रायसुओ ॥१॥
दक्खत्तं पंचरूयं, सुंदरे सयसमं विआरिज्जा ।
बुद्धी पुण्णसहस्सा, सयसहस्साइं पुण्णाइं ॥२॥

तथाहि—अमात्यपुत्र·,[1] राज्ञः(ज)पुत्र·,[2] श्रेष्ठिपुत्र·,[3] सार्थवाहपुत्रः[4]। एते सुहृदो मिथः, राजपुत्रेणोक्तं—अहं पुण्यैर्जीविष्यामि। अमात्यपुत्रेणोक्तं बुद्धया। श्रेष्ठिपुत्रेणोचे—रूपेण। सार्थवाहपुत्रेणोक्त—अहं दक्षत्वेन जीवामि। ते चत्वारो विदेशं प्रति चलिताः। कस्मिंश्चिदुद्याने स्थिताः। दक्षः सार्थवाहपुत्रः पुरमध्येऽगात्। कस्यचिच्छ्रेष्ठिनो हट्टे गतः। तदा तस्य हट्टे बहुग्राहक-जनः समागात्। भूरिलाभोऽभवत्। श्रेष्ठिना ध्यातं–अस्य दक्षत्वेन मम बहुलाभोऽभूत्। ततः श्रेष्ठी जगौ–उत्थीयता, जिम्यते। सार्थवाहपुत्रोऽवग्—वयं चत्वारो मित्रा [मित्राणि]स्मः। एकैकं विना न जिमामः। ततः सर्वे तत्राकार्य श्रेष्ठिना जिमिताः सदन्नदानात्। पञ्चरूपकव्ययस्तत्राभूत्।

द्वितीयदिवसे श्रेष्ठिपुत्रः रूपवान् गणिकागृहे गत्वा शतमितप्रमाणं भोजन लब्धवान्समित्रः।

तृतीयदिने अमात्यपुत्रः पुरमध्ये गतः। द्वयोः सपत्न्योरेकस्मिन्पुत्रे विवादोऽभूत्। केन भङ्क्तुं न शक्यते। तत्रामात्यपुत्रो जगौ द्विधाकृत्वाऽयं द्वयोर्दीयते तदा सपत्न्योक्तमेव भवतु। मात्रोक्तं अस्या अयं भवतु। ततोऽमात्यपुत्रोऽवग्—अस्या अय पुत्रो ज्ञातव्यः, ततः सहस्रमितैं रूप्यैर्जेमनं सर्वेषामभूत्।

चतुर्थे दिने पञ्चदिव्ययोगेन राजपुत्रो राजाऽभूत्। ततः सर्वे सुहृदः सन्मानिताः राज्ञा त्रयाणा मित्राणां मनो मानयामास। गुरवस्तत्रागताः। गुरुपार्श्वे धर्मं श्रुत्वा राजा पप्रच्छ–मया किं कृतं येन राज्यमभून्मम? सार्थवाहपुत्रश्रेष्ठिपुत्रा मात्यपुत्रैः किं कृतम्? गुरवो जगुः—राजन्! त्वं पूर्वभवे श्रीधनः कौटुम्बिकोऽभूत्, गुरुपार्श्वे जीवदयामय धर्मं श्रुत्वा जीवदया शुद्धा पालिता, तेनात्र भवे राजाऽभूत्। सार्थवाहपुत्रेण प्राग्भवे गुरुभक्तिः कृता, तेनास्य दक्षत्वं जात। श्रेष्ठिपुत्रेण जिनस्य प्रतिमा एकदोज्वालिता तेनास्य रूपसम्पदभूत्। अमात्यपुत्रेण ज्ञानवतां भक्ति. कृता तेनाऽमात्यपुत्रस्य बुद्धिर्जाताऽत्र। धर्मं श्रुत्वा सर्वेऽपि सविशेषं धर्मं कृत्वा स्वर्गं गत्वा क्रमान्मुक्तिं गमिष्यन्ति। इति जीवदयायां चतुर्मित्राणां कथा ॥८९॥

[90] अथ मल्लिकार्जुनभूपजेता श्रीआम्बडप्रबन्धः।

पुहविकरंडे बंभंड,–संपुडे भमइ कुंडलिज्जंतु।
तुह अंबडदेव जसो, अलद्धपसरो भुयंगव्व ॥१॥ कोडिदान।

अथ कदाचित् सर्वावसरे स्थितः चौलुक्यनृपतिः। तदा कोङ्कणदेशीयमल्लिकार्जुनस्य राज्ञो मागधेन 'राजपितामह' इति बिरुद प्रोक्त। कुमारभूपाल श्रुत्वा दध्यौ–एतस्य मल्लिकार्जुनस्य राजपितामहेति बिरुदं मयोत्तारणीय। अन्यदा सभाया राजवीटक हस्तेकृत्य भूपः प्राह—यस्य तस्य निग्रहणाय शक्तिरस्ति स सुभटो वीटक गृह्णातु। श्रुत्वैतत् कोऽपि सुभटो वीटकं न गृह्णाति, तस्यातीवबल श्रुत्वा। ततः आम्बडेन करौ योजयित्वोक्तं—स्वामिन्नादेशो दीयता मम त्वया, त्वत्प्रसादात्तं बिरुद तस्मादपसारयामि ततो। राजा हर्षितो वीटकं तस्य ददौ। ततो महतीं सेनामादायाम्बडमन्त्रीश्वरो भूप प्रणम्य पत्तनाच्चलितः। ततश्चलन्मन्त्री दुस्तरवारिपूर्णां कलविणीं नदीमुत्तीर्य परस्मिन् कूले सेनानिवेशं कृतवान्। आम्बडमन्त्रिणमागत श्रुत्वा मल्लि-कार्जुननृपोऽकस्मात्तत्रायातः। ततो मन्त्री सपरिवारो युद्ध क्षण कृत्वा पश्चाद्वलितः। आम्बडो

मल्लिकार्जुनभूपपराभूतः कृष्णवदनः कृष्णच्छत्रालङ्कृतमौलिः कृष्णगू-रादिपटकुटीक(?) पत्तनपरिसरेऽभ्येत्य स्थित । स्वागमन कस्यापि न ज्ञापितं तेन । इतः कुमारपालभूपेन वहिरागतेन पृष्ट कस्य ईदृशी सेना कृष्णाम्बरा ? तत एकेन नरेणोक्त—मल्लिकार्जुनभूपपराभूतस्याम्बडस्य, सेनाया लज्जया बहिःस्थितोऽस्ति । ततो राज्ञा चिन्तितं यदीदृक्षी लज्जा तस्य तदाऽनेन मल्लिकार्जुनो वशीकरिष्यते । ततस्तमाम्वडं सन्मान्य पुनः सार[स]परिवार त वैरिण जेतु भूपश्चालयामास । ततश्चलन् क्रमात्तेनैव वर्त्मना कुङ्कणदेशे गत्वा स द्विधा सैन्य कृत्वान्तरा मल्लिकार्जुन क्षिप्त्वा युद्ध कर्त्तुमाम्वडः सज्जोऽभूत् । क्रमादाम्वडो युद्ध कुर्वन् हस्तिस्कन्धात्पातयित्वा जगाद—स्मरेष्टदैवत । ततोऽपि आम्वडेन मल्लिकार्जुनशिरच्छिन्न, सुवर्णपात्रेण तच्छीर्षं स्थगयित्वा मल्लिकार्जुनशृङ्गारिकोटिशाटीप्रभृतिवस्तूनि लात्वा पत्तन प्रति चचालाम्वडः । ततः क्रमात्पत्तने जयजयेति विरुद कारयन्नात्मनः पुरमध्ये आम्वडः प्रविष्टः । तत्रात्मीयं मन्त्रिण मुक्त्वा मल्लिकार्जुननृपस्य समभ्येत्य श्रीकुमारपालनृपतेः पुरा प्रणामपूर्वं मल्लिकार्जुनमस्तकं स्वर्णस्थगित । शृङ्गारकोटिशाटिका १ । माणिकओ पच्छेवडओ २ । पापक्षयंकरहारु ३ । सयोगसिद्धिसिप्रा ४ । तथा हेमकुम्भ ३२ । मुटकषट् । मुक्ताफलाना । श्वेतचतुर्दन्तहस्ती १ । पात्राणां १२० सार्द्ध १४ कोटिरूप्यटङ्ककान् मुमोच । ततस्तानि शृङ्गारकोटिशाटिकादीनि आम्वडमन्त्रिणा प्राभृतीकृतानि दृष्ट्वा राजा जहर्ष, तत आम्वडमन्त्रिणो राजपितामह इति विरुद ददौ ।

इति मल्लिकार्जुनभूपजेता[?]श्रीआम्वडप्रवन्धः ॥९०॥

[91] अथोदयनमन्त्रिप्रवन्धः ।

मारुमण्डलवास्तव्यः श्रीमालवशीय ऊदाभिधो वणिक् वर्षाकाले घृत विक्रेतु गच्छन्-कस्मिन्ग्रामेऽन्तरा केदारान् रात्रौ बध्यमानान्प्राह्—कस्य यूय सेवकाः ? तैरुक्त—वयममुकस्य कामुकाः, वणिजोक्त—मम कामुकाः कुत्र सन्ति ? तत स ऊदाक सकुटुम्वस्तत्र गत्वा वायटीयजिनायतने विधिवद्देवान् वन्दते स्म । त तथा देव वन्दमान दृष्ट्वा कया छिम्पिकया श्राविकयोक्त—कस्यातिथिर्भवान् ? तेनोक्त—वैदेशिकोऽहं, भवत्या एव, ततः सुश्राद्ध त मत्वा कस्यचिद्गृहे स्वद्रव्यदानेन छिम्पिकया भोजितस्तया स सकुटुम्वः । तृणमय कुटीरकमर्पित तस्य । सुश्रावकत्वात्तया कालेन प्राप्तविभवः ऊदाको गृह कारयितुमिष्टिकानिचयं लात्वा खातं कारयन् महान्त सेवधिं प्राप । ऊदाकेन सा छिम्पिका बहुद्रविणदानेन सन्मानिता । ततः लक्ष्म्या उदयस्तस्याभवत्तेन 'उदयन' इति नाम जात, यतः—

कृतप्रयत्नानपि नैति कांश्चन, स्वयं शयानानपि सेवते परान् ।
द्वयेऽपि नास्ति द्वितयेऽपि नास्ति, श्रियःप्रचारो न विचारगोचरः ॥१॥

तेन कर्णावत्यामतीतानागतभविष्यचतुर्विंशतिजिनसमलङ्कृतः प्रासादः कारितः । तत्र श्रीऋषभजिनो मूलनायकः कृतः । क्रमादुदयनमन्त्रिणस्तस्य पुत्राश्चत्वारः क्रमाद्भूवन्—बाहडदेव[1]—बाहड[2]—आम्वड[3]—सोल्ला[4] । इति उदयनमन्त्रिप्रवन्धः ॥९१॥

[92] अथ भाग्ये आभडप्रवन्धः ।

श्रीमालज्ञातीयः श्रीपत्तनवास्तव्य उच्छिन्नवश्य आभडनामा वणिग्वभूव । कांस्यकारक

हट्टेषु घर्घरकघर्षणं कुर्वन् पञ्च विशोपकानर्ज्जयित्वा दिनव्ययं कुर्वाणो द्विःसन्ध्यमपि श्रीहेमसूरिपार्श्वे प्रतिक्रमणादिपरस्तिष्ठति । अन्यदा रत्नपरीक्षाशास्त्रार्थं विज्ञाय तद्विषयेऽतीवकुशलोऽजनि । कदाचिच्छ्रीहेमसूरिपार्श्वे परिग्रहपरिमाणं गृह्णन् श्रीहेमसूरिभिस्तद्देहलक्षणविज्ञानविचक्षणैर्लक्षत्रयद्रव्यपरिमाण कारितः । क्रमादाभडस्य पुत्रोऽभूत्। पत्न्या स्तन्यं न। तेन छागीं गृहे छिलासुरभूत् । कस्मिश्चिद्दवसरे कस्यचिद्ग्रामसमीपे छागीयूथं अवाहे[आवाहे] पानीयं पिबन्तीं [पिबन्तं] ददर्श । एकस्याश्छाग्या जलं पिबन्त्या जलं द्विधाभूत् । तत्कण्ठे दवरकबद्धं मणिं वीक्ष्य ता छागीं द्रव्येण जग्राह । तद्रत्नं समुत्तेजयित्वा[समुत्तेज्य] सपादलक्षटङ्कैः सिद्धराजभूपस्य ददौ । ततो व्यवहारी जातः । एकदा मञ्जिष्ठावाहिकानि बहूनि विदेशादागतानि जग्राह । तन्मध्ये स्वर्णकुशा बहवो निर्गताः । ततःप्रभृति दिनेदिने वर्द्धन्त्या श्रियालङ्कृतः । ततः प्रतिवर्षं श्रीशत्रुञ्जयस्य यात्रा महासमुदायेन चकार सः । जैनप्रासादा भूरिशः कारिताः । निजप्रशस्तिरहिताः जीर्णोद्धाराश्च । गुप्तवृत्या साधर्मिकेभ्यो धनं व्ययन् साधुभ्योऽन्न-पानवस्त्रादि च स्वं जन्म सफलीचकार ।

छलिछन्नद्रुम इव, मृत्स्नाछादितसमस्तबीजमिव ।
प्रायः प्रच्छन्नकृतं, सुकृतं शतशाखतामेति ॥ १ ॥

इति आभडप्रबन्धो भाग्ये ॥९२॥

[93] अथ सम्यक्त्वे आम्रभटप्रबन्धः ।

'राजपितामह' इति विरुदं वहन् श्रीआम्रभटोऽभवच्छ्रीकुमारपालस्य मन्त्री,—

द्वात्रिंशद्द्रम्मलक्षान् भृगुपुरवसतेः, सुव्रतस्यार्हतोऽग्रे ।
कुर्वन् माङ्गल्यदीपं ससुरवरनरश्रेणिभिः स्तूयमानः ॥
योऽदादर्थिव्रजाय त्रिजगदधिपतेः सद्गुणोत्कीर्त्तनायां ।
स श्रीमानाम्रदेवो जगति विजयतां दानवीरोऽग्रयायी ॥१॥

कुमारे परलोकं प्राप्ते अजयपालो राज्ये उपविष्टः । ततः सर्वे मन्त्रिणस्त भूपं नेमुः । आम्रभटेनोक्त—देवबुद्धया वीतरागस्य, गुरुबुद्धया हेमचन्द्रसूरेः, स्वामिबुद्धया कुमारपालस्य नतिर्मया कार्या, नान्यस्य। (जैनधर्मवासितसप्तधातुरनमन्) अजयपालेनोक्त—यदि मम प्रणाम करोषि तदा ते जीवितव्यं भविष्यति, नान्यथा। ततः श्रीजिनबिम्बं प्रपूज्यानशनं गृहीत्वा संग्रामायाजयपालेन सार्द्धं प्रववृते, संग्राम कुर्वन् जिनध्यानेन मृत्वाऽऽम्रभटः स्वर्गं जगाम। यतः—

वरं भट्टैर्भाव्यं वरमपि च खिङ्गैर्धनकृते,
वरं वेश्याचार्यो [यैं]वरमपि महाकूटनिपुणैः ।
दिवं याते दैवादुदयनसुते दानजलधौ,
न विद्वद्भिर्भाव्यं कथमपि बुधैर्भूमिवलये ॥२॥

इति सम्यक्त्वे आम्रभटप्रबन्धः ॥९३॥

[94] अथ शत्रुञ्जयोद्धारप्रबन्धः भृगुकच्छे शकुनिकाविहारोद्धारश्च ।

अन्येद्युः सुराष्ट्रीय सुसरनामान राजपुत्र जेतुमुदयनमन्त्री कुमारपालेन चालितः शत्रुञ्जयपार्श्वे गत्वा दध्यौ, रणे जीवितव्यसन्देह इति विमृश्य शत्रुञ्जये देव नन्तुं गतः। स मन्त्री महापूजादीन् विधाय रात्रौ प्रभोः पुरो ध्याने उपविष्टः। तदाऽकस्मान्मूषको दीपवर्त्तिमादाय प्रासादान्तर्गच्छन् दृष्टः, चिन्तित च मन्त्रिणा–अय प्रासादः काष्ठमयस्तेन कदाचिद्विध्वंसो भावो, तदा का गति", दीपवर्त्तिर्विध्यापिता। ततो जीर्णोद्धार चिकीर्षुरभिग्रह लात्वोदयन' स्कन्धावारे आगमत् ।

तत्र गत्वा युद्धं वैरिणा कृत, वैरिबले जिते वैरिण्यपि हतेऽकस्मात् शरः कुस्थानके लग्नः भूमौ पतितोऽश्वात्, ततः सकरुण क्रन्दन् आवासे कटकमध्ये आनीतः पृष्टः, किं सेवकेन दुःख विद्यते भवतः। तेनोक्त—सग्रामे जयाजयौ विद्येते एव । एक एवाभिग्रहो मे मनस्यपूर्णोऽभूत् । सेवकेनोक्त—कोऽभिग्रह ?

उदयन प्राह—श्रीशत्रुञ्जये प्रासादोद्धारः, भृगुकच्छे शकुनिकाविहारोद्धारश्चिन्तितः मया । तौ न जातौ यावत्तौ न भविष्यतस्तावन्मया भूशयेनैकभक्तकराभिग्रहो लले । यदि मदीयावभिग्रहौ मम वाग्भट्टादयः पुत्राः शृण्वन्ति तदा ते पुत्राः सिद्धि नयन्ते स्म ।

ततः स्थगीक., तेनोक्त—यावदह भवतः पुत्राणामग्रे नाकथयिष्य तावन्मम भवतः ।

तत उदयनमन्त्री हृष्टोऽवग्–त्वमपि धन्यः पुनरेको मनोरथोऽस्ति, स्थगीका(?)ऽवग् कथ्यतां द्वितीयोऽपि मनोरथः।

तत ।। जगौ—यदि साधवोऽत्रागच्छन्ति तदा ममाराधनां कारयन्ति, ततः सद्गतिः स्यात्, ततः कमपि वण्ठ साधुवेष कारयित्वाऽग्रे आनीतो, जिनबिम्बमानीत, द्वौ प्रणम्याराधना कृत्वा क्षमित सर्वजीवः स्वर्गं गतः। वण्ठेनाग्रतः सम्यक्सयम आराधितः। तत्र स्वसेवकान् मुक्त्वा उदयनस्य पश्चात् कटक पत्तने आगतम् । उदयनमरणाभिग्रहग्रहणादिवृत्तान्त सर्वः स्थगीकेन वाग्भट्टाऽऽम्रभट्टादीनामग्रे प्रोक्तं। ततो द्वाभ्यामाम्रभट्टवाग्भट्टाभ्यां द्वावभिग्रहौ गृहीतौ । ततस्ताभ्यां बहुद्रव्यव्ययाच्छ्रीशत्रुञ्जये जीर्णोद्धारः कारयितुमारब्धः । वर्षद्वयेन शत्रुञ्जयप्रासादे निष्पन्ने वर्द्धापनिकायामागतायां तस्य सुवर्णजिह्वा कारिता । क्षणाद्द्वितीया प्रासादपतनज्ञापिका वर्द्धापनिकागता, तस्य हेमजिह्वाद्वय कारित । यतो मम पश्चात्क उद्धार कारयिता, ततस्तत्र गत्वा चतुःसहस्रैरश्वैः शिलापट्टकः पृष्ट , किं क्रियते, तेनोक्त—पूर्वंसभ्रम प्रासादो वातेन पातितः। यदि निर्भ्रमः प्रासादः कार्यते तदा चिरं तिष्ठति, पुनः सन्ततिर्न भवति ।

ततस्तेनोक्त—प्रासादकविधानात् भरतभूपपङ्क्तिर्लभ्यते तदा सन्तत्या किमेव विमृश्य सं० १२११ प्रासाद पुनः कारित । बाहडनाम्ना पुर स्थापित, तत्र त्रिभुवनपालविहार कारितस्तत्र पार्श्वबिम्ब स्थापित। तीर्थपूजाकृते चतुर्विंशत्यारामान् नागर परितो वप्र देवलोकस्य च ग्रामवासादिकृत—

सप्तषष्टियुता कोटी, व्ययिता यत्र काञ्चनी ।
स श्रीवाग्भट्टदेवोऽयं, वर्ण्यते न बुधैः कथम् ॥१॥

आम्रभट्टेन भृगुपुरे शकुनिकाविहारोऽकारि, तत्र षट्कोटिमितं हेम्नां लग्नम् ।
इति शत्रुंजयोद्धारप्रबन्धः, बहुद्रव्यव्ययाद्भृगुकच्छे शकुनिकाविहारोद्धारश्च कारितः ॥९४॥

[95] अथ ध्वजोत्तारण–पुनरारोपणसम्बन्धः ।

अन्यदा सिद्धराजजयसिंहो रुद्रप्रासादं महान्त कारयित्वा ध्वजारोपणसमये सर्वजैनप्रासादाना ध्वजोत्तारणं कारितवान्, मन्त्रिभिर्वारितोऽपि न तस्थौ । स भूपो मालवमण्डले गत्वाऽन्येद्युः श्रीनगरमहास्थाने आगमत् । सर्वेषु प्रासादेषु ध्वजारोप वीक्ष्योक्त भूपेन, केषा प्रासादा एते ? तैरुक्त—शिव–ब्रह्म–जिनप्रासादा एते । ततो रुष्टो राजाऽवग्–मया सर्वेषां जैनप्रासादाना ध्वजारोपो निषिद्धः, भवद्भिरिद पताकादि किं क्रियते जैनप्रासादेषु । तैरुक्तं, श्रूयता—

पुरा श्रीमन्महादेवेन कृतयुगप्रारम्भे महास्थानमिदं स्थापितम् । श्रीऋषभदेव–श्रीब्रह्मप्रासादौ स्वयं स्थापितौ, प्रदत्तौ ध्वजौ । तस्मादनयोः प्रासादयोः सुकृतिभिरुद्ध्रियमाणयोश्चत्वारो युगा व्यतीता [चत्वारि युगानि व्यतीतानि] । श्रीशत्रुञ्जयमहागिरे पुरा नगरमेतदुपत्यकाभूमिः, यतो नगरपुराणेऽप्युक्तम्—

पञ्चाशदादौ किल मूलभूमे–र्दशोर्ध्वभूमेरपि विस्तरोऽस्य ।
उच्चत्वमष्टैव तु योजनानि, मानं वदन्तीति जिनेश्वराद्रेः ॥१॥

इति कृतयुगे आदिदेवः श्रीऋषभस्तत्पुत्रो भरतस्तन्नाम्ना भरतखण्डमिति प्रतीतं—

नाभेरुता (?) स वृषभो मरुदेविसूनु–र्यो वै चचार समदृग् मुनियोगचर्याम् ।
तस्यार्हन्त्यसोमुपय (?) पदमामनन्ति, स्वस्थः प्रशान्तकरुणः समदृक्सुधीश्च ॥२॥

अष्टमे मरुदेव्यां तु नाभेर्जाते उरक्रमः ।
दर्शयन्वर्त्म वीराणा, सर्वाश्रमनमस्कृतः ॥३॥

इत्यादि पुराणोक्तानि भूरिशो भूपाग्रे कथितानि तैर्द्विजैः, यथा तेन तदाद्यस्थापनाय ऋषभदेवौकः कोशात् श्रीभरतनामाङ्कितं पञ्चजनवाह्यं कास्यतालमानीय भूपस्याग्रे मुक्त द्विजैः । ततः प्रभृति स्व निन्दयित्वा भूपः सर्वेषु जिनप्रासादेषु पुनर्ध्वजारोपण चकार ।

इति ध्वजोत्तारण–पुनरारोपणसम्बन्धः ॥९५॥

[96] जिनध्यानपूजाफलविषये शुकीकथा ।

कस्मिंश्चिद्वने शमीपादपे शुकः शुकीयुतो वसति स्म । क्रमात्तयोः शुक. पुत्रोऽभूत् । एकदा शुक्योक्तं–पुत्रो मदीय., शुकेनोक्त–पुत्रो मदीयः, ततो विवादे जायमाने भृशं सम्प्रति भूपतिपार्श्वे ययौ । शुकीशुकौ स्व स्व रुचितं प्रोचतु ।

ततो राज्ञोक्त—अयं शुकस्य पुत्रः, ततः शुकी दुःखिताऽजनि, शुक स्वं पुत्रं गृहीत्वा गतः । शुकी जिनालये गत्वाऽऽदिजिनप्रतिमा वीक्ष्य नत्वा वनात्पुष्पाण्यानीय पूजयामास । ततः क्रमाज्जिनध्यानेन मृत्वा शुकी मन्त्रीश्वरपुत्री तिलोत्तमा नामाऽभूत् । वर्द्धमाना पित्रा सर्वकला पाठिता पुत्री ।

एकदा जिनप्रासादे श्रीयुगादिप्रतिमां वीक्ष्य क्षणा[णं] मूर्च्छित्वा जातिस्मरण प्राप्य पश्चात् शुकीभव ददर्श। ततो ज्ञातं राज्ञः स्वरूप ततस्तया धर्मकर्म कुर्वत्याऽन्यदा पितुरग्रे प्रोक्त–तात ! त्वया स्वीयास्तुरङ्गमा राज्ञां वडवान भोगाय मोक्तव्या । ततस्तथाकृते मन्त्रिणा वहयो राज-वडवा बहून् किशोरकान् प्रसूताः। तदानीं राज्ञ सर्वे किशोरका नृपपार्श्वात्तातगृहे तया नीताः।

ततो राज्ञोक्त—मन्त्रिन् ! कथ मम किशोरास्त्वया गृहे गृहीताः। मन्त्रिणोक्त—मत्पुत्र्या मदालये आनीताः। ततो राज्ञोक्त–मन्त्रिपुत्रीपार्श्वे त्वया कथ मदीयाः किशोरा स्वपितुर्गृहे नीता ? मन्त्रिपुत्र्योक्त भवद्राज्ये एव विधो न्यायो वर्त्तते। यः पुत्रः स पितुरेव, ततो ये ये किशोरास्ते ते घोटकस्वामिनो भवन्ति, तेनैते किशोरा मम तातस्य।

राज्ञा ध्यात—इयमतीव विदुप[षीं]मन्या वर्त्तते। तेन मया प्रथम परिणीय तथा कर्त्तव्या यथा दुःखिनीभूता एतस्याः कृत जल्पित च एतस्या मस्तके पतति।

ततो राज्ञा मन्त्रिण सन्मान्य वस्त्रादिना महता प्रपञ्चेन तिलोत्तमा परिणीता। कियद्दिना नन्तर प्रोक्त—रे विदुप[षीं]मन्ये ! त्वया मद्गेहे पुत्रयुक्तयाऽऽगन्तव्य, नान्यथा। तत सा पितृगृहे गत्वा बुद्धिमती पितृपार्श्वाद्द्रव्यमादाय राजगृह यावत्सुरङ्गा दापयामास छन्न। ततस्तत्र तया देवविमानतुल्य महद्भूमिगृह कारित। तत्र बाउलकबदरीरोपिते। ततः वर्यपल्यङ्कादिरचना कारिता। पञ्चषा सखीयुता तत्र देवीरूपतुल्या विशिष्टाभरणादिभूपितगात्रा ताम्बूलादि आस्वा-दयन्ती तिलोत्तमा वादित्रादि वादयामास।

तदा क्रमाद्राजा त दिव्यवादित्रनिनाद श्रुत्वा त विलोकितुकामोऽभूत्। इतः तिलोत्तमा स्वा सखीं विदुषीं राज्ञ पार्श्वे प्रेपयामास।

राज्ञोक्त—त्व का ? तयोक्त–ज्ञानवती विद्याधरी पवनवेगविद्याधरपुत्रीसेविकाऽस्मि। राजा दध्यौ–यस्या एवविधा सेविकाऽस्ति सा कीदृशी भविष्यति। ततो राज्ञोक्त–यत्र तव स्वामिनी वर्त्तते तत्र मां नेष्यसि। तदा तयोक्त—यदि भवतो रोचते तदा तत्र त्वामेकाकिन नेष्यामि। ततो राजा हृष्टस्तया तत्र रात्रौ नेत्रयोः पट्टकं बन्धयित्वा नीतः। चक्षुपः पट्टकोऽपचक्रे, ततः ता दिव्यरूपा कन्यां वीक्ष्य दध्यौ स। किमियं विद्याधरी, किमिय देवाङ्गना, किमिय पातालकन्या च ? इय यदि मम प्रिया भवति तदा कृतार्थोऽह भवामि। तत्र नाटकादि निरीक्ष्य छन्न राजा पश्चादागतः। एव सा विद्याधरी राजान तत्रानयति।

एकदोक्त–सा विद्याधरी भवत्स्वामिनी मा वृणुते न वा ? मम स्वामिनी विद्याधर वर समीहते। ततो राजा दध्यौ, एकदा तस्या भोगो मम भवति तदाह कृतार्थो भवामि एव चिन्तयामास। एकदा राजा यावत्तत्र गतस्तावत्सा सखी कुत्र गता कार्यार्थमपरा अपि तत्सेविका अन्यत्र गता। तदा तिलोत्तमयोक्त—काऽस्ति या तु पादुके मदीये आनयति ? तदाराज्ञा पादुके मस्तके कृत्य तस्यार्प्पिते। तयोक्त–कस्त्व ? तेनोक्तमद्य त्वां विलोकितु त्वत्सेविकयाऽऽनीतः। तयोक्त–वर जातम्। एव द्वितीयदिने तयोक्त काऽस्ति या बदरीबाउलकपत्राणि आनयति मदीयक्षते बन्धनार्थं, ततस्तेन तदपि कृत। ततो राज्ञोक्तम्—एकशो मम त्वा भोक्तुमिच्छाऽस्ति। ततस्तयोक्त–यथातथा कमपि मत्कान्त मुक्त्वाऽन्य पुरुपं न समीहे, परं तव भक्त्या तुष्टास्मि, यदि तव रोचते तत्कुरु।

ततो राज्ञा मुक्ता तिलोत्तमा क्रमादाधानमभूत् पुत्रोऽप्यभूत् । त या सर्वं भूमिगृहादि विसर्जितं, यद्यद्राज्ञाकृतं गमागमादि तत्सर्वं पितुःपार्श्वाद्वहिकाया लिखितं तया । ततो राजा तां कन्यां स्मारं स्मारं चिन्तयामास । कदा तस्याः स्त्रिया योगो मम भविष्यति । ततो श्रथिलप्रायो जातस्तस्या दर्शन विना । इत्येवं मंत्रिपुत्री तिलोत्तमा पुत्रयुता भूरिसखीयुता सुखासनारूढा महोत्सवपूर्वकं राज्ञ. पार्श्वे गता यावत्तावद्राज्ञ सेवकै भवत्पत्नी तिलोत्तमा पुत्रयुता आगच्छन्त्यस्ति । राज्ञा ध्यातं कथं तस्याः पुत्रो जात इति राजा चमत्कृतः । तत्रागता पत्नी । मन्त्रिणा पुत्रीलिखापिता वहिकाऽग्रे मुक्ता । राजा तां वाचयित्वा चमत्कृतस्तामङ्गीचकार । सत्य त्वमेव विदुषी लोकानामग्रे, सर्वं प्रोक्तं । ततो राज्ञी स्वं जातिस्मरणस्वरूप जगौ राज्ञोऽग्रे । ततः सप्रति राजा विशेषत. पुण्यं करोति । पुत्रस्य जिनदत्त इति नाम दत्तं । ततो राज्ञी श्रीजिनधर्मं कृत्वा क्रमात् स्वर्गभागभूत् ।

॥ इति जिनध्यानपूजाफलविषये शुकीकथा ॥९६॥

[97] अथ सिद्धि-बुद्धिरउलाणीप्रबन्धः ॥

अणहिल्लपुरे पत्तने चौलुक्यकर्णभूपपुत्र जयसिंहदेवो यात्रा कृत्वा सहस्रलिङ्गसरोवरमध्ये बगस्थलोपरि स्थितः ।

अत्रान्तरे बह्वो याज्ञिकवैदिकादिद्विजा यात्रायां चलिताः । गङ्गागोदावर्यादितीर्थेषु स्नात्वा केदारभूमौ गता । हिमाद्रिमध्ये औषधार्थं भ्रमद्भिस्तैर्योगी दृष्टः । तस्य सिद्धिबुद्धिनाम्न्यौ रउलाणीत्यभिधाने द्वे क्षुल्लिके तत्रोपविष्टे दृष्टे । दृष्ट्वा प्रणाम कृत्वोपविष्टास्ते । योगिन्या कुशलप्रश्नः कृतः, कुतः समायाता यूय ? तैरुक्त-श्रीपत्तनात् । तदा ताभ्यां क्षुल्लिकाभ्यामुक्त तत्र कोऽधिपः ? तैरुक्त-सिद्धचक्रवर्ती जयसिंहदेवः । तत्रेद श्रुत्वा ते द्वे अपि योगिन्यौ क्रुद्धे । ते तदा कथयितुं लग्ने-रे रे द्विजा ! यदि तस्य चेत् सिद्धत्वं तदा चक्रवर्तित्व कुतः ? यदा चक्रवर्तित्वं तदा सिद्धत्वं कुतः ? इति विमृश्य ते राज्ञः चक्रवर्तिबिरुदपरीक्षार्थं समागते पत्तने । राज्ञा सभोपविष्टेन राजमार्गे गच्छन्त्यौ ते कदलीपत्राधिरूढे दृष्टे, राज्ञाऽभ्युत्थानं कृतं । भूपेनागमनकारणे पृष्टे ताभ्यामुक्तं सिद्धचक्रवर्त्तित्वं नाम ज्ञानार्थमावामागते । त्वं कथ सिद्धचक्रवर्त्ती ? राजाऽवग्-कथयिष्यते, ततश्चोत्तारको दापितस्तयोः, दिनानि व्रजन्ति, राजा सन्देहेऽपतत् ।

[1]अत्रावसरे सान्तूआसचिवेन राज्ञोऽग्रे पृच्छा कृता, किमर्थं दुर्बलो भवान् ? राजाऽवग-सिद्धिबुद्धिसमागमन-तत्पृच्छाभ्यामहं दुर्बलः, किमुत्तर दीयते ?

तदा सज्जनः शर्कराफल राज्ञः करे दत्त्वा स्थितः । राजा फल न गृह्णाति । क्षणेन गृहीतं भूपेन । सज्जन पितुः समीपे गत्वा सर्वमुक्तवान् । राज्ञश्चिन्तार्त्तिं ज्ञात्वा पित्रोक्त-भो वत्स ! अस्माभिः किं क्रियते ? अस्माकं राउल गते कोऽपि मान न ददाति । राजा कर्णदेववारके ईदृशाः कुहेडा बहुतरा अभविष्यन् । मया सर्वेऽपि ते भग्नाः । एषावार्त्ता प्रासादाधःस्थेन मन्त्रिणा श्रुता । पुरा राज्ञोऽग्रे गत्वा कथिता । ततो राज्ञा अग्रे पृथक्पृथग्वारत्रयमाकारितः

(१) किमुत्तर दातव्यमनयो, पण्मासा गता अन्येद्युरेकहरिपालसाकरीमापुत्र सज्जन शर्कराफल केलयित्वा सूपोपान्तेऽपाद् अत्रावसरे इति अधिक पाठो दृश्यते, D. सञ्ज्ञक प्रतौ ।

कथयति हरिपालः धर्मध्यानभङ्गो भवति मम तेन नागच्छामि । सान्तू स्वयं तत्रागतः, उक्तं च राज्ञा तवाकारणायाह प्रेषितः । आगम्यतां, तेनोक्तं-साम्प्रतं देवपूजावसरः, अतो भव्यं संजात, त्व साधर्मिको मम गृहमागतः । कुरु देवपूजा, कुरुष्व भोजन यथा गम्यते । अमात्येन तथैव कृत । भोजनानन्तर सुखासनारूढौ राज्ञः समीपे गतौ । राज्ञोक्त-काका ? सर्वावसरे किमद्यकल्ये नागम्यते ।

हरपालेनोक्तम् । आर्त्ता नरा धर्मपरा भवन्ति । तथा त्वमार्त्तौ सत्या 'काका' कथयसि, अन्यथा नामापि न गृह्णासि । राज्ञोक्त—पूर्ण हास्येन, किन्तु तथा क्रियतां यथा मम नाम न याति । तेनोक्त—देव दाप्यतां दाप्यतां भव्या सारलोहमयी मुष्टिः क्षुरिकायाः । राज्ञा दापिता । अष्टदिनावधिं कृत्वा हरपालः स्वगृहमागात् । तस्याः क्षुरिकायाः शर्करामय फलक कारित तथा यथा चन्द्रहासलोहभ्रान्तिं प्राप्ता । नागवेलीतुल्याऽभूत् सा प्रतिका(ह्ना)रश्च स्वर्णमयः कारितः सान्तूहस्ते प्रदत्ता राज्ञोऽग्रे तत्स्वरूप धीप्रपञ्चयुक्त निवेदित । प्रगे राजा सभायामुपविष्टः, सिद्धिबुद्धिरउलाणीद्वय तत्रागात् । मन्त्री प्राह—राजन् ? रउलाण्योर्बहूनि दिनानि ययुः । किमपि कला दर्शय । काम्प्यनयोः कला विलोक्य विसर्ज्यतां च, यदा तेनेत्थं सरोपमुक्त, तदा राज्ञा सबहुमान रउलाणीद्वय पृष्ट-भो ! कथ्यतां भवतीभ्यां का कला ज्ञायते, को गुरुर्युवयोः ? ताभ्यामुक्तम्-अचलनाथो गुरुरावयोः । राज्ञाऽप्युक्तमस्माकमपि स एव गुरुः ।

अत्रान्तरे प्रतीहारः समागतः, प्रणाम कृत्वा देव ! कल्ये कटकाधीश्वरेण प्रमाडिभूपेन भवता कृते प्राभृत कृतमस्ति । राज्ञोक्त-किं किम् ? प्रतीहारेणोक्त द्वारे सन्ति अमात्यास्त एव निवेदयिष्यन्ति । राज्ञा समाकारिताः । आयाताः, प्रणाम कृत्वा व्यजिज्ञपन्-देव ! षोडश रूप्यहस्तिनः, द्वादशपेटिकामञ्जिभृताः, पृष्टौ प्रयाणकत्रये सन्ति । देव ! तव कृते बङ्गालदेशाधीशेन छुरिका भव्या बहुवस्तुयुता प्रेषिताऽभूत् । सा छुरिका प्रमाडिभूपेन प्रेषिताऽस्ति । राज्ञोक्त प्रथम निष्काश्यतां, तेन स पट्टकूलवेष्टनकसप्तमध्यान्निःकाश्य राज्ञः करे समर्पिता । राज्ञा स्वय दृष्टा वर्णिता च । सभासदाम् प्रदर्शिता । प्रत्येकान्यैरपि वर्णिता । सिद्धिबुद्धिरउलाणीभ्यां दृष्टा वर्णिता । राज्ञः करे पुनः समर्पिता । तत्रान्तरे सान्तूकेनोक्त-देव ! पूर्णमपराभिर्वार्त्ताभिः, रउलाणीभ्या सह क्रियतामालापः । दर्शनीया निजा कलाः । विलोकनीयाश्च प्रतिकूलाः । राज्ञोक्त-दर्शय स्वाः स्वाः कलाः । ताभ्या द्वासप्ततिकलादिकौशल्य दर्शित । मन्त्रिणोक्त-त्वं स्वां कलां दर्शय । राज्ञोक्त यथायुक्ति उच्यताम् । मन्त्रिणोक्तम्, इय लोहमयी क्षुरिका भक्ष्यताम् । अपरैरुक्तम् आः ईदृश सद्वस्तु न भक्ष्यते । अमात्येनोक्तं-चेद्राज्ञ उदरे भव्य वस्तु व्रजति तदा किमयुक्त ? यावद्राज्ञा क्षुरिकाफल भक्षित तावदन्येन करे धृत्वोक्त—देव ! युष्माभिर्यथाऽऽत्मीयकला दर्शिता तत्फलकतीक्ष्णं सारमय भक्षित तथा रउलाणीभ्यामपि दर्श्यते कलास्तदा वर, यावद्राजा मुष्टिमर्प्पयति तदा मन्त्री जगौ उच्छिष्ट मुष्टिक कथ दीयते ? मन्त्रिणोक्त-धातुषु छोतिर्न लगति राजा वारिणा सह प्रक्षाल्य यावद्ददति (?) तावत्ताभ्यामुक्त-देव ! त्वमेवेदृशशक्तियुक्त युक्त सिद्धचक्रवर्त्तिनामविरुद तव, नान्यस्य शक्तिरीदृशी । लोकः सर्वोऽपि विस्मितः । ते योगिन्यौ भूप सन्मान्य स्वस्थान ययतुः । पूर्वमन्त्रिण बहुद्रव्यदानात्सन्मानयामास । राज्ञस्ततः श्री जयसिंहदेवस्य सिद्धचक्रवर्त्तिविरुद प्रकट्यभूत् ।

इति सिद्धि-बुद्धिरउलाणीप्रबन्धः ॥९७॥

[98] अथ भाग्ये सोमिलकथा ।

सप्तद्वीपाधिपस्यापि, तृष्णा यस्य विसर्प्पिणी ।
दरिद्रः सतु विज्ञेय', सन्तुष्टः परमेश्वरः ॥१॥

किंच—दानेन तुल्यो निधिरस्ति नान्यः, सन्तोषतुल्यं धनमस्ति नान्यत् ।
विभूषणं शीलसमं कुतोऽस्ति, लाभोऽस्ति नारोग्यसमः पृथिव्याम् ॥२॥

न चैवं ध्यातव्यं यदर्थच्युतोऽहं कथं वर्त्तिष्ये । यतो वित्तं हि विनाशि स्थिरं च पौरुषम् । उक्त च—

सकृत्कन्दुकपातं हि, पतत्यार्यः पतन्नपि ।
कातरस्तु पतत्येव, मृत्पिण्डपतनेन हि ॥२॥

किं बहुना कार्यं केचित्तरा धनभोगभागिनः केचिच्च रक्षितार एव भवन्ति ।

तथा चोक्तम्—अर्थस्योपार्जनं कृत्वा, नैव भोग्यः समश्नुते ।
अरण्यं महदासाद्य, मूढः सोमिलको यथा ॥३॥

तथाहि—अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने सोमिलको नाम तन्तुवायः । स चानेकविधरचनारञ्जितानि पार्थिवजनोचितानि वस्त्राणि सदैव विदधाति । परं भोजनादधिकधन न सपद्यते । ये चान्ये स्थूलवस्त्रसम्पादका कोलिकास्तान् लक्ष्मीवतो वीक्ष्य भार्यां प्रति प्राह–प्रिये नात्र स्थातुं युक्त, भार्याऽवग्–भो प्रिय ! मिथ्यावच इदं यदन्यगतानां धनं भवति च—

न हि भवति यन्न भाव्यं, भवति च भाव्यं विनापि यत्नेन ।
करतल मपि नश्यति, यस्य च भवितव्यता नास्ति ॥ ४ ॥

यथा धेनुसहस्रेषु, वत्सो विन्दति मातरम् ।
एवं पूर्व कर्म, कर्त्तारमनुधावति ॥५॥

यथा छायातपौ नित्यं, सुसंबद्धौ परस्परम् ।
एवं कर्म च कर्त्ता च संश्लिष्टावितरेतरम् ॥६॥

तस्मादत्रैव तिष्ठ, व्यवसायं विना न कर्म्म फलति । उक्तं च—

न यथैकेन हस्तेन, तालिका संप्रपद्यते ।
तथोद्यमपरित्यक्तं, न फलं कर्मणः स्मृतम् ॥७॥

पश्य वशात :, भोज्यकाले च भोजनम् ।
हस्तोद्यमं विना वक्त्रे, प्रविशेन्न कथंचन ॥८॥

उद्यमेन हि सिध्यन्ति, कार्याणि न मनोरथैः ।
नहि सुप्तस्य सिंहस्य, पतन्ति वदने [प्रविशन्ति मुखे] मृगाः ॥९॥

अपर च—स्वशक्त्या कुर्वतः कर्म, सिद्धिश्चेन्न भवेद् भुवि ।
नोपालभ्यः पुमांस्तत्र, दैवान्तरितपौरुषम् ॥१०॥

तदवश्य मया देशान्तर कर्त्तव्यमित्युक्त्वा [गन्तव्यमित्युक्त्वा] वर्द्धमानपुरं गतः ।

अथ तत्र वर्षत्रयं स्थित्वा सुवर्णशतत्रयोपाजन कृत्वा भूयोऽपि स्वगृह प्रति प्रस्थितः । अथार्द्धमार्गे महाटव्या गच्छतस्तस्य रविरस्तगतः । तदसावात्मभयाद्वटवृक्षस्य स्थूलशाखामारुह्य यावत्सुप्त तावन्निशीथे स्वप्ने द्वौ पुरुषौ क्रुद्धौ मिथो जल्पन्तौ शृणोति, तत्रैकः प्राह भो कर्त्त ! त्व बहुधा मया निवारितोऽसि यथाऽस्य सोमिलकस्य भोजनाच्छादना[द्]धिका श्रीर्नास्ति अतो भवता कदाचिदपि तदधिका श्रीर्न देया। तत्कथमस्य सुवर्णशतत्रय प्रदत्त। स प्राहापरः—भो कर्म्मन् ! अवश्य मया व्यवसायिना व्यवसायानुरूप फलोदयो देय । तस्य च परिणतिस्त्वया दत्ता, इत्यत-स्त्वमेवापहरेति । तत् श्रुत्वा यावदसौ प्रबुद्ध सन् सुवर्णग्रन्थिमन्वेषयति तावद्रिक्ता ग्रन्थिः स्वर्णैस्तेन दृष्टः, ततश्चिन्तयामास—अहो मया कष्टेनार्जित धन हेलया गत, तद्व्यर्थः श्रम । ततो धनरहितोऽह कथ भार्यादीनां मुख दर्शयिष्यामीति । भूयोऽपि वर्द्धमानपुर गतः, तत्र च वर्ष-मात्रेणापि सुवर्णशतपञ्चकमर्जयित्वा भूयोऽपि स्वगेह प्रति अन्यमार्गेण चलितः । मार्गे रविरस्त गतः तदा न्यग्रोधे स तस्थौ । कष्ट कष्ट भो किमेवारब्ध, दैवहतकेन पुन स एव न्यग्रोध-रूपी राक्षस सम्प्राप्त, इत्येव चिन्तयन् स्वप्नायमान. स वृक्षशाखायां द्वौ पुरुषावपश्यत् । तत्रैकोऽब्रवीत्—भो कर्त्तः ! किं त्वयैतस्य सोमिलकस्य निर्भाग्यस्य स्वर्णशतपञ्चक दत्त, किं न वेत्सि भवान्—यद्भोजनाच्छादनादृतेऽस्याभ्यधिक नास्ति । अपर प्राह—भो कर्म्मन् ! मयाऽवश्य देय व्यवसायिनां तस्य परिणामस्त्वया व्यतारि, तत्किमुपालभसे । तत् श्रुत्वा यावदसौ सोमिलको ग्रन्थिमन्वेषयति तावद्रिक्तः ततः परमवैराग्यसपन्नो व्यचिन्तयत् अहो मा धिग्, किं जीवितेन धन विना, ततोऽत्र वटवृक्षस्य शाखायामात्मानमुद्बध्य प्राणत्याग करोमि । एतद्ध्यात्वा याव-च्छाखायामात्मानमुद्बध्य निक्षिपति तावदेकः पुमानाकाशस्थोऽवग्—भो सोमिलक ! किमेव साहस कुरुषे । स एवाह वित्तापहारी यत्तव भोजनाच्छादनाधिकां श्रिय न सेहे, तद्गच्छ गृह तथा न मे स्याद्व्यर्थं दर्शनं तत्प्रार्थ्यतामभीष्ट वरमिति । सोमलिक आह—यद्येव तद्देहि मे प्रभूत धन, सोऽब्रवीत्—भद्र ! किं करिष्यसि भोगत्यागरहितेन धनेन यतो भोजनाभ्यधिको नास्ति तव भोगः । सोमलिक प्राह—यद्यपि भोगो न भवति तथापि तद्भवतु, उक्त च, यतः—

कृपणोऽप्यकुलीनोऽपि, सदा धनविवर्जितैः ।
सेव्यते च नरो लोके—र्यस्य स्याद्वित्तसंचयः ॥१॥

शिथिलाश्च सुबद्धाश्च, पतन्ति न पतन्ति च ।
निरीक्षिता मया भद्रे, वर्षाणि दश पच च ॥२॥

अस्य सम्बन्ध. कथ्यतां, तथाहि—

कस्मिंश्चित्पुरोपान्ते वने वा प्रलम्बवृषणाह्वः शण्डोऽभूत् । स च मदातिरेकात् परित्यक्तयूथो नदीतटानि शृङ्गाभ्यां विदारयन् स्वेच्छया शस्यानि भक्षयन् अरण्यचरो बभूव ।

अथ तत्रैकः शृगालो वसति स्म । भार्यया सह कदाचिन्नदीपुलिने उपविष्टो विद्यते । एतस्मिन्नवसरे तस्य दृग्गोचरे प्रलम्बवृषणः समागात् । तस्य शण्डस्य प्रलम्बवृषणौ दृष्ट्वा शृगाल्या शृगालोऽभिहितः स्वामिन् ! पश्यास्य वृषभस्य मांसपिण्डौ लम्बमानौ यथा स्थितौ क्षणेन प्रहरेण दिनेन वा पतिष्यत एतौ एवं ज्ञात्वा भवानस्य पृष्ठे यातुमर्हसि । शृगालोऽवग्—प्रिये ! न ज्ञायते कदाचिदेतौ पतिष्यतो वा न तत्किं मां श्रमाय नियोजयसि । अत्रस्थ एव तौ पतितौ त्वया सह भक्षयिष्यामि, अथवा अस्य पृष्ठौ यास्याम्यहं । यदि तदात्मीयस्थानमन्यः कोऽपि समेत्याश्रयिष्यति तदेतत्कर्त्तुं न युक्तम् । उक्तं च—

यो ध्रुवाणि परित्यज्य, अ ाणि निषेवते ।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति, अध्रुवं नष्टमेव च ॥१॥

साऽब्रवीत् एतद्वचनं कापुरुषस्यैव, यत —

यत्रोत्साहसमालम्बो, यत्रालस्यविहीनता ।
नय–वि मसंयोग—स्तत्र श्रीरखिला ध्रुवम् ॥२॥

यथा च—न दैवमिति संचिन्त्य, त्यजेदुद्योगमात्मनः ।
उद्योगेन विना तैलं, तिलेभ्योऽपि न जायते ॥२॥

यच्च त्वं वदसि एतौ पतिष्यतो नवा इति वक्तुं न युक्तम् । ततः प्रियाप्रेरितो जम्बूको मूषकादिभक्ष्यं त्यक्त्वा तयोर्वृषणयोर्वाञ्छया　　शण्डस्य पृष्ठौ बभ्राम सप्रियः, न च तयोः पतनमभूत् ततः पञ्चदशे वर्षे निर्वेदात्स भार्यामाह—

शिथिलाश्च सुबद्धाश्च, पतन्ति न पतन्ति च ।
निरीक्षिता मया भद्रे, दश वर्षाणि पञ्च च ॥१॥

ततः पश्चादपि नैतयोः पतनं भविष्यति तमेव मूषकमार्गमनुसरावः । अतोऽहं ब्रवीमि—'शिथिलाश्च सुबद्धाश्चेति' तदेवं धनवान्सर्वोऽपि स्पृहणीयो भवत्यतो देहि प्रभूतं धन । पुरुषोऽवग् यदि एवं तद् गच्छ वर्द्धमानपुरम् । तत्र द्वौ वणिजौ धनगुप्तघनाख्यौ स्तः, तयोश्चेष्टितं बुद्ध्वा प्रार्थनीयं त्वया । ततः सोमिलकोऽपि विस्मितो वर्द्धमानपुरं गतः, सन्ध्यायां श्रान्तः सन् धनगुप्तगृहे गतः । धनगुप्तभार्यापुत्रादिभिर्निर्भर्त्स्यमानोऽपि गृहाऽजिरोपान्ते उपविष्टः । तत्र भोजनवेलायां भक्तिवर्जितं भोजनं प्राप । तत्रैव सुप्तो यावन्निशिथे तावत्पश्यति द्वौ नरौ मन्त्रयन्तौ तेऽब्रवीत् भो कर्त्त ? किं त्वयाऽस्य धनगुप्तस्याधिको व्ययो निर्मितो यदस्य सोमिलस्यानेन भोजनं दत्त तन्न युक्तं कृतं त्वया । द्वितीयः प्राह—भो कर्मन् ! ममात्र न दोषः, मया लाभः कृतोऽस्य तत्परिणतिस्तु त्वया व्यतारि । अथ यावदुत्तिष्ठति तावद्धनगुप्तस्य छर्दिकादोषेण द्वितीयेऽहनि खिद्यमानस्य उपवासः पतितः । ततः सोमिलको भुक्तधनगृहे गतः, तेनापि भोजनं दत्तं, सन्ध्यायां सुखसमाधौ सुप्तः, तथैव रात्रिमध्ये नरौ द्वावभ्येत्योचतुः । एकोऽब्रवीत्—भो कर्त्तः ? अद्यानेन

भुक्तधनेन सोमिलकस्य भोजनं दत्तं तेन बहुव्यय. कृत कृतोऽयमुद्धारविधिं दास्यति यतः सर्वमनेन व्यवहारगृहादानीतमस्ति । स प्राह—भो कर्म्मन् ! मम कृत्यमेतत् परिणतिश्च त्वया दत्ता । अथ प्रभाते कोऽपि राजपुत्रो भूपप्रसादलब्ध धन मुक्तधनायादात्, सचयरहितोऽपि वर मुक्त, मुक्तधन यदि विधिरर्पयति तन्मां विधिर्मुक्तधनतुल्य करोतु विधिस्त्वधिक न सहते धन मम, ततः सोमिल सन्तोष कृत्वा तस्थौ । इति भाग्ये सोमिलकथा ॥९८॥

[99] शीतपरिपहसहने चतुःसाधुदृष्टान्तः ।

राजगृहे पुरे चत्वारो वणिजो वयस्याः वसन्ति स्म । अन्यदा तैः सोम-भोम-कमल-धननामभिर्धर्म्मं श्रुत्वा श्रीमद्भद्रबाहुसूरिपार्श्वे सयम गृहीत्वा बहुश्रुतीभूय गुर्वादेशात्ते विहरन्ति स्म । ते च यत्रार्कोऽस्तमेति तत्र तिष्ठन्ति स्म। रात्रौ अन्येद्युस्तेषां मध्ये एकोऽतीवशीते पतति वैभारगिरिपार्श्वेऽस्थात् । द्वितीय उद्याने । तृतीय उद्यानोपान्ते । चतुर्थः पुराभ्यर्णेऽस्थात्। तेषा मध्ये यो गिरिगुहापार्श्वेऽस्थात् स ध्यान कुर्वन् प्रथमयामे मृतः । उद्यानस्थो द्वितीये । उद्यानोपान्तस्थस्तृतीये । पुरोपान्तस्थः पुरजनतापतश्चतुर्थप्रहरे मृतः । चत्वारोऽपि स्वर्गे ययुः ॥

इति शीतपरीपहसहने चतुःसाधुदृष्टान्तः ॥९९॥

[100] अथ दण्डालक सिद्धिः ।

अरिमर्द्दनभूपस्याऽऽसनस्थितस्य कोऽपि सिद्ध' पुमान् समागात् । तदा आसन मह्यां तस्योपवेशाय स्थापितम् । स सिद्धोऽवग् त्व वर्योऽसि, मम नीचस्यासन प्रदानात्। तदा राजाऽवग्-भूपस्याऽऽसनेस्यान्तर विद्यते । ततो जगौ—अहं तव स्वर्णसिद्धिं दातुमागाम्, त्वया विनयो न कृतः । इत्युक्त्वा स्व छात्र मुक्त्वा व्योम्नि ययौ । ततो राजा खिन्नोऽवग्—भो छात्र ! मया विनयो न कृतोऽत पर करिष्यते, त्वमाकारय स्व गुरु । तत छात्राऽऽकारितस्तत्रागात् । भूपेन स्वर्णसिद्धौ मार्गितायां सिद्धो योग्यवग् यत—सौवर्णिकेषु दण्डालक इति मम नाम दास्यते तदा स्वर्णसिद्धिं दास्ये । ततस्तेन सौवर्णिकेषु दण्डालक इति नाम ददे । इति दण्डालकसिद्धिः ॥१००॥

[101] परीषहसहने अर्हन्नककथा ।

तगरापुर्यां दत्तो, भद्रा पत्नी, अर्हन्नकसुतयुतो गुरुपार्श्वे व्रत ललौ । साध्वी साध्वीपार्श्वेऽस्थात् । दत्त पुत्रयुग्गुरुपार्श्वे तस्थौ । दत्तः स्नेहवशात् पुत्र विहर्त्तुं न प्रेषयति स्वयमेवानीय मिष्टाऽऽहारादि दत्ते पुत्राय दत्तर्षि । क्रमाद्दत्ते दिवगते अर्हन्नक शुच पितुर्मृतेर्धत्ते पञ्चदिनानि साधुभिर्गौरवित. । अन्यदैकेन मुनिना भिक्षायै सार्द्धं स नीत तदा बाढ निदाघे सुकुमाराङ्गत्वात्स क्षुल्लो[क] दह्यमानः उत्पपातोर्ध्वमधश्च तृषालग्नो कस्यचिद् गृहगवाक्षछायायामगात्स तदा त देवकुमाराभ दृष्ट्वा काचित्प्रोषितप्रिया स्त्री गवाक्षस्था कामवशगा चेटीपार्श्वात्स्वगृहान्तर्नीत्वाऽवग्-किं तव [तुभ्य] रोचते । इत्युक्त्वा पञ्चपा मोदका दत्ता । तथा भाषितश्चेति तया, किं त्वया वयसीदृशे व्रत गृहीत मया सह भोगान् भुङ्क्ष्व, पश्चाद्वार्द्धक्ये यद्रोचते तत्कर्त्तव्यम् । एव तया लोभितस्तत्रास्थात् क्षुल्लो भोगान् भोक्तुम् ।

इतः साधुभिर्विलोकितोऽपि न दृष्ट । तस्य माता साध्वी पुत्रगमनत्वाद् दुखिताऽभूत् ।

अन्यदा गवाक्षस्थोऽर्हन्नको मातरं पुत्रवियोगदु:खितां दृष्ट्वा दध्यौ–अहं पापी, मया माता दुःखे पातिता भोगसुखलीनत्वात्। ततस्तत्राभ्येत्य मातुः पदो· पतित्वाऽर्हन्नकः क्षमयामास। माता स्वस्थाऽभूत् पुत्रचरित्रं जज्ञौ। अम्बया संसारासारता प्रदर्श्य बोधितोऽपि न व्रतं ललौ दुष्करत्वात्। ततो मातृवचसा पादपोपगमनाशनं गृहीत्वा स्वर्गं गतोऽर्हन्नदत्तकः क्रमान्मुक्ति गत'।

इति परीषहमहनेऽर्हन्नककथा ॥१०१॥

[102] परद्रोहोपरि वैरोचनमन्त्रिकथा।

परद्रोहादिकं पापं, कुर्वंस्तीव्रमिहाङ्गवान्।
वैरोचन इवासातं, लभते मरणादिकम् ॥१॥

तथाहि—विशालाया नगर्यां नन्दाभिधो भूपो न्यायी बभूव। अन्येद्युराखेटक कृत्वा पश्चादागच्छन् पुरासन्नसरोवरे रजकं वस्त्राणि क्षालयन्तमपश्यत् नन्दभूपः। नन्देन तत्रैका शाटिका धौत्वो[तो]त्सारिता तापे रजकेन मुक्ता दृष्टा। तस्या चोपरि भ्रमरानुपविष्टान् वीक्ष्य राजा चमत्कृतोऽन्तिकस्थं सेवकं पप्रच्छेति, किमेवमस्या उपरि भ्रमरा उपविशन्ति एवं कुत्रापि न दृश्यते भ्रमरास्तु सुरभिवस्तुन्येवागच्छन्ति। सेवकेन चतुरेणोक्त–स्वामिन्! पद्मिनी स्त्री भवति तस्याः शाटिकायामेवंविधो परिमलो भवति धौतायामपि। ततो रजकः पृष्टः कस्यै इयं शाटिका? रजकोऽवग्–वैरोचनमन्त्रिणः पत्न्या। राज्ञोक्तं—भो प्रधान! वैरोचनमन्त्रिपत्नी तु पद्मिनी विद्यते। ततो राजा गूढहृदयः पद्मिनीं स्त्रिय पट्टराज्ञीं कर्तुं सर्वत्र सेवकान् विलोकनाय प्रेषयामास। सेवकैः कुत्रापि न ज्ञाता पद्मिनी। ततो भूपोऽग्रे प्रोक्त—कुत्रापि न ज्ञायते पद्मिन्युत्पत्तिः। राजा दध्यौ यदि पद्मिनी स्त्री पट्टराज्ञी न स्यात्तदा मम राज्यप्राप्तिरपि निःफला। मन्त्रिपत्नीं भोक्तुकामो राजा वैरोचनमन्त्रिणं दूरदेशे व्यापाराय प्रेषयन्, (राजा तु) रात्रौ एकाकी मदनविह्वलो मन्त्रिगृहद्वारमागत्य द्वाःस्थ प्रति आह—

आगतो द्वारि भूपालः, प्रतिहारो न मुञ्चति।
दैन्यं प्रोक्त्वा[च्य]च कामान्धः, प्रददौ रत्नकुण्डलम् ॥१॥

ततोऽग्रतो गच्छन् द्वितीयद्वारे याति, तावद्राजानमागच्छन्तमकाले दृष्ट्वैकाकिन शुकोऽवग्—

श्रीभूपनन्दराजेन्द्र!, तव पादौ प्रणौम्यहम्।
वैरोचनः क्व च गैपि, किं कार्यं पुत्रमन्दिरे ॥२॥

राजा शुक प्रति आह—

वासरेऽपि क्षुधा नास्ति, निद्रा रात्रौ न विद्यते।
मम कीर! महद्दुःखं, हृदये वसति कामिनी ॥३॥

शुकोऽवग्—

स्त्रियोऽर्थे च हतो *वाली–रामेण रावणो* हतः।
परगेहे न यातव्यं, परदारान् परित्यजेत् ॥४॥

राजाऽवग्—

क्रीर ! पण्डितचार्वाक !, जनानामतिवल्लभ !
परनिन्दा न कर्त्तव्या, परचिन्तां परित्यजेत् ॥५॥

शुकोऽवग्—

अपूर्वा दृश्यते वाणी, वृत्तिर्भक्षति चिर्भटान् ।
तस्मिन् देशे न यातव्यं, यतो रक्षा ततो भयम् ॥६॥

राजाऽवग्—

यस्मिन् रुष्टे भयं नास्ति, तुष्टे नैव धनागमः ।
आगमो निर्गमो नास्ति, स रुष्टः किं करिष्यति ॥७॥

राजा शुकवचनमवगणय्य यावदग्रतोऽचालीत् तावदग्रे मार्जारः फेत्कारान् भृशं कुरुते स्म । शुकः पुनर्मार्जारं क्रन्दन्तं श्रुत्वा प्राह राजि [राज्ञि] शृण्वति—

मा त्वमाक्रन्द मार्जार ! नन्दो राजा न तस्करः ।
अमृते विषमुत्पन्नं, यतो रक्षा ततो भयम् ॥८॥

राजाऽवग्—

न पश्यन्ति हि जात्यन्धाः कामान्धो नैव पश्यति ।
नहि पश्यति मदोन्मत्तः, अर्थी दोषान्न पश्यति ॥९॥

ततोऽवमन्य शुकं भूपमागच्छन्तमकाले दृष्ट्वा मन्त्रिपत्नी शय्यां मुक्त्वा एकतः स्थित्वा प्राह—

राजन् ! शान्तिं व्रजाह्लाय, रक्ष देहं धनादिकम् ।
मन्त्रीशस्ते सुतो नूनं, कीरवाक्यप्रजल्पनात् ॥१०॥

राजा मन्त्रिपत्नीवचः श्रुत्वा ध्वनितशिरः[गिरा] प्राह—

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं, सत्यं च कीरभाषितम् ।
वैरोचनः सुतो मेऽयं, त्वं च कुलवधूर्मम ॥११॥

इत्येवमुक्त्वा लज्जितो राजा शीघ्रं मन्त्रिपत्नीवाहनिकां परिधाय स्वीयां[च] तत्र विस्मृत्य कीरपार्श्वे भूत्वा द्वारमेत्य द्वास्थं प्रति प्राह—

अमृतं मधुसंयुक्तं, वणिग्पुत्रगृहे न तु ।
न पपौ नृपतिस्तत्र, पश्चादर्प्पय कुण्डलम् ॥१२॥

द्वास्थोऽवग्—

वारिमध्यस्थिता गावः, पिबन्ति न पिबन्ति च ।
निर्दोषास्तत्र गोपाला, हारितं रत्नकुण्डलम् ॥१३॥

राजाऽन्योक्त्या स्वयमेवावबोध्य स्वगृहे गत्वा सुष्वाप ।

इतोऽकस्माद्वैरोचनो विदेशाद् गृहे यावद्रात्रावागच्छति, तावद्भूपवाहनिकां दृष्ट्वा चकितो दध्यौ–किमत्र राजाऽऽगतोऽभूत् । यावद्विलोकयति सम्यग् तावत्पत्नीवाहनिका न पश्यति च चिन्तितं–नूनं राजाऽत्रागतो मम गृहे, स्त्रीणा पुरुषाणां च चरित्रस्य पार न पार्यते । यदि भार्यापृच्छयते तदा कूटजल्पनाद्देवचक्रेण भस्मीभवति तेन राजैव पृच्छयते एवं विमृश्य भार्यामुत्थाप्य माङ्गल्यच्छलेन भूपवाहनिका छत्रोपरि सस्थाप्य पञ्चशब्दपूर्वं वैरोचन. भूपपार्श्वे गत्वा प्रणनाम छव्रामग्रे मुक्त्वा प्राह च—

तृषाक्रान्तो गतो हस्ती, पयःपातुं सरोवरे ।
पीतं नवेति वक्तव्यं, सत्यं राजन् ! त्वयाऽधुना ॥१४॥

राजा चकितः स्वं रूपं मत्वा प्राह—

तृषाक्रान्तो गतो हस्ती, पानीयं पातुमुद्यतः ।
दृष्ट्वा सिंहपदौ तत्र, न पीतं वारि शीतलम् ॥१५॥

ततो राजा स्वपदौ विलोकयति यावत्तावत् स्त्रीवाहनिकामुत्तार्य कृत्वा पुनः प्राह—

सत्यं सिंहो गतस्तत्र, पानीयं पातुमुद्यतः ।
सत्यं कीरोदितं सर्वं, न पीतं शीतलं पयः ॥१६॥

ततः वर्द्धापनागता वाहनिकां परिधाय स्त्रीवाहनिका स्थालोपरि मुमोच । वैरोचनेन सर्वं, राजा[ज्ञा] मन्त्री मानितः, मन्त्री पञ्चशब्दपूर्वं राजपथेन पश्चाद्गृहे आगतः । भार्या सती सत्यं प्राह राजपार्श्वगमनादिस्वरूपं भार्याग्रे प्रोक्त्वा[च्य] दध्यौ हृदि धन्येयं भार्या, शुको धन्यः, राजापि धन्यः, भाग्यं विनैवं योगो न लभ्यते, यतः—

पत्नी प्रेमवती सुतः सुविनयो भार्या गुणालङ्कृता,
स्निग्धो बन्धुजनः सखातिचतुरो नित्यं प्रसन्नः प्रभुः ।
निर्लोभोऽनुचरः परार्तिशमने प्राप्तोपयोगं धनं,
कल्याणाभ्युदयेन सन्ततमिदं कस्यापि संपद्यते ॥

राज्ञा प्रासो वर्द्धितः । अर्द्धराज्याधारोऽभूत् । मन्त्रिणश्चत्वारः पुत्राः क्रमादभूवन् । अन्येद्युः सभाया मन्त्रियुतो राजा यावदुपविष्टःतावदकस्माद्वनपालक आगात भयभ्रान्तचेता प्रोवाचैवं च—

देवाद्य नन्दनोद्याने, महाकायः किरिः कुतः ।
उन्मूलयन्तरूनाम्र–कदल्यादीन समाययौ ॥१७॥
श्रुत्वैतद्भूपतिर्दध्यौ, मयि शासति मेदिनीम् ।
उपद्रवः कथं पुंसा, जायते नूनमगतः ॥१८॥

ततो राजा संनह्य मन्त्रियुतः सपरिच्छदो वराहं हन्तुं वने ययौ, प्राह च—कुत्रास्ति वराह.? वनपालकेन दर्शितः । राज्ञो मण्डलीं मण्डयित्वा वराहो हक्कित, रे दुष्ट ! पापिष्ट ! बहिर्निर्गच्छ कुञ्जात्। श्रुत्वैतत् सूकरो घुर्घुराराव कुर्वन् बहिर्निर्गत्य राजमन्त्रिपार्श्वे स्थित्वा निर्ययौ । राजा मन्त्री च तत्पृष्ठौ धावितौ वायुवेगाश्वारूढौ । परिवार. पश्चात्स्थित । कियतीं भूमिमागत्य श्रान्तौ राजमन्त्रिणौ, सन्ध्याया स्थितौ वराहश्छल कृत्वा कचिद्ययौ । ततो द्वावपि खिन्नौ जजल्पतु, सन्ध्या पतिता आवा दूरभूमिमागतौ । तृट् लग्ना । अत्रवने सिंहादयो बहवः सन्ति, कथ रात्रिर्गमिष्यते ? एव जल्पतोर्द्वयो. मन्त्री नीतिज्ञोऽवग्—

बृहद्भानोर्महाज्वाला, ज्वलन्ती वीक्ष्य दूरतः ।
सिंहाद्याः श्वापदाः सर्वे, तिष्ठन्ति दूरतः खलु ॥१९॥

एव विमृश्य काष्ठान्यानीयाग्निं प्रज्वाल्य महाज्वालां ज्वलन्तीं कृत्वा जागरितौ-द्वावपि रात्रिं निन्यतु, यतः—

उद्यमे नास्ति दारिद्र्यं पठने नास्ति मूर्खता ।
मौनेन कलहो नास्ति, नास्ति जागरतो [जागरिते] भयम् ॥

प्रातः सूर्यचारवशेन स्वपुरीमार्गं विज्ञाय द्वावपि चलितौ । तृट् लग्ना भृशं, राजाऽवग्—मन्त्रिन् ! विलोकय जलादिस्थानं कुत्राप्युच्चैश्चटित्वा । भूपादेशं प्राप्य तावत् वृक्षे चटित्वा दूरतो नीलशाद्वलदर्वावपतनादि च दृष्ट्वाप्राह मन्त्री—

राजन्नितो दिशि प्राच्यां, संभाव्यते पयः स्थितिः ।
शाड्वलबहुलप्रांशु—वनकाकादिसंभवात् ॥२०॥

दृश्यन्ते बहवो वृक्षा, घनपत्रसमन्विताः ।
काकाः कलरवो यत्र, तत्र तोयं भविष्यति ॥२१॥

राजाग्रे उपरि स्थितो दिशमुक्त्वा स्वयं च दिश स्थिरीकृत्य वृक्षादुत्तीर्य मन्त्री भूपपार्श्वे आगात् । ततो दिगनुसारेण द्वावपि तत्र पूर्वदृष्टवने ययतुः, दृष्ट महासरः, चटितो पालिं यावत् तावद्दृष्ट शुष्क सरः खिन्नो द्वावपि । चिन्तितमहो कर्मणां गति । तृट् लग्ना पानीय तु न प्राणा-यास्यन्ति । मन्त्री प्राह—राजन् ! काकसभवात् कुत्रापि जल भविष्यतीति प्रोक्त्वा[च्य] राजान पालितरुच्छायायां मुक्त्वा जलभाजन लात्वा काकानुसारत सर पार्श्वे भ्रमन् महतीं वापीं जलपूर्णां दृष्ट्वा मन्त्री मुमुदे, समुद्रश्चन्द्रोदयमिव । मध्ये प्रविश्य जलभाजनं पानीयभृत कृत्वा यावत्त्वरित निस्सरति तावद्भित्तौ प्रशस्तिं प्रेक्ष्य वाचयामास, तन्मध्ये एकं वाचयति, यथा—

तुल्यार्थं तुल्यसामर्थ्यं मर्मज्ञं मन्त्रिण दृढम् ।
अर्धराज्यहरं सद्यो, यो न हन्यात्स हन्यते ॥२२॥

चिन्तित मन्त्रिणा कदाचिद् भूपोऽत्रागमिष्यति तदा मा मारयिष्यत्येव । तेन कर्दमेन श्लोकाक्षरान् स्थगयित्वा यास्यामीति कृत्वा श्लोक कर्दमेनाच्छाद्य पानीयं लात्वा राजपार्श्वं गतः । राजा-

ऽम्भः पपौ । चिन्तितं च अहो ईदृशं जलस्थानमस्ति, विलोक्यते बहु जीवितव्यं विना विलोकितं वरमिति ध्यात्वा मन्त्रिणं तत्र मुक्त्वा राजा वापीं द्रष्टुं गतः । वापीं विलोक्य पश्चाद्वलन् प्रशस्तिं वीक्ष्य तन्मध्ये एकं श्लोकं तत्कालार्द्रकर्दमस्थगितं वीक्ष्य दध्यौ अपरः कोऽप्यधुनाऽस्मिन् वने दृश्यते न ।

अयं तु श्लोकोऽधुनैवाच्छादित' संभाव्यते, तेन केनापि कारणेन स्थगित इति ध्यात्वा जलेन कर्दममुपसार्य श्लोकं वाचयामास—"तुल्यार्थं तुल्यसामर्थ्य"मित्यादि ।

दध्यौ च नूनं मन्त्रिणा स्थगितः। एवं विचिन्त्य पश्चादागतस्तावन्मन्त्रिणा चकितेन श्लोकं स्थगितमस्थगितमित्यादिविकल्पपर' पयो दूरं त्यक्त्वा मायया तृषाक्रान्तो भूत्वा मुखं प्रसार्य स्थितः, राजा आगात् जगाद च—मन्त्रिन्नीदृशः कथं दृश्यते । मन्त्री प्राह—मायया जलं गत तृषा लग्ना पानीयमानयामि पश्चाद्वल्यते पुरं प्रति, एवं कृत्वा मन्त्री श्लोकवाचनार्थं गतो वाप्यां यावद्विलोकयति तावत्कर्दममपसारितं दृष्ट्वा दध्यौ—नूनं भूपेन वाचितः श्लोकः, भूपो मा मारयिष्यति, किं करिष्यति भययुगभूत्, पादौ पश्चादागन्तुं न वहतः, वेला लग्ना चलिता यावत्त्रायाति तावद्राजा सुप्तः । सुप्तं भूपं दृष्ट्वा दध्यौ मन्त्री अयमेवावसरः मारणे यदा जागरिष्यति तदा मा मारयिष्यति । राजानः आत्मीया न भवन्ति, यतः—

काके शौचं, द्यूतकारे च सत्यं, सर्पे क्षान्तिः, स्त्रीषु कामोपशान्तिः ।
क्लीबे धैर्यं, मद्यपे तत्त्वचिन्ता, राजा मित्रं, केन दृष्टं श्रुतं वा ॥

एवं ध्यात्वा राज्ञः खड्गमादाय मन्त्री राजानं सुप्तं जघान । तत उत्पाट्य पालिमध्ये च चिक्षेप भूमौ ।

अत्रान्तरे पालिस्थ[म]द्राक्षवृक्षशाखायां विशालानगरवास्तव्यो वानराह्वो मालिकः स्थितः । सर्वं राजमारणादिकं दृष्ट्वा भयभ्रान्तः शाखान्तरं गतः । तावन्मन्त्री शाखाकम्पनं दृष्ट्वा श्लोकं प्राह—

शाखा प्रकम्पिता येन, वानरेण नरेण वा ।
अचिरेणैव कालेन, शाखाभेदो विनश्यति ॥२३॥

मालिको मन्त्रिवचः श्रुत्वा दध्यौ—अहमनेनात्र स्थितो, ज्ञातो वा नेति ध्यायन् मौनी बभूव ।

मन्त्री तु तदा एवमुक्त्वा तुरगमौ द्वौ लात्वा पुरमेत्य प्राह, राजलोकाग्रे—राजा दूरतो वने मारितः खादितश्च । ततो राज्ञी प्राह अहं न जीविष्यामि । मन्त्रिणा सुकुमालवचनैः शान्तीकृता राज्ञी, शोकं उत्तारितः, मन्त्री प्राह—सर्वेषामग्रे, इयं राज्ञी सगर्भाऽस्ति, सुतो भविष्यतीति संभाव्यते, तेन राज्याऽपरैः राजलोकैश्च खेदो नानेयः, भवितव्यताग्रतः कोऽपि न छुटिष्यति, यतः—

आन्ध्यं यद् ब्रह्मदत्ते, भरतनृपजयः, सर्वनाशश्च कृष्णे,
नीचैर्गोत्रावतारश्चरमजिनपते,स्तीर्थनाथेऽस्खलात्वम् ।
निर्वाणं नारदेऽपि, प्रशमपरिणतिः सा चिलातीसुतेऽपि,
इत्थं कर्मात्मवीर्ये स्फुटमिह जयतः स्पर्धमाने जगत्याम् ॥

यावता पुत्रो राजयोग्यो न भविष्यति तावदहं राज्यरक्षां करिष्यामीति कृत्वा स्वयं नन्दभूपवद्राज्यं चकार वैरोचनमन्त्री ।

ततो वानरो मालिको वैरोचनं राज्यं कुर्वाणं श्रुत्वा भयभ्रान्तो बहिरेव तस्थौ नायातो पुरमध्ये, नन्दपत्नी प्राप्तसमये सुतं प्रासूत, पूर्ववं रवि पुत्रजन्मोत्सवं कृतं ।

पुत्रो लाल्यमानः षड्वर्षप्रमाणो लेखशालाया मुक्तः, सर्वेऽपि लेखशालिका हसन्ति पराभवन्ति च निष्पितृकोऽयमिति ।

मातुरग्रे आगत्यावक्—मम पिता कुत्र मृतः, कथं वेति वद । माताऽवग्—वैरोचनमन्त्रिणा युतस्तव पिता शूकरपृष्ठो धावितः दूरतो ययौ । वैरोचनेनोक्तं—नन्दो राजा वराहेण मारितः खादितश्च सम्यगहं न जाने किमभूत्ततःप्रभृति वैरोचनो राज्यरक्षां चकार । श्रुत्वैतन्नन्दभूपाङ्गजो दध्यौ—मम पितैव कथं वराहेण मार्यते । यथा मृतोऽभूत्तथा मया ज्ञातव्यं । ततश्चिन्तापरश्चतुरो राजपुत्रः सदा रात्रौ कृष्णवस्त्रं परिधाय पुरमध्ये चतुरशीतिहट्टश्रेणिषु सेरिकासु सेरिकासु च भ्रमति स्म । क्रमात्सर्वशास्त्रज्ञोऽभूत् पठन्, यतः—

जले तैलं, खले गुह्यं, पात्रे दानं मनागपि ।
प्राज्ञे शास्त्रं स्वयं याति, विस्तारं वस्तुशक्तितः ॥

राज्ययोग्यं पुत्रं ज्ञात्वा माता मन्त्रिपार्श्वात् राज्यं पुत्राय दापितवती । नन्दपुत्रोऽपि राज्योपविष्टः सदा रात्रौ छन्नं पुरमध्ये भ्रमति स्म । द्वादशवार्षिको जातः क्रमात्स नन्दपुत्रः अन्येद्यु रात्रौ वानरमालिकस्य गृहपार्श्वेऽभ्येत्य राजा यावत्स्थितः तावदितो वानरमालिको नन्दपुत्रं राज्याधिष्ठितं श्रुत्वा रात्रावेव गृहद्वारे आगतो विलोकयति यावत्तावद्गृहमध्ये दीपं ज्वलन्तं दृष्ट्वा मातापितरावदृष्ट्वा दध्यौ नूनमनया कोऽप्यन्यः पुरुषोऽङ्गीकृतः सेभाव्यते । एवं विचिन्त्य काव्यमेकं प्राह—

कमलदलसुनेत्रे हारिहाराभिरामे, स्तनतटकटहंसे रोमरङ्गैः सुरङ्गी[ङ्गि] ।
अमलतपसुरूपे ! पद्मवक्त्रे ! जिताब्जे, कृतिमनुजनिषेव्या वर्त्तसे किं प्रियेऽद्य ॥२४॥

श्रुत्वैतत्काव्यं भ्रान्तचित्ता प्राह मालिका—

तपनियमविधानैः शोषितं येन गात्रं, बहुकुसुमसमूहैः पूजितो येन देवः ।
रणमुखगजदन्तैर्येन भग्नं शरीरं, तदमलपतिसेव्याऽहं सदा नान्यपुंसः ॥२५॥

एतावद्भार्यावचः श्रुत्वा स्वस्थचित्तः कुशलस्वरूपं बहिःस्थ एव पप्रच्छ भार्याम्—

गृहे कुशलता कान्ते !, पिता मिता न दृश्यते ।
प्रदीपकरणं कस्मा—न्मध्यरात्रौ वद प्रिये ॥२६॥
स्वामिन्नहं निशीथिन्यां, तपश्चान्द्रं वितन्वती ।
देवस्य साम्प्रतं दीप—मकार्षमर्चनाकृते ॥२७॥
त्वं किं पृच्छसि हे भर्त्तः !, निःस्नेहोऽसि प्रियो मम ।
मातापित्रोः सुखं दुःखं, जीवितं च पुनः पुनः ॥२८॥

श्रुत्वैतन्मालिकः प्राह—

पद्मपत्रविशालाक्षि !, पुरे वसति मालिके ! ।
सा मे दहति गात्राणि, शाखावैरोचने यथा ॥२९॥

श्रुत्वैतद्भर्त्तृवचो हर्षिता तत्कालमेव द्वारमुद्घाट्य गृहमध्ये नीत्वा मातापित्रोर्मेलितः मातापितरौ ननाम, मातापितरौ प्रतिजगदतु पुत्रम्—

दीनौ वृद्धौ गलद्गात्रौ, आवां दृग्विकलौ भृशम् ।
मुक्त्वा कथं सुतैतानि, वर्षाणि दूरतः स्थितः ॥३०॥

पुत्रः प्राह—

मातः पितरहं दूरे, मृत्युभीतोऽतिदुःखितः ।
वर्षाण्येतानि कष्टेन, सहमानः स्थितश्चिरम् ॥३१॥

ततो गृहद्वारे शय्यायामुपविष्टौ मालिकामालिकौ वार्त्तां कर्त्तुं प्रवृत्तौ ता वार्त्तां श्रोतुं नन्दभूपपुत्रोऽरिमर्द्दनो द्वारे समेत्य शनैः स्थितः। मालिका मालिकं प्रति प्राह—स्वामिन्नहं वैरोचने शाखावत्कथ भवतो गात्राणि धक्ष्यति । मालिकोऽवग्—

मा मा पृच्छसि हे कान्ते !, शर्वरीप्रहरद्वयम् ।
शृणोत्यन्यो वचश्चेन्मे, जायते मरणं ध्रुवम् ॥३२॥

स्त्री प्राह–छन्न प्रिय ! मनाग्वद । मालिकोऽवग्—रात्रौ छन्नमपि वक्तुं न युज्यते—

दिवा निरीक्ष्य वक्तव्यं, रात्रौ नैव च नैव च ।
संचरन्ति महाधूर्त्ता, वटे वररुचिर्यथा ॥

प्रिया वलं कुर्वाणा प्राह—वद स्वामिन् अत्र तु कोऽपि नास्ति, छन्न निगद्यता, ततो बालाबलात्कारमलङ्घनीय मत्त्वा मालिकोऽवग्—

नन्द वैरोचनावश्वा—पहृतौ विपिने गतौ ।
अहन् वैरोचनो नन्दं, मया शाखा प्रकम्पिता ॥३३॥

मालिकाऽवग्–स्वामिन् ! विस्तारेण कथय, ततो मालिको पूर्वं दृष्ट यथा पत्नावकथयत । राजा त मालिकोक्ता पितृमरणवार्त्तां (श्रुत्वा) खिन्नहृदयोऽभिज्ञानार्थं मालिकगृहद्वारे तादृकभित्तौ इद श्लोकमालिलेख—

नान्देन भ्रमता रात्रौ, पुरमध्ये निरन्तरम् ।
पितृमरणवृत्तान्तो, ज्ञातः सम्यग्नराननात् ॥३४॥

ततो राजा गृहमभ्येत्य वैरोचनव्यतिरिक्तप्रधानानाकार्य प्राह—मम पितुर्मारको मया ज्ञातो नगरमध्ये । प्रधानैरुक्त–महान् लघुर्वा भवतु स मारयिष्यते एव, इत्येवं विचार कृत्वा मालिकगृहद्वारे गत्वा स्वकृत श्लोकं दर्शयित्वा राजा मालिक प्रत्यवक्–द्वारमुद्घाटय । मालिका वक्ति—द्वार नोद्घाटयामि । मालिको बहुजनसमुदाय दृष्ट्वा छन्न स्थित । राज्ञोक्त–तव भर्त्ता

कास्ति ? तयोक्तं—गृहे नास्ति, राज्ञोक्तं-कूटं किं जल्प्यते, तव भर्त्ता विदेशादद्य रात्रावेव गृहे आगतोऽस्ति। तया चिन्तितम्-अहो दैवविलसितम् अहो दैवविलसितम् अद्यैव बहुवर्षेभ्यो भर्त्ता गृहे आगत, न ज्ञायते कस्माद्धेतो राजा रुष्टः, प्रोवाच च—

बह्वब्देभ्योऽधुना कान्तो, निःष्कलङ्को ममागमत् ।
नृपाकारणतोऽकस्मा—त्सङ्कटं पतितं पुनः ॥३५॥

श्रुत्वैतद्राजा प्राह—

हे मालिके ! न ते भर्त्तु—र्दुष्टं कोऽपि करिष्यति ।
भविष्यति महापूजा, सत्यं वद सुशालिनि ! ॥३६॥

अह राजा कारणेनागतोऽस्मि किञ्चित्प्रष्टु गूढम्। ततस्तया द्वारमुद्‌घाटित, मेलितो भर्त्ता, धीरां दत्त्वैकतो नीत्वा प्रधानेषु शृण्वत्सु आत्मीयपितुर्मरणवृत्तान्त राजा पप्रच्छ। मालिकोऽवग् कथि(थयि)तु न शक्यते, कथिते सति मम मरणमेव शरण। राज्ञोक्त-भेतव्य न, तव महापूजा—राजसन्मान भविष्यति। अन्यत्किमपि नानेय, राजा त्वहमेवाधुनास्मि। ततो मालिक आमूल-चूल नृपमारणवृत्तान्त वैरोचनविहितमचीकथत्। कथित च तत्र पाली अस्थीनि सन्त्यद्यापि भूमध्ये। ततो राज्ञा भय नानेयं त्वयेत्युक्त्वा मालिको विसर्जितो गृहमध्ये गत। ततो राज्ञा स्वावासमभ्येत्य वैरोचनस्याकारण कृत, वैरोचनो यावदुत्थाय चलति तावत्सम्मुखा छिंकाऽभूत्, चिन्तित किमपि विघ्न भावि, यत—

उत्थितस्य पदौ दातु, चलतः संमुखी हि क्षुत् ।
मरणाय भवेन्नून—मथवाऽनर्थदायिका ॥

पश्चाद्वलित्वा स्वस्थाने उपविश्य विलम्बं कुर्वाण वैरोचनं राज्ञा मत्त्वा कटक प्रेष्यते गृहं वेष्टित प्रोचुर्भूपभृत्याः-भो वैरोचन ! नन्दभूपमारक अह्नाय गृहाद्बहिर्निस्सर पापस्य फलमधुनैव द्रक्ष्यसि। श्रुत्वैतच्चकितः स्वपूर्वचेष्टितं स्मृत्वा पुत्रानुत्थाय वैरोचनः प्राह राजा रुष्ट। हे बृहत्पुत्र ! मा मारय राजपार्श्वे गत, त्व खड्गेन पश्चात्सर्वेऽपि पुत्राः सुखिनो भविष्यन्ति। पुत्रः प्राह—एव कथ क्रियते।

माता–पितासमं तीर्थं, नास्त्यशेषे भुवस्तले ।
तत्तीर्थं घ्नन्नह यामि, घोरं नरकसंश्रयम् ॥

श्रुत्वा वैरोचनोऽवग्—

राजा बन्धुरबन्धूना, राजा चक्षुरचक्षुषाम् ।
राजा पिता च माता च, राजा वंशस्य रक्षकः ॥

एव द्वितीयतृतीययो पुत्रयोः कथित पुनरेकोऽपि पुत्रत्रयाणा मध्ये पितर मारयितु नेहते, ततश्चतुर्थो लघुराकारित प्रोक्त वैरोचनेन सर्वप्रकारेण लघुरपि वृद्धः मामसिना राजदृष्टौ मारय। तेनाङ्गीकृत पितृवच। तत पित्रा शिक्षितः। हे पुत्र ! यदाह राजदृष्टौ यामि तदा त्वया खड्ग-कर्षयित्वाऽह मारयितव्यो विचारो न कार्य। मारणादनु वक्तव्य त्वया राज्ञो मारकस्यैव

गतिर्भवति । इत्यादि प्रोक्त्वा(च्य) पुत्रमग्रे प्रेष्य भूपपार्श्वे गते पुत्रे मन्त्रिणा भार्या पृष्टा–त्रिभिः पुत्रैर्मम मारणवचो नाङ्गीकृत चतुर्थेनाङ्गीकृत, तत्र किं कारणं ? भार्ययोक्तं—ऋतुसमये मम दृष्टौ काहलिक आगात्, मम रोप उत्पन्नः, तेनायं पुत्रोऽपि दुष्टबुद्धिरभूत् । पुत्रस्वरूपं मत्वा मरणागतं मत्वा साहसमवलम्ब्य राजसेवकाना मिलित्वा वैरोचनो यावद् भूपदृष्टौ गतः, तावद् भूपः पराङ्मुखोऽभूत, पुत्रेणासिमाकृष्य पितुःशीर्षं चिच्छेद । प्रोक्त च–नन्दभूपमारकस्यैवं गतिर्भवतीत्यादि । प्राह च—

वैरं वर्षसहस्रेषु, वैर वैरोचने यथा ।
यावत्शाखे सुतास्ताव—च्छत्रवो मा पुनः पुनः ॥३७॥

राज्ञो त्वा वैरोचनपुत्रमारितं दृष्ट्वा संमुखोऽभूत् प्राह—कियन्त सन्ति भवतो बान्धवाः ? तेनोक्त–चत्वारः । ततस्त्रयोऽप्याकारिता, पितुरग्निःसंस्कारः कारित । पट्टभक्तं वैरोचनस्य लघुपुत्रं सर्वाधिकारिण कृत्वा अपरेषा मन्त्रिपुत्राणा यथायुक्तमधिकारित्वादिव राजा मालिक ग्रामदश-दानेन सन्तोष्य नन्दभूपपुत्र. सुखी बभूव । इति श्रीतपागच्छशृङ्गारगच्छनायकश्रीमुनि-सुन्दरसूरिशिष्येण शुभशीलेन लौकिकनन्दवैरोचनमन्त्रिकथा परद्रोहोपरि कृता ॥१०२॥

[103] कलहे सरडद्वयकथा ।

जो जस्स उवसमई, विज्झवणं तेण तस्स कायव्वं ।
जो उवेहं कुज्जा, आविज्जइ मासिअं लहुअं ॥ १ ॥

कलह कुर्वाण जनमुपेक्षते हसति च उत्तेजयति साहाय्य वा करोति स प्रायश्चित्त प्राप्नोति कथा चात्र—

वणमंडसरे जलचर–खहचरविसमणदेवयाकहणं ।
सरडुक्ककवेखंडण—धारणगयमासभूरणया ॥२॥

क्वापि वनखण्डमण्डिते सरसि जलचरखेचरस्थलचराणा विश्रामस्थाने गजयूथ तिष्ठति वसति च । एकदा तत्र *सरड(ट)भण्डन सरड(ट)युद्ध दृष्ट्वा वनदेवतया प्रोक्त—

भो नागा जलचरवासि, आसुणेह तसथावरडा भिडति ।
अभावो परियत्तइ, भो नागा ! जलवासिआ ॥ ३ ॥

मत्स्यादयः शृण्वन्तु मद्वचः–यत्र सरडा भडंति कलहाय, तत्राभावः प्रवर्त्तते । विनाशः सभाव्यते ततो यूयं वारयत ।

ततस्तैर्नागादिभिश्चिन्तितं किमस्माकमेते वराका. सरडा कलहायमाना करिष्यन्ति इति । ते उपेक्षन्ते । तत एकेन सरडेन द्वितीयो निर्द्धाटित । तत. स नष्ट्वा प्रसुप्तस्य एकस्य गजस्य नासाया प्रविष्ट, द्वितीयोऽपि पृष्ट प्रविष्टः, तत्रापि कलहायन्ते, ततो गजस्यारतिर्महती पीडा च संजाता। ततो रुष्टेन तेन गजेन सर्वं वन चूर्णीकृत, सरांसि चालोडितानि, जलचरादयो व्यापादिताः,

* काकीडा ।

सोऽपिनष्टः अयमर्थोपनय – एवमत्रापि आचार्याणामुपेक्षमाणानां महान् दोष. स्यात्, तस्मादुपेक्षा न कार्या, कलहो निवार्य एव ।-इति कलहे मरढद्वयकथा ॥१०३॥

[104] अथ औदार्ये कुमारपालभूपसम्बन्धः ।

पत्तनेऽन्यदा श्रीकुमारपाले भूपे राज्य कुर्वाणे वैतालिका वैदेशिक सकौपीनः सन्ध्याया-माजगाम, गणिकागृहे तत्र यष्टिमुद्राणके मुक्त्वा वासक स्थितः। प्रातर्यदा राजा भूरिधन दास्यति तदा मया ग्राह्यमिति ध्यात्वा भूपसभाया स गत । स च भूपेन पृष्ट', कुत आगतः ? ततो वैतालिको जगौ—स्वर्गात्त्वा द्रष्टुमत्रागाम्, त्वा विना तत्रैव स्वर्गे एव जायमानमस्ति—

अपच्छर नच्च न पिक्खणइ, सुरतरु गंध न देइ ।
भेर न वज्जइं सुरभवणि, तुह गिरि कुमर ! सुणेइ ॥१॥

ततो राजा तस्मै हेम्नो दशशतीं ददौ, तन्नु वैतालिको जगौ—

कोडि टंक कलक्खहयसहमतिमत्तगयंद ।
कुण अप्पइ पट्टणट्ठिउ, विणु सिरि कुमरनरिंद ॥२॥

ततो राजा पूर्वदत्ताद्द्विगुण दापित, स च गतो निजस्थाने, ता श्रिय क्रमाद्भुक्त्वा राजपथि स्थितं तं वैतालिकं दृष्ट्वा राजाऽप्राक्षीत्, क्व गत तद्धन स प्राह—

उर अतर वाहलया, थणपव्वयरोमराइवणगहणं ।
सुरनरगणगंधव्वा, नग्गन्ति आमयणाचारेण ॥३॥

तत' पुनर्धनं दत्त्वा राजा स्वपार्श्वे स्थापितः, क्रमाद्धर्ममङ्गीकारितः स भूपेन ।

इति औदार्ये कुमारपालभूपसम्बन्धः ॥१०४॥

[105] अथ कलिधर्मे सर्पकथा ।

श्रीपुरे धनश्रेष्ठी तस्य प्रेमवती पत्नी बभूव। क्रमाल्लक्ष्मीमुपार्ज्य चत्वार' कलशा राभिर्भृता । गृहचतु कोणेषु न्यस्ता रहः एकदा श्रियमर्जयितु विदेश प्रति चिचलिषु पतिं पत्नी प्राह—सार्द्धं समेष्यामि । पतिः प्राह—तव प्रतिबन्धो मे स्यात् । पत्नी प्राह-त्व गत्वा यदा तत्रास्था तदा मे का गति ? विदेशे वर्या नार्यो भवन्ति, ताभि कामित सन् तत्रैव स्थास्यति। स प्राहाह त्वां विना नान्या पत्नीं करिष्ये, अस्मिन् भवे यदि कदाचिद्द्रव्यार्जन—लोभात्तत्र स्थास्यामि तदाऽह त्वा तत्राकारयिष्यामि ।

अत्र गृहमध्ये चतु'कोणेषु रैकुम्भा सन्ति तेषा सारा कार्या। यद्यह् तत्र स्थास्यामि तदा त्व रैकुम्भान्नीत्वाऽऽगच्छे । पत्न्या मानिते पतिश्चचाल। तदा धूर्तचौरेण श्रेष्ठ्युक्त श्रुत । श्रेष्ठी कुङ्कणदेशे गत्वा श्रियमर्जयति । इत स धूर्तो रहः कूट लेख लिखित्वा प्रेमवत्यै ददौ, तयेति वाचित —

"त्व पत्नि ! रैकुम्भान् चतुरोऽपि लात्वाऽनेन पुंसा सम मम पार्श्वे चन्द्रपुरे समागच्छेः"। ततस्तया रैकुम्भान् लात्वा रथ कृत्वा तेन पुंसा सह चलिता । क्रमाद्गच्छन्त्या तया

धूर्तो ज्ञातः, ततस्तदाऽकस्मात्तस्याः पितृग्राममध्ये गत्वा पितुरग्रे धूर्त्तचेष्टितं ज्ञापयित्वा धूर्त्तो निर्द्धाटितः। ततः स्वपुरेऽभ्येत्य सा स्थिता। क्रमात्पतिः कृष्णास्यः समागात्। पत्न्योक्तं—किं ते कृष्णास्यं, तेनोक्तं–मयैकोऽहिरुपकारादग्नित कर्षितः सन् वक्ति त्वां खामि, ततो मयोक्तं–मया तवोपकारः कृत, त्वमेव कि कुरुषे ? सर्प्पोऽवग्—"कलौ य उपकारं करोति स तेनैव हन्यते।" पत्न्यवग्—गच्छ, तत्र भीर्नानेया। ततः सा तत्र गत्वा प्राह भो सर्प्प ! किं तवोपकारक मत्पतिं कि खासि ? सर्पोऽवग्–भो स्त्रि ! येनोपकार. क्रियते स हन्यते तेन। यदि मन्यते न त्वया तदा इय महिषी प्रष्टव्या। ततस्तेन महिषी वृद्धा पृष्टाह–मया श्रेष्ठिनो गृहे दश महिष्यो जनिताः। अधुना श्रेष्ठी जल्पति आत्मनो गृहे शकटं भञ्जन्नस्ति [भग्नमस्ति] तेनास्या महिष्या वार्ध्रेण शकट वध्यते मया तूपकारः कृत। श्रेष्ठी त्वपकार चिकीर्पुरस्त्येव तनश्चोक्तं महिष्या वृक्षठुण्ठक पृच्छ। तेन पृष्टो ठुण्ठकोऽवग्–मत्तले योगी कुष्ठी स्थितः स नीरोगोऽभूत् ततस्तेनाहं मूलाना कर्षणादेवविधः कृत ततस्तयोक्तं–तथा कुरु यथा मत्पतिर्जीवति। ततो ठुण्ठकेनोक्तं—ममाधः स्थितां धूलीं लात्वा सर्पशीर्षे क्षिप, सोऽपिमरिष्यति। ततस्तया तथा कृत, ततः श्रेष्ठी सुखी जातः। तत सप्तक्षेत्रे स्वा श्रिय व्ययित्वा स्वर्गसुख प्राप पत्नीयुत क्रमान्मुक्तिं यास्यति। इति कलिधर्मे सर्प्पकथा ॥१०५॥

[106] अथ कुसंगविपये गोकथा।

कुसगासगदोषेण, साधवो यान्ति विक्रियाम्।
एकरात्रिप्रसंगेन, काष्ठघण्टाविडम्बना ॥१॥

अत्र कस्याचत्कौटुम्बिनो गौर्दुर्वला सती अन्यया गवा मत्तया सह लोकक्षेत्र प्रविश्य सस्यं भक्षयन्ती क्षेत्रस्वामिना वहि. कर्षिता। पुनर्भूयोभूयस्तत्र याति ततः क्षेत्रस्वामिना कौटुम्बिको दण्डापित। ततस्तेन गोस्वामिना सा गौर्गले काष्ठेन वद्धा। ततो विक्रेतुमापणे धृता तदा लोका जगुरियं गौ. लोकक्षेत्रे प्रविशति। अतो विक्रीयते। तदा गौर्जगौ, अहं कुसंगेनैवंविधां दशां प्राप्ता।।' इति कुसंगविपये गोकथा ॥१०६॥

[107] अथ इन्द्रियदमनादमनविपये सम्बन्धः।

वाणारस्या पुर्या आग्नेय्यां दिशि गङ्गानद्यामर्वाग् तीरे मृदङ्गह्रदोऽभूत्। स च गम्भीर शीतलजल कुमुदपङ्कजातिसुगन्धी[न्धि]पुष्पोपचितोऽभून्। तत्र मत्स्यकच्छपादि जीवा' शतश. सुखं तिष्ठन्ति। तत्र ह्रदपार्श्वे वल्लीगहनमस्ति। तत्र द्वौ पापश्रृगालौ वसतः। तौ पापौ चण्डरुद्रौ साहसिकौ पलाहारौ पल गवेषयन्तौ रात्रिचारिणौ दिवा प्रच्छन्न तिष्ठतः।

अन्यदा मृदङ्गह्रदपार्श्वे सायमाहारार्थिनौ कूर्मौ, श्रृगालौ दृष्ट्वा भीतौ हस्तादि सकोचयित्वा (च्य) स्थितौ। तत' पापश्रृगालौ मायया शनैःशनैर्ह्रदपार्श्वे तिष्ठत'। कस्यापि किमप्यपराध न कुरुतः स्म। ततो विश्वस्त एकः कूर्मः पाद वहि कर्पयामास। ततश्चपलगत्या तत्रेत्यैकं पाद भक्षयतः स्म, ततो द्वितीय चतुथ पाद भक्षयतः स्म। तत' कूर्मो मृतः। द्वितीय कूर्मस्तयोः श्रृगालयोः स्वरूप ज्ञात्वा तत्रैव देहगुप्तोऽभूत्। स च सुखी जात।

एवं यो यतिर्यतिनी वा आचार्य पार्श्वे प्रव्रजितः। क्रमाद्योऽगुप्तेन्द्रियो भवति, स प्रथमकूर्म-

कादिदुःखं प्राप्नोति। योऽपि गुप्तेन्द्रियो भवति स द्वितीयकूर्मवत्सुखी भवति ।

तत्कूर्मस्थानीयौ साधू । शृगालस्थानीयौ रागद्वेषौ । ग्रीवापादस्थानीयानि ५ इन्द्रियाणि । पादग्रीवाप्रसारणस्थानीयाः शब्दादिविषयाः इत्यादि भावना कूर्मकथादृष्टान्त सिद्धान्त गत ।

इति इन्द्रियदमनादमनविषये सम्बन्धः ॥१०७॥

[108] अथ अनित्यतायां लोमशऋषिकथा लौकिकी ।

अनित्यतायां कथा चैव—

कश्चिद्दीर्घदर्शी तापसो द्वादशवर्षसहस्राणि तपस्तेपे । मासोपवासान्ते पञ्चसु गृहेषु बद्धां भिक्षां याचते । यदा कदाचित्तेषु गृहेषु भिक्षां न लभते तदा मासोपवास स च षष्टे गृहे न याति । एव ४ मासक्षपणानि यावत् लब्धमाहार चतुर्भागीकृत्य जलचरस्थलचरखचरेभ्यो दत्त्वा चतुर्थं भागमेकविंशतिवारान् पयसा प्रक्षाल्य स्वय भुङ्क्ते ।

अथ मृत स इन्द्रोऽभूत् । पृष्ट च देवाना पुरः केनाय स्वर्ग कृतः ? इत्युक्ते देवा जगु न केनापि कृतोऽय, स्वयंसिद्ध । ततः शक्रो दध्यौ–जीर्णोऽय, तेन नवीन स्वर्गं करिष्ये । देवैरुक्त नवीनः स्वर्गः केन कर्त्तुं शक्यते । शक्रोऽवग्—पूर्वेन्द्रा अशक्ता स्वर्गं कर्त्तुमह तु समर्थोऽस्मि । ततः सुरा जगु —स्वामिन् ! पूर्वं मर्त्यलोक विलोकय पश्चात्स्वहित कुर्या । तत इन्द्रो मर्त्यलोकं द्रष्टु गतः कस्मिंश्चिद्वने अर्कतरुमूले लोमशनामा ऋषिस्तपस्तप्यमानो दृष्टः, तत इन्द्रोऽवग्–कथ मढीं विना तपनातप सहसे । ततः ऋषिरवग्–चतुर्दशचतुष्किकासु गतासु ममैक रोम पतति, एवं पतति केशे यदा यदा कोटी रोम्णां पतिष्यति तदा मे पञ्चत्व भविष्यति । तदा [किमर्थं] मढ्यादि-स्थानमोहो विधीयते मया । तत इन्द्रो दध्यौ–अस्य यतेरग्रे ममायुस्तुपारलवमात्रमतः स्वर्गकरणे को मोहः । ततो निवृत्त इन्द्र स्वस्थान गत । इति लोमशऋषिकथा अनित्यताया लौकिकी ॥१०८॥

[109] अथ उच्छिष्टपुष्पचटापने मातङ्गसुतकथा ।

धगया पतितं पुष्पं, देवस्य पुनरेव न ।
चटाप्यं विदुषा सोऽपि, उच्छिष्टो जायते भुवि ॥१॥

कामरूपपत्तने मातङ्गकुले दन्तयुक्त पुत्रोऽजनि । मातङ्गो नष्टः । मात्रा बहिर्यात्वा स पुत्र-स्त्यक्त । इतश्च राजपाटिकायां गतेन स दृष्टः परिजनैर्ग्राहित , राज्ञा वृद्धिं प्रापितः। अन्ते तमेव पालि-तपुत्र राज्ये न्यस्य राज्ञा दीक्षा गृहीता। काले ज्ञानी सजातः। पुत्रबोधार्थं स आगत । तत्र वन्दनार्थं राजापि गत॰ । सा मातङ्ग्यप्यायाता त वन्दितु, ता दृष्ट्वा राजा हृष्टः । तदा पुत्रस्नेहतो मातङ्ग्या पुत्रो ज्ञात । राजापि तन्मुख वीक्ष्य मुने पार्श्वे पृष्ट–मद्दर्शनान्मातङ्ग्या॰ प्रस्रवः कुतो हेतुरिति। मुनिनोक्त—हे राजन् ! एपा मातङ्गी तव माता, मया त्व बहिःपतितो लब्धः, अपुत्रिणा सता राज्य दत्त, नृप॰ प्राह्—केन कर्मणा एतन्मम कुल केन कर्मणा च राज्य? मुनिनोक्त—पूर्वभवे त्व श्रीमान् व्यवहारी विवेकी च ।

एकदा श्रीजिनेन्द्र पूजयत सुगन्धिपुष्प पद्मासनोपरि पतित, तत्सौरभ्यमिति ज्ञात्वा

पुनरपि बिम्बे चटापितं अस्नातेन, तेनैव कर्मणा मलिनंपापमर्जितं, जातिस्मरणं—पश्चाद्भवस्मरणं दीक्षा गृहीता स्वर्गं गतः ॥ इत्युच्छिष्टपुष्पचटापने मातङ्गसुतकथा ॥१०९॥

[110] अथ धर्मपरीक्षायां सोमवसुदृष्टान्तः ।

धर्मो विवेकिना विचार्य ग्राह्य सोमवसुवत् । तथाहि—

कौशाम्ब्या दुःस्थो जन्मना सोमवसुविप्रोऽभूत् । क्रमाद् धर्मार्थ्यजनि चिन्तयति-धममह परीक्ष्य कुर्वे । धर्मो कुलजातो न स्यात्, ततो दर्शनानि विलोकमान क्वापि मते परिव्राजं धर्मं पप्रच्छ । मद्गुरुणा धर्मत्रिपद्युक्तेति—

'मिट्ठ भुंजेअव्वं, सुहं साअव्वं, लोअप्पिओ अप्पा कायव्वो ।'

अर्थमकथयित्वा एव गुरु स्वर्गं प्राप । ततश्चाह स्वबुद्ध्या मिष्टान्न भुञ्जे । लोकेभ्यः कारयित्वा मन्त्रौषधादिना लोकप्रियो भवामि । मृदुशय्याया सुखं शये ।

सोमवसुश्चिन्तयति-मिष्टान्नभोजनमन्त्रतन्त्रज्योतिष्कादिप्रकाशनेन धर्मो न भवति किन्तु पापमेव विप्रोक्त धर्मं श्रुत्वा पुनरपि अन्यत्र साधुपार्श्वं त्रिपद्यर्थं पृच्छति । सोऽवग्-साधु' एकान्तरे भोजने मिष्टान्न, स्वल्पनिद्राया सुखशयन, निरीहत्वे लोकप्रियत्व । सोमवसुर्दध्यौ-मार्गानुयाय्यसौ पुनस्त्रिलोचनमन्त्रिपार्श्वे त्रिपद्यर्थं पप्रच्छ, सोऽपि प्राह—अह जाने परमभाग्यात्कर्तुं न पारये, अकृताकारितानुमतिभोज्य परमार्थतो मृष्ट सुखदानात् अग्रत सुगतिदानात्, विधिना स्वल्पनिद्रायां सुखशयन, महानिरीहत्वे लोकप्रियत्व, विश्वस्यापि स वल्लभो भवति द्विजस्तत्वज्ञानात् हृष्टो गच्छन् पञ्चसमितित्रिगुप्तियुतसाधुसमीपे क्रियमाणा त्रिपदीमपि श्रुत्वा प्रवव्राज । एव विचार्य धर्मतत्वं ग्राह्यम् । इति धर्मपरीक्षायां सोमवसुदृष्टान्तः ॥११०॥

[111] अथ कुत्सितकर्मविषये सागरश्रेष्ठिकथा ।

चेइअदव्वं साहारणं च, जा दुहइ समाहियमईओ ।
धम्मं च सो न याणइ, अहवा वद्धाउओ नरए ॥१॥
भक्खेइ जो उवक्खेइ, जिणदव्वं तु सावओ ।
पुण्णहीणो भवे सो उ, लिप्पए पावकम्मेण ॥२॥

अत्र सागरकथा—

साकेतपुरे सागरश्रेष्ठी परमार्हत स च देवद्रव्यचिन्ता करोति । उक्त च श्राद्धै चैत्य-कर्मकृता यथायोग्य कृतानुसाराद् धन देय, स तु सूत्रधाराणा रोक्यद्रव्य न दत्ते, किन्तु स्वगृह-सम्बन्धि गुडघृतादिमहार्घाणीति प्रोक्त्वा (च्य) दत्ते । एव कुर्वता तेन एका काकिनी भक्षिता, ततस्तेन पापमर्जितं बहु । तत्पापमनालोच्य मृतो जलमानुषोऽभूत् ततो मृतस्तृतीयश्वभ्र ययौ ।

उक्तं च—

देवद्रव्येण या वृद्धि—र्गुरुद्रव्येण यद्धनम् ।
तद्धनं कुलनाशाय, मृतोऽपि नरकं व्रजेत् ॥३॥

श्वभ्रान्निर्गतः स मत्स्योऽभूत्ततश्चतुर्थ्यां भुवि एकादिभवान्तरे सप्तसु श्वभ्रेपु बभ्राम । यदाह—

भक्खणे देवदव्वस्स, परत्थिगमणेण य ।
सत्तमं नरकं जंति, सत्तवाराउ गोयमा ॥४॥

ततः एका काकिनी देवद्रव्यभक्षणात् सहस्रवारान् गर्त्ताशूकरोऽभूत् । एव १००० शशक-शृगाल-मार्जार-मूषक-वृषभ-करभ-वेसर-तुरङ्ग-गजादिषु समुत्पद्य समुत्पद्य सक्षमितान् भवान् पूरयामास । एव पृथ्व्यादिषु लक्ष-भवान् बभ्राम, सर्वत्र कुशस्त्रेण क्वचिदग्निना मृतः । तत क्रमात् क्षीणकर्मा वसन्तपुरे दत्तेभवसुमस्यो पुत्रो जातः । तस्मिन् गर्भस्थे धन नष्ट, जन्मदिने जनको मृतः, पञ्चमेऽब्दे माताऽपि विपेदे लोकैर्निःपुण्यक इति नाम ददे, रङ्कवृत्या जिजीव ।

अन्यदा स्नेहलमातुलेन दृष्ट, आनीतश्च स्वगृहे । रात्रौ मातुलगृह चौरैर्मुपितमेव यस्य वेश्मनि एकमपि दिन तिष्ठति तद्गृह चौराग्निप्रभृतिविघ्नेन भस्मीभवति । तत "कपोतपोतोऽय ज्वलती गड्डरिका च मूर्तिमानुत्पातो वा" इत्यादि लोकनिन्दयोद्विग्नमना गतो देशान्तर ताम्रलिप्तीं पुरीं गत स्थितश्च विनयधरेभ्यगृहे भृत्यवृत्त्या ज्वलित च तद्दिने एव तद्गृह निष्कासितश्च । तत. स्व कर्म निन्दन् स्थाने स्थाने बभ्राम, यत --

कम्मं कुणति सवसा, तस्सुदयमि अपरव्वसा हुंति ।
भरहं रुहइ सवसो, निवडेइ परव्वमो तत्तो ॥५॥
गन्तव्यं नगरशतं, विज्ञानशतानि शिक्षितव्यानि ।
नरपतिशतं च सेव्यं, स्थानान्तरितानि भाग्यानि ॥६॥

एव ध्यात्वा वाहनचटितो भृत्यभावेन धनावहसांयात्रिकेण साकं परद्वीप गत । दध्यौ च तत्र–अहो ! उद्घटित मम भाग्य यन्मयाऽऽरूढेन यान न भग्नम्, अथवा विधेर्विस्मृतं धनावहो यान वस्तुभिर्भृत्वा चलित मार्गे यान भग्न । नि पुण्यकस्य फलक हस्ते चटितं तीरं प्राप्तः । अब्धितीरस्थग्रामेशस्य सेवा करोति । धाट्याऽन्यदा निपातितो ग्राम-ठक्कुरः तत्पुत्रबुद्ध्या निःपुण्यको बद्ध्वा नीतस्तै पल्ल्या, तस्मिन्दिने पल्ल्यप्यन्यपल्लीशेन भग्ना, ततस्तै–श्चौरैरपि नि पुण्यक इति कृत्वा निःकाशितः, एवमेकोनसहस्रवारान् स्थाने स्थाने दु ख प्राप ।

अन्यदा स यक्षप्रासादे गत स एकाग्रमना यक्षमारराध । २१ उपवासैर्यक्षस्तुष्टोऽवग्-सन्ध्यायां मम पुर स्वर्णचन्द्रकयुतो मयूरो नृत्य करिष्यति तस्य स्वर्णमय पिच्छ दिन दिन प्रति ग्राह्य ततस्तेन स्वणमयानि बहूनि पिच्छानि गृहीतानि । एकदा ध्यात, सदा क एकैक पिच्छ गृह्णाति । मयूरमेव गृह्णामि एव ध्यात्वा यावन्मयूर गृह्णाति तावन्मयूरोऽन्यमयूरतुल्यो भूत्वा काको भूत्वा च नष्टः, गृहस्थानि पिच्छानि गतानि ।

ततो गुरुपार्श्वे देवद्रव्यभक्षणसम्बन्धं श्रुत्वा तपस्तप्त्वा दीक्षाग्रहणात्सर्वकर्म्मणः क्षयं कृत्वा मुक्तिं ययौ । इति कुत्सितकर्मविषये सागरश्रेष्ठिकथा ॥१११॥

[112] अथ ७२ देवकुलिकासु ध्वजा दत्ता ।

एकदा तेजःपालमन्त्री भृगुपुरे ययौ । तदा शकुनिकाविहारे आम्बडमन्त्रिकृतोद्धारे स्नात्रं कुर्वाण इदं काव्यमश्रृणोत्—

तेजःपालकृपालु धर्मविमलप्राग्वाटवंशध्वज—
श्रीमानाम्बडकीर्तिरद्य वदति त्वत्संमुखं मन्मुखात् ।
आजन्मावधि वंशयष्टिकलिता भ्रान्ताहमेकाकिनी,
बद्धा सम्प्रतिपुण्यपुञ्जमभवतः सौवर्णदण्डस्पृहाः ॥१॥

इति श्रुत्वा मन्त्री आम्बडदेवविहारे सप्ततिशतदेवकुलिकाः सुवर्णदण्डयुतान् कलशान् तदैव व्यधात् । भृगुकच्छस्थाम्बडविहारे (इति) आम्बडप्रासादे तेज.पालो मन्त्री ध्वजं ददौ-इति भृगुपुरे शकुनिकाविहारे तेजःपालमन्त्रिणा ७२ देवकुलिकासु ध्वजा दत्ता ॥११२॥

[113] अथ अन्नदानैः पयः सम्बन्धः ।

कश्चिद्दूराद् भट्ट आगात् वस्तुपालमन्त्रिणं याचितुं, तदा मन्त्री जगौ—'उपविश्यताम्' ।

भट्टोऽवग्—अन्नदानैः पय.पानै-र्धर्मस्थानैश्च भूतलम् ।
यशसा वस्तुपालेन, रुद्धमाकाशमण्डलम् ॥१॥

सप्तवारकथनेन सप्तलक्षद्रव्य दापित मन्त्रिणा । अन्नदानैः पय पानैरितिसं०७ लक्षदानम् ।

इति अन्नदानैः पयः सम्बन्धः ॥११३॥

[114] अथ औदार्ये वस्तुपालसम्बन्धः ।

स्नेहः साधुजनेन भोजनविधौ वासः कुटीकोटरे,
देहस्यावरणे न पुण्यमधिकं, नेत्रे न कोशोच्चयः ।
अर्थः सूत्रितनव्यकाव्यनिकरे ग्रन्थो [न्थे] न मन्त्रीश्वर—
स्याद्वृत्तिः पठनेन जीवनविधौ प्रायः कवीनां कलौ ॥१॥

अस्य कर्त्तुः ३ लक्षदानम् । इति औदार्ये वस्तुपालसम्बन्धः ॥११४॥

[115] अथ वनकपुष्पोत्कृष्टतासम्बन्धः ।

एकदा गुरोः पार्श्वे श्राद्धैः पृष्ट—भगवन् ! सर्वेभ्य. पुष्पेभ्य. किं पुष्पमुत्कृष्टम् ? गुरुभिरुक्त वनकपुष्पमुत्कृष्टम् । श्राद्धैरुक्तम् एव किं प्रोच्यते ? गुरुभिः प्रोक्तं—वनकतरोः पुष्पात्कर्पासो भवति, कर्पासाद्रूतं, रूतात्सूत्रं, सूत्राद्वयं वस्त्रं भवति । वस्त्रेण जिनप्रासादे ध्वजा दीयन्ते,

चक्रिणो महान्तो राजानो गुरवश्च परिदधति । तत' वस्त्रमतो वनक-पुष्पमुत्कृष्टम् ।

इति वनकपुष्पोत्कृष्टतासम्बन्धः ॥११५॥

[116] अथ शिवप्राप्तिसम्बन्धः ॥

गुरुभिरुपदेशो दत्त.-घटशब्देन देह. कुम्भश्च प्रोच्यते । तद्यथा कुम्भकारगृहकुम्भाः सामान्य मध्यमोत्कृष्टपुरुषैर्गृहीताः एके मद्येन भृता, एके जलेन भृता, एके कर्पूरादिवर्यपानीयभृता । ततश्चाधममध्यमोत्कृष्टवस्तुभिर्भ्रियन्ते । तथा देहघटाः पाप-पापापाप-पुण्यैर्भ्रियन्ते । एव ये पुण्येन देह भरन्ति ते मुक्तिगामिनः । ये पापापापैर्भरन्ति देह ते कदाचित्सुखिन कदाचिद्दुःखिन. । ये पापैर्भरन्ति देहघटं ते चिरं श्वभ्रादिदु ख लभन्ते । कुम्भा अपि एवं ज्ञेया ।

इति देहघटार्जनपाप-पापापाप-पुण्य-श्वभ्रगति-दुःखादुःखशिवप्राप्तिसम्बन्धः ॥११६॥

[117] अथ बुद्धौ चाणिक्यसम्बन्धः ।

नन्दभूपस्य चाणिक्यो मन्त्री बभूव । स्तोक कोश वीक्ष्य राजा खिन्नोऽभूत् । तदा राजमनो ज्ञात्वा चाणिक्येन महेभ्या याचिता प्रोचु. अस्माकं धनमर्प्पणयोग्य नास्ति । ततश्चाणिक्येन सर्वे महेभ्या भोजनाय निमन्त्रिता वराहार भोजिता, ततो मदिराः पायिताः पत्रादि दत्त्वा चित्रशालाया शायिताः, परिणताया मदिरायां एको धनोऽवग्-मम गृहे सप्तकोट्यो हेम्नां सन्ति । अन्योऽवग्-तव गृहे स्तोका मम गृहे एकादश कोट्य' । एके त्रिंशत्, एके चत्वारिंशत्, एके षट्पञ्चाशत् इत्यादि जजल्पुः । एक. प्राहाह स्वर्णेन गङ्गाप्रवाह बध्नामि । एक प्राह-मम गृहे सत्कगवां दुग्धेन गङ्गाप्रवाह स्खलयामि । एकः मम गृहस्थघृततैलादिभिः गङ्गाप्रवाह र ामि, एकोऽवग्-धान्यमूढकानां कोटिरस्ति, इत्यादि स्वस्वधनसख्याकारिता इभ्याश्चाणिक्येन साक्षिणश्च कृताः, ततस्तेभ्यो धनं लात्वा राज्ञः कोशः कृतः ।

इति बुद्धौ चाणिक्यसम्बन्धः ॥११७॥

[118] अथ दुष्करतपस उपरि सूरिकथा ।

श्रीपुरे धनेश्वरसूरयश्चतुर्मासीं स्थिताः । गुरुरुपवासं कर्त्तुं न शक्नोति । अन्यदा पर्युषणापर्व समायात ।साधवोऽन्येऽपि श्राद्धा अपि षष्टाष्टमादितप' कुर्वाणा अभूवन् । तदा सूरिर्दध्यौ-मयोपवासः कर्त्तुं न शक्यते तथापि अद्योपवास करोम्येव ध्यात्वेति सूरि प्रथमं पौरुषीं चकार । तत सार्द्धं पौरुषीं तत पुरिमार्द्धं तत अपार्द्धमत्रान्तरे साधवो जगुर्भगवन् ! वयमन्नमानयामः, पार्यतां वारा [?] क्रियतां । गुरुभिरुक्तम्-अद्योपवास एव, ततः सन्ध्याया प्रतिक्रान्तिः कृता । सस्तारकविधि भणित्वा गुरुणा सस्तारितं, तदा बुभुक्षया गुरूणा निद्रा नायाति, मध्यरात्रौ, सूरिः प्राह-भो साधव ! उत्सूरं जायमानमस्ति अन्नमानीयतां । साधवो जगुः—अद्यापि (अधुना) रात्रिर्विद्यते, सूर्य उद्‌गतो नास्ति, शङ्खवादकेन शङ्खोऽपि वादितो न (ना · स्ति), कूर्कुटा अपि न शब्दिताः सन्ति, मध्यरात्रिर्विद्यते अतोऽधुना विहर्त्तुं गन्तु न शक्यते, लोका अपि : सन्ति ।

सूरि् प्राह—शङ्खोऽम्भोधेः पितु (अम्भोधिं पितर) मिलितुं गतः, सूर्यस्य तु रथो भग्नः, कूर्कटा अप्यन्यत्र गताः नभसि गता, यत —

उयहिंसरेविण संख गय, कुक्कड गया नहंसि ।
रह भग्गो सूरहत्तणओ, तेण न विहाइ रत्ति ॥१॥

आकर्ण्येति साधवो जगुः—यदमुणा प्रोच्यते तत्सत्यमेव, परं बुभुक्षालग्नो किं न करोति ।

यतः—पञ्च नश्यन्ति पद्माक्षि, क्षुधार्त्तस्य न संशयः ।
तेजो लज्जा मतिर्ज्ञानं, मदनश्चापि पञ्चमः ॥२॥

एतत् श्रुत्वा सूरिः प्राह—

मया बुभुक्षया जल्पितं मिथ्यादुष्कृतमस्तु । ततः सूरिर्हृदयं दृढं कृत्वा प्रभातं नीतवान् ततः पौरुषीं यावत्स्थितः । ततः पारितं प्रत्याख्यानं सूरिर्बुभुजे । तदा सूरिणा तपसा तेन मुक्तिगमनयोग्यं पुण्यमर्जित, ततः सदा स्तोकं स्तोकं तपो वर्धयन् सूरिरेकान्तरमुपवासान् कुर्वन् केवलज्ञानं प्राप मुक्तिं गतः । एवं दुष्करतपस उपरि सूरिकथा ॥११८॥

[119] अथ धर्मकर्त्तव्ये वत्सदृष्टांतः ।

श्रीपुरे श्रीदश्रेष्ठिगृहे पुत्रस्य विवाहे जायमाने वत्सस्य चारिं विश्राणयितुं विस्मृता । ततो मध्याह्नातिक्रान्ते पक्वान्नादिषु दृष्टी (ष्टिं) अददानश्चारिं प्रति दृष्टी (ष्टि) ददानो रुदितुं लग्नो वत्सः ततस्तं रुदन्त दृष्ट्वा स्नुषया दयया चारिर्विश्राणिता तस्मै स च वत्सश्चारिं चरन् सुखी जात । एवं जीवोऽनिशमधर्मे दृष्टिमददानो धर्मे दृष्टिं ददान सुखी स्याद्वत्सवत् ।

इति धर्मकर्त्तव्ये वत्सदृष्टान्तः ॥११९॥

[120] अथ असारविषये श्रीधरश्रेष्ठिकथा ॥

श्रीमपुरे श्रीधरश्रेष्ठी धनार्थं व्यवसायं कुर्वन् रात्रिन्दिवा विश्रामं न लाति स्म । धनं मिलित बहु सप्तति वर्षाणि जातानि, धनं धनं कुर्वन्नधिक जीवित वाञ्छति स्म । बह्वी नार्यः परिणीतवान् ततस्तृप्तो नाभूत् ।

एकदाहारं पक्वान्नादिक भक्तं पश्चात्तदेव विष्टा तथा दुर्गन्धं ज्ञात्वा जगौ श्रेष्ठी ।

धनेषु जीवितव्येषु, स्त्रीषु चाहारकर्म्मसु ।
अतृप्ताः प्राणिनः सर्वे, याता यास्यन्ति यान्ति च ॥१॥

एवं सर्ववस्तुपरिग्रहादिक चासार मत्वा सर्वं त्यक्त्वा संयमं लात्वा स्वर्गं गतः । ततो मुक्तिमपि बहुषु भवेषु यास्यति इति असारविषये श्रीधरश्रेष्ठिकथा ॥१२०॥

[121] अथ संसारासारतायां धनकथा ।

श्रीपुरे धन.श्रेष्ठी प्रातरुत्थायोत्थाय ध्यायति स्म । अद्य मम यानं श्रीयुतं समायाति । याने समागते हृष्टो दध्यौ, वस्तु तत् विक्रयितुं रात्रिदिवा विश्रामं न लाति, वस्तु विक्रीय

वाहनपुरणार्थं वस्तु गृह्णन्नपि न विश्रामयति स्म । चलितेऽम्बुधौ याने भग्ना चिन्ता चौर-चिन्ता समर्थमहार्थचिन्ता, एव ध्यायन् स दध्यौ—

विन्दुनाऽप्यधिका चिन्ता, चितायाा इति मे मतिः ।
चिता दहति निर्जीवं, चिन्ता जीवन्तमप्यहो ॥१॥

इति ध्यात्वा श्रेष्ठी ससारमसारं मत्वा दुःखमय च धन धर्मे व्ययित्वा चारित्र गृहीत्वा स्वर्गं गतः । इति संसारासारतायां धनकथा ॥ १२१ ॥

[122] अथ धर्मविषये जीवपालादिकथा ।

श्रीपुरे श्रीपालभूपपुत्रो धनदेवो राज्य चकार । स च गुरुवचः श्रुत्वा जिनधर्मं चकार ।

एकदा राजा धनदेव पुरोद्याने गतः, तत्र चतुर्ज्ञानिनं जीवपालाह्व गुरु दृष्ट्वा प्रणम्य धर्मोपदेश श्रोतुमुपाविशत्, अत्र धर्मोपदेशो ज्ञेय ।

अत्रान्तरेऽकस्माद्देवद्वय दिव' समेत्य गुरोरुभयोः पार्श्वे चामरे ढालयत' स्म । गुरुणोक्त—साधूनां चामरढालन न युक्त । वारितौ देवौ न तिष्ठतः स्म । ततो राज्ञा धनदेवेन पृष्टं—भो देवौ ! युवाभ्यां कुत किमर्थमागत । गुरोरेव च सेवा किमर्थं क्रियते । देवा तूचतु'—गुरव एव कथयन्ति । आवयोर्गुरोरग्रे जल्पन न युक्त । ततो राज्ञा पृष्टा गुरवो जगुः—

अस्मिन्नेव पुरे श्रीदेवपालो राजाऽभूत्, मतिसागरो मन्त्री च । चन्द्रदेव श्रेष्ठी द्वादश-व्रतधारको धर्मं करोति स्म । स च श्रेष्ठी कस्यापि न्यासीकृत वस्तु नापलपति स्म । राजमान्यः ख्यातोऽभूत् ।

एकदा कलापुरवासी रत्नो वणिग् रत्नद्वीपे रत्नदशकमुपार्ज्य यानारूढस्तत्र पुरे समागात् । ततश्चन्द्रदेव परद्रव्यपराङ्मुख ज्ञात्वा रत्नग्रन्थि न्यासीकृत्य पुनर्धनार्जनाय कुकणद्वीपे ययौ । तत्राल्प धनमुपार्ज्य पश्चादागतो चन्द्रदेव रत्नः स्वधन याचते स्म ।

श्रेष्ठी जगौ–कस्त्व, केन न्यासीकृत, कः साक्षी ? रत्नोऽवग् त्वमह साक्षिणौ, त्व तु दृष्टा-दृष्टं' अन्यत्र मुक्तमन्यत्र विलोकयति । रत्नो जगावह न भ्रान्त, भवानेव भ्रान्त' । यदन्यदीय धन लात्वाऽपलपसि । ततो रत्नो ग्रथिलो भूत्वा रात्रौ हट्टाग्रे सुप्तो जल्पति, मम रत्नानि चन्द्रदेवोऽपललाप कोऽपि वालयितात्र मन्त्र्यादिर्नास्ति । एवं रात्रौ जल्पन्त द्वित्रिदिनेषु दृष्ट्वा मतिसागरो मन्त्री पप्रच्छ त, भो कथय पुरुष ! तव किं गत, केन धन हृतं, ग्रथिलोऽभूः कथ ? सोऽवग्—गते धने को ग्रथिलो न भवति, यत —

एकस्यैकं क्षणं दुःखं, मार्यमाणस्य जायते ।
सपुत्रपौत्रस्य पुन–र्यावज्जीवं हृते धने ॥१॥

मन्त्री प्राह:—केन हृतं धनं ? रत्नोऽवग्—चन्द्रदेवेनावलिप्तं धनं, तेन मे शैथिल्यं जातं। मन्त्र्यभाणीत्—कीदृशानि रत्नानि, कीदृशी तद्ग्रन्थि., का तत्र मुद्रा ततस्तेन ग्रन्थेरभिधानादि प्रोक्तं मन्त्रिणोऽग्रे ततो मन्त्रिणा रत्नो राज्ञः मेलित रत्नग्रन्थिगमनादिसर्वं ज्ञापितं राज्ञः।

ततो राजा श्रीपालो दध्यौ-एष श्रेष्ठी चन्द्रदेवः सत्यवादी, परद्रव्यपराङ्मुखः, कथमेवंविध कर्म करोति, तथापि न ज्ञायते मनुष्यस्य मलिनत्वस्वरूपं ढोलस्य पोलत्वं च, तथाप्यस्य धन वाल्यते। राज्ञोऽन्यदा श्रेष्ठी रन्तुमुपवेशितः, रमता श्रेष्ठिना स्वनामाङ्किता मुद्रा हारिता, राज्ञा तु श्रीपालेन श्रेष्ठिपत्नी मुग्धस्वभावा ज्ञात्वा छन्न शिक्षयित्वा स्वसेवक श्रेष्ठिगृहे प्रेषित। स च तत्र गतः। श्रेष्ठिहस्तमुद्रा श्रेष्ठिनामाङ्कितां श्रेष्ठिपत्न्यै दर्शयित्वा प्राह—इमा मुद्रा श्रेष्ठी प्रेषयामास। मन्मुखाच्चावग् मुद्रा स्थाप्या त्वया, सा ग्रन्थि॰ रत्नसत्का प्रेष्या। तया पतिभक्तया मुद्रा सथाप्य रत्नग्रन्थिस्तस्य ददे। स च छन्न राज्ञः श्रीपालस्य शये (शय्यायां) ता मुमोच। राज्ञा तु रममाणेन स्वकोशाद्रत्नग्रन्थी. सप्तर्ति ग्रन्थिमेकत्र कृत्वाऽग्रे मुमोच। राजाऽवग्-रत्नाग्रे तव ग्रन्थिमुपलक्ष्य त्व गृहाण। स च सर्वमभिधानादि प्रोक्त्यावग्-ममायं ग्रन्थिः। ततो राजाऽवग् श्रेष्ठिन्नय रत्नग्रन्थिस्तव गृहादानायित। त्वं तु सत्यवादी, त्वया कथमवलुप्तं अस्य ग्रन्थि परधनहृते श्वभ्रपातो भवति। ततश्चन्द्रदेवः श्रेष्ठी जगौ-मया मौर्ख्यादकर्त्तव्य कृतं, त्वमेव मे गुरुः, अतः पर मयैवविध पाप न कर्त्तव्यमेतत्पापशुद्ध्यै जिनप्रासादो मया कारयिष्यते। रत्नोऽपि रत्नानि प्राप्य प्रासाद कारितवान्, मिथः प्रीतिभाजो जाताः सर्वे। चन्द्रदेवरत्नौ मिथो मिथ्यादुःकृत दत्त्वा प्रीतिभाजौ मृत्वा स्वर्गे सुरौ जातौ। राजा तु मृत्वा भीमपुरे भीमपुत्रो जीवपालाह्वोऽभूत्। स च बालो धर्मं शृण्वन् प्राप्तवैराग्यः सयम लात्वा चतुर्थज्ञानं प्राप्य जीवपालो विहरन्नागात्। स चाहं पश्चाद्भवपिता तव श्रीपालाह्व। इह तु जीवपालो ज्ञानी चात्र ते प्रतिबोधायागाम् चन्द्रदेवरत्नदेवौ ज्ञानेन स्वर्गात्पश्चाद्भवगुरुं ज्ञात्वा मम चामरौ ढालयतश्चामू भक्त्या, श्रुत्वैतद्राजा धनदेव पितरं गुरुं नत्वा सम्यक्त्वमूल द्वादशव्रतरम्यं धर्मं जग्राह। स च राजा अष्टोत्तरशतदेवकुलितायुक्तं जिनप्रासाद कारयित्वा मुख्यस्थाने नाभेयप्रतिमां स्थापयित्वाऽन्यासु देवकुलिकासु त्रयोविंशतिजिनप्रतिमा अतिष्ठिपत् समहं। तस्मिन्प्रासादे जीवपालज्ञानिनः प्रतिमां चामरढालनयुक्तौ सुरौ स्थापयामास राजा। धनदेवोऽपि राजा राज्ये स्वपुत्रं न्यस्य चारित्र लात्वा चतुर्ज्ञानी जातः, तौ देवौ जिनधर्मिणामुपकार चक्रतु तौ देवौ स्वर्गाच्च्युतौ- केलिपुरे महासेनभूपपुत्रौ चन्द्र. सोमाह्वौ अभूतां। तयो पूर्वकर्मयोगात् माता मृता। राजाऽन्यां राज्ञीं पट्टधरां चक्रे। सा च स्वपुत्रस्य राज्यार्थिनी। तयोः कार्मण हन्तु करोति। तयोस्तु पुण्यबलान्न लगति स्म। पापात्सपत्नीपुत्रा स्वय मृताः पुण्यप्रभावाच्चयो राज्य दत्त्वा पिता चारित्र जग्राह। तौ तु न्यायाद्राज्य पालयत. स्म। कर स्तोक चक्रतुः। यत —

अकरे करकर्त्ता च, गोसहस्रवधः स्मृतः।
प्रवृत्तकरछेदे च, गवां कोटिफलं भवेत् ॥२॥

क्रमात्तौ स्वपुत्रयो राज्यं दत्त्वा दीक्षां लात्वा स्वर्गं गत्वा क्रमाच्च मनुष्यजन्म प्राप्य मुक्तिं गतौ। सोऽपि जीवपालो ज्ञानी क्रमात्कर्मक्षयान्मुक्तिं ययौ। धनदेवो भूपोऽपि न्याया-

स्पृथ्वीं पालयन् धर्मध्यानं कुर्वन् त्रिकालजिनार्चां चक्रे। दिनं प्रति एकं सहस्रं श्राद्धान् जेमयामास स राजा। एकलक्षरैमयानि बिम्बानि कारयित्वा तस्मिन्नेव भवे मुक्तिं गतो धनदेवः। इति धर्मविषये जीवपालादिकथा ॥१२२॥

[123] अथ धर्मे लक्ष्मीचन्द्रकथा--पुत्रीद्वयसम्बन्धः।

चन्द्रपुरे लक्ष्मीचन्द्रभूपस्य पुत्रीद्वयं सुन्दरी-श्रीमत्याह्वं। आद्या पितुः कृतं मन्यते, ततः प्रथमा महादेवभूपाय दत्ता सोत्सवं। स च भूपस्तां परिणीय यावत्स्वपुरे गतः।

इतस्तत्र गोत्रिणो भूपालाः समागताः युद्धं जातं। हारितः सपत्नीकश्छन्ननष्टः। वीरपुरे गतः राजा व्यवसायादि किमपि न वेत्ति। पत्नी परगेहे कर्म कृत्वा निर्वाहं चक्रे।

लघ्वी पुत्री श्रीमती निःस्वाय धीराय दत्ता। सा च तं देवमिवाराध्नोति धीरं, स च धीरश्चलन् पद्मपुरे गतः। तत्रापौत्रिको राजा मृतः। पञ्चदिव्यैस्तस्य राज्यं जातं, न्यायाध्वना राज्यं पपाल सः।

अन्यदा श्रीमती पतियुक्तामिन्धनभारमानयन्तीं दृष्ट्वा तावत्तत्राकारयामास सा भगिनीं लज्जमाना यदा न जजल्प तदा भगिन्योक्तं भगिनि! कर्मतः कोऽपि छुट्टति, त्वया तु पितुः कृतं मन्यते। ततः सा स्वराज्यगमनस्वरूपं प्राह–ततो भगिनीपतये वर्यावासो दत्तो वर्यवस्त्रान्नादि च।

इतो लक्ष्मीचन्द्रभूपो निःस्वस्य राज्यं जातं श्रुत्वा तत्रागात्। जातं युद्धं, लक्ष्मीचन्द्रं बद्धं पत्या दृष्ट्वा श्रीमती मोचयामासात्मनः स्वरूपं जगाद च तात! त्वया आत्मकृतं स्थापितं, मया तु कर्मकृतं, यया पुत्र्या सुन्दर्या तव कृतः प्रसादो मानितः सा राज्यात्ताजितात्रागता सती मया सन्मानिता। अहं च कर्मवशादीदृग् राज्यभागभवम्। ततो लक्ष्मीचन्द्रः स्वपुरमभ्येत्य सर्वं सुखदुःखादि कर्मकृतं मन्यते स्म। यतः—

सुखदुःखानां कर्त्ता, हर्त्ता च कस्यचित्कोऽपि नो जन्तोः।
इति चिन्तय स्वबुद्धया, पुराकृतं भुज्यते कर्म ॥ १ ॥

क्रमाद्राज्ञो लक्ष्मीचन्द्रस्य सुन्दराह्वः पुत्रोऽभूत्। सुन्दरो धर्मं श्रुत्वा जीवहिंसानिषेधं चक्रे।

एकदा सुन्दरः पुराद्बहिरुद्याने स्थितः एकं पथिकं मार्गे यान्तं पप्रच्छ। कुतः आगतस्त्वं कुत्र यास्यसि? सोऽवग्–यन्मम जातं तत्कथयितुं न शक्यते। सुन्दरोऽवग्–कथय। पान्थः प्राह–नवसारीतोऽहं यानारूढो भीमवणिक्पुत्रः सोमाह्वो वार्द्धौ चचाल। क्रमाद्वातेनाहतं गिरौ यानं, भग्नं फलकं चटितं मम हस्ते तेन फलकेनाहं जलधिमध्यस्थशैलं सिंहगिरिं प्रापम्। तत्र फलाहारं करोमि। तत्रासन्नदेशे वादित्राणां धूमधमाट श्रुतः। अकस्माज्जलं दूरे स्थितमेकं आवासः सप्तभूमिगृहयुतो दृष्टः। तत्र गवाक्षोपरि एका कन्योभयपार्श्वचामरढालनपरा नारीद्वययुता दृष्टा। ताभ्यां चामरधारिणीभ्यां प्रोक्तं–यदि ते साहसं स्यात्तदाऽत्रागत्येमां कन्यां वर। तत्र यदा यातुमुत्थितोऽहं तदा ज्वाला निर्गता। ततोऽहं भीतः, पश्चात्स्थितः मुहूर्त्तादनु तद्गृहं

जलमध्ये गतं। एवं मासद्वयं मया तत्र दृष्टं परं मया साहसं न कृतं। तत्रस्थौ भारण्डपक्षावालम्ब्य चम्पकद्वीपोद्याने समागत. स भारण्ड त्रास्थात् ततोऽहं यानारूढोऽत्रागा, सौवपुरे यास्यामि। राजपुत्रेणोक्त-तत्र किमर्थं गम्यते स प्राह-मातापित्रोर्मिलनार्थं। राजपुत्र सुन्दरस्तेनोक्तविधिना तत्रागतः तथाऽत्राकस्माद् घुमघुमशब्दः समुद्रमध्यान्निर्ययौ। ततो महानावास' तस्मिन्गवाक्षे पाथप्रोक्ता कन्या समागता। चामरधारि(णी) भ्यामुक्तं यदि साहस स्यात्तदात्रागच्छ। सुन्दरो यावत्तत्र यातुमुद्यतोऽभूत्तदा ज्वाला निर्गता। कुमारः साहस कृत्वा तत्रागतः आवासश्च पातालेऽम्बुधौ गतः। चामरधारिणीभ्यां प्रोक्तं-तव भीर्नास्ति। सुन्दरोऽवग्-अहं न बिभेमि कुतोऽपि। कुमारोऽवग्-का कन्या? कस्य पुत्री? चामरधारिण्येका प्राह-वैताढ्याद्रौ मेघरथोऽथ विद्याभृत्पुत्री परिणयनयोग्याऽभूत्तेन नैमित्तिकः पृष्ठः तेनोक्तं-लक्ष्मीचन्द्रस्य पुत्र सुन्दरकुमार परिणेष्यति। तस्य च परीक्षां कृत्वा दातव्या। ततो जलकान्तमयमावास सगवाक्षं समुद्रमध्ये मुक्तं तत्राधाभ्यां युक्ता पुत्रीयं मुक्ता आहारादि च परीक्षार्थं पतितोज्ज्वालो वह्निर्मुक्तः। उक्त च विद्याभृता-प्रतिदिनं प्रातरावासात् बहिर्निर्गच्छन्ति स्म। साहसी स्यात्स तत्रागत्य कन्या परिणेष्यति।

अत्रान्तरे तत्रैको राक्षसस्तत्रागत्य कन्यां वक्त्रे ललौ। कुमारोऽवग्-मम देह गृहाण, अमुं कन्या मुञ्च। सुरोऽवग्-देहि देहं स्व। तत कुमारो निजमङ्ग ददौ। ततः स प्रकटीभूय प्राह-तुष्टो वरं वृणु। राक्षसोऽवग्-अहं तव साहसं कर्तुमागां। त्वं तु परीक्षायां निश्चलोऽभू राक्षसेन अमोघकारिणी विद्या दत्ता।

इतः कन्यापिता तत्रागात्। सा सुन्दराय ददौ। सुन्दरो निजपितु प्रेषितः। आकाशगामिनी विद्या दत्ता। तत' सुन्दराय लक्ष्मीदत्तो राज्य दत्त्वा स्वर्गे गतः। सुन्दरोऽपि चिरं राज्यं कृत्वा स्वर्गे गतः, ततश्च्युतो मुक्तिं गमिष्यति॥

धर्मे लक्ष्मीचन्द्रकथा-पुत्रीद्वयसम्बन्धः ॥१२३॥

[124] अथ संसारासारतायां वरदत्तश्येनिकाकथा।

कौशाम्ब्यां महीपालो भूपो महोदयगुरुपार्श्वे धर्मं श्रोतुमुपविष्ट, धर्मं कथयता गुरुणा यदा हसित, तदा प्रोवाच-भगवन्! भवता कथं हसितं, हास्यं तु साधूनां न युक्तं, गुरुर्ज्ञानी प्राह—लोकबोधाय। राजा पप्रच्छ-कथ लोकबोधः समलिकायाश्च। गुरुराह-भरतखण्डे-श्रीपुरे धन्यः श्रेष्ठी, तस्य सुन्दरी भार्याऽभूत्, सा चान्यपुरुषासक्ताऽभूत्, स चोपपतिश्चन्द्रोऽवग्-सुन्दरि! अद्यप्रभृति त्वया मम पार्श्वे नागन्तव्य, अहं त्वत्कान्ताद् भूपाच्च बिभेमि। सुन्दरी प्राह-भीर्न कार्या, तथा करिष्येऽहं यथाऽऽवयोर्भीर्न भविष्यति, भर्तृहननात्।

अन्यदा तया दुग्धमध्ये विष क्षिप्त्वा हन्तुं भर्तुर्वाञ्छति। भर्ता जेमनायोपविष्टः। सा चात्र परिवेष्य दुग्धानयनाय गृहमध्ये गता, तावदहिना दष्टा, भर्त्रा औषधानि कृतानि गुणो न जात, भार्या मृता, धन्यो रोदितु लग्न.। लोकैरुक्त पत्न्यां मृतायां कातर एव रौति, न साहसी। ततः स स्थितः। सा च मृता शार्दूलोऽभूत्। धन्यस्तु संयमं गृहीत्वा तपस्तेपे नितरां कायोत्सर्गे स्थितो वने प्राग्भववैरात् व्याघ्रस्तं जघान। ऋषिरच्युते स्वर्गे जगाम। व्याघ्रस्तु तुर्ये

श्वभ्रे, तत स्वर्गाद् धन्यजीव चम्पाया दत्तेभ्यपुत्रो वरदत्ताह्वोऽभूत्, स च पपाठ विद्याः । वैराग्याद् बाल्यादपि सम्यक्त्व लली, दानी विवेकी । सुन्दरीजीवः श्वभ्रान्निर्गत्य भव भ्रमन् वरदत्तगृहे कामुकादासीपुत्रोऽभूत् वञ्चनशीलः "दासीपुत्रेति" नामाऽभूत्, स च वरदत्त शत्रुमिव पश्यति प्राग्भववैरात्, पितरि मृते वरदत्त गृहस्वामी अभूत् स च दासीपुत्र सोदरमिव मन्यते स्म । (दासीपुत्रो) वरदत्तरक्षनाय मनो विना धर्मं करोति स्म त धर्मिष्ठ ज्ञात्वा वरदत्तो जगौ–ममाय भ्राता लोकेऽपि भ्रातृत्वेन प्रसिद्धिरभूत् स च क्रमाद्दासीपुत्रो वरदत्त हत्वा गृहस्वामी स्थातु वाञ्छति, मायया स्व भक्त ज्ञापयति ।

एकदा शयनावसरे विषलिप्तानि नागवल्लीदलानि वरदत्ताय ददौ । वरदत्तस्तु चतुर्विधाहारप्रत्याख्यानं कृतं स्मृत्वा उच्छीर्षे मुक्त्वा सुप्तः, वरदत्त प्रातर्नमस्कारपर उत्थाय देवगृहे देवान्नन्तु ययौ ।

इतो वरदत्तपत्न्या हस्ते चटितानि पत्राणि तया तु आवासाग्रे भाजने मुक्तानि, तानि दासीपुत्रो लात्वा भुक्तवान्, मूर्च्छितो भूमौ पपात, वरदत्तेनोपचाराः कारिता, क्रमान्मृत, स च वरदत्तो भ्रातृमृते दुखी बभूव न सुख शेते भुङ्क्ते । लोकै शोक उत्तारित, क्रमादुत्पन्नवैराग्यः वरदत्तो दीक्षा लात्वा विनयतपःपर प्राप्तचतुर्थज्ञान महोदयमुनिरिति नाम दधानोऽत्रागा भव्यबोधाय, स च दासीपुत्र एषा वृक्षस्था श्येनिका पश्चाद्भवपत्नी मे अतोऽस्या दर्शनान्मम हास्यमागत, तदा सा समलिका प्राग्भवान्स्मृत्वा वृक्षादुत्तीर्य गुरुपादयो पतित्वा क्षमितवती स्वभाषया । गुरुणोक्त–प्राग्भवभार्यां दृष्ट्वा हसित, श्येनिकाऽनशन लात्वा स्वर्गं जगाम । राजादयो बहवो लोका जिनधर्मं प्रपेदिरे, कोध तत्यज्रुश्च ततो निज धन सप्तसु क्षेत्रेषु व्ययित्वा चारित्र गृहीत्वा महोदयमुनिना सम विहार करोति स्म । राजर्षेरपि चतुर्थं ज्ञानमुत्पन्न, महोदयभूपर्षी क्रमात्स्वर्गं गतौ मुक्ति यास्यतः ।

इति संसारासारतायां वरदत्त-श्येनिकाकथा ॥ १२४ ॥

[125] अथ जिनपूजा–जीवदयायां तापस–जिनदासी–कुणालकथा ।

रोहीतकपुरे रोहीतकस्तापसस्तपति स्म, सर्वथा कृपाधर्मं न वेत्ति, क्रमात्तस्य तेजोलेश्याऽभूत् तपसा ।

एकदा तरुतले तस्थौ, तदा वृक्षशाखोपविष्टा बलाका तस्य शीर्षस्योपरि व्युत्सर्जन चक्रे, तदा रुष्टेन तेजोलेश्यया तां भस्मसाच्चक्रे ।

अन्यदा स तापसो भिक्षायै भ्रमन् जिनदासगृहेऽगमत्, तदा तस्य पत्नी जिनदासी कृपावती प्रभो पूजां कुर्वाणा चिर भिक्षां दातु समागता, यावत्तावत्स रुष्टस्तेजोलेश्यया तां भस्मीकर्तुं मुखाद् धूम वमन्नभूत् । तया तेजोलेश्या मुञ्चमान त ज्ञात्वा ज्ञानेनोक्त–भद्र तापस ! नाह सा बलाकाऽस्मि । एतत् श्रुत्वा स चकितोऽवग्–कथं भो भद्रे ! मया हता बलाका वेत्सि ? जिनदासी प्राह—वाराणसीं गच्छ, तत्र कुणाल. अन्तेवासी कथयिष्यति । ततो विशेषाद्विस्मितो वाराणस्यां गत. । यावत्कुणालस्यान्तेवासिनो दृष्टौ पतितस्तापसः तावत्कुणालेन प्रोक्त–भोः–भद्र ! जिनदास्या अत्र प्रेषितः सशयच्छिदे, पुनर्विशेषाद्विस्मितोऽसावपि

चाण्डालः कथमेतज्जानाति ? ततस्तं पप्रच्छ तापसः भो भद्र ! सा जिनदासी त्वं च मच्चेष्टितं कथं वेत्थ ? तस्याश्च प्रभोः पूजां कुर्वतो जीवदयां पालयतोरवधिज्ञानं जातमस्ति तेन ज्ञायते । त्वं तु कुरुषे तपो जीवदयारहितं तेनानया तेजोलेश्यया नरके गमिष्यसि । ततः पश्चात्तापं धरन् तापसः प्राह—सा बलाका मृत्वा कुत्रोत्पन्नास्ति यत्तस्या क्षमयिष्यामि । कुणालोऽवग्—सा बलाका प्रमदवने शुकी जाताऽभूत् तया मुनिवचः श्रुत्वा जिनालये कणिशैः प्रभोः पूजा कृता तेन पुण्येन पद्मपुरे धनस्येभ्यस्य पत्नी धनवत्याह्वा जाताऽस्ति साम्प्रतमेतत् श्रुत्वा तत्र गत्वा तस्याः पादयोः पतित्वा तापसः प्राह—क्षमस्व पुण्यवति ? मयि कृपां कृत्वा, साऽवग्—क्व मम त्वया सह्यापराधोऽभूत् ? तापसोऽवग्—मया तव बलाकाभवे त्वं मया हता । साऽवग्—एतत् त्वया कथं ज्ञातं ? सोऽवग्—जिनदासी-कुणालमातङ्गमुखात् । ततस्तस्या अपि जातिस्मृतिरभूत् तापसस्यापि च ततस्ताभ्यां मिथः क्षमितं । ततस्तापसो जैनीं दीक्षां लात्वोग्रं तपः कृत्वा सिद्धः । जिनदासी-कुणालौ सिद्धौ, बलाकाजीवः धनवती धर्मं कृत्वा स्वर्गं गता ।

इति जिनपूजा-जीवदयायां तापस-जिनदासी-कुणालकथा ॥ १२५॥

[126] अथ कूटजल्पने कथा ।

मानाद्वा क्रोधाद्वा, लोभाद्वा यदि वा भयात् ।
योऽन्यायमन्यथा ब्रूते, स याति नरकं नरः ॥१॥

तथाहि—वने तित्तिरश्चुण्यर्थं गतो यदा, तदा तित्तिरस्याश्रये शशकः समेत्य स्थितः । तित्तिर आगत्यावग्—ममायमाश्रय, कथं त्वमत्र स्थितः ? शशकोऽवग्—मदीयोऽयं । मिथो विवादे जाते एक पुमान् प्राह—गङ्गातटे गच्छेतां, तत्र केदारकङ्कणौ दधानो हस्तयोर्धर्ममूर्त्ति-र्मार्जारोऽस्ति स भवतोर्विवाद स्फेटयिष्यति । ततस्तत्र गतौ स्वं स्वं सम्बन्धं जजल्पतु । तेनोक्तम्—अग्रे तिष्ठतां युवाम् विवादो भङ्क्ष्यते । ततो यदा तौ अग्रतस्तस्थतुः तदा द्वावपि कूटजल्पकौ । इति प्रोच्य क्षुधातुरो मार्जारः केदारकङ्कणभृत् एकेनाह्निणा तित्तिर, द्वितीयेन शशकं हत्वा तृप्तोऽभूत्, ततो मृत्वा नरके गतः मार्जार ।

इति कूटजल्पने कथा ॥ १२६ ॥

[127] अथ जीवदयायां चारुदत्तकथा ।

चम्पाया भानुश्रेष्ठिसुभद्रयोः पुत्रश्चारुदत्तः शास्त्राण्यपाठीत् । अन्येद्युर्वने वैताढ्यवासिन खगममितवेगाह्व चारुदत्तो ददर्श । ततोऽग्रतो यावद् गत्वा विलोकयति तावत्कीलितं तं खगं दृष्ट्वा दध्यौ, तदा तदसिकोशमध्ये विशल्यामौषधीमद्राक्षीत् । ततस्तदौषधं घर्षयित्वा यावन्निगडे दत्त तावत्स मुत्कलोऽभूत्, प्राह च—अहं वैरिणा खगेन कीलितो, मोचितः ततोऽहमपि तवोपकारं करिष्ये । एवं प्रोच्य स विद्याभृत् स्वस्थानके गतः । ततश्चारुदत्तः परिणीतः क्रमात्कन्याया मुखमपि न वीक्षते । गणिकागृहे मातृपितृभ्यां तत्कलाः शिक्षितुं मुक्तः । मात्रा धनं प्रेषितं द्वादशवर्षाणि तत्रास्थात् । स क्रमाद्धनागमात् वेश्यया कर्षितो यावद्गृहे गतस्तावद्—

गृहं पतितं दृष्ट्वा मातृपित्रोः स्वर्गगमनं च पत्न्याः पितृगृहे गमने (नं) च ज्ञात्वा चारुदत्तो दुःख्यभूत्। ततः श्वशुरगृहे गतः। तत श्वशुरधन लात्वा भीमपुरे व्यवसायार्थं गत'। तत्र धाव्या हृत धनं। ततस्ततो निर्गतो मार्गे स एकं योगिनं ददर्श। योगी जगौ मम सार्थे आगच्छ, मम कथित कुरु तदा तव दारिद्र्य स्फेटयामि। ततस्तेन सहाचालीत्। तेन योगिना मञ्चिकारूढो रसकूपिकायां मुक्तः, रसेन कुम्भो भृत'। क्रमात्स्वर्णरसकुम्भ स्वहस्ते नीत्वाऽधो मुक्तः। योगी त रसकुम्भं लात्वा नष्टः। ततो दिनत्रयक्षुधितो गोधापुच्छयोगेन कष्टात्ततो निर्ययौ। ततो मार्गे गजो मिलितस्ततोऽपि नष्ट'। अग्रे गच्छतस्तस्य मातुलपुत्रो रुद्रदत्तो मिलित। द्वावपि चलितौ, मार्गे रुद्रदत्तोऽवग्—मेषद्वयं गृह्यते, स्वर्णद्वीपे गम्यते, तत स्वर्णमानेष्यते। ततो मेषद्वय गृहीतं समुद्रतटे गतौ। रुद्रदत्त' प्राह—मेषाविमौ हत्वाऽनयोर्भस्त्रिकामध्ये गृहीतक्षुरिकाभ्यां प्रविश्यते। ततो भारण्डा मांसबुद्ध्योत्पाट्य हेमद्वीपे नयन्ति। तत्रस्थं हेममानेष्यते। चारुदत्तोऽवग्—जीववधः पापहेतुः कथं क्रियते? ततो रुद्रेण एको मेषो हतः। ततो यावद्द्वितीयं हन्ति तावच्चारुदत्तेन नमस्कार श्रावितो मेषोऽनशनं ग्राहितश्च ततः सोऽपि रुद्रेण हत। ततो द्वावपि तयोर्भस्त्रिकयोः प्रविष्टौ। भारण्डाभ्यामुत्पाटिते भस्त्रिके मार्गे चारुदत्तभस्त्रिका भारण्डमुखात्पपात सरसि। ततो निर्गतः स स्थाने स्थाने भ्रमन् ध्यानलीन साधुं भक्त्याऽनंशीत्' त दृष्ट्वा साधुना धर्मलाभो ददे, धर्म. प्रोक्तश्च। चारुदत्तोऽवग्–त्वया कथ चारित्र गृहीत? साधुः प्राह—येन त्वया यः खग' कीलितो मोचितः सोऽहममितगति (वेग) विद्याभृत् इत्यादि, यावद्वार्त्तां कुरुतो द्वौ तावद्विमानारूढौ साधुसुतौ खगौ पितुर्नन्तुं तत्रागतौ।

इतश्चैको देवोऽभ्येत्य चारुदत्तं नत्वा साधुं ववन्दे। विद्याभृद्भ्यां पृष्टं भो देव! त्व तु विबुधः, [illegible] मुक्त्वा पूर्वं गृहस्थ' कथ वन्दितस्त्वया। ततो देवोऽवग्–मयका गुरुः प्रथमं वन्दितः। ताभ्यामुक्तं तेऽसौ गुरुः कथं? देवो [illegible]–वाराणस्यां सुलसा–सु [illegible] तापस्यौ विद्याबलगर्विते [illegible] : स्म।

अथ तत्र या [illegible] : परिव्राट् समागात्, तेन सुलसा जिता दासीकृता, क्रमात्तयोः पुत्रोऽभूत्। लोकापवादभिया पिप्पलवृक्षस्याधो मुक्त्वा देशान्तरे गतौ। सुभद्रया प्रातस्तां स्वसखीमदृष्ट्वा पिप्पलवृक्षाधःमुखपतितपिप्पलफलं बालं दृष्ट्वा दध्यौ–मम [illegible] पुत्रो जनितो लोकापवादभिया [illegible]।

ततो लोकाग्रे जगौ–मम गङ्गया बालको दत्तः, इति वदन्ती तं बालकं वर्द्धयामास सा सुभद्रा। विद्यां ग्राहितः। स चानेकान् विद्याविदो वादेनाजैषीत्।

अन्यदा पिप्पलाद वादिन श्रुत्वा याज्ञवल्क्यः सुलसायुतः तत्रागात्। वाराणस्यां पिप्पलादेन याज्ञवल्क्यो जितो दास कृत। तदा सुभद्रापार्श्वे स्वं पुत्र सुलसा ज्ञात्वा पिप्पलाद प्रत्यवग् भो पुत्र! स्वपितुरवज्ञा मा कुरु। ततस्तया तस्य व्यतिकर. प्रोक्तः।

ततोऽन्यदा पिप्पलादो दध्यौ–अग्नौ हुत सर्वं स्वर्गे याति, मम मातापितरौ स्वर्गं नेष्ये, ततोऽश्वमेध–पितृमेधमातृमेधमुखान् यागान् कृत्वा मातापितरौजुहोति स्माग्नौ स। त तथाविध शास्त्राणि बहून् द्विजान् पाठयामास। तथाविधपापशास्त्र प्ररूप्य श्वभ्र पञ्चम गतः पिप्पलाद.। ततो निर्गतो

भवेषु पञ्चसु छागो जातः। यज्ञेषु हुतोऽग्नौ षष्ठभवे चारुदत्तेनानेनानशनं ग्राहितो नमस्कारं श्रावितश्छाग । तन्महिम्ना मृत्वा छागः स्वर्गं गतः। स चाहं देवो ज्ञानेन स्वगुरुं चारुदत्तं मत्वाऽत्रागा। तेन गुरुत्वात्पूर्वं चारुदत्तो वन्दितः पश्चात्साधु । एवं श्रुत्वा चारुदत्तोऽपि दीक्षां जग्राह। ताभ्यां खगाभ्यामपि धर्मः प्रपेदे जैन., ततश्चारुदत्तः स साधु स्वर्गं गतौ क्रमान्मुक्तिं गमिष्यतः । सुलसा-याज्ञवल्क्यौ ससार बहु भ्रेमतुः पापात् ॥

इति जीवदयायां चारुदत्तकथा ॥ १२७ ॥

[128] अथ शकुनविषये आसधीरश्रीमालिककथा ।

माहडकग्रामे चन्द्रश्रेष्ठी धनी तस्य पञ्च पुत्राश्चत्वारो विस्तरेण परिणायिता। पञ्चमं पुत्र देवलाह्व परिणयनयोग्यं श्रुत्वा चन्द्रपुरात् धनो महेभ्यो विवाहं मेलितुं (मेलयितु) स्वपुत्र्या-चम्पावत्या तत्र समागात् । यावच्चन्द्र श्रेष्ठी पुत्रस्य विवाहं मेलयति तावत्पुत्रः प्राह-अहं व्रतं ग्रहीष्यामि। एवं श्रुत्वा धनः खिन्नो यावत्पश्चाचलति तावद्देवेनोक्तम्-अस्य गृहे श्रीमा-लज्ञातीय आसधीरकर्मकरोऽस्ति, स च कल्हरीं कृत्वा शिखरं ददानोऽस्ति, सांप्रतं तस्मै स्वपुत्री देया, तस्मै किं दीयते ? यदा श्रेष्ठी तस्य संमुखं विलोकयति तावदन्येनोक्तं-कल्हरी-निष्पन्ना असौ शिखरं ददानोऽस्ति। सा च कल्हरी शिखरयुता चिरं नन्दिष्यति । एवं श्रुत्वा धनेभ्यस्तस्य विवाहं मेलयित्वा गृहे आगत यदा तदा पत्नी रुष्टा, पुत्रा रुष्टा प्रोचुरेवं-किं कृत, कर्मकराय पुत्री दत्ता। धनोऽवग्-शकुनान् वर्यान् श्रुत्वा दत्ता पुत्री, ततः सर्वेषु स्वजनेषु रुष्टेष्वपि तस्मै स्वां पुत्रीं ददौ । क्रमात्सप्तकोटिहेमस्वामी बभूव । तेनानेके प्रासादा कारिताः, शत्रुञ्जयादिषु यात्राः कृताः, सप्तक्षेत्र्या स्व धनं बहु व्ययितम् ॥

इति शकुनविषये आसधीरश्रीमालिककथा ॥ १२८ ॥

[129] अथ जीवदयायां स्तेनद्वयकथा ।

कर्णपुरे धर्मराजा राज्यं करोति स्म । एकदा कस्यचिदिभ्यस्य गृहे चौरद्वय प्रविष्टं सन् धृत । राज्ञोक्तं-भो चौरौ स्तैन्यं न क्रियते । परत्र दुःखप्राप्तेरिहापि शूलादिदुःखप्राप्तेः । लोकैरुक्त-एतौ पापिनौ हन्येते । राज्ञोक्त-पेटामध्ये प्रक्षिप्य नद्यां प्रवाह्येते । ततो निश्छिद्र-पेटायां स्तेनद्वयं क्षिप्त्वा नद्यां प्रवाहितं । पेटा गच्छन्ती जले षष्ठे दिने श्रीपुरे लोकैः कर्षिता, उत्पाटिता, नृद्वयं दृष्ट । तत्र पृष्टं लोकैः राज्ञा च-युवां केन पेटायां क्षिप्तौ ? ताभ्यां प्रोक्तं-धर्मराज्ञा आवयोः चौर्यदोषेण पेटायां क्षिप्तौ वाहितौ च । राज्ञोक्तं-भवतो पेटामध्यस्थयो कियन्तो दिना जाता ? एकेनोक्तं-इदं षष्ठं दिनं । राज्ञोक्त-कथं दिना ज्ञातास्त्वया ? सोऽवग्-मम तृतीयो ज्वरश्चटति । यस्मिन् दिने ज्वरश्चटितः तत एकवार विचाले ज्वरउच-टितः कल्ये च चटिष्यति । ततो राज्ञा सन्मान्य चौर्यं त्याजयित्वा स्वसेवकौ कृतौ। ग्रामा दत्ता । तौ चौर्यं त्यक्त्वा सुखिनौ जातौ, क्रमात्स्वर्गं गतौ ।

इति जीवदयायां स्तेनद्वयकथा ॥१२९॥

[130] अथ बुद्धौ सूत्रधारकथा।

भोजपुरे सूत्रधारो भूमिगृहे राज्ञा क्षिप्तः, ततः कियद्दिनानन्तरं पृष्टो भूपेन—तव कियन्तो दिना जाता ? स प्राह–दिनत्रयं। राज्ञोक्तं—कथं तत्र रविप्रकाशं विना वासरः ज्ञातः ? सोऽवग्–अहं दिवान्धोऽभूवं, रात्रौ तु पश्यामि, तेन दिनास्त्रयो ज्ञाताः। स च परिधापितो राज्ञा। इति बुद्धौ सूत्रधारकथा ॥१३०॥

[131] अथ बुद्धौ श्रेष्ठिपुत्रीकथा।

कलिपुरे भीमभूपो धनमिभ्यं दण्डयितुकामः प्राह–यस्त्वया प्रासादं कारयितुमारब्धोऽस्ति, तस्य प्रथमं शिखरं कार्यं पश्चादधस्थले बन्धः, नो चेद्दण्डयिष्यसे त्वं। ततः स सचिन्तः पुत्र्योक्तः–तात ! किं दुःखं तव ? इभ्येन भूपोक्ते प्रोक्ते पुत्री प्राह–तथा करिष्ये यथा राजा न दण्डयिष्यति।

ततः इभ्यपुत्री मौक्तिकानि सेतिनकामितानि लात्वा राजगृहे गत्वा भूपाग्रे प्राह–मौक्तिकानि लभ्यन्ते समर्थानि। गृह्यन्तां। राजाऽवग्—कथं लभ्यन्ते ? साऽवग्—स्पर्द्धकेन मानकं दास्यते। ततो राजा मानकमानीय मानकं भक्तुं लग्नः। तदेभ्यपुत्र्यवग्–प्रथमं शिखा क्रियतां, पश्चादधस्तात्। राजा प्राहैवं कथं भवति ? पुत्री प्राह—तर्हि प्रासादशिखरं प्रथमं किमु भवति ? ततो राज्ञा हारितं, सा च सन्मानिता, सा च परिणीता राज्ञा श्रेष्ठिनो बहु ग्रामा दत्ताः। ततः प्रासादो निष्पन्नः, बिम्बं स्थापितम्।

इति बुद्धौ–श्रेष्ठिपुत्रीकथा ॥१३१॥

[132] अथ सामायिकफलविषये स्तेनसम्बन्धः।

श्रीपुरे पद्मश्रेष्ठिनः पद्मावती पत्नी सभवश्चन्द्रकुमारोऽजनि, स च विज्ञोऽभूत्। क्रमान्नटविटखुण्टकैः सार्द्धं तिष्ठन् चौर्यं कर्त्तुं लग्नः, ततो लोकगृहे प्रविश्य धनं हरते रात्रौ।

इतो लोका रावं कुर्वन्ति, ततो राज्ञा धृतः एकवारं मोचितः, द्वितीयवारं लोकैर्मोचितः, उक्तं च—अद्यप्रभृति चौर्यं न कार्यं। सोऽवग्–स्तैन्यं न करिष्ये। पुनः प्रविष्टश्चौर्याय स च धृतः। शूलायां क्षेप्यमाणः, राजाऽवग्—मम देशं त्यज। सोऽवग्—स्तैन्यं न करिष्ये। पुनः प्रविष्टश्चौर्याय स च धृतः। राजाऽवग्–मम देशं त्यज। सोऽवग्—मुच्यतां मा भूपोक्तं करिष्यते मया। ततो निर्गतो मार्गे गच्छन् दध्यौ,–अद्य कस्य गृहे चौर्यं करिष्ये। तदाऽकस्मात्सरस्यां नभसः सिद्धपुरुषः उत्तीर्णः। पादुके उत्तार्य स्नानं कर्त्तुं लग्नः, ततः स स्तेनो दध्यौ। यस्मिन् दिने चौर्यं न क्रियते तस्मिन्दिने धान्यं न जीर्यति। अद्य पादुके इमे मम देवेन दत्ते। अतः इमे ग्रहीष्यते। ततस्ते पादुके परिधाय व्योम्नि उत्पपात। पश्चादेत्य स्वपुरे लोकेषु पश्यत्सु स्तैन्यं चकार। केनापि धर्तुं न शक्यते। राजादयो विलक्षा अभूवन्। लोकैः रावं क्रियते पित्रादिस्वजनगृहेष्वपि प्रविश्य चौर्यं करोति स्म। यदा न धर्त्तुं

केनापि शक्यते, तदा राजाऽवग—सप्तदिनमध्ये चौरो धार्यो । एवं प्रतिज्ञां कृत्वा राजा निर्गतः । षट् दिना गताः, सप्तमदिने प्रथमं देवकुले गत्वा देव्या आभरणानि दृष्ट्वा दध्यौ राजाऽत्रायाति चौरः, ततो राजा छन्नं स्थितो यावत् तावत् स स्तेनोऽभ्येत्य पादुके उत्तार्य देवीं नत्वा जगाद यदि मम बहुधनमद्य चटिष्यति तदा तव विशिष्टपूजां करिष्येऽहं । एवं प्रोच्य यावत्स्तेनः पादुके परिधत्ते तावदेका पादुका राज्ञा गृहीता, द्वितीया चौरेण । नष्टश्चौरः पृष्टौ वाहरा धाविता । एकां पादुकां परिधाय क्वचिद्व्योम्नि क्वचिद्भूमौ चचाल, अग्रे गच्छन् वाहरामागच्छन्तीं दृष्ट्वा पृष्टौ अग्रे यतिं कायोत्सर्गस्थं दृष्ट्वा नत्वा सामायिकफलं पप्रच्छ । ततः सामायिकपुण्ये फलं ज्ञात्वा सामायिक लात्वा थो यावत् स्वं कर्मं निनिन्द तदा केवलज्ञानमभूत्तस्य । देवै रजोहरणदानादिमहश्चक्रे । राजाऽपि तत्रागतश्चौरमुत्पन्नकेवलज्ञानं दृष्ट्वा जाताश्चर्यो नत्वा यतिं पप्रच्छ तव कथमेतदन्यायकारकस्य ज्ञानम् ? तेनोक्तं—सामायिकफलं ।

यतः— प्रणिहन्ति क्षणार्द्धेन, साम्यमालम्ब्य कर्म्म तत् ।
यन्न हन्यान्नरस्तीव्रं, तपसा जन्मकोटिभिः ॥१॥

ततोऽनेकैः सामायिकफलं ज्ञात्वा सामायिकप्रतिक्रमणादि क्रियते । द्वितीया पादुका राज्ञोऽभूत् ततो राजा पादुकाद्वयं परिधाय बहुषु तीर्थेषु गत्वा देवान् नमस्करोति स्म । प्रतिदिनं सप्ताष्ट सामायिकानि लाति । गतो, मुक्तिं यास्यति ।

इति सामायिकफलविषये स्तेनसम्बन्धः ॥१३२॥

[133] अथ छलजल्पने कमलकथा ।

एकस्मिन्पुरे भीमकुटुम्बिकोऽन्यदा ' प्रति प्राह—यः शीतेऽतीव पतति निरावरणः, सरसीमध्यस्थस्तपति दीपके तस्मै ' दीनारपञ्चकं ददामि । स स्थितः, रात्रौ दीपकं दृष्ट्वा तप्तः । प्रातः पृष्टं—त्वया कथं स्थितं ? सोऽवग्—चन्द्रमहेभ्यगृहस्योपरि दीपिकां दृष्ट्वा तप्त । ततः पञ्चदीनारान् जिगाय ॥१२३॥

इति जल्पने कमलकथा ॥ १३३ ॥

[134] अथ परोपकारे श्रेष्ठिपुत्रवैद्यसम्बन्धः ।

श्रीपुरे चन्द्रवैद्योऽनेकैरौषधैर्लोकानां रोगं फेटयन् बहुधनं गृह्णाति वञ्चयति च । तस्यापणे बहवो वणिक्पुत्रा वैद्यकला शिक्षितुं तिष्ठन्ति स्म । ये विद्यायां कुशलिनो भवन्ति ते औषधदानात् हन्यन्ते । तेन एकस्य वणिजश्चत्वारः पुत्राः तद्विद्याकुशला जाताः । ते सन्त औषधदानान्मृताः । पञ्चमं पुत्र माता यदा तदापणे न मुञ्चति तदा पुत्रो मातरं प्रति जगौ—मा तत्र विद्याशिक्षणाय मुञ्च । अहं तथा करिष्ये यथा मां न हनिष्यति । ततः स वैद्यापणे गत । वैद्यस्याग्रे प्राह—अहं वैद्यकविद्यां न जानामि, मुग्धोऽस्मि, यत्त्वं वस्त्रानयनादिक्रियां

कारयिष्यसि तदह् करिष्ये । ततस्तेन स्वगृहे स्थापित. । ततः स मुग्धो भूत्वा सर्वेषामौषधानामाम्नाय जज्ञौ । पर स्वं तज्ज्ञ न ज्ञापयति ।

इतस्तस्मिन्पुरे एकस्य कस्यचित्स्नान कुर्वतः कर्णरन्ध्रे सूक्ष्मा भेकी प्रविष्टा । वेदना जाता, न निर्गच्छति, ततस्तेन वैद्यस्य कर्णरन्ध्र दर्शित । ततः स यदा तप्तसूचिकां कृत्वा कर्णरन्ध्रे क्षेप्तुं लग्न., तदा स वणिक्पुत्रो जगौ—एव कृते द्वयोर्मरणं भविष्यति, तथा कुरु यथा द्वयोर्जीवितव्यं भविष्यति । यदास्य कर्णरन्ध्रे वारिभृतं वर्त्तलकं मुन्यते तदा भेकी स्वयमेव निर्गच्छति । तथाकृते भेकी स्वय निर्गता । ततः श्रेष्ठिना स वणिक्पुत्रो मानितः, वैद्यो न मानित । हसितश्च । ततो रुष्टो वैद्यो दध्यौ—अय मुग्धो भूत्वा मदीयां विद्यां मत्तोऽधिक शिक्षितवान् । अतस्तथा करिष्ये यथा मरिष्यत्यसौ । ततः स श्रेष्ठिपुत्रो लब्धविद्यो नष्ट, ततो यत्र गच्छति तत्र तत्र शकुनबलाद्याति । तदा सोऽपि शकुनबलात्तमागच्छन्त ज्ञात्वा नश्यति । एव तयोः सदा कुर्वतोर्बहवो दिना याताः, श्रेष्ठिपुत्रो दध्यौ ममाय वैद्यो गुरुस्थाने तेन हन्यते कथ मया तदेति ध्यात्वा गुहाया प्रविष्ट । अग्रे मृत्तिकया व्याघ्ररूप सजीवमौषधेन कृत्वा मुमोच । वैद्यस्तत्रागतो व्याघ्र दृष्ट्वा दध्यौ, स च गुहायां विद्यते, व्याघ्रः स्वयमेव हनिष्यति । ततो वैद्ये गते स श्रेष्ठिपुत्रस्तस्मान्निर्गत्य स्वमातुःपार्श्वे समेत्य स्वजीवनसम्बन्धं प्रोच्याऽन्यत्र ग्रामे गत्वाऽन्येषां लोकानामुपकारं चक्रे ।

इति परोपकारे श्रेष्ठिपुत्र—वैद्यसम्बन्धः ॥१३४॥

[135] हस्तहेमसिद्धिसम्बन्धः ॥

कमलपुर्यां सोममेदिनीशः स्वर्णं सिद्धिं कारकारं अलब्धहेमसिद्धिः खिन्न सन् पुरद्वारे लेखयामास—

ऐदंयुगीनकाले रै—सिद्धिर्नैव लभ्यते ।
तेन तद्विषये कार्यः, पुंसा नोपक्रमः क्वचित् ॥ १ ॥

ततस्त श्लोक दर्शं दर्शं कोऽपि स्वर्णसिद्धिविषये उपक्रम न चक्रे । इत एकः पुमान् गृहे गृहे भिक्षां याचमानो वेश्यागृहे गतः । तदा वेश्या सेरप्रमाण हेम ददौ । स च ततो निर्गत्य दध्यौ—स्वर्णसिद्धिं विना नैव केनापि दान दीयते । पृष्टा सतो तु न सम्यक्कथयिष्यति । अतो मायां तथा कुर्वे यथाऽस्याः समीपात्स्वर्णसिद्धिं ज्ञास्यामि । ततः स द्विजवेषधरो भ्रमन् वेश्यागृहद्वारे गत जगौ च मम पुत्रो मृतो निराधारोऽन्धोऽस्मि । य. कोऽपि धान्येन मां रक्षसि तस्य गृहे स्थितो द्वाररक्षा करोमि । द्विजजीवितदाने पुण्यमपि भवति । ततो वेश्यया धान्येन स्वगृहे स्थापितः । सा वेश्या सप्तौषधान्यानीय सप्त दिनानि मर्दयित्वा तच्चूर्णेन दीपिकां करोति । यत्र तस्या धूम्रो लगति तद्धेम भवति । स च विप्रः सर्वं पश्यति । पुनर्न ज्ञापयति ।

एकदा वेश्या तस्मै चूर्णं वर्त्तयितुमर्प्पयन्ती दध्यौ—कदाचिदनेन माया मण्डिता भविष्यति, तदा सर्वं ज्ञास्यति । ततस्तस्य जीमितुमुपविष्टस्यामत्रे विष्टा पर्यवेषिता । पार्श्वे स्थिता च । तदा स

दध्यौ यद्यहं विष्टां वदिष्यामि तदा मामनन्धं ज्ञास्यति। ततः स हस्तेन भर्तुं यावच्चिक्षेप तावद्वेश्ययोक्तं–स्थिरीभव, अजानत्या तव भोजने विष्टा पतिता ततस्तामपसार्य वयमन्नं परिवेषित। स च बुभुजे। ततः सा निःशङ्कं सर्वौषधानां नामग्रहण लाति। तस्य वर्त्तयितुं दत्ते। ततः हेमसिद्धिर्जाता। ततो मिषं कृत्वा ततो निर्गतो द्विज. । त्र गतश्छन्न हेम चक्रे। स्वयं भुङ्क्ते, दानं दत्ते, क्रमादपरैरपि औषधैरेकेन द्वाभ्यां हेम करोति।

ततोऽन्यदा भ्रमन् पुरद्वारे गतः स्वर्णसिद्ध्यभावाक्षराणि भूपलिखितानि ज्ञात्वा तेषामक्षराणामपसाराय भूपस्य गृहे महोत्सवे जायमाने दीपवर्त्तिकनरैः सार्द्धं हेमसेरद्वय द्वास्थपार्श्वेऽक्षिपत्। राजसभायां रात्रौ गतः। तत्र स्वकृतदीपिकाधूमेन अन्यदीपिकाकरदीपिकाभिः समसमुद्योतं कुर्वाणो राजसभां हेममयीं कृत्वा राजभवनान्निर्गत.। प्रातर्भूपः सभां हेममयीं दृष्ट्वा चमत्कृतः। पृच्छपृच्छ द्वास्थपार्श्वान्नरमागत ज्ञात्वा दध्यौ–यस्य स्वर्णसिद्धिर्विद्यते तेनेयं सभा हेममयी कृता। मया न स निःकासितव्यः। ततो राज्ञा तस्य ज्ञानाय भूमिगृहं कारितं। तन्मध्ये शतद्वयीस्वर्णकृत मुक्तासूत्र च भोजनादि च कारितं हेमसभास्वर्णं तत्र मुक्त। ते च सर्वे हेममयानि बीजपूर–नालिकेर–लिम्बुकादीनि घटयन्ति। भूमिगृहद्वारपार्श्वस्थचित्रशालायां राजोपविशति। लोका यदा प्राभृतीकुर्वन्ति बीजपूरादीनि तदा राजा छन्नमधो भूमिगृहे मन्त्रिहस्ते मुञ्चति मन्त्री च छन्नं हेममयानि दत्ते। ततो लोके प्रघोषोऽभवत् यद् भूपस्य हस्ते प्राभृतीक्रियते तद्धेम भवति। तत. पुमान् स हस्तहेमसिद्धिं ज्ञात्वा दध्यौ मत्तोऽधिको राजा जातः। अहं तूपक्रमतो हेम करोमि। राजा तु हस्तेन करोति। तत. सोऽपि काष्ठमयानि बीजपूराणि प्राभृतीकृत्य हेममयानि भूपपार्श्वात्प्राप। यदि हस्तसिद्धिरपि मम स्यात्तद्वर, ततो राज्ञो मिलित, स्वकृतां हेममयीं चित्रशालां ज्ञापयामास। ततो राजाऽवग्–स्वर्णसिद्धिं कथय, ततो मम हस्तौ हेमहस्तसिद्धिं दर्शयिष्यतः। ततस्तेन हेमसर्वौषधचूर्णकरणादिकथनात् हेमसिद्धिस्तस्मै दर्शिता। ततो राजा भूमिगृहे त नीत्वा हस्तेन हेममयबीजपूरादिसिद्धिं . । सोऽवग्–राजन्! हस्तहेमसिद्धिं दर्शय। ततो राजाऽऽचष्ट मयोक्तं ममायं हस्तो हेमहस्तसिद्धिं दर्शयिष्यति, तेन तु दर्शिता। ततः स पुमान् अहं धृष्टो भवता वचनच्छलात्। ततो राज्ञा पुरद्वाराक्षराणि दूरीकारितानि, तत्रान्यान्यक्षराणीति लेखयामास—

ऐदंयुगीनकालेऽपि कस्यचिन्मनुजस्य तु।
हेमसिद्धिः समस्त्येव, कार्योऽत्र संशयो नहि ॥ २ ॥

ततो राजा हेमसिद्धिं कारकार महादान ददौ।

इति हस्तहेमसिद्धिसम्बन्धः ॥ १३५ ॥

[136] अथ धर्मपरीक्षायां लौकिकपार्वतीश्वरकथा।

एकदा द्वारि कृष्ण नन्तुं लक्षमिता मनुष्याश्चेलुः। अत्रान्तरे पार्वती शम्भोः पुरः प्राह—एते सर्वे जनाः पुण्यवन्तो यात्रा-कर्त्तुं निर्ययुः। ईश्वरोऽवग्—एतेषां द्वित्राः पुण्यवन्तः स्युः। गौरी जगौ–कथमेतद् ज्ञायते? ईश्वरोऽवग–परीक्षां करिष्ये, त्वं गौर्भव, अहं नरो भविष्यामि।

मया कृत्रिम कर्दममयो ह्रदः करिष्यते, त्वया पादौ कर्दमे क्षिप्त्वा स्थेयमहं कर्षितुमायास्यामि । ततः पार्वती कर्दमे गोरूपा क्षिप्ता, ईश्वरो मनुष्यरूपस्तां कर्षितुमागात् । प्राह भो यात्रिका ! मनुष्या ! अत्राचिरादागच्छन्तु, एषा गौ पङ्कात्कर्ष्यते, अन्यथा मरिष्यति । कोऽपि नायाति, घसमसाट कुर्वन्त सर्वे यान्ति । पुनरेकस्तत्र नायाति गां कर्षितुमेव पुन.पुनरीश्वरे जल्पति लोका गच्छन्तो जगु —तव एषा गौ मनसि आयाति अस्माकं जीवित रक्षित विलोक्यते यदि स्थास्यते तदा पश्चाद्व्याघ्रादयो मारयन्ति अस्मान् । ईश्वरोऽवग्-अहं स्थितोऽस्मि, अपरः कोऽपि द्वितीय आगच्छतु तदा एकः क्षण गां कर्षितु स्थित । गौस्तु न निर्गच्छति ततः सोऽपि चरितु चचाल । तत स्वय शम्भुः प्रविष्टो गां कर्षितु कर्दमे मज्जन् प्राह—एषा गौरहं च कर्दमे प्रविष्टौ निर्गन्छन्तु न शक्येते अङ्गुलीर्मुखे क्षिपति जल्पति च कोऽपि पुण्यवानस्ति, यो मा गा च कर्षयति, तस्य यात्राधिकं पुण्य भविष्यति ।

अत्रान्तरे-एकः पुमानपर पुमास प्रति जगौ-आवा यात्रार्थे निर्गतौ पुण्यहेतो , इदमपि पुण्य जीवरक्षा क्रियते, जीवरक्षासमं पुण्यमन्यत्तु न विद्यते, तेन एतौ कर्ष्येते । अपरोऽवग्-त्वं ग्रथिलोऽभूः, मया स्थातु न शक्यते । तत प्रथम स्थितो गा कर्षितु यदि एषा निर्गन्छति तदा निर्गच्छतु नो चेन्ममापि प्राणा यान्तु । गवा पुरुषेण च सम कर्दममध्ये प्रविष्ट कर्षितु लग्नः तदा गौरधोऽधा याति तदा सोऽपि अधोऽधोऽग्रतो याति । ततस्त पुण्यवन्तमेक दृष्ट्वा पार्वतीश्वरौ प्रकटीभूय जजल्पतु । त्वमेवैतेषु लोकेषु पुण्यवान् दृश्यते । तत प्रसन्नीभूय पार्वतीश्वरौ जजल्पतु 'तवाक्षीणा श्रीर्भवतु' । ततोऽग्रे गतः, यात्रा कृत्वा गृहे आगतः । तस्य गेहे अक्षीणा श्रीरभूत् ईश्वरस्ता प्राह—लोका बहवो दृश्यन्ते पर पुण्यवन्तः स्तोका एव ।

इति धर्मपरीक्षायां लौकिकपार्वतीश्वरकथा ॥ १३६ ॥

[137] अथ स्तैन्यजनपुण्ये भिल्लकथा ।

श्रीपुराच्चन्द्रपुर प्रति श्रीधरा आचार्याश्चेलु मार्गे भिल्लघाटी मिलिता । भिल्लस्वामी सर्वं सार्थं लुण्टयामास । ततः साधून् लुण्टयितु तत्रागत प्राह-भो साधव ! वस्त्राणि मुञ्चथ (त) । तदा गुरवो जगुः-स्तैन्य न क्रियते, पापहेतुत्वात्, मार्गे कस्यापि धन नापह्रियते । भिल्लोऽवग्-वस्त्राणि मुञ्चथ (त) नो चेत् हता एव । गुरु प्राह—त्व पाप करोषि, सर्वं कुटुम्ब भक्षयिष्यति, श्वभ्रे त्वमेव बहुदुःखस्य भोक्ता भविष्यसि । स्तेनोऽवग्—सर्वं कुटुम्ब विभज्य भोक्ष्यति । गुरु प्राह—तर्हि पृच्छ कुटुम्ब प्रथम पश्चाद्वस्त्राणि गृहाण, यावत्त्वमागमिष्यसि तावद्वय स्थिताः स्म । ततो भिल्लोऽचिरात् स्वकुटुम्ब प्रष्टु गत । प्रथम भार्या पृष्टा-अह साधूना वस्त्राणि लास्यामि तस्य पापस्य भाग त्व ग्रहीष्यसि ? प्रिया प्राह—तवैव पाप भविष्यति । अह भागं न ग्रहीष्ये । एव कुटुम्ब पृष्ट कोऽपि पापभागं न गृह्णाति । ततो भिल्लो गुरुपार्श्वेऽभ्येत्यावग्-कुटुम्बं पाप न लाति । गुरव प्राह—'यः कर्त्ता स एव भोक्ष्यते' । ततः स भिल्ल स्तैन्यकरणे नियम जग्राह । ततोभिग्रहं प्रपाल्य भिल्लः स्वर्गे ययौ ।

इति स्तैन्यजनपुण्ये भिल्लकथा ॥१३७॥

[138] अथ गुरुभक्तौ द्रोणाचार्य–भिल्लकथा ।

द्रोणाचार्यं पार्श्वे युधिष्ठिरा–र्जुन–भीम–दुर्योधनादयो धनुर्विद्यां शिक्षयामासुः। अर्जुनो धनुर्विद्यां शिक्षयन् समग्रां धनुर्विद्यां शिक्षयामास । ततो अर्जुनो गुरुपादौ नत्वा प्राह—भो द्रोणाचार्य ! गुरूत्तम ! यादृशी विद्या मह्यं दत्ता तादृशी नान्यस्मै कस्मैचिद्देया । ततो हृष्टो द्रोणाचार्यः जगौ—तव क्व. प्रमाणम् ? एवं सति कालं गच्छति । एको भिल्लो धनुर्विद्यां शिक्षितुकामो द्रोणाचार्यपार्श्वे धनुर्विद्यामर्जुनतुल्यां याचते स्म । गुरुणा न ददे, ;ततः स वने द्रोणाचार्यमूर्त्तिं मृण्मयीं कृत्वा कुञ्जान्तरे स्थापयित्वा प्रातरुत्थाय गुरुपादौ प्रणम्य भक्त्या प्राह—भो गुरो ! 'प्रसद्य मह्य धनुर्विद्यां वितर'। एवं प्रति दिनं गुरोर्भक्तिं चक्रे । गुरुरग्रे धनुर्हस्ते लात्वा बाणं तस्मिन् संयोज्य चिन्तितानि पत्राणि विध्यति, शतधा भिनत्ति ।

एकदा वने गतोऽर्जुनो वृक्षे तादृक्षि पत्राणि छिद्रितानि दृष्ट्वा दध्यौ—गुरुणा प्रतिज्ञा विस्मृत्य कस्यापि धनुर्विद्या ददे, नो चेदेवं कः करोति ! ततोऽर्जुनो गुरु पप्रच्छ ! भगवन् ! त्वया प्रतिज्ञा छिन्ना, विद्या कस्मै दत्ता ? गुरु' प्राह.—मया कस्यापि त्वां मुक्त्वाऽन्यस्मै धनुर्विद्या सम्पूर्णा न दत्ता । ततो द्रोणाचार्यार्जुनौ वने गतौ, ताभ्यां दृषण्मयी द्रोणाचार्यप्रतिमा दृष्टा । स च भिल्ल प्रातरेत्य गुरु नत्वा प्राह—अर्जुनदत्तधनुर्विद्यां मह्य वितर । एव प्रोच्य स वृक्षस्थानि पत्राणि भिनत्ति । ततो द्रोणाचार्यपार्थाभ्यां भिल्लश्च पृष्टः–तव को गुरुः ? स प्राह्–मम द्रोणाचार्य । भिल्लेन द्रोणाचार्यप्रतिमा दर्शिता, अनयाऽहं शिक्षितो विद्या, भक्त्या किं किं न स्यात् ? तोऽर्जुनो खिन्नोऽभूत् । ततो गुरुर्भिल्ल प्रति जगौ–तव विद्याऽभून्मत्प्रसादात्, मया मार्गितं दास्यते त्वया ? । सोऽवग्–इदं शरीरं तवैव, यदि रोचते तद्याचनीयम् । ततो गुरुणा भिल्लपार्श्वाद्दक्षिणहस्ताङ्गुष्ठो याचित ! ततस्तेन गुरुभक्त्या अङ्गुष्ठो दत्तश्छित्त्वा । ततोऽर्जुनात्स्तोका मनाग्विद्या भिल्लस्याभूत्, ततोऽपि भिल्लो गुरोरुपरि न द्विष्टोऽभूत्ततोऽर्जुनोऽपि हृष्टः, द्वावपि गुरु नमतः स्म ।

इति गुरुभक्तौ द्रोणाचार्यभिल्लकथा ॥ १३८ ॥

[139] अथ शीलौदार्यविषये विक्रमादित्यकथा ।

एकदा विक्रमादित्यो भूपः पृथिवीं विलोकयन् स्त्रीराज्ये ययौ। तत्र पुर्यामनेके धवलगृहा दृष्टा । तत्र तु शङ्खिनी–पद्मिनी–प्रभृतिनारीसहस्त्रशो दृष्टा राज्ञा । ताश्च भूप भोगाय याचन्ते स्म । राजा मनागपि न चलित, परस्त्रीपराङ्मुखत्वात् । ततस्ताभिस्तुष्टाभिः १४ रत्नानि दत्तानि । कीदृशानि—

एकेनाग्निस्तम्भः स्यात्	[१]	पञ्चमेनास्यादिघातो न लगति	[५]
द्वितीयेन लक्ष्मीर्भवति	[२]	षष्ठेन सर्वो वश्यो भवति	[६]
तृतीयेन जलस्तम्भः	[३]	सप्तमेन चिन्तिता रसवती भवति	[७]
चतुर्थेन यान भवति	[४]	अष्टमेन कुटुम्बं वर्धते	[८]

नवमेन समुद्र उत्तीर्यते [९]
दशमेन विद्या स्यात् [१०]
एकादशेनाकाशगमन स्यात् [११]
द्वादशेन भूतप्रेतादयो न लगन्ति [१२]
त्रयोदशेन सर्पादिर्न दशति [१३]
चतुर्दशेन गजादिर्न प्रभवति [१४]

मार्गे आगच्छता राज्ञौदार्यत्वाद्येन यद्रत्नं मार्गित तस्मै तद्दत गृहे समागतो भूपः ।

इति शीलौदार्यविपये विक्रमादित्यकथा ॥१३९॥

[140] अथ स्वयं स्वदोपजल्पने क्षत्रियकथा ।

एक पुमान् पोसिपोसीत्युच्चरन् शकट चतुष्पथे खेटयामास । तदा एको दुर्दान्तो राज-पुरुषः सन्मुख गच्छन् शकटे लग्न, तदा तस्य मुखे चदिका पतिता । रुधिर निर्गत । स च राजपुरुषो दुर्दान्तो यत्तत् यथा तथा जल्पन् भृश रुष्टोऽस्त्रमुत्पाट्य त हन्तुमुत्थितः गालिं ददानो यष्टिमुष्टिभिस्त हत्वा भूपपार्श्वे निनाय, जगौ च अनेन चतुष्पथे समागच्छता शकटेन मम मुख छिन्न । ततो बहु जल्पति सति तस्मिन् शकटपुमान् मौनमेव चकार । राजादिभि-र्जल्पितोऽपि यदा न जल्पति । राज्ञाऽवग्-किं मूकोऽस्त्यसौ? तदा राजपुरुपोऽवग्-चतु पथे यदा मम मुख शकटेन भिन्न तदाऽनेनोच्चैःस्वरं जल्पित पोसिः पोसिरिति । ततोऽमात्यैरुक्त-तवैव दूषण नास्य, त्वमेव स्वय साक्ष्यभूत्, ततो राजपुरुपो हक्कितः सः पुमान् मानित ।

इति स्वयं स्वदोपजल्पने क्षत्रियकथा ॥१४०॥

[141] अथ विरोधे कृकलासद्वयकथा ।

एकस्य ग्रामसमीपे द्वौ कृकलासौ युद्ध कर्तु लग्नौ । एको यदा युध्यन् द्वितीयशिरस उपरि चटति तदाऽधस्थो दन्तैर्दशति तमित्यादियुद्ध कुर्वाणौ तौ द्रष्टुं लोका मिलिताः । सर्वे सन्ति, न पुनः कोऽपि वारयति । तदाऽकस्मादेक कृकलासोऽनश्यत् । उपविष्टस्य निद्रया घूर्णितस्य गजस्य शुण्डायां प्रविष्ट । तदा द्वितीयोऽपि तत्पृष्ठो धावन् तस्यैव गजस्य शुण्डाया प्रविष्टः । तत्रापि द्वावपि युद्धतः स्म । ततोऽकस्माद्गज उन्निद्र सन्नुत्थितः शुण्डामितस्ततो वेदनया चालयन् सरःपालौ गत । ता पालिं शुण्डया खनति । लोकास्तदा हसन्ति । ततोऽकस्मात्पालि स्फुटिता । लोकाः सर्वे प्लाविता. । पयसा ग्राममपि प्लावितं । गजोऽपि शुण्डाप्रविष्टकृकलासवेदनया मृतः । ततस्तावपि कृकलासौ पञ्चत्व ययतुः । एव विरोधेन सर्वं विनश्यति । ततो विरोधो न कार्य, स्वहित वाञ्छद्भिः ॥ इति विराधे कृकलासद्वयकथा ॥१४१॥

[142]अथ देवद्रव्यविनाशने उष्ट्रीकथा ।

दीपं विधाय देवस्य, पुरतो गृहमेधिनाम् ।
तेन दीपेन नो गेहे, कर्त्तव्यः कज्जलध्वजः ॥१॥

इन्द्रपुरे जितसेननृपोऽभूत् । तत्र देवसेनेभ्य , तस्यालये धनसेनस्योष्ट्रिका प्रत्यहमेति । स चरंबारिक कुट्टयित्वा स्वगृहं नयति पुनरपि पश्चाद्याति । तत इभ्येन सा उष्ट्रिका स्वल्पेन गृहीता तस्याभीष्टा चाभूत् ।

एकदा धर्मघोषसूरिस्तत्रागात्, इभ्येन पृष्ट एषोष्ट्रिका मम गृहे एव रतिं कथं लभते, नान्यत्र । सूरिः प्राह–अनया पूर्वभवे देवद्रव्यं विनाशितं । तदा चैषा जिनस्याग्रे दीपं विधाय पश्चात्तेनैव दीपेन गृहकार्याणि करोति । तस्माद्दीपाद्वा गृहे दीप करोति, धूपाङ्गारेण चुल्हकं संधुक्षयति च तेन कर्मणा उष्ट्रिकैषा जाता । तत्पातक पुरा नालोचितं । बहुषु भवेषु तिर्यक्त्वं लब्ध सप्रति पुनरौष्ट्री जाता । कर्मलाघवाज्जातिं प्राप्य पश्चाद्भवसम्बन्धि देवद्रव्यविनाशनरूप पापं स्मारं स्मार जिनेन्द्रधर्मं श्रोतु तव गृहे तिष्ठति । यत उत्तमसगाद्रुत्तमपदवीं लभते जीवः । क्रमादत्रस्थोष्ट्रिका जिनधर्मं त्वया क्रियमाणं श्रद्धती मृतिं गमिष्यति, देवलोके गमिष्यति । ततो मानुषं भव प्राप्य सर्वकर्मक्षयान्मुक्ति यास्यति । अतो देवद्रव्यं व्याजेनापि न ग्राह्यं । यत ——

जिणपवयणवुड्ढिकरं, पभावगं नाणं दंसणगुणाणं ।
भक्खंतो जिणदव्वं, अणंतसंसारिओ होइ ॥१॥

जिण० । वुड्ढन्तो जिणदव्वं, तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥२॥

इति देवद्रव्यविनाशने उष्ट्रीकथा ॥१४२॥

[143] अथ यक्षकृतपापशमने अर्जुनमालिककथा ।

राजगृहे बहिरन्येर्मुद्गरपाणियक्षसदने पुष्पकरण्डकं भृत्वा अर्जुनमालिको मालिकायुतो दिनात्यये स्थितः । तत्राऽकस्मात्तत्र षट् स्तेनाः सुरभिपुष्पगन्धतः समाययु । तदा ते चौरास्तां मालिकां दिव्यरूपां दृष्ट्वाऽर्जुनमालिक बध्वा यक्षाऽर्जुनमालिकयोः पश्यतोः सतोभोगं कर्तुं लग्नाः तदाऽर्जुनो यक्ष प्रत्यवग्–भो यक्ष ! तव पश्यत सतो मम पत्नी एते भुञ्जन्ते त्वं ममसारां न कुरुषे । पत्नीं तेभ्यो भोगं ददानां दृष्ट्वा रुष्टः पत्नीं प्रत्यपि तदा मुद्गरपाणियक्षोऽर्जुनदेहेऽवतीर्य प्रियायुतान् षडपि स्तेनान् जघान । ततोर्जुनो प्रति दिनं षड् नरान् सप्तमीं स्त्रिय हत्वैव देवगृह याति । ततो मार्गागतान् पुरस्थान् षट् पुरुषान् एका स्त्रियं च हत्वैव तिष्ठति । ततः पुरजनाः पुरःप्रतोलीं दत्त्वा कोटस्योपरिस्थाः षट् नरान् स्त्रियमेका हतान् दृष्ट्वा प्रतोलीबहि निर्गच्छन्ति, ततः सदैवपाप करोति ।

अत्रान्तरे सुदर्शनश्रेष्ठी चतुर्दश्या पौषधोपवासपारणे भगवन्त श्रीवीर बहिरुद्याने समवसृत श्रुत्वाऽभिग्रहं ललौ, अद्य प्रभु प्रणम्य पारणं कर्तव्यं मया, तत प्रात. सकाल एव सुदर्शनश्रेष्ठी प्रभु नन्तु निर्गच्छन्तं दृष्ट्वा लोका जगुः–भो श्रेष्ठिन् ! क्षणं तिष्ठ, यावत् स यक्ष स्वस्थाने याति । ततः श्रेष्ठी लोकवचनमवगणय्य प्रतोल्या बहिर्निर्ययौ तदा यक्षः सुदर्शनं दृष्ट्वा मुद्गरमुत्पाट्य दधाव हन्तुं तदा तत्र सुदर्शनश्रेष्ठी 'नमो अरिहंताण' इत्युच्चै. स्वरं

कृत्वा तस्थौ । ततो नमस्कारप्रभावात् यक्षोऽर्जुनशरीरं मुक्त्वा स्वं स्थानकं ययौ । अर्जुनो निश्चेष्टकाष्ठो भुवि पपात । क्षणात्सचेतनोऽभूत् । सुदर्शनेन पृष्टः—भो अर्जुन ! त्वया बहुजनहननात् भूरिपापं कृतं । कथं छुटिष्यत्यस्मात्पापात् ? अर्जुनोऽवग्—अहं न जाने, किन्तु मुद्गरयक्षेण सर्वं कृतं, स्वसम्बन्धः प्रोक्तः । ततः प्राप्तवैराग्योऽर्जुनमालिकः प्रभुं प्रणम्य दीक्षां लात्वा तस्मिन्नेव पुरे भिक्षार्थं भ्रमति, षण्मासीं यावद्बुभुक्षितो लोकाक्रोशान् सहित्वा सर्वकर्मक्षयान्मुक्तिं ययौ । इति यत्नकृतपापशमने अर्जुनमालिककथा ॥१४३॥

[144] अथ स्वहितकरणे चन्द्रकमलयोः कथा ।

कर्णपुरात् चन्द्रः कमलपुत्रेण सह पृष्टवाहं नीत्वा वसन्तपुरं प्रत्यचलत् । मार्गे यदा पुत्रो वृषारूढस्तदा लोका जगु—अयं वृद्धः पद्भ्यां हिण्डते, युवा पुत्रस्तु वृषारूढः, कोऽस्य पुत्रस्य विवेकः ? ततः पुत्रस्ततः उत्तीर्णः । वृद्धो वृषारूढश्चलति यदा लोका जगुः—पुत्रः पद्भ्यां याति, पिता वृषारूढः । यदा द्वावपि वृषारूढौ तदा लोका जगुः—वृषो मरिष्यति एतौ मुग्धौ । यदा द्वावपि पितापुत्रौ पादचारिणौ जातौ तदा लोका जगुः—अस्मिन्नीदृक्षे वृषभे सति एतौ मुग्धौ पद्भ्यां हिण्डेते । ततो द्वावपि प्रोचतुः—

सर्वथा स्वहितमाचरणीयं, किं करिष्यति जनो बहुजल्पः ।
विद्यते स नहि कश्चिदुपायः, सर्वलोकपरितोषकरो यः ॥१॥

तथा यथारुचि पितापुत्रौ यथेप्सिते पुरे ययतुः ।

इति स्वहितकरणे चन्द्रकमलयोः कथा ॥ १४४॥

[145] अथ औत्पत्तिकीधीविषये नापितकथा ।

एकदा भोजभूपो नगरचर्यायां रात्रौ भ्रमन् नापितमेकां गाथां पुनः—पुनर्जल्पयन्तं श्रुत्वा रुष्टः । सा चेयम्—

भरीयातां सहूइ भरइ, ठालां भरइ न कोइ ।
भोजराज माहरइ सालो, मूहरइं काइं न देइ ॥१॥

यदा आकार्य शूलायां क्षेप्तुं चालितस्तदा नापितोऽवग्—मया कोऽपराधः कृतः ? राजाऽवग्—त्वं मां शालकं कुरुषे । तदा नापितोऽवग्—अहं तु सत्यमेव वच्मि । यतः—त्वं परस्त्रीसहोदरः श्रूयसे । अतो मम पत्नी तव भगिनी । ततस्त्वं मम शालकः एतद्श्रुत्वा राजा हृष्टस्तं सम्मानयामास । इति औत्पत्तिकीधीविषये नापितकथा ॥१४५॥

[146] अथ प्रत्येकबुद्धस्वरूपम् ।

करकण्डूनृपः कलिङ्गदेशेशः प्रथमं वृषभं दृढदेहं व्रजन्तं दृष्ट्वा पश्चान्मृतिं दृष्ट्वा च जातिस्मृतिं प्राप्य प्रत्येकबुद्धोऽभूत् । देवतया लिङ्गं दत्तम् ॥१॥

पञ्चालदेशस्वामी इन्द्रध्वजं वीक्ष्य क्षगात्पतितं जातिस्मृतिं प्राप्य प्रत्येकबुद्धोऽभूत् ॥२॥

विदेहदेशस्वामी नमिभूपः उत्पन्नरोगः प्रियाणां वलयान्युत्तार्य खडखडशब्दमनाकर्ण्य जातिस्मृतिं प्राप्य प्रत्येकबुद्धोऽभूत् ॥३॥

गन्धारदेशेशो नग्नकभूपश्चूतं प्रथम शाड्वल दृष्ट्वा क्षणाद्भग्न वातेन दृष्ट्वा जातिस्मृतिं प्राप्य प्रत्येकबुद्धोऽभूत् ॥४॥

यतः— करकण्डु कलिंगेसु, पंचालेसु य दुम्मुहो ।
नमीराया विदेहेसु, गंधारेसु अ नग्गई ॥१॥
वसहे[१] इंदकेऊ[२] , वलय[३] अंबे अ[४] पुप्फिए बोही ।
करकंडु[१] दुम्महस्सा[२] नमिस्स[३] गंधाररन्नो[४] अ ॥२॥

चत्वारोऽपि प्रत्येकबुद्धा विहरमाणाः क्षितिप्रतिष्ठितपुरे पुराद्बहिर्देवकुले चतुर्द्वारशोभिते समागताः—

पूर्वेण द्वारेण करकण्डूः प्रविष्टः ।
दुर्मुखो दक्षिणेन ।
नमिरपरेण ।
गान्धार उत्तरेण प्रविष्टः ।

तदा यक्षेण चतुर्णामपि संमुख मुख कृतं, चत्वार उपविष्टाः । करकण्डूयनयोग्यं काष्टखण्डं कर्षयित्वा करं कण्डूयितुं लग्नो यदा तदा कर्णोऽपि कण्डूयित, काष्टं छन्नं कृतं च । दुर्मुखः काष्टखण्ड गोपित दृष्ट्वा करकण्डूं प्रत्यवग्—

जया रज्जं च रिद्धिं च, पुरं अंतेउरं तहा ।
सव्वमेअं परिच्चज्ज, संचयं किं करेसिमं ॥३॥

यदा करकण्डू प्रत्युत्तर न दत्ते तस्मै तदा नमिरिमं दुर्मुखं प्रत्यवग्—

जया ते पियपरज्जे, कया किच्चकरा वहू ।
तेसि किच्चं परिच्चज्ज, अज्ज किच्चकरो भवं ॥४॥

अतस्तवानया चिन्तया किं, ततो गन्धारोऽवग्—

जया सव्वं परिच्चज्ज, मुक्खाय घडसि भवं ।
परं गरिहसे कीस, अत्तनीसेसकारए ॥ ५ ॥

'मुक्खाय घडसि' मुक्तये चेष्टसे भवान् । अत्त० इति आत्मने निःश्रेयसः शिवस्य कारकः कर्त्ता, तदा करकण्डूः प्राह—

मुक्खमग्गं पवन्नेसु, साहूसु बंभयारिसु ।
अहिअत्थं निवारंते, न दोसं वत्तुमरिहसि ॥६॥

रूसउ वा परो मा वा, विसं वा परिअत्तउ ।
भासिअव्वा हिआ भासा, पच्चक्खगुणकारिआ ॥७॥

अमी चत्वारोऽपि प्रत्येकबुद्धा पूर्वभवे समकाल पुष्पोत्तरविमानाच्च्युताः स्वरूपपुरे जाताः समकाल केवलज्ञान प्रापुश्च क्रमादेव ते सर्वे मुक्ति प्रापुः ।

इति प्रत्येकबुद्धस्वरूपम् ॥ १४६ ॥

[147] अथ प्रमादाप्रमादे श्रेष्ठिपुत्रीत्रयकथा ।

वर्द्धमानपुरे पद्मश्रेष्ठिनः तिस्रः पुत्र्य. कमला-मदना श्रीमत्यभिधा धर्मकर्मकुशला धर्म-शास्त्रविज्ञा सत्य उभयकाल प्रतिक्रान्ति त्रिकाल जिनपूजा कुर्वते, भावारीन् जेतुम । इतो मोहसभायां कन्दर्पदेवोऽभ्येत्यावग्—स्वामिन् ! पद्मश्रेष्ठिनः पुत्र्यस्तथा धर्मं कुर्वाणा सन्ति यथा भवन्त भवत्परिवार च जेष्यति । तेनाधुनैव ता जेतु स्वामिनाऽन्येन वा चाल्यते तदा वर । तदा मोहेन बीटके उत्पाटिते निद्राविकथाभ्या प्रोक्तं—स्वामिन्नह तथा करिष्ये यथा तास्तव वश्या भवन्ति । ततो विकथानिद्रे ते जेतुं गते, प्रथमं कमलापार्श्वे विकथाऽवग्—धनमहेभ्यपुत्र्या श्राविका भोजिता. त्व तत्राकारिता न वा । साऽवग्—किं मम प्रयोजन, जेमन्तु बह्वयः एवं पृथकपृथग्गृहः भोजनस्य स्वरूपं प्रोक्त । ततः क्रमात्कमला जगौ—अह नाकारिता तत्र इत्यादि राज-देश-भक्त-स्त्रीकथाभिः कमला विकथा कुर्वती कृता क्रमान्निद्रा-मपि करोति, वेलाया देवपूजाप्रतिकर्मप्रभृति न करोति एव मदनाऽपि प्रमादे पातिता ताभ्या । तत श्रीमती ताभ्यां प्रमादे न पातिता सा च स्व धर्मकृत्य वेलायां करोति । ततो विकथा-निद्रे मोहभूपस्यान्ते गत्वोचतुः । कमलामदनश्रियौ तवाज्ञां ग्राहिते न तु श्रीमती । मोहोऽवग्-वर्यं कृत, श्रीमतीमह घातयिष्यामि । ततो मोहेनानेकाभरणवस्त्रादिदर्शनेनापि सा न स्वाज्ञा ग्राहिता । कमलामदनश्रियौ श्वभ्रे ययतुः । श्रीमती अखण्डधर्मं कृत्वा कर्मक्षये मुक्तिं गता ।

इति प्रमादाप्रमादे श्रेष्ठिपुत्रीत्रयकथा ॥ १४७ ॥

[148] अथ पादद्रव्यार्जने कथा ।

एके जना पादाभ्यां श्रियमर्जयन्ति, एके हस्ताभ्याम्, एके मस्तकेन, एके बुद्धया च, तत्रादौ पादाभ्या श्रियार्ज्जने कथा—

वीरपुरे कमलवणिक्पुत्रो देवको दारिद्र्यवानभूत् । ततो महेभ्यभूपादीनां लेखवाहकोऽभूत् । योजनशतसहस्र यावद्याति पुनरन्तरा वर्त्मनि गुरुपदोपान्ताङ्गीकृतद्विवारप्रतिक्रमण-एकवारदेव-पूजादि धर्मकृत्य न मुञ्चति । सदैव धनमर्जयति । स्तोक स्तोक धर्मेऽपि व्ययति । स च देवको धर्म कृत्वा दुःस्थोऽपि स्वर्गसुख प्राप । क्रमान्मुक्तिं गन्ता ।

इति पादद्रव्यार्जने कथा ॥ १४८ ॥

[146] अथ हस्तद्रव्यार्जने कथा ।

श्रीचन्द्रपुरे धीरकौटुम्बिको लोकाना क्षेत्रे च नवीनकदवरिकावणन क्षेत्रधान्यकपिशीर्षकृन्तन-लिखन इत्यादिहस्तक्रियाभिर्धनमर्जयत् स्वं धर्मं कृत्वा स्वर्गतो मुक्ति गन्ता ।

इति हस्तद्रव्यार्जने धीरकथा ॥१४९॥

[150] अथ मस्तकधनार्जने भीमकथा ।

वीरमपुरे भीमो भार्गवो जिनधर्मं प्राप । एकवारं देवं पूजयति । द्विर्वारमावश्यकं करोति । सदा चतुःपञ्चसप्ताष्टनवदशैकादशद्वादशत्रयोदशमितभारं वहते । परेषा गृहेषु याति । धनमर्जयति । एवंविध दुःशक गृहस्थवासे वसन् स्वं धर्मकृत्यं नामुञ्चत् । क्रमात्स्वर्गं गतः पुनर्मर्त्यलोकं पुन. स्वर्गं पुनर्मर्त्यः ततो मुक्ति । इति मस्तकधनार्जने भीमकथा ॥१५०॥

[151] अथ बुद्धिधनार्जने धरणकथा ।

धरापुरे धनश्रेष्ठी बुद्धिं विक्रीणीते, वर्यसुधाधवलिते हट्टे वर्यवेषधर उपविशति, लोका बुद्धिं गृह्णते सदा तत्र । एकदा तत्र वास्तव्यचम्पकश्रेष्ठिपुत्रो मदन आगात् । धरणोपान्तेऽवग् भवतोऽट्टे क्रयाणक किमपि न दृश्यते । श्रेष्ठी प्राह–अह बुद्धिं विक्रीणामि । यया धिया नरः सुखी स्यात्ता दास्येऽह । तत पञ्चशतद्रम्मैर्द्वयोः कलिं कुर्वतोः पार्श्वे न स्थेयमिति एका बुद्धिं मदनो ललौ । तदा केनाप्युक्तं–चम्पक भवत्पुत्रेणापूर्वकं क्रयाणकं गृहीत, ततः श्रेष्ठी पुत्र प्रत्यवग्–त्वया वर्यं न कृत । ततः श्रेष्ठी धरणस्योपान्ते गत्वाऽवग्–त्वया मम पुत्रो धीदानेन वाहितः । श्रेष्ठी धीदो जगौ–यदि ते न रोचते मम बुद्धिं पश्चादर्पय ततो वहवो लोका साक्षिण कृताः, अनेन श्रेष्ठिपुत्रेण द्वयोः कलिं कुर्वतोः पार्श्वे स्थेयं नो चेत् १० शतद्रम्मान् गृहीष्ये । एवं प्रोच्य पश्चाद् धन दत्त । एकदा श्रेष्ठिपुत्रो मन्त्रिसेल्लहस्तपुत्रयो' कलिं कुर्वतोः पार्श्वेऽस्थात् । तदा ताभ्यां स साक्षीकृतो मदनः राज्ञः पार्श्वे आकारित' । यदि एकश पार्श्वे भूत्वा वक्ति तदा सोऽपि रुष्टो धन पश्चात्स्फेटयति ततो मन्त्रिपुत्रपक्षपाते क्रमात्सेल्यहस्तेनावसरे श्रेष्ठी दण्डापित ततश्चम्पक सपुत्रो वर्यां बुद्धिं लात्वा सुखी जात ॥१५१॥

इति बुद्धिधनार्जने धरणकथा ॥१५१॥

[152] अथ औचित्यदाने घाञ्चिका–विक्रमार्क कथा ।

एकदा विक्रमादित्यभूपसभाया वहून् पण्डितानुपविष्टान् श्रुत्वा वैदेशिकेन बुधेनैका गाथा प्रेपिता । सा च सर्वैर्बुधैर्वाचिता तस्याः परमार्थमलभमाना प्रोचु । इय गाथा निर्जीवाऽस्ति तेनास्या अग्निसंस्कार. क्रियते । ततो बुधाश्चत्वारः स्कन्धिका जाताः । सा गाथा जपाणे स्थापिता । मुग्नभाजने वह्नि क्षिप्त्वाऽग्रेऽचलन्, कियन्त पृष्टावचलन् . कियन्तो बुधा काष्टानि नीत्वा पुराद्वहिश्चितां चक्रु. । इतो वर्त्मनि ता गाथां वहमानान् विबुधान्प्रति घाञ्चिका प्राह–को मृत ?

"-गाथा एकात्रागता मृता, तस्या अग्निसंस्कारः क्रियमाणोऽस्ति । तयोक्तं-का गाथा ? दर्श्यतां मह्य। तैर्दर्शिता, तया वाचिता, प्रोक्तं च-सजीवाऽस्तीयं कथं दह्यते ? तैरुक्तं-मृतेयं । मिथो विवादो जात । ततः सर्वैरुक्तं-राजसभायां सजीवनिर्जीवपरीक्षा क्रियते । ततः सर्वे राजसभायामागता । घाञ्चिकाऽवग्-सजीवाऽस्ति गाथा । बुधै प्रोक्तं-निर्जीवा । ततो घाञ्चिका जगौ-गाथा आनीयतां । तत्र गाथाऽऽनीता, वाचितेति—

अपया तह पयमुक्का, श्वेताय कृष्णाय च ।
सद्दासद्दविहूणा, अमग्गा वाह मग्गंति ॥१॥

घाञ्चिकाऽवग्—प्रथमार्थं मेघपक्षे-अपदा मेघाः पयो न्ति ? मुक्त्वा भवन्ति श्वेता मेघा. । श्वेताः-शरदि भवन्ति । कृष्णा वर्षासु भवन्ति । सशब्दा मेघा गर्जितं शब्दं कुर्वन्ति । शब्द विनाऽपि वर्षन्ति गर्जितं विनाऽपि, अमग्गा वाह मग्गति-अमग्गा-बप्पीहा वाह-पानीय मग्गंति-याचन्ते ।

यत — कप्पीउ तं जलपीयइ, जं घणगज्जिअ देइ ।
माणविवज्जिअ अप्पणइं, मरइ न चंचु भरेइ ॥२॥ इति एको मेघस्यार्थः ।

स्त्रिया अर्थ —अपया पयमुक्का य-सगर्भा स्त्री अपया-पयोरहिता भवति । जनिताऽपत्या पयो-दुग्धं मुञ्चते । श्वेताय कृष्णाय च-गर्भावस्थाया स्त्री श्वेता भवति, जनिताऽपत्या कृष्णा भवति । सद्दासद्दविहूणा-भोगावस्थाया सशब्दा, अन्यत्राशब्दा । कल्पावसरे सशब्दा अन्यत्राशब्दा अमग्गा वाह मग्गति-अमग्गा—जातमात्रबालकाः पयो-दुग्धं मातुःपार्श्वे मग्गंति-याचन्ते ।

पाशकस्यार्थः कथ्यते—अपया०-पाशकस्य पादौ न स्त, अत' अपदः । तह पयमुक्का पदमेकमष्टापदे फलके मुञ्चन्ति पाशकपदमुक्त । श्वेताय कृष्णाय च-हस्तिदन्तघटितत्वात् श्वेता' मुखे मसीबिन्दुकरणात्कृष्ण । पाशकशब्दो-सद्दासद्दविहूणा-पातनावसरे पाशक शब्द करोति । अन्यत्राशब्दः-शब्दरहिताः । अमग्गा वाह मग्गति-अमग्गा-अयाचका वचोरहितत्वात् वाह दायं मग्गंति-विलोकयन्ति । तस्या गाथाया अर्थत्रय श्रुत्वा राजाऽवग्—सजीवा गाथेय । ततस्तस्या राज्ञा सपादलक्ष धन दापयामास । बुधा हसिता सर्वैरपि तदा ।

इति औचित्यदाने घाञ्चिकाविक्रमार्ककथा ॥१५२॥

[153] अथ मुग्धतायां होदडीकथा ।

मरुस्थल्या होदडपार्श्वे सर्वे लोका मुहूर्त्तादिक पृच्छन्ति । एकस्य क्षेत्रे स्थलमये ऊर्ध्वं वल्लारोपिता मण्डपाः कृतास्तेषामुपरि चटिता वल्लाः । तत्राभ्येत्य उष्ट्रा वल्लान् भक्षयन्ति । ततो लोकै विज्ञप्त होदडाग्रे-अस्माक क्षेत्रेषु मण्डपोपरिस्थान् वल्लकान् को भक्षयति ? ततो होदडस्तत्राकारित, प्राह च—

औषधिं पग चडावीआ, वालखाधासंसलेहिं ।
किं मुधासि मरुपप्पडी, होदडेण मूएण ॥१॥

ततः सज्जनैः प्रोक्तं—सत्यमुक्तं होदडेन। ततो होदडो ध्यानं कृत्वाऽवग्—सर्वत्र क्षेत्रपार्श्वे सीममध्ये च शब्दमेवमुच्चार्यतामुच्चकैः । ये शशका उदूखलेषु पदानि चटयित्वाऽस्माकं क्षेत्राणि भक्षयन्ति तेषां प्राणा एव ग्रहीष्यन्ते । ततो रात्रौ वृत्तिसमीपे हक्कयद्भिः स्थीयते ततस्तथा कृतं तैः ॥ इति मुग्धतायां होदडिकथा ॥१५३॥

[164] अथ बुद्धौ धूर्त्तकथा ।

वीरपुरे कस्यचिद्वणिजः हट्टे द्वाभ्यां पथिकाभ्यां सुवर्णपूर्णा वासनिका मुक्ता । प्रोक्तं—"यदा आवाभ्यां द्वाभ्यामागत्य मार्ग्यते दार्प्पणीयेयं" एवं प्रोच्य तां तत्र मुक्त्वा ग्रामान्तरे गतौ तौ । ततोऽन्यदा तयोर्मध्यादेको धूर्त्तोऽभ्येत्य वचनच्छलात्तां वासनिकां लात्वा गतः । पुनर्द्वितीय आगात्, वासनिकां याचते स्म । श्रेष्ठी जगौ—मया दत्ता तव सोदराय । पान्थिकोऽवग्—कस्य सोदरः, वासनिकामर्प्पयेः । ततो द्वावपि राजकुले गतौ । स्वं स्वं सम्बन्धं प्रोचतुरेवं-प्रथमं श्रेष्ठी जगौ-द्वाभ्यां धूर्त्ताभ्यां वासनिका मुक्ता ममाहट्टे । एकश्छलं कृत्वा ललौ तां किं क्रियतेऽधुना मया । अथ धूर्त्तोऽवग्-वासनिका मुक्त्वा मयोक्तं-यदाऽऽवाभ्यां द्वाभ्यामागम्यते तदा अर्प्पणीया वासनिका । ततस्त्वरितं जल्पन्तं वीक्ष्य तं धूर्त्तं मत्वा च मन्त्रिभिर्बुद्धिमद्भिः प्रोक्तं-युवां द्वौ सोदरौ एकीभूयात्रागच्छत । ततोऽसौ श्रेष्ठी वासनिकामर्प्पयिष्यति त्वयैवं प्रोक्तत्वात् । ततः स्वं मस्तकं खज्जयित्वा गतो धूर्त्तः ।

इति बुद्धौ धूर्त्तकथा ॥१५४॥

[155] अथ धर्मविषये योगिकथा ।

कस्यचित्पुरोपान्ते ध्यानलीनं योगिनं दृष्ट्वा लोकाः प्रष्टुमागच्छन्ति । यतः—

मनोहरपुरोपान्ते, ध्यानलीनं तु योगिनम् ।
दृष्ट्वा शुभाशुभं प्रष्टुं, व्रजन्ति स्म प्रगे प्रगे ॥ १ ॥

स्वं स्वं चिन्तितं मां, प्रष्टुं यदा जल्पन्ति मानवाः ।
तदा योगी जगौ लोका, विलोक्य कथ्यते शनैः ॥ २ ॥

ततो लोका वराहारैः, प्रीणयन्तो निरन्तरम् ।
प्रातः प्रातः समागत्य, प्रणामं तन्वते सदा ॥ ३ ॥

अन्येद्युर्मनुजा मध्य—दिनं यावत्स्थिता जगुः ।
यदा पृष्टं त्वयाऽस्माकं, कथ्यन्ते [ते] वाञ्छयते तदा ॥ ४ ॥

नो चेद्वयं भवन्तं तु, मुक्त्वा यस्य पदाम्बुजम् ।
प्रणम्य पृच्छयतेऽस्माभि-र्भावि सर्वं शुभाशुभम् ॥ ५ ॥
ततो योगी जगौ लोका आर्त्ताः पृच्छन्ति सन्ततम् ।
यद्भावि तद्भवत्यैव, कोऽपि न छुटति कर्मतः ॥ ६ ॥
दुंढणी ढुंढि ढुंढि जगदीठा, जो जस भावइ सो तस मींठा ।
सुखिइं बइठउ कोइ न दिट्ठो, इम जाणिनइं करउ धर्म मीठो ॥ ७ ॥

एवं प्रोक्ते योगिना लोका सन्तोषं कृत्वा धर्मं चक्रुः ।

इति धर्मविषये योगिकथा ॥ १५५ ॥

[156] अथ क्रोधत्यजनविषये तापसकथा ।

एकस्मिन्पुरोद्याने भीमस्य तापसस्य तपः कुर्वतश्चक्षुषो विषमुत्पन्नं । ततश्चक्षुर्विषं ऋषिर्दध्यौ–यो मां पराभविष्यति तस्मै एवाहं शिक्षां दास्ये दृग्विषमुञ्चनात् । ततोऽटव्यामन्यदा तस्य तापसस्य मस्तके बलाहिका विष्टां चकार । तदा स रुष्टस्तां भस्मीचक्रे दृष्टिविषेण । ततोऽन्यदा कस्यचिच्छ्रेष्ठिनो गृहे भिक्षां याचितुं गतः । तत्र श्रेष्ठिपत्नीदत्तं शीतलमाहारं न गृह्णाति । तदा श्रेष्ठिपत्न्योक्तं–भिक्षुक ! 'अनइ ऊंन्हां जीम प्रो' ततस्तेन दृष्टिविषं मोचितुं रक्ता दृष्टिः कृता । ततः साऽवग्–नाहं बलाहिका यत्त्वया क्रोधेन व्योम्नि गच्छन्ती भस्मीकृता । तापसोऽवग्–भो श्रेष्ठिप्रिये ! वनस्थं मच्चेष्टितं त्वं कथं वेत्सि ? श्रेष्ठिपत्न्यवग्–स्वं चरित्रं स्वयं प्रकाशयन् लघुतां याति, तेन त्वमयोध्यायां गच्छेः । तत्र देवडः कुम्भकारः कथयिष्यति मच्चरित्रं । ततः स तापसोऽयोध्यायां देवडकुम्भकारपार्श्वे गत्वा प्राह—सा श्रेष्ठिपत्नी वनस्थं मच्चरित्रं कथं वेत्ति ? सोऽवग्–साऽतीवक्षमावती विद्यते, रोषं तु कस्योपरि न कुरुते, तेन तस्य अवधिज्ञानं जातं, तेन ततो जानाति सर्वं यतः—

क्षमाखड्गः करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति ।
अतृणे पतितो वह्निः, स्वयमेव प्रशाम्यति ॥१॥

तापसोऽवग्–त्वं कथं जानासि तस्याः स्वरूपं ? कुम्भकारोऽवग्–सैव कथयिष्यति । ततः स तत्र गत्वा श्रेष्ठिपत्नीपार्श्वे कुम्भकारज्ञातृस्वरूपं पप्रच्छ । तयोक्तं–तस्यापि क्षमाकरणात् । ततः स क्रोधं मुक्त्वा क्षमयित्वा तां तपश्चक्रे ।

इति क्रोधत्यजनविषये तापसकथा ॥ १५६ ॥

[157] अथ मस्तकचटितमुकुटादिकथा शुभाशुभयोर्विषये ॥

कस्मिंश्चिद्ग्रामे बहवो जना समायामुपविष्टाः परस्परं गोष्ठीं कुर्वाणा अभूवन्निति, तदा

एकेन पृष्टमन्यस्याग्रे–मस्तके चटित किं किं शुभं भवति किं किमशुभं च ? यदा च केनापि न ज्ञात तदैकेन श्राद्धेन बुद्धि प्रोक्तं–मस्तके चटिता मुकुटमस्तकशीर्षिका पुष्पबोरसिन्दूरवेणीप्रभृतय: शुभा भवन्ति, शिरोऽर्त्तिपुत्रिका च अशुभा भवत. । यत:—

शिरोऽर्त्तिर्वेदनामुत्पादयति, 'पुत्रिका लालिता या सा मस्तके चटितोच्यते' साऽपि मातापित्रोर्दुःखावहा भवति ।

इति मस्तकचटितमुकुटादिकथा शुभाशुभयोर्विषये ॥१५७॥

[158] अथ लौकिकी कृष्णार्जुनसम्बन्धिकथा ।

एकदा भद्रामवगणय्य अर्जुनो निजपुराद् द्वारवतीं प्रति चचाल तदा भद्रा स्वस्मिन्नवहीलनां ज्ञात्वा षट्त्रिंशदायुधानि लात्वा योद्धुं संमुखमागात्। तदा पार्थस्तया सह योद्धुं । भद्रा बाणधोरणीं मुञ्चन्ती पार्थस्योपरि मण्डपं चक्रे। तदाऽर्जुनेन युध्यता भद्राया हृदि बाणो मुक्त । तदा रक्तबिन्दुः पपातावनौ। स बिन्दुः पूर्वभद्रावत् द्वितीयभद्राऽभूत् । एवं यावन्तो रुधिरबिन्दवः पतिताः तावन्त्यो भद्रा अभूवन् । भद्राणा लक्षशः दृष्ट्वा पार्थः भद्रायाश्चरणकं चिच्छेद यदा तदा भद्रा नग्नाऽभूत् । ततः पार्थः परस्त्रीसहोदरत्वात् पराङ्मुखोऽभूत् । ततो भद्राऽवग्–भो अर्जुन ! सुभटास्तु पृष्टिं न ददते, त्वं तु सुभटतमः, कथ पृष्टिं दत्से ? ततोऽर्जुनोऽवग् भो भद्रे ! स्वपृष्ठो विलोकय । तदा भद्रा स्वं नग्नत्वं दृष्ट्वाऽर्जुनस्य तु परस्त्रीपराङ्मुखत्वं च तुष्टा सती प्राह–भो पार्थ ! वरं याचस्व ! अर्जुनोऽवग्–यदि तुष्टाऽसि तदा स्वीयां विद्या मम वितर।

भद्राऽवग्- मया तुभ्यं स्वीविद्या दत्ता। ततस्ता कलां पार्थो लात्वा द्वारकायामाययौ, कृष्णस्य मिलितः, कृष्णस्य भगिनीं स्वानुरागां ज्ञात्वा पार्थो रथारूढां कृत्वा चचाल। ततः कृष्णः सुभद्रां चालयितुं यान् भटानप्रेषयन् ते भग्ना. पश्चादाययुः। ततः कृष्ण तां चालयितुं चचाल। ततोऽर्जुनो भद्रादत्तविद्यया युध्यति। कृष्णो बाणधोरणीं तथा मुमोच यथा पार्थो हृदि विद्ध । ततो यावन्तो रुधिरबिन्दव पेतु तावन्तो अर्जुना बभूवुः। ततो लक्षशोऽर्जुनान् दृष्ट्वा स्वां भगिनीं पार्थाय ददौ । ततोऽथ वर मार्गय अर्जुनोऽपि प्राह–मार्गय वर। कृष्णोऽवग्–अतः परमनेन युद्धेन न योद्धव्यम्। ततोऽर्जुनोऽवग्–अतः पर त्वया सममेव मया न योद्धव्यं यदा कौरवै सहास्माकं युद्धं जायते तदा त्वं सहायीभव । यत्रि कदाचिदस्माक पञ्चाना मध्य एकोऽपि म्रियते तदा त्वया पञ्चमेन भाव्य। कृष्णेनापि तत्प्रतिपन्नं। मया च तव रथे सारथिना स्थातव्यं। ततो यदा पाण्डवाना कौरवैः सह युद्धमभूत् तदा कृष्णः पार्थस्य शाकटिकोऽभूत। तत. कौरवा हता.। इति लौकिकी कृष्णार्जुनसम्बन्धिकथा ॥१५८॥

[159] अथ कर्मोपरि वेश्यापुत्रकथा ।

एकस्मिन्पुरे भीमभूपस्य पुत्राणां शतमभूत् । राजा क्रमान्मृतः। पञ्चदिव्यानि अभिमन्त्रितानि हस्ती यदा राज्यं दातुं चचाल तदा लोको जगौ–न ज्ञायतेऽसौ कस्य राज्यं दास्यते।

हस्ती एकस्यापि राजपुत्रस्योपरि न पूर्णकलश ढोलयामास। ततो हस्ती पुराद्बहिर्गत्वा सर पाली सुप्तस्य बालकस्योपरि ढोलयामास। तत. शुण्डयोत्पाट्य तं स्वस्कन्धे चारोपयामास। ततो लोका जगु—असौ राजा कामकेल्या वेश्यायाः पुत्रोऽतः कथमस्य प्रणामः करिष्यते। तदा व्योम्नि वाणी बभूवेति अनेन पूर्वभवे जिनार्चा कृता तेन राज्य जात। एकदा च जातिगर्वः कृतस्तेन नीचकुले जात। ये भूपपुत्राः सन्ति अल्पपुण्यास्तेन तेषां राज्य न जात। ततस्तस्य मन्त्रिभिर्नन्दभूप इति नाम दत्तं। ततो राजा स प्रभो पूजां कुर्वाणः सर्वान् राजपुत्रान् यथोचितं मानयन् भूरिशो जिनप्रासादान् कारयामास। यात्रा तीर्थेषु चक्रे। ततो न्यायमार्गेण पृथिवीं पालयन् स्वर्गं गतो राजा क्रमान्मुक्तिं गन्ता॥

इति कर्म्मोपरि वेश्यापुत्रकथा ॥ १५९ ॥

[160] अथ क्रोधमानमायालोभविषये सर्वलोकभूपवणिग्मंत्रिविप्रसम्बंधः।

एकस्मिन्पुरे चतुरशीतिचतुर्हट्टश्रेणिषु यद्विलोक्यते तल्लभ्यते। राजा च चन्द्र, मन्त्री सोम। श्रेष्ठिनः सामन्ता वणिक्पुत्रादयो बहवः सन्ति च। यद्यद्वस्तु तत्रायाति तत्तत्सर्वं लोकैर्गृह्यते इति ख्यातिः सर्वत्राऽभूत्। तदा सोमपुराधीशेन कमलेन परीक्षार्थं छारपुञ्जादिभिरष्टौ शकटानि भृत्वा प्रेषितानि। तस्मिन्पुरे लोका वस्तु गृहीतुं समागताः। छारपुञ्जादि दृष्ट्वा यदा लोकाः पश्चाद्वलिरे तदा वस्तुस्वामिभि प्रोक्तम्—अपराण्यपि शकटान्यानीतानि सन्ति, तेषु यद्वस्तु विद्यते तद्गृह्यता। लोका जगुस्तानि दर्शयथ। ततस्तैरुक्तं—शकटद्वये मानोऽस्ति। शकटद्वये क्रोधोऽस्ति। शकटद्वये लोभोऽस्ति। शकटद्वये मायाऽस्ति। यदि भवद्भिर्वस्तु न गृह्यते तदा युष्माकं पुरस्य ख्यातिर्गमिष्यति। तदा बहुभिर्लोकैर्मिलित्वा चत्वारि क्रोधमानमायालोभशकटानि गृहीतानि। द्रव्य दत्त जल्पित। ततः सायं स्थितं शकटचतुष्टयं राजद्वारे नीत। तै प्रोक्तं—यद्येतानि शकटानि पश्चाद्यास्यन्ति तदा पुरस्यास्य ख्यातिर्गमिष्यति। ततो लोभशकट राज्ञा गृहीत, ततो भूपा अतृप्ता जाताः। मायाशकट वणिग्भिर्गृहीत, ततो मायावन्तो वणिजो जाता। मानशकट मन्त्रिभिर्गृहीत, ततो मन्त्रिणो मानिनो जाता, यतो मन्त्रिणो जगत्तृण मन्यन्ते। क्रोधशकट विप्रैर्गृहीतमतस्तेषामतीव क्रोधोऽभूत्।

इति क्रोधमानमायालोभविषये सर्वलोकभूपवणिग्मन्त्रिविप्र कल्पिताः स्वयंज्ञेयाः ॥१६०॥

[161] अथ लक्ष्मीमदे चन्द्रसम्बन्धः।

धीरश्रेष्ठिनः वीरो भ्राता लघुरभूत्। धीरस्य पुत्रास्त्रयो जाता, वीरस्यैक एव चन्द्रः पुत्र। अन्येद्युर्भ्रातरि मृते चन्द्रो धीरस्यातीव वल्लभोऽजनि। यदा जिमति धीरस्तदा स्वस्य मध्ये जिमयामास। मृष्टान्नपानवस्त्रभूषणताम्बूलादिदानैश्चन्द्र धीरः प्रीणयति पोषयति च। क्रमात् पितृव्येन भ्रातृजो विद्या पाठितः।

एकदा चन्द्रोऽवग्—काका अह लक्ष्मीमर्जयितुं यामि। पितृव्यस्तु मोहाच्चन्द्रमात्मनः सकाशादन्यत्र न प्रेषयति।

एकेन पृष्टमन्यस्याग्रे–मस्तके चटितं किं किं शुभं भवति किं किं [illegible]मं च? यदा च केनापि न ज्ञातं तदैकेन श्राद्धेन बुद्धिमता प्रोक्तं–मस्तके चटिता मुकुटमस्तकशीर्षिका पुष्पबोरसिन्दूर-वेणीप्रभृतयः शुभा भवन्ति, शिरोऽर्त्तिपुत्रिका च अशुभा भवत. । यतः—

शिरोऽर्त्तिर्वेदनामुत्पादयति, 'पुत्रिका लालिता या सा मस्तके चटितोच्यते' साऽपि मातापित्रोर्दुःखावहा भवति ।

इति मस्तकचटितमुकुटादिकथा शुभाशुभयोर्विषये ॥१५७॥

[158] अथ लौकिकी कृष्णार्जुनसम्बन्धिकथा ।

एकदा भद्रामवगणय्य अर्जुनो निजपुराद् द्वारवतीं प्रति चचाल तदा भद्रा स्वस्मिन्नवहीलनां ज्ञात्वा षट्त्रिंशदायुधानि लात्वा योद्धुं संमुखमागात् । तदा पार्थस्तया सह योद्धुं '। भद्रा बाणधोरणीं मुञ्चन्ती पार्थस्योपरि मण्डपं चक्रे । तदाऽर्जुनेन युध्यता भद्राया हृदि बाणो मुक्त । तदा रक्तबिन्दुः पपातावनौ । स बिन्दुः पूर्वभद्रावत् द्वितीयभद्राऽभूत् । एवं यावन्तो रुधिरबिन्दवः पतिताः तावन्त्यो भद्रा अभूवन् । भद्राणां लक्षशः दृष्ट्वा :भद्रायाश्चरणकं चिच्छेद यदा तदा भद्रा नग्नाऽभूत् । ततः पार्थः परस्त्रीसहोदरत्वात् पराङ्मुखोऽभूत् । ततो भद्राऽवग्–भो अर्जुन ! सुभटास्तु पृष्टिं न ददते, त्वं तु सुभटतमः, कथं पृष्टिं दत्से ? ततोऽर्जुनोऽवग् भो भद्रे ! स्वपत्नी विलोकय । तदा भद्रा स्वं नग्नत्वं दृष्ट्वाऽर्जुनस्य तु परस्त्रीपराङ्मुखत्वं च तुष्टा सती प्राह–भो पार्थ ! वरं याचस्व ! अर्जुनोऽवग्–यदि तुष्टाऽसि तदा स्वीया विद्यां मम वितर ।

भद्राऽवग्- मया तुभ्यं स्वीविद्या दत्ता । ततस्तां कला पार्थो लात्वा द्वारकायामाययौ, कृष्णस्य मिलित., कृष्णस्य भगिनीं स्वानुरागां ज्ञात्वा पार्थो रथारूढां कृत्वा चचाल । ततः कृष्णः सुभद्रां चालयितुं यान् भटानप्रेषयन् ते भग्ना पश्चादाययुः । ततः कृष्ण तां चालयितु चचाल । ततोऽर्जुनो भद्रादत्तविद्यया युध्यति । कृष्णो बाणधोरणीं तथा मुमोच यथा पार्थो हृदि विद्ध । ततो यावन्तो रुधिरबिन्दव पेतु तावन्तो अर्जुना बभूवुः । ततो लक्षशोऽर्जुनान् दृष्ट्वा स्वां भगिनीं पार्थाय ददौ । ततोऽथ वरं मार्गय अर्जुनोऽपि प्राह–मार्गय वरं । कृष्णोऽवग्–अतः परमनेन युद्धेन न योद्धव्यम् । ततोऽर्जुनोऽवग्–अतः परं त्वया सममेव मया न योद्धव्यं यदा कौरवैः सहास्माकं युद्धं जायते तदा त्वं सहायोभव । यदि कदाचिदस्माकं पञ्चाना मध्य एकोऽपि म्रियते तदा त्वया पञ्चमेन भाव्यं । कृष्णेनापि तत्प्रतिपन्नं । मया च, तव रथे सारथिना स्थातव्यं । ततो यदा पाण्डवाना कौरवैः सह युद्धमभूत् तदा कृष्णः पार्थस्य शाकटिकोऽभूत् । तत. कौरवां हताः । इति लौकिकी कृष्णार्जुनसम्बन्धिकथा ॥१५८॥

[159] अथ कर्मोपरि वेश्यापुत्रकथा ।

एकस्मिन्पुरे भीमभूपस्य पुत्राणां शतमभूत् । राजा क्रमान्मृतः । पञ्चदिव्यानि अभिमन्त्रितानि हस्ती यदा राज्यं दातुं चचाल तदा लोको जगौ–न ज्ञायतेऽसौ कस्य राज्यं दास्यते ।

हस्ती एकस्यापि राजपुत्रस्योपरि न पूर्णकलशं ढोलयामास। ततो हस्ती पुराद्बहिर्गत्वा सर पालौ सुप्तस्य बालकस्योपरि ढोलयामास। तत. शुण्डयोत्पाट्य त स्वस्कन्धे चारोपयामास। ततो लोका जगु'—असौ राजा कामकेल्या वेश्यायाः पुत्रोऽतः कथमस्य प्रणाम करिष्यते ! तदा व्योम्नि वाणी बभूवेति अनेन पूर्वभवे जिनार्चा कृता तेन राज्यं जातं। एकदा च जातिगर्वः कृतस्तेन नीचकुले जात'। ये भूपपुत्राः सन्ति अल्पपुण्यास्तेन तेषां राज्य न जात। ततस्तस्य मन्त्रिभिर्नन्दभूप इति नाम दत्तं। ततो राजा स प्रभो पूजां कुर्वाणः सर्वान् राजपुत्रान् यथोचितं मानयन् भूरिशो जिनप्रासादान् कारयामास। यात्रा तीर्थेषु चक्रे। ततो न्यायमार्गेण पृथिवीं पालयन् स्वर्गं गतो राजा क्रमान्मुक्तिं गन्ता॥

इति कर्म्मोपरि वेश्यापुत्रकथा ॥ १५९ ॥

[160] अथ क्रोधमानमायालोभविषये सर्वलोकभूपवणिग्मंत्रिविप्रसम्बंधः।

एकस्मिन्पुरे चतुरशीतिचतुर्हट्टश्रेणिषु यद्विलोक्यते तल्लभ्यते। राजा च चन्द्र, मन्त्री सोम। श्रेष्ठिनः सामन्ता वणिक्पुत्रादयो बहवः सन्ति च। यद्यद्वस्तु तत्रायाति तत्तत्सर्वं लोकैर्गृह्यते इति ख्यातिः सर्वत्राऽभूत्। तदा सोमपुराधीशेन कमलेन परीक्षार्थं छारपुञ्जादिभिरष्टौ शकटानि भृत्वा प्रेषितानि। तस्मिन्पुरे लोका वस्तु गृहीतुं समागताः। छारपुञ्जादि दृष्ट्वा यदा लोकाः पश्चाद्वलिरे तदा वस्तुस्वामिभि प्रोक्तम्—अपराण्यपि शकटान्यानीतानि सन्ति, तेषु यद्वस्तु विद्यते तद्गृह्णत। लोका जगुस्तानि दर्शयथ। ततस्तैरुक्तं—शकटद्वये मानोऽस्ति। शकटद्वये क्रोधोऽस्ति। शकटद्वये लोभोऽस्ति। शकटद्वये मायाऽस्ति। यदि भवद्भिर्वस्तु न गृह्यते तदा युष्माक पुरस्य ख्यातिर्गमिष्यति। तदा बहुभिर्लोकैर्मिलित्वा चत्वारि क्रोधमानमायालोभशकटानि गृहीतानि। द्रव्य दत्त जल्पित। ततः साय स्थितं शकटचतुष्टय राजद्वारे नीत। तै प्रोक्तं—यद्येतानि शकटानि पश्चाद्यास्यन्ति तदा पुरस्यास्य ख्यातिर्गमिष्यति। ततो लोभशकट राज्ञा गृहीत, ततो भूपा अतृप्ता जाताः। मायाशकट वणिग्भिर्गृहीत, ततो मायावन्तो वणिजो जाता। मानशकट मन्त्रिभिर्गृहीत, ततो मन्त्रिणो मानिनो जाता, यतो मन्त्रिणो जगत्तृण मन्यन्ते। क्रोधशकट विप्रैर्गृहीतमतस्तेषामतीव क्रोधोऽभूत्।

इति क्रोधमानमायालोभविषये सर्वलोकभूपवणिग्मन्त्रिविप्र कल्पिताः स्वयंज्ञेयाः ॥१६०॥

[161] अथ लक्ष्मीमदे चन्द्रसम्बन्धः।

धीरश्रेष्ठिनः वीरो भ्राता लघुरभूत्। धीरस्य पुत्रास्त्रयो जाता, वीरस्यैक एव चन्द्रः पुत्र। अन्येद्युर्भ्रातरि मृते चन्द्रो धीरस्यातीव वल्लभोऽजनि। यदा जिमति धीरस्तदा स्वस्य मध्ये जिमयामास। मृष्टान्नपानवस्त्रभूषणताम्बूलादिदानैश्चन्द्रं धीरः प्रीणयति पोषयति च। पितृव्येन भ्रातृजो विद्या पाठितः।

एकदा चन्द्रोऽवग्—काका अह लक्ष्मीमर्जयितुं यामि। पितृव्यस्तु मोहाच्चन्द्रमात्मनः दन्यत्र न प्रेषयति।

अन्यदा पितृव्यं परिपृच्छयान्यत्र ग्रामे व्यवसायार्थं गतः तदा तस्य ग्रामस्याधीशे मृते भूप-पुत्र पद्मो राज्ये उपविष्टः। चन्द्रस्तस्य पार्श्वे ाति। क्रमात्स मन्त्री कृतो राज्ञा। ततश्चन्द्रो वयवेषभृत् बहुसेवकेभ्य परिवृतो राज्यचिन्ता करोति बहुसेवकैर्दत्तहस्तश्चलति। चन्द्र सेवकाः शयने उपवेशयन्ति। त पादुकादि संपरिधापयन्ति शयनोपवेशनावसरे पादौ चम्पयन्ति। चलतस्तस्य मार्गं दर्शयन्ति, जल्पने जी-जी कुर्वन्ति। एवमिभ्या अग्रेतना मन्त्रिणोऽपि जी-जी शब्दं कुर्वन्ति स्म।

इतो धीरोऽन्येन जनेनोक्तः—भो श्रेष्ठिन्! भूपस्यातीवमान्यो जातोऽस्ति, भवता पालितोऽस्ति तत्र गम्यते तत्रापि सन्मानदानप्रीणन करिष्यति। तत श्रेष्ठी तत्र पुरे गत। राजमार्गे भ्रातृजं जनहस्तविलग्न गच्छन्तं दृष्ट्वा तत्रागच्छतिः श्रेष्ठी। राज्यमदलक्ष्म्यन्धीभूतो भ्रातृजश्चन्द्रः पितृव्यस्य संमुखमपि न विलोकयति। ततो मध्याह्ने कथंचिद्द्वारपालक मानयित्वा भ्रातृजपार्श्वे गतः। भ्रातृजस्तु भुक्त्वा शयने सुप्तोऽभूत्। तदा एके तेन समं वार्तां कुर्वन्ति। एके पादौ चुम्पन्ति। एकस्तु पत्राण्यर्पयति नागपत्राणि छागवद्भक्षयति। एव कुर्वन् चन्द्रः पितृव्यस्य संमुखमपि न विलोकयति। तत पश्चात्स्वगृहे समागतः श्रेष्ठी लोकैः पृष्टः—भ्रातृजेन किं दत्तं? कथं कथं सन्मानितो भवान्? श्रेष्ठ्यवग्—अधुना भ्रातृजो मन्दोऽस्ति स च तेन मां नोपलक्षयति। लोकोऽवग्—नीरोगभवन यावत् किं न स्थित, कथं नीरोगो भविष्यति। श्रेष्ठी प्राह—पञ्च वा सप्त वा नन्यामात्यतुल्यवैद्या नीरोग करिष्यन्ति।

इतोऽमात्यैश्चन्द्रस्य चाडिका कृत्वा कारागारे चन्द्र क्षिप्तः। राज्ञा सर्वं धनं गृहीत बाहुसखाकृतश्च। ततो दध्यौ चन्द्रः कथमहमितो गुप्तिगृहान्निःसरिष्यामि। ततो गुप्तिगृहेषु सुप्तेषु छन्न निर्गत्य स्वपुरमागाच्चन्द्र 'काका जुहारेति' 'वदन्मिलित काकोऽवग्—भ्रातृज! कथं नीरोगता ते जाता? भ्रातृजोऽवग्—राजदण्डामात्यवैद्यैः नीरोगोऽहं कृतः। ततः श्रेष्ठी प्राह—वयं जातं यत्त्व नीरोगोऽभूः। भ्रातृज! धनेनैवमन्धीभूयते। अहं तत्रागतोऽपि त्वया न वीक्षितः। ततः उत्थाय चन्द्रः पितृव्यपदोः पतित्वा क्षमयामास स्वापराध मम शिक्षां ददस्व। ततः पितृव्योक्ते पुण्यमार्गे भ्रातृजो लग्न। इति लक्ष्मीमदे चन्द्रसम्बंधः ॥१६१॥

[162] अथ कृपणत्वे श्रेष्ठिसम्बंधः।

श्रीपुरे भीमश्रेष्ठी कृपणः स्तोकमपि धनं न व्ययति धर्मे गृहे च। एकदा श्रेष्ठी पुत्रं सर्पदष्ट मत्वा दध्यावसौ अत्र पुरे गारुडिकोऽस्ति। स च सर्पदष्ट ५० दीनारैः, वृश्चिकदष्ट चतुर्भिर्द्रम्मैर्जीवयति। यदि सर्पदष्टं कथयिष्यामि पुत्रं तदा ५० दीनारान् मार्गयिष्यति। ततो वृश्चिकदष्टं पुत्र कथयिष्यामि। ततो मन्त्रज्ञपार्श्वे पुत्र नीत्वा श्रेष्ठी प्राह—वृश्चिकदष्ट मत्पुत्र निर्विषं कुरु। ४ द्रम्मा दास्यन्ते। ततो मन्त्रज्ञो वृश्चिकमन्त्रं जपन्नभूद्यावत् तावत् श्रेष्ठ्याह—सर्पस्यापि मन्त्रो जपनीयोऽन्तराले। ततो मन्त्रज्ञोऽवग् ५० दीनारान् देहि। श्रेष्ठी तु कृपणत्वात् न दत्ते। ततः पुत्रो मृत। कृपणत्वात् पुत्रो मृतः सेहे।

इति कृपणत्वे श्रेष्ठिसम्बन्धः ॥१६२॥

[163] अथ मरुस्थलीयमुग्धजनसम्बंधः ।

एकदा गुरवः क्वचिद्ग्रामे मरुस्थल्यां ययुः । लोकेभ्यो धर्मोपदेशो दत्तः । साधवो विहर्त्तुं गता । श्राविकाभिः पृष्ट श्रीगुरूणां भवता वा करमदीरास. समेति नवा ? साधुभिरुक्त–न समेति । ताभिरुक्त गुरूणां करमदीरासोऽपि नायाति, इति हसितम् ।

तत साधुभिः श्राद्धीहसितसम्बन्ध गुरूणा ज्ञापितं । गुरवो जगु–यूयं मुग्धा' न जानीथ जल्पित । कल्ये भवद्भि. श्राद्धीनामग्रे वक्तव्य शालायामागम्य । गुरव कथयिष्यन्ति रास । श्राविका गुरुपार्श्वे आगताः । गुरुभि' प्रोक्तं–करमदीरासा बहवः सन्ति । युष्माक क समेति को न ? ततस्ताभिः प्रोक्तं–वय जानीम एक एव रासोऽस्ति । गुरवो जगु'–यो युष्माकमायाति स गण्यतां । ततस्ताभिरुक्तो, गुरुभिरपि प्रोक्त स एव, ततस्ताभिरुक्त गुरवो विज्ञा एव ।

एवं मरुस्थलीयमुग्धजनसम्बंधः ॥१६३॥

[164] अथ धर्मविषये वज्र–रत्न–लोहाकरादिसम्बंधेद्रव्य धर्मगणितचरणानुयोगसम्बन्धः ।

लक्ष्मीपुरे जितशत्रोर्भूपस्य श्री. पत्न्यभूत् । चत्वारः पुत्रा भीम–सोम–चन्द्रा–र्जुननामाना । तस्य राज्ञो वज्र–कनक–रजत–लोहाकरा आसन् । राज्ञा परलोकं गच्छता चत्वार आकराः प्रत्येकं विभज्य दत्ताः । त्रयो हृष्टाः । चतुर्थो लोहाकरग्राही कृष्णास्योऽभूत् । चतुर्थं भूपपुत्रं श्यामास्य वीक्ष्य सुमतिर्मन्त्री पप्रच्छ । किं तवास्यमीदृग् ? ततस्तेन श्यामास्यसम्बन्धे प्रोक्ते मन्त्री प्राहार्जुनं प्रति पिता त्वां लघुं पुत्र ज्ञात्वा भक्त्या तव लोहाकरो व्यश्राणि । अर्जुनोऽवग्–कथं ज्ञायते ? मन्त्री प्राहेति–पित्रा ज्ञापितमस्ति ते लोहाकरात् यावन्मात्रं लोहं नि पद्यते तावत्त्वया भण्डारे स्थाप्य, न विक्रेतव्यं । वज्राकारादयो लोह विना न वज्रादि लातुमीशते । ततोऽर्जुनोऽखिलं लोह भण्डारे चिक्षेप । क्रमाल्लोहे निष्ठिते ते भीमादयो राजपुत्रा लोह विना वज्रादीन् लातु समारयितुं न समर्था बभूवु । ततः साधिकं वज्रादि तोलयित्वा लोहं गृह्णते । ततोऽर्जुनस्य बहुले धने जाते हया हस्तिनो रथाः पदातयो बहवोऽभूवन् । क्रमान्महद्राज्यं जातम् । अर्जुनोऽपि भूपपुत्रो सुखी जात. । उक्त च––

जह रन्नो विसएसुं, वइरे कणगे य रययलोहे अ ।
चत्तारि आगरा खलु, चउण्ह पुत्ताण ते दिन्ना ॥१॥

चिंता लोहागरिए, पडिसेहं कुणइ सो उ लोहस्स ।
वयराए हि अगहणं, करंति लोहस्स तिन्निअरे ॥२॥

एवं चरणंमि ठिओ, कारइ गहणं विहीइ इयरेसिं ।
एएणं कारणेणं, हवइ हु चरणमहिड्ढिअं ॥३॥

द्रव्यानुयोगो दृष्टिवाद. ॥१॥ धर्मानुयोग उत्तराध्ययनादि ॥२॥ गणितानुयोगः सूर्यप्रज्ञप्त्यादिः ॥३॥ चरणानुयोग ओघनिर्युक्त्यादिः ॥४॥

एतेषु चरणकरणानुयोगो मुक्तिहेतुः स्यात् ।

इति धर्मविषये वज्र–रत्न–लोहाकरादिसम्बन्धे द्रव्य– –गणित-चरणानुयोगसम्बन्धः ॥१६४॥

[165] अथ प्रथमं चरणशास्त्रसाधुभणनसम्बंधः ।

बालाईणणुकंपा, सखडिकरणंमि होइ अगारीणं ।
उमे बीअं भत्तं, रन्ना दिन्नं वयस्स ॥१॥
एवं थेरेहिं इमा, अपावमाणाण पयविभागं तु ।
साहूणणुकंपट्ठा, उवहिट्ठा ओहनिजुत्ती ॥२॥

तथाहि–कस्मिन् ग्रामे विवाहे जायमाने बालाना प्रातरेवानुकम्पायै मारिकादिना प्रथमालिका दीयते । अन्येषां वृद्धानां मध्याह्ने । एवं प्रथमदीक्षितानां साधूनां प्रथममोघनिर्युक्तिर्दीयते भाण्यते पश्चात्क्रमादपरशास्त्राणि । एवं बाला प्रथमदीक्षिताः साधवः सुखिनः स्युः ।

इति प्रथमं चरणशास्त्रसाधुभणनसम्बन्धः ॥१६५॥

[166] अथ धर्मे ओघनिर्युक्तिसम्बन्धः ।

अवमे दुर्भिक्षे सर्वाः प्रजा धान्यं विना म्रियमाणा दृष्ट्वा दध्यौ—प्रजासु सतीषु राजा वर्धते । ततो राजा भाण्डागाराद् धान्यं कर्षयित्वा प्रजाभ्यो ददौ । प्रजाः सुखिन्योऽभूवन् एवं जिनैरोघनिर्युक्तिर्दत्ता । इति धर्मे ओघनिर्युक्तिसम्बन्धः ॥१६६॥

[167] अथ सन्दिग्धजल्पने सम्बन्धः ।

उज्जयिन्यां मालवाख्या भूपा आगत्य मनुजान् हरन्ति । ततो लोका बिभ्यति ।

एकदा कूपेऽरघट्टमाला पतिता । तत्रैकेन नरेणोक्त—माला पतिता । अपरेण ज्ञात मालवाः, ततो मालवा मालवाः पतिता इति शब्दे श्रुते भयाल्लोका नष्टा ।

इति सन्दिग्धजल्पनसम्बंधः ॥१६७॥

[168] अथ हितोपदेशे धर्माद्देवा अपि सान्निद्ध्यं कुर्वन्तीति विषये कथा ।

कलिङ्गदेशे कञ्चनपुरे धर्मिष्ठाः श्राद्धा वसन्ति । सातिशयज्ञानिनः सूरयस्तत्र भव्यजीवप्रतिबोधायागता विहरन्त । सन्ध्याया गच्छतां तेषां सूरीणामेकस्य वृक्षस्य महत अधो देवता स्त्रीरूपधरा सकृप रौति । दिनद्वय त्रयं दृष्ट्वा सूरि प्राह—भो स्त्रि ! किं रोदिषि । साऽवग्—अहं कारणेन रोदिमि । गुरु प्राह—किं कारणम् ? साऽवग्—अहमस्य पुरस्याधिष्ठात्री । अस्मिन्पुरे साधवः स्वाध्यादिपुण्य कुर्वन्ति प्रासादा सन्ति । पुरमेतन्नदीप्रवाहेण प्लावयिष्यते । गुरु प्राह किमभिज्ञानमस्ति । सा देवताऽवग्—कल्ये भवत्सम्बन्धी साधुर्दुग्धं विहरिष्यति तच्च रुधिर

भविष्यति । ततस्तद्दृष्ट्वा युष्माभिर्नष्टव्यं । यत्र रुधिरं दुग्धं भवति तत्र स्यातव्यं । एतत्सर्वं देवतोक्तं गुरुभि श्राद्धानां पुर प्रोक्त । ततो द्वितीयदिने दुग्ध रुधिरं भूतं दृष्ट्वा गुरुभिर्नष्टं । यत्र तद् दुग्धं जात तत्र गुरुभि स्थित, ये च गुरुभि सह निर्गतास्तेऽपि यत्र गुरवः स्थितास्तत्रागता । पश्चान्नदीप्रवाहेण पुर सर्वं प्लावित । ये स्थिता मृतास्ते, ये च गुरुभि साद्धं निर्गताश्चिरं जीवितास्ते च धर्मं चक्रु । यत्र रुधिर दुग्ध जात तत्र पुर स्थापित, श्राद्धा वसन्ति स्म । गुरव स्थिताः प्रासादा अर्हतां निष्पन्ना ।

इति हितोपदेशधर्माद्देवा अपि सान्निध्य कुर्व्वन्तीति विपये कथा ॥१६८॥

[169] अथ जिनाज्ञापालने कथा ।

रन्नो तणघरकरण, सचित्तकम्मं गामसामिस्स ।
दुन्हपि दडकरण, विवरीअमन्नेणुवणुओ अ ॥ १ ॥

जह नरवइणो आणं, अइक्कमंता पमायदोसेणं ।
पावंति बंधवहरोहछिज्जमरणावमाणाणि ॥ २ ॥

अत्र कथा—एकेन भूपेन एको ग्रामश्चन्द्रपुराह्वः सेवकस्य दत्तोऽन्योन्यस्य लक्ष्मीपुराह्व ।

अन्यदा राज्ञा ज्ञापित—अहं चन्द्रपुरे समेष्यामि । तदा ग्रामस्वामिना लोकैश्च राज्ञोऽर्थं तृणकुटीर कृतं । ग्रामेशस्य वर्यं सचित्रकर्म्मं च । राजा तत्र गत. । राज्ञा स्वोत्तारस्तृणमयो दृष्टः । ग्रामस्वामिनः सचित्रकर्म्ममयश्च, ततो राज्ञा लोका ग्रामेशश्च दण्डितः । एव भूपतुल्यो जिन., ग्रामेशतुल्या गुरव., ग्रामलोकतुल्या श्राद्धाः । ये जिनेन्द्रोक्तं धर्मानुष्ठानं कुर्वन्ति ते सुखिनः स्यु., ये न कुर्वन्ति ते दुःखिनः स्यु ।

इति जिनाज्ञापालने कथा ॥ १६९ ॥

[170] अथ जिनेन्द्रगुरुमातृपितृसुहृदादिवचःपालने दृष्टांतः ।

जिअसत्तुदेविचित्तसहपविसणं कणगपिट्ठपासणया ।
डोहलदुब्बलपुच्छा, कहणं आणा य पुरिसाणं ॥ १ ॥

सीवन्निसरिसमोअग – करणं सीवन्निरुक्खहिट्ठासु ।
आगमणकुरंगाणं, पसत्थमपसत्थउवमाओ ॥ २ ॥

बिइय मेअं कुरंगाण, जया सीवन्निसीवइ ।
पुराविवाया वायंति, न उण पुञ्जगपुञ्जगा ॥ ३ ।

वसन्तपुरे जितशत्रोर्भूपस्य धारिणी पत्न्यभूत् । सा चैकदा चित्रसभायां गता कनकपृष्ठमृगान् दृष्ट्वा दोहदं प्राप्य चेति दध्यौ । "सा धन्या स्त्री या एवविधमृगचर्मसु सुकुमालेषु

स्वपिति, एवंविधानां मांसानि च खादन्ति" । एवंविधदोहलेन दुर्बलाऽभूद्धारिणी, राज्ञा दुर्बलकारणे पृष्टा राज्ञी स्वदोहदोत्पत्तिस्वरूप जगौ । ततो राज्ञी दोहदस्वरूप सेवकानामग्रे प्रोक्तं । ततस्ते सेवका जगुः । तेषा मृगाणा श्रीपर्णीफलाहारो वल्लभो भवति । यत्र श्रीपर्णीफलानि भवन्ति तत्रावश्य भक्षयितुमायान्ति । अधुना श्रीपर्णीफलभवनकालो नास्ति तेन कृत्रिमाणि श्रीपर्णीफलानि कृत्वा श्रीपर्णीवृक्षाणामधो मुच्यन्ते । तेषु ते मृगाः समायान्ति भक्षयितुं तानि, ततो म्रियन्ते मृगाः, तान् हत्वा राज्ञ्या दोहदः पूर्यते । एव विचार्य राज्ञा कनकपृष्ठमृगग्रहणार्थं सेवकाश्चालिताः, ते च तस्मिन्वने गता, श्रीपर्णीतरूणामधः कृत्रिमश्रीपर्णीफलैः पुञ्जाः कृताः । ते नृपसेवकाश्छन्नं स्थिता । तदा शनैः शनैः कनकमृगाः श्रीपर्णीफलपुञ्जं दृष्ट्वा यूथपतेः पुरो मृगा जगुः—श्रीपर्ण्यः फलिताः । ततो यूथपतिस्तत्राभ्येत्य श्रीपर्णीफलपुञ्जान् वीक्ष्य दध्यौ—अस्मिन्काले श्रीपर्णीफलानि न भवन्ति । कदाचिद्भवन्ति तदा पुञ्जा न भवन्ति । वायुवशात्कदाचित्पतन्ति तदा पुञ्जा न भवन्ति । इत्यादि ध्यात्वा यूथपतिः प्राह—अत्र केन कूटं कृतमस्ति तेन वृक्षाणामधो न केनापि यातव्यं, यूथपतिना प्रोक्ता ये न तत्र गतास्ते सुखिनोऽभूवन् ये च गतास्ते हता । एवं येऽर्हदुक्तं गुरुवचनं कुर्वन्ति ते स्वर्गादिभाजः स्यु', ये जना न कुर्वन्ति गुरूक्त ते नारकादिदुःखभाजो भवन्ति ।

इति जिनेन्द्रगुरुमातृपितृसुहृदादिवचःपालने दृष्टान्तः ॥१७०॥

[171] अथ हितोपदेशे कथा ।

हत्थिग्गहणं गिम्हे, अरहट्टेहिं भरंतु सरसीणं ।
अद्धुदए नलवणा, अभिरूढा गयकुलागमणं ॥१॥

बिइअ मेअं गयकुलाणं, जयारोहंति नलवणा ।
अन्नया वि झरंति झरा, नय एवं वहु उदगा ॥२॥

श्रीपुरे अरिमर्द्दनभूपस्य हस्तिना ग्रहणेच्छाऽभूत् । तेन राज्ञा कुञ्जरग्रहणार्थं पुरुषा आदिष्टा । ततस्ते राजपुरुषा दध्युरिति यत्र हस्तिनस्तिष्ठन्ति तत्र नलवन शुष्कं ग्रीष्मकालजल तत्र नास्ति तेनारघट्टकरणसरणिप्रयोगेण जल कर्षयित्वा नलवणमारोप्य सिच्यते । ततो नलवनं प्ररूढं हरितमय नलवन दृष्ट्वा हस्तिनो यूथपते. पुरः प्रोचु—नलवन प्ररूढ तत्र गम्यते नलवनतृणानि भक्ष्यन्ते । ततस्तत्र समीपे समेत्य सरणिप्रयोगेण पानीयमागच्छत् प्ररूढं नलवनं दृष्ट्वा हस्तीश्वरोऽपरेषां हस्तिना पुर प्रोचु—ग्रीष्मकाले एवविध जल न दृश्यते । पुरा कदाचिद् दृश्यते चेत्तदा एवविधानि न तृणानि दृश्यन्ते । तेनात्मना ग्रहणार्थं केनचित्कूट कृतमस्ति । अत्र न स्थीयते । तृणानि न भक्ष्यन्ते । एव यूथपतिना प्रोक्ता केचिद्यूथपतिप्रोक्त मन्यन्ते स्म केचिन्न मन्यन्ते । यैर्हस्तिभि' स्वामिवचः प्रतिपन्न ते सुखिनोऽभूवन् । यैर्न प्रतिपन्नं ते धृता हृता दुःखिनोऽभूवन् ।

एव यैर्गुरुमातृपितृतीर्थकृद्वचो मेने ते स्वर्गादिसुखभाजोऽभवन्, यैर्गुर्वादिवचो न मेने ते नरकतीर्यग्भवादिदुःख प्राप्यते । इत्यादिहितोपदेशे कथा ॥१७१॥

[172] अथ स्ववैरिवालनकथा ।

श्रीपुरे भीमो राजा राज्यं करोति। तस्य मस्तके टालि' पतिता। रोमाणि न निर्गच्छन्ति। तदा टालिस्फेटनाय वैद्यपार्श्वे औषध पृच्छति स्म । तदा एकदा तस्मिन्ग्रामे आरामिकेण वाटिका रोपिता। त्रपुसीप्रमुखफलानि वर्याणि जातानि। अन्यदा वाटीपार्श्वे गच्छन् कोऽपि धूर्त्तो वैद्यः त्रपुसीकृते प्रविष्ट । तदा तेन ताडितो हक्कितश्च रे दुष्ट ! त्व मम वाटया प्रविशसि किं ? ततो धूर्त्तो ग्राममध्ये गत्वा दध्यौ काच्छिकस्य मया शिक्षा दास्यते । ततो राज्ञो मिलित । राज्ञा पृष्टश्च कानि कानि शास्त्राणि भणितानि भवता ? तेनोक्त—वैद्यक—यन्त्रमन्त्रचूर्णवशीकरणादिशास्त्राणि भणितानि मया । ततो राजाऽवग्—भो वैद्य ! तथा कुरु यथा मम टालिर्याति । धूर्त्तोऽवग्—अमुकारामिकवाटी सवृत्ति प्रज्वाल्यते तस्य यद्भस्म स्यात्तेन यदि मस्तक खरण्टयते सप्त दिनानि यावत्तत्तदा टालिर्याति। ततो राज्ञादिष्टः सेवकस्ता वाटीं भस्म्यकार्षीत्। तदा तत्रागत्य धूर्त्तोऽवग्-वाटीं किं रक्ष्यते, तेन ततो मालिकोऽवग्-भो धूर्त्त ! मयापराधो य' कृत स क्षम्यताम्। ततो राजा जगौ-कथ मस्तके रक्षा लगाप्यते । धूर्त्तोऽवग्—भवता मस्तक रक्षया लगयता घोटिका न स्मरणीया। ततः सप्त दिनानि राजा रक्षा मस्तके लगयामास घोटिका स्मरन् , सप्तदिनादनु स धूर्त्तोऽवग्—कथ रक्षा लगिता शिरसि । सा मम मनसि घोटिका यातीति स्मरन् रक्षां लगयामासाह । ततो धूर्त्तोऽवग्-तव घोटिका विस्मृता न, तेन टालिर्न गता ।

इति स्ववैरिवालने कथा ॥१७२॥

[173] अथ पतितपुष्पचटापने नीचकुलप्राप्तिसम्बन्धः ।

चाण्डालस्य पत्न्या सदन्त पुत्रो जनितः सन् त्यक्तः अवकरे, स चापोत्कटेन भूपेन गृहीतः वर्द्धितः सर्वेषा मान्योऽभूत्। क्रमात्केवली राज्ञा पृष्ट । असौ पुत्रो मया पालित. । अनेन किं पुण्य कृत पुरा ? केवली जगौ-अनेन पुत्रेण श्रीजिनेन्द्रस्य पूजा कुर्वता एकदा पर्यस्तिकाया अध पतित पुष्प प्रभोश्चटापित भक्त्या, भक्तिपूजाप्रभावात्तव पालितपुत्रोऽखिलराज्ञपूज्यमानोऽभूद्यदनेन पतितेन पुष्पेण प्रभुः पूजितः तेन चाण्डालकुल प्राप्य तव पालितपुत्रतां प्राप। ततः प्रभुपूजाप्रभावात् भवे भवे वर्द्धमानां श्रिय प्राप्य मुक्तिं यास्यति ।

इति पतितपुष्पचटापने नीचकुलप्राप्तिसम्बन्धः ॥१७३॥

[174] अथ हितोपदेशे वानरयूथसम्बन्धः ।

एकस्मिन्वने वानरयूथपति शुष्कवन दृष्ट्वा वानरान्प्रति प्रोवाच। गच्छत -यूय शाड्वल वन पश्यतां। ततस्ते वानरा वनं वीक्ष्य यूथपते पुर प्रोचु —ततो यूथपतिर्वानरैस्तस्मिन्वने ययौ, शाड्वलानि तृणानि वर्याणि फलानि भक्षितानि तैः । द्रहे पय पातु ययौ यूथपतिः । तदा तत्र यूथेशस्तस्मिन् द्रहे पयः पातु आगच्छतां पशूनां पदानि दृष्ट्वा पश्चाद्वलमानानामदृष्ट्वा यूथेशो जगौ—भो वानरा ! यूय नलिनीपत्रै पयोऽत्र पिबन्त न च मध्ये प्रवेष्टव्य। अयं ह्रदः

सापायो दृश्यते । तेन यूथेशेनोक्तं ये चक्रुस्ते सुखिनो जाता ये च न चक्रुस्ते मृताः । एवं ये गुरुमातृपितृस्वामिमित्रादिवचः कुर्वते ते सुखिनो भवन्ति नेतरे ।

इति हितोपदेशे वानरयूथसम्बन्ध ॥१७४॥

[175] अथ विनये परस्परं भद्रिकासाधुसम्बन्धः ।

एकस्मिन्ग्रामे भद्रिका श्राविका वसति । तस्याश्चेट्यस्ति । अन्यदा भद्रिका क्षेत्रे गता । साधवस्तस्या गृहे भिक्षार्थमाययुः । चेटी धर्मलाभयामास तदा चेट्या कूरो दत्तः साधुभ्यः । साधुना मुद्गा मार्गिताः तया तेऽपि दत्ताः । पुनः पुन मार्गितं घृतदध्यादि दत्तं च । साधुर्गतः भद्रिकागता जेमितुमुपविष्टा कूरं याचितवती, चेटी साधवे ददे कूरः, भद्रिकाऽवग्-वर्यं कृतं मुद्गा मार्गिता भद्रिकया, चेट्योक्त साधवे दत्ता एवं यद्यद्याचते तत्तत्साधवे दत्तमिति चेट्योक्तं भद्रिका रुष्टा । गुरुपार्श्वे गत्वाऽवग्—भगवन् ! युष्माक साधव अनीदृशा विद्यन्ते । यतो मद्गृहसत्क यतय कूरमुद्गदध्यादि याचित्वा ललुर्दासीपार्श्वात् । ततो गुरुभि साधूनाकार्योक्तं—भो साधव ! एव विहरणे पापं लगति सारणादिः प्रोक्तं च । ततः स साधुरुत्थाय गुरु प्रणम्य जगौ—अहमद्य रसगृद्धोऽभूवमद्य मयैवं कृतमतः परं न करिष्ये । ततो भद्रिकाऽपि साधुवचः श्रुत्वाऽवग्—अहं मुग्धाऽभूव यद् गुरव उपलम्भिताः, ततो मिथो गुरुसाधुभद्रिकामिथ्यादुष्कृत चक्रुः ।

एवं विनये परस्परं भद्रिकासाधुसम्बन्धः ॥१७५॥

[176] स्वपरिवारचिन्ताकरणवणिक्पत्नीद्वयसम्बन्धः ।

एकस्मिन्पुरे द्वौ सोदरौ वणिजौ जातौ । तयो रूपश्रीधर्मश्रियौ प्रिये । ताभ्यामन्यस्मिन्ग्रामे कृषिर्मण्डिता । एकस्य महिला प्रभाते उत्थाय मधूदकेन मुख प्रक्षाल्य दन्तान् धावयित्वा वर्याभरणवस्त्रैर्भूषिता तिष्ठति । सा च कर्मकराणां सारां न चक्रे । एव कुर्वत्यास्तस्याः कर्मकरादयो गता. । क्रमाद् गृहं कर्मलक्ष्म्यादिरहित जात । ततः सा दुःखिनी जाता ।

अन्यस्य भ्रातुः पत्नी पुत्रपौत्रसेवककर्मकरादीना सारां भोजनादिना तु कुर्वाणा भुङ्क्ते । आभरणादि च परिधत्ते स्म । ततस्तस्या गृहं सदा पुत्रकर्मकरलक्ष्म्यादिभृतं जातं । तत सा चिर सुखिनी जाता ।

एवं यः साधुरन्यो वा गृहस्थः आत्मन. सारां करोति नान्येपा परिवारसत्काना स दुःखी स्यात् प्रथमभ्रातृपत्नीवत् । यस्तु साधुर्गृहस्थो वा स्वपरिवारचिन्तां कृत्वा आत्मचिन्तां करोति स द्वितीयभ्रातृपत्नीवत् सुखी भवति ।

इति गृहसारासारकरणदोपादौ—स्वपरिवारचिन्ताकरणवणिक्पत्नीद्वयसम्बन्धः ॥१७६॥

[177] अथ दक्षत्वे मत्स्यसम्बन्धः ।

एकस्मिन् जलाशये मत्स्यान् धर्त्तुं मत्स्यबन्धेन मांस यन्त्रबद्ध कृत्वा मुक्तं तदा तत्रैको मत्स्यो विचक्षणस्तत्र शनैः शनैः समेत्य यन्त्रस्य परित स्थितं मांस भक्षयित्वा पृथक्तिष्ठति। क्रमात्स मत्स्यः सर्वं मांसमाद । ततो मत्स्यबन्धे सावधानीभूते सति पुच्छेन जलं हन्ति मत्स्यः तदा मत्स्यबन्धकस्तं तथाविधं मत्स्यं दृष्ट्वा दध्यावेवमसौ यन्त्रे न पतिष्यति ततश्चैव ध्यायन्त मत्स्यबन्धक दृष्ट्वा मत्स्योऽवग्—अहमेकदा बलाकया गृहीतो यदा तदा बलाका मां मुखे क्षिपति यदा तदाऽह वक्रो भवामि । ततो बलाकया मुक्तो जलेऽगम । पुनर्बलाकया पूर्ववद्गृहीतो जलेऽगममेव वारत्रय बलाकामुखे वक्रत्वेन पतित्वा नष्ट । ततोऽधो गत, तत्र मत्स्यबन्धेन वलक (य) मुखानि मण्डितानि दृष्टानि मया, तेषु वलयमुखेषु पतितोऽह २१ वारां वलयमुखं त्रोटयित्वा कदाचिन्मायया मृतप्रायो भूत्वाऽऽस्थाम् यदा तदा मत्स्यबंधो मां मह्यां मुमोच। ततोऽहं नष्ट्वा जलेऽपत्त दैवयोगादह जले स्थितः क्रमाद् हृद शुष्क. मत्स्यबन्ध-स्तत्रागात् कियन्तो मत्स्या मृता कियन्तो गृहीतास्तेन । ततोऽह मत्स्य शूल मुखे स्वम क्षिप्त्वाऽऽस्था । ततो मत्स्यबन्धो दध्यौ—अय मत्स्यो मृत' । ततो मत्स्यबन्धोऽन्यस्मिन् हृदे गत. यावत्प्रक्षालयितुं लग्नो मत्स्यान् तावदहमुत्प्लुत्य जलेऽगमम् । सोऽहं मत्स्यो भवता ग्रहीतु वाञ्छ्यते। तेन ते महती धृष्टता, अह तु बहुधृष्टोऽभूवं। यो बहुस्थानेषु धृष्ट. स कुत्रापि न बध्यते, अत.—

(गलमंसंडगभक्खण गल्लस्स पुच्‍ घट्टणया ।)*
अह मंसंमि पहाणो, वायंतं मच्छियं भणइ मच्छो ।
किं झायसि तं एवं, भाव जहा अहरिओसि ॥ १॥
तिबालगमुहे मुक्को, तिखुत्तो वलयामुहे ।
तिसत्तखुत्तो जालेन, सयं छन्नोदए दहे ॥ २ ॥
एयारिसं महं सत्तं, मज्झ घट्टीअथट्टणे ।
इच्छंसि तं गले घित्तुं अहो ते अहरियआ ॥३॥

एव प्रोच्य मत्स्यो जले गतः । एव जनः कदाचिद्बह्वीषु आपत्सु आगतासु जीवति सम्पदं लभते । एव यः स्वकार्य पुण्यं वा कुर्वन् अन्येन न छल्यते स सुखी भवति ।

इति दक्षत्वे मत्स्यसम्बन्धः ॥१७७॥

[178] भाषासमितिजल्पने देवदत्तसम्बन्धः ।

'- एकस्मिन् ग्रामे देवदत्त पुमान् ढेढस्य१ मालाया२ नर्जरिकाया३ गर्दभस्य४ च नाम न गृह्णाति, सपापत्वात् । स त्वान्यदा स्वक्षेत्रे वर्जरीशालिनि गतः सन् तदा मालाचटित ढेढं

* इय गाथा सम्पूर्णा नोपलभ्यते कुत्रापि । सपा०

टोहनार्थं गर्दभं वर्जरां खादन्तं वीक्ष्य भाषासमित्या जगौ—

"रे कुमाणुस १ कुरूपि चड्यो २ ताहरडं कुघन ३ कुलंठ ४ खायइ ।"

एतत् श्रुत्वा ढेढ सावधानोऽजनि । ततः क्षेत्र रक्षितं तेन एवं बुद्धिमद्भिर्वक्तव्यम् ।

इति भाषासमितिजल्पने देवदत्तसम्बन्धः ॥१७८॥

[179] पुण्योपरि चतुर्वणिक्पुत्रसम्बन्धः ।

एकस्मिन् पुरे चत्वारः श्रेष्ठिपुत्रा बभूवु । क्रमात् श्रेष्ठिना परलोकं गच्छता पुत्रेषु धनं वितीर्य कुटुम्बभार स्थापितः । ते तु पृथग्भूता., वृद्ध. पुत्रो यान क्रयाणकभृत कृत्वाब्धौ चचाल । अन्यस्मिन् द्वीपे गत्वा चतुर्गुण लाभ प्राप्यागात् स्वपुरं । द्वितीयस्तु यानं भृत्वा क्रयाणकैश्चचालाब्धौ स च दैवयोगात्सर्वं निर्गम्य स्वपुरमागात् । तृतीयस्तु परिधानवस्त्रसखा चचालान्यदेशे भूरिधनमर्जयित्वागात् । चतुर्थस्तु बाहुसखा चलितो बाहुसखा समागात् ।

एवं केचित्सुपुण्या जीवाः पश्चाद्भवादागच्छन्ति कृतसुपुण्याः परत्र सुखिनो भवन्ति, भरत–बाहुबल्यभयकुमारादिवत् १ । केचित्सुपुण्या आगच्छन्ति अकृतपुण्या यान्ति कोणिकभूपवत् २ । केचिन्निष्पुण्या आगच्छन्ति सुपुण्या यान्ति परत्र च कालिकसूरिकपुत्रवद् ३ । केचिन्निष्पुण्या आगच्छन्ति नि.पुण्या गच्छन्ति दुःस्थपुरुषवत् ते तु इहामुत्र दुःखिनः ।

इति पुण्योपरि चतुर्वणिक्पुत्रसम्बन्धः ॥१७९॥

[180] स्वपापप्रकाशक–कौटुम्बिकपत्नीसम्बन्धः ।

एकया कौटुम्बिकस्त्रिया पत्युर्वशीकाराय परिव्राजिकापार्श्वात् कूरः चूर्णेनाभिमन्त्रितः । तया स्त्रिया अनुकम्पया ध्यातं कदाचिदनेन चूर्णेन पतिर्मृतो भविष्यति तदा मम का गतिः, एवं ध्यायन्त्या तया कूर उत्करटके क्षिप्तः । स कूरस्तदा गर्दभेन भक्षितः । खरस्तस्य गृहद्वारे समेत्य द्वार पुन. पुनर्घट्टयति रारटीति, ततः पत्नी पत्या पृष्टा, किमेष खरो द्वारं वारितोऽपि घट्टयति पुन पुन., ततस्तया स्वचेष्टितं प्रोक्त तेन । ततः पत्नी सविशेष मानिता परिव्राजिका दण्डापिता । एवं जीवः स्वपापप्रकाशकः सुखी स्यात् ।

इति स्वपापप्रकाशककौटुम्बिकपत्नीसंबंधः ॥१८०॥

[181] अथ विनीतशिष्यसंबंधः ।

स्त्री सुरूप साधुं दृष्ट्वा कामेच्छया भिक्षां चूर्णमिश्रितां कृत्वा तस्मै ददौ । सोऽपि साधुरात्तभिक्षः तामेव स्त्रिय हृदि स्मरन् गुरुपार्श्वे समागात् । गुरुहस्ते दत्ता यावत्तावद्गुरूणामपि मनस्तस्यां नार्यां विषयभोगासक्तं जात । ततो गुरुणा साधु. पृष्टो भिक्षा प्राप्तिसम्बन्ध. । साधुना यथाप्राप्तः प्रोक्तः । ततो गुरुणा रक्षया कक्षित कारयित्वा परिष्ठापिता

भिक्षा । ततो गुरुणोक्तमतः परं त्वया तस्याः स्त्रियो गृहे भिक्षायै न गन्तव्यं । साधुना तथेति प्रतिपन्नम् । इति विनीतशिष्यसंबंधः ॥ १८१ ॥

[182] अथ गुरुभक्तसाधुसम्बन्धः ।

एकया स्त्रिया साधुद्विष्टया विषमिश्रिता भिक्षा साधवे दत्ता यावत्तां लात्वा निर्गतः तावत्तस्य शिरोऽर्त्तिर्जाता । गुरूणां पार्श्वेऽभ्येत्य शिरोर्त्तिभिक्षाप्राप्तिसम्बन्धः प्रोक्तः साधुना । गुरुणा गन्धेन विषं ज्ञात । ततो रक्षया मिश्रित कृत्वा परिष्ठापितम्, एव ये गुरुपार्श्वे स्वं भाव प्रकाशयन्ति ते सुखिन' स्यु । इति गुरुभक्तसाधुसम्बन्धः ॥१८२॥

[183] अथ लेपश्रेष्ठिकथा मिथ्यात्वत्यागे ।

राजगृहपुरे लेपश्रेष्ठि मिथ्यात्ववासिताशयोऽभूत् । तस्य शिवभूतिनामा तापसो गुरुरासीत् । तस्योपदेशेन श्रेष्ठी वापीकूपतटाकप्रपादिवृक्षारोपणादिकृत्यानि बहूनि धर्मबुद्ध्या कारयामास । श्रेष्ठी तु यदा शिवभूतिरागच्छति तदा चतुः योजनानि सन्मुख याति । एकदा शिवभूतिः स्व यजमान वन्दापयित्वा स्वस्थाने गत ।

इतस्तत्र पुरोद्याने श्रीवीरजिन समवासार्षीत् देवै समवसरणं कृतम् । अनेके देवा राजानो जना वन्दितुं ययु' । तदा श्रीवीरं वन्दितु मित्रस्य [illegible] स्य धर्मिष्ठस्य सार्थे लेप श्रेष्ठी ययौ, प्रभोर्धर्मोपदेश श्रुत्वा श्राद्धधर्मं प्रपेदे । ततः प्रपादि न पूरयति स्नानादिमिथ्यात्व न कुरुते, ततो लोका मिथ्यात्विनो वदन्ति अयं श्रेष्टी मूर्खः कुलक्रमागत धर्मं त्यक्त्वा जैनं धर्मं कुरुते । श्राद्धास्तु प्रशंसां कुर्वन्ति–'अय धन्यः पुण्यवानिति' । श्रेष्ठी तु लोकोक्त किमपि मनसि नानयति, स्वेष्टं जैन धर्मं करोति । यतः—

सर्वथा स्वहितमाचरणीयं, किं करिष्यति जनो बहुजल्पः ।
विद्यते स नहि कश्चिदुपायः, सर्वलोकपरितोषकरो यः ॥१॥

इत शिवभूतिस्तत्रागत । श्रेष्ठी तु समुख न गतः, ततस्तापसो दध्यौ—अयमग्रे पञ्चयोजनानि सन्मुखमायाति, ममोत्तारेऽपि नायाति ततो लोकमुखात् श्राद्धं श्रुत्वा स्व शिष्यमाकारणार्थं प्रैषीत् । स त शिष्यमागतमपि श्रेष्ठी न जल्पयामास न नमति । तदा स पश्चाद्गत्वा स्वगुरो पार्श्वे यजमानस्य स्वरूप प्राह । ततस्तापसोऽभ्येत्यावग्—त्व केन विप्रतारितोऽसि, येन मां मुक्त्वाऽत्रास्थितः उत्थानाद्यपि न कुरुषे, अह गुरुस्तवासि ।

लेप प्रह—त्व स्नानादि कुर्वन् कारयन् अनुमोदयन् दुःखी भविष्यति जीवहिंसातः । इत्यादि प्रोच्य त गुरु त्यक्त्वा श्रीवीरोक्त धर्मं कृत्वा क्रमाद्दीक्षां गृहीत्वा सर्वकर्मक्षयान्मुक्ति गतः ।

इति लेपश्रेष्ठिकथा -मिथ्यात्वत्यागे ॥१८३॥

[184] अथ शीले श्रीपतिकथा ।

श्रीपुरे धन सार्थवाहस्तस्य श्रीपति पुत्रस्तस्य भार्या रूपवती, श्रीपतिः पत्नीयुतोऽत्यन्तं कामाभिलाषी क्षणमपि पृथक्स्थातुं न शक्नुते ।

एकदा श्रीपतिर्बहून् बलीवर्दान् वस्तुभिर्भृत्वा महान्त सार्थं कृत्वा विदेश प्रतिचिचलिषुः प्रिया प्रति प्राह—अहं त्वां विना क्षण स्थातु न शक्नोमि । प्रिया प्राहाहमपि तथाऽस्मि । श्रीपति प्राह्—त्वमत्र तिष्ठ, विदेशे स्त्रीणा प्रतिबन्ध स्यान्नृणा । रूपवत्यवग् - यदि त्वं मां सार्द्धं न नेष्यसि तदाह मृता एव । ततः पतिं श्वशुर श्वश्रूं मातरं पितरं पर्यवसाप्य पत्या सह सम्शृङ्गारा पुराद्बहिर्ययौ । श्रीपतिस्तुङ्गटिकाया स्थित प्रियां प्रति प्राह्—त्व तिष्ठ गृहे, स्त्रिय प्रतिबन्धो भवति विदेशे, यदि सार्द्धं स्त्री न स्यात्तदा सुखेन व्यवसायः क्रियते । स्त्री प्राह—अहं सर्वथा न तिष्ठामि, कदाग्रहं चक्रे, ततो रात्रिमध्ये प्रियां सुप्ता मुक्त्वा छन्नं श्रीपति स्वसेवकं छन्न पार्श्वे मुक्त्वा चचाल । प्रोक्तं च—'यथा करोत्येषा प्रिया तथा मम पार्श्वे वक्तव्यम्' ।

इतः पश्चात्प्रहरे जागरिता रूपवती पतिमदृष्ट्वा सार्थमपि च चकिता रुदितु लग्ना भो पते ! कथ मामनापृच्छ्य गतोऽसि, अहं त्वयि मुधा स्नेहं करिष्ये । त्वं तु निःस्नेहोऽभूः । एवं विलप्य पुनः प्राह्—अह मुग्धा मम भर्त्ता कुशलोऽस्ति विदेशे नराणा स्त्रिय प्रतिबन्धो भवति मा च सार्द्धमनेष्यत्तदा मम मोहेन द्रव्य विनैव गृहे आगमिष्यत् । अह तु अबला मूर्खा किमपि हिताहित न जाने मया मुधा कदाग्रह कृतः । एव प्रोच्य दध्यौ आभरणसद्वस्त्रताम्बूलादिसर्वं वस्तु रागकारणं भवति । एवंविधेषु वस्त्रादिषु सत्सु शील पालयितु मया न शक्यते । भर्त्ता बहुभिर्वर्षैरागमिष्यति तथा करोमि यथा शीलरक्षा भवति । तत सर्वाण्याभरणान्युत्तार्य धवलां शाटिकां कम्बलिकां च परिधाप्याभरणवस्त्राणि ग्रन्थौ बद्ध्वा श्वशुरगृहे गता । तदा तां तादृशीमागच्छन्तीं दृष्ट्वा श्रीपतिमाता दध्यौ—मम पुत्रोऽद्यैव किं केन हतो मृतो वा रोगेण यतो वधूः एवंविधवेषाऽभूत् । ततो रुदितुं लग्ना तदा स्नुषाऽवग्—मातर्मा रुदः । भवतः पुत्र. कुशलोऽस्ति । मया तु स्व कारणमेव एवंविधो वेषः कृतोऽस्ति । तत. स्नुषया स्वपति जल्पनस्वशीलरक्षणादिस्वरूपं धवलवस्त्रापरिधापनादिर्जगौ त इति प्रोक्त । तत. श्वश्रूर्जगौ त्वं धन्याऽसि यस्या. स्वशीलरक्षायै ईदृग्मनोऽस्ति एतत्सर्वं पश्चान्मुक्तपुरुषमुखाच्छ्रीपति स्वपत्न्या स्वरूप ज्ञात्वा जहर्ष । तत. कालान्तरे द्वादशवर्षप्रान्ते श्रीपतिधन बहूपार्ज्य समागात्क्रमात्तयोः पुत्रत्रयं जातं, महता महेन परिणायितं । अनेकास्तीर्थयात्रा कृताः । सप्तक्षेत्र्यां बहुधन व्ययित । देवगुर्वोर्भक्ति कृता ताभ्यां ततो द्वावपि ब्रह्मव्रतं लात्वा स्वर्गं गतौ पश्चान्मुक्तिं गमिष्यत ।

इति शीले श्रीपतिकथा ॥१८४॥

[185] मिथो विरोधे पञ्चशतसुभटकथा ।

एकस्य राज्ञो भीमस्य बुद्धिसारो मन्त्री कुशलो बभूव । एकदा राज्ञोक्त—भो मन्त्रिन् ! त्वया परीक्ष्यैव सेवका स्थाप्याः ।

अत्रान्तरे सुभटाना पञ्चशती समागात् । राज्ञो मिलिताः सन्मानिता । ततो मन्त्रिणा

परीक्षार्थं सर्वेषा भोजनं दापित । सन्ध्याया सर्वेषामेक एव वासः, एकैव शय्या शयनाय दत्ता । ते सर्वे रात्रौ मिथो जगुर्ममायं शय्यार्पिता तेनाह स्वपिमि । द्वितीयोऽवग्—अहमेव स्वपिमि । एव पञ्चशतीमपि कलिपरा ज्ञात्वा मन्त्रिणा ज्ञातमेते सर्वे मूर्खा, येषामेकोऽपि न मुख्य एते सर्वे स्वपार्श्वे स्थापिता एव कलिं करिष्यन्ति यस्यैकोऽपि न मुख्यः सन् किंचित्ततो न स्थापितास्ते एव यत्र यान्ति तत्र न स्थाप्यन्ते ते । ततोऽखिलास्ते दुःखिनो जाताः । एवमस्य कुटुम्बस्य राज्ञो वा न मेलोऽस्ति स विनश्यत्येव, अतः सर्वैरपि एकीभूय कार्यम् । इति मिथोविरोधे पञ्चशतसुभटकथा ॥१८५॥

[186] अथ सरलत्वे श्रेष्ठिपुत्रकथा ।

एकस्य श्रेष्ठिन पुत्रो जल्पितः प्रत्युत्तर दत्ते । ततः श्रेष्ठिना प्रोक्त–भो पुत्र ! पितु प्रत्युत्तरो न दीयते । पुत्रस्तथेति प्राह । तत एकदा पुत्रो भीमाह्वो गृहे द्वार दत्त्वा शय्यायामुपविष्टः ।

इत श्रेष्ठी आगत प्राह–भो पुत्र ! अत्रागच्छ द्वारमुद्घाटय । स च पितुर्वचः स्मरन् उत्तर न दत्ते । घटीचतुष्टयानन्तर स्वकार्यार्थं द्वारमुद्घाटयामास । श्रेष्ठी जगौ–त्वया कथमुत्तरो न दत्तः । पुत्रोऽवग्–श्रीपूज्यै प्रोक्त–पितु प्रत्युत्तरो न दीयते । पिताऽवग्–पुत्र ! एव विधे कार्ये उत्तरादि दीयते । तत पुत्रोऽवग्–ओमिति ।

एवं सरलत्वे श्रेष्ठिपुत्रकथा ॥१८६॥

[187] अथाशुचि सर्वमित्यादौ मोदकप्रियकथा ।

श्रीस्थलकपुरे भानुभूपस्य रुक्मिणी प्रिया सुरूपः पुत्रोऽभूत् । स च पञ्चभिर्धात्रीभिर्वर्द्धितो यौवन प्राप परिणायितः । तस्मै मोदका एव रोचन्ते । ततो मोदकप्रियेतिनामाभूत् । स चान्यदा वसन्ते प्रातरुत्थायास्थानमण्डपिकायामाजगाम । तत्र स्वर्गिस्त्रीतुल्यया नृत्त कर्त्तु प्रवृत्त । तत्रस्थस्य तस्य भोजनावसरे जनन्या मोदकभृतस्थलानि प्रेपितानि । यत सपरिजनो मोदकान् बुभुजे । रात्रावपि गीताक्षिप्तजागरणतो मोदका न जीर्णा । ततोऽधोगन्धपूतिवाति नासिकायां प्रविवेश । ततो दध्यौ–यथा मोदका वर्या अपि सदुर्गन्धा जातास्तथासर्वं शरीराद्यपि एव विमृशन् प्राप्तवैराग्यो मोदकप्रियस्त्यक्त्वा कुटुम्बं दीक्षा लल्लौ । दीक्षा प्रपाल्य स्वर्गं गत्वा मुक्तिं याता ।

इत्यशुचि सर्वमित्यादौ मोदकप्रियस्य कथा ॥१८७॥

[188] अथ भाग्योपरि क्षत्रियसम्बन्धः ।

चन्द्रपुरे भीमक्षत्रियस्य वीरमती दुश्चारिणी पत्न्यभूत् । पतिं वञ्चयित्वाऽन्येन पुसा रमते रह । सा च दध्यौ–यदि पतिर्म्रियते तदाह स्वेच्छया रस्येऽन्येन पुसा, अङ्कुशो दुःशको विद्यते ।

एकदा भीमो भार्यादत्तमोदकशम्बलश्चचालान्यग्रामं प्रति, मार्गे चलन् कस्मिंश्चिज्जलाशये समागते यावच्छम्बलं भोक्तुमुपविशति भीमस्तावत्क्षुत्स्वयमभूत्, यतः—"आत्मछिक्का भयावहा।" ततो जलं पीत्वा सरःपालौ तरोरध सुप्तो निर्भरं श्रान्तः। इतस्तत्रागताः स्तेना धनयुक्तास्तं निर्भरं सुप्त दृष्ट्वा तस्य ग्रन्थौ वस्त्रस्य मोदकान् वीक्ष्य जगृहुश्छन्न यावत्तैर्मोदका भक्षितास्तावन्मृता स्तेना.। भीमो जागरित सन् मोदकानदृष्ट्वा मृतान् चौरान् वीक्ष्य दध्यौ-एतैर्मोदका मे भक्षिताः। ततस्तेषां पार्श्वस्थं वहुधन लात्वा स्वगृहं प्रति चचाल। शङ्कते च भार्यया किं विषमिश्रिता मोदका मह्यं दत्ता, मारणाय। पुनर्दध्यौ-भार्या तु पतिं न मारयति। क्वचित् मार्गे बुभुक्षितः स तत्र वनेऽकस्मान्मृतान्मयूरान् दृष्ट्वा बुभुजे ततश्चलन् गृहद्वारे यावत्समागात् तावदितः स्वभार्यानीतो जारो भार्ययेति जल्पित-त्वमुत्तिष्ठान्यत्र गच्छ। तत. स त्वरित घोटिकामारुह्य गृहापरद्वारेण शीघ्र निर्ययौ। तदाऽकस्मात्तया घोटिकया जनित. सद्यः किशोरस्तत्र स्थितः। भीमो भार्यापार्श्वे समागतः प्राह—भो प्रिये! आत्मनो गोपार्श्वे किमस्ति? ततस्तया जारघोटिकया जनितं किशोरं ज्ञात्वा प्रोक्तं-आत्मनो धवलया गवा किशोरो जनितः। ततो निजा पत्नीं कुशीलिनीं स्वहन्तृका ज्ञात्वा भीम आचष्ट पत्न्याः पुरम् --

धवली जिणइ किसोरजं, दाधालाभई मोर।
दीहाडा होइं पाधरा, लाडू खाइं चोर॥१॥

एवं प्रोच्य त्व कुशीलिनी मम हन्त्रीति गदन् सपत्नीं तत्याज। अन्यामानीतवान्। सा च पत्या मुक्ता ततो जारेणापि मुक्ता दु खिनी जाता।

इति भाग्योपरि क्षत्रियसंबंधः॥१८८॥

[189] अथ अतृप्तिविषये द्विजसम्बन्धः।

एकेन द्विजेन धनिना बहवो द्विजा भोजनाय स्वगृहे आनीता, तेषा मध्ये ये धनिनस्ते गृहमध्ये भोक्तुमुपवेशिता। ये मध्यमास्ते मध्यस्थाने। ये निर्धनास्ते मण्डपे बहिः। तदा द्विजेन सर्वेषा द्विजानां खण्डक्षीरघृतमण्डकवटकवर्यशाकादि परिवेष्यते। तदा बहि स्थिता द्विजाश्चिन्तयन्ति-मध्यस्थानां द्विजाना वर्या रसवती परिवेष्यमाणाऽस्ति, न तथाऽस्माक, ततस्तेपां खेदोऽभूत्।

इतो गृहस्वामिना द्विजेन सर्वे पूर्णहृदया दृष्ट्वोक्त—यत एक वटक गृह्णाति तस्मै स्पर्द्धक दास्येऽहं। ततो बहुषु वटकेषु भक्तेपूक्तं—य एता मण्डका गृह्णाति तेपा स्वर्णक दास्ये एवं प्रोच—प्रोच आकण्ठ सर्वे जेमिताः। तत एको विप्रो बहिर्भोक्तुमुपविष्टो ऽतीव भृतोदरस्तापेनाक्रान्तो जलाशये प्रविष्ट। घटीद्वयावनुपूर्वप्रविष्टमहिपस्योदरं जलमध्ये तस्य हस्ते लग्नं ततो गृहमध्य—जेमितद्विजोदरभ्रान्त्या स द्विज. प्राह—भो द्विज! त्वं माहिलओ अथवा बाहिरलो मध्यभुक्त बहिर्भुक्त एवं स्वोदरेऽतीवभृतेऽपि सद्विजोऽतृप्तोऽसिद्धितया गृहमध्यभुक्त-

द्विजान् सस्मार। एवमतृप्तो द्विजोऽस्त्यां मृत्वा तिर्यग्योनौ उत्पन्नः। एवमतीवान्न न भोक्तव्यम्।

इति अतृप्तिविषये द्विजसम्बन्धः ॥१८९॥

[190] अथ निश्चलमनः साधुसम्बन्धः।

एकस्मिन्पुरेऽर्हन्नतोऽर्हन्मित्रश्च वसत सोदरौ। ज्येष्ठभार्या लघुदेवरि रताऽभूत् पर लघुर्नेच्छति। स्त्रीस्वरूप तादृश दृष्ट्वाऽर्हन्मित्रो व्रत ललौ तद्रक्ता सा मृता शुनी जाता, साधवस्तत्राययुः शुन्या स मुनिर्दृष्टः। सा शुनी पतिमिवालिलिङ्ग त, नष्ट साधुः। साथ मृताटव्यां मर्कटी जाता। ततो भवितव्यतायोगात्तस्यामेवाटव्यां स मुनिर्गत, त मुनिं दृष्ट्वा पूर्ववदालिलिङ्ग रागधिया तदाऽपरे साधवो जहसुः—असौ साधुर्मर्कटीपतिः, साधुस्ततो नष्टः, मर्कटी मृता यक्षिण्यभूत्। त मुनिं दृष्ट्वाऽवधिज्ञानाद्ध्यौ—असौ मुनिर्मया बहुभवेषु वाञ्छितो मां न ववाञ्छ, ततोऽधुनाऽमुमालिङ्गामीति ध्यात्वाऽऽलिङ्गति स्म मुनिं। ततोऽपि मुनिर्नष्ट। ततो गच्छन् नदीमुल्लङ्घितु यावज्जले प्रविष्ट तावत्तया यक्षिण्या साधोः पादश्छिन्न। तदा ता यक्षिणीं शासनदेवी ताडयामास प्राह च—रे पापिनि! त्व यदा ऋषेः पराभव करोषि ततस्तस्या मिथ्यादुष्कृत दत्त, सद्यो दिव्यानुभावेन पाद सज्जीकृतः। ततो यति सविशेष चारित्र प्रपाल्य स्वर्ग गतस्ततो मुक्ति यास्यति। इति। इति निश्चलमनः साधुसम्बन्ध ॥१९०॥

[191] अथ धर्मरुचिभूपसम्बन्धः।

गङ्गायामन्यदा नाविको नन्दाह्वो नदीमुत्तारयन् द्रव्य लाति तदा धर्मरुचिं नदीमुत्तारयामास। नन्दो धन मार्गयामास, यतिं न मुञ्चते। मध्याह्न जात। यति रुष्ट। तेजोलेश्यया नन्द भस्मीचक्रे।१। ततो मृतो नन्दो नाविकः क्वापि ग्रामे सभायां गृहकोलिकोऽजनि। तत्र दैवयोगात् धर्मरुचि साधुः समागात्। त दृष्ट्वा गृहकोलिको धूलिं चिक्षेप। ततो धर्मरुचिस्तेजोलेश्यया गृहकोलिक भस्मीचक्रे।२। स च मृतो हंसोऽभूत् गङ्गायां। दैवयोगात्तत्र साधुः समागात्। सोऽपि हंसो जलेन मुनिमुपद्रवति। तत्रापि पूर्ववत् मुनिना हतः।३। ततो मृतोऽञ्जनपर्वते सिंहोऽजनि। सोऽपि सिंहो यतिं हन्तु धावितो यतिना तेजोलेश्यया भस्मीकृत।४। तत सिंहो मृतो वाराणस्यां बटुरभूत्। सोऽपि पूर्ववैरात् यतिं लेष्टुभिर्हन्ति, ततो मुनिस्त भस्मीचक्रे।५। ततोऽकामनिर्जरया कर्म क्षिपन् तस्मिन्नेव पुरे राजाऽभूत्।६।

सोऽपि राजा जातिस्मृतिं प्राप्य पूर्वभवान् स्मृत्वा त धर्मरुचिं मुनिं क्षमयितु ज्ञातु च लोकाय ददौ। लोका सर्वत्र तां समस्या पठन्ति गायन्ति सदा। तथाहि—

"गङ्गायां नाविको नन्दः[1] सभायां गृहकोलिकः[2]।
मृतगङ्गातटे हंसः[3] सिंहश्चाञ्जनपर्वते[4] ॥१॥
वाराणस्यां बटुः पुर्यां[5], राजा तत्रैव चाभवत्[6]।"

इमां समस्यां य पूर्णां करोति तस्मै लक्षद्रम्मा दीयन्ते । ततो विशेषा सर्वे लोकाः बुधा अपि पूरयन्ति परं न मिलति सत्या । इतश्चारामिकेन पुरोद्याने माना समस्या धर्मरुचिर्यतिः श्रुत्वाऽऽचष्टोच्चैः स्वरम्—

एतेषां घातको यश्च, सोऽप्यत्रैव समागतः ॥२॥

मालिकपार्श्वाद्धर्मरुचिं यतिं ज्ञात्वा वने तत्र गत्वा यतिं भक्त्या क्षमयित्वा राजा धम जैनं जग्राह । मालिकाय मानित ददौ च । यतिरपि विशेषात्क्षमयामास भूपमिति स्वपापक्षमणे—धर्मरुचिसम्बन्धः ॥१९१॥

[192] अथ लौकिककृष्णभार्या तुलछीसम्बन्धः ।

एकदा कृष्णः कस्यचिदसुरस्य तुलछीं नाम्ना पत्नीमङ्गीकर्त्तुकामस्तस्य रूपं कृत्वा तस्मिन्नसुरे ग्रामान्तरं गते समेत्य बलात्ता बुभुजे । क्षणान्तरे भर्त्ता समागात् । भोक्तुं प्रियां ययाचे । तदासाऽवग्—स्वामिंस्त्वयाहमधुनैव भुक्ता तेनैव कथं भोक्ष्यते ? सोऽसुरोऽवग्—मया त्वं न भुक्ता । ततस्तस्या कृष्णो जारो ज्ञातः । ततस्तया काष्टभक्षणं कृतं पश्चात्तापात् । यत्र सा दग्धा तत्र तलछीनाम्ना तरुरुत्पन्न' । तत. कृष्णेनाभीष्टत्वात्स्वाङ्गे दत्ता । ततो लोके तुलछी मान्याऽभूत् । एव-विधेऽन्यायेऽपि कृते लोकानां कृष्णो मौढ्यान्मान्योऽभूत् । ततो लोके कृष्णभार्या तुलछी प्रसिद्धा पूज्या जाता ।

इति लौकिककृष्णभार्यातुलछीसंबंधः ॥ १९२ ॥

[193] अथ कर्मविषये लौकिकविधिसंबंधः ।

श्रीपुरे कर्णभूपतेर्यदा पुत्री जाता तदा पुरोहितस्य चन्द्रस्य पुत्रोऽभूत् । द्वयोर्विधिर्ना ललाटे वर्णावली लिखिता । तदा राज्ञा विधिः पृष्टः त्वं किमर्थमत्रागाः ? तेनोक्तं-तव पुत्र्यलिकेऽक्षरावल्यालिखनायागामहं । राज्ञोक्तं—किं लिखितमस्ति ? तेनोक्तं-तव पुरोहितपुत्रस्य पत्नी भविष्यति । तत पुरोहितस्याग्रे प्रोक्त—तव पुत्रस्य भूपपुत्री पत्नी भविष्यति । राजा तु स्वां पुत्रीं पुरोहितपुत्राय दातु न ववाञ्छ । भूपपुत्री पुरोहितपुत्रावेकत्र लेखशालायां पठत स्म । मिथो रागो जातः । पर राजा धिग्जातित्वात् पुत्रीं तस्मै दातु नेहते ।

एकदा राज्ञा पुरोहितस्याग्रे प्रोक्त—वरः पुत्र्या विलोक्यते । तेन पुरोहितेनोक्त—विधिः प्रक्ष्यते । वर कथयिष्यति सः राजाहाधुना विधिं प्रष्टुं तव पुत्रो गच्छतु । ततः पित्रादेशात्पुरोहितपुत्रो विधिं प्रष्टुं चलितः । मार्गे कस्मिन्पुरे गतो वीरवणिग्गृहे । वणिजोक्त—कुत्र गमिष्यसि किमर्थं ? पुरोहितपुत्रो विधिपार्श्वगमनस्वरूपं प्राह । ततः स तेन गौरवितोऽन्नादिदानात् । ततो वणिग् प्राह—त्व विधिपार्श्वे गच्छन्नसि परं त्वया तत्र प्रष्टव्यं—चन्द्रपुरे वीरवणिग् प्रत्यब्दं महान्त जेमनवारं करोति । ततः कथ प्रत्यब्दं तस्य गृहं ज्वलति । पुरोहितपुत्रोऽवग्-प्रक्ष्यते ।१। ततोऽग्रतश्चलन् वीरपुरे गत. । तत्र धनभूपेन भोजयित्वा पृष्टः

पुरोहितपुत्रः । क्व गच्छसि ? तेन स्वगमनस्वरूपं प्रोक्त । ततो भूपोऽवग्-मम दान ददत कथ कुष्ट न याति ? विधिः प्रष्टव्य । स चाह-प्रक्ष्यते मया ।२। ततो गच्छता तेन सिन्धुमध्ये एको मत्स्यो बहिर्निःसरन् वीचिभिः पुनः प्रविशन् दृष्टः । मत्स्योऽवग्—त्वं क्व यास्यसि ? तेन स्वगमनस्वरूप प्रोक्त । ततो मत्स्य प्राह—अहं कथं जले स्थातुं न शक्नोमीति विधिः प्रष्टव्यो मदर्थम् ।३।

ततो गच्छतस्तस्य विधिर्मिलितः । राज्ञोक्त-पुत्रीवरयोग्यतादि विधिनोक्त-गच्छ, त्वया राज्ञोऽग्रे वक्तव्यं विवाहसामग्री कार्यतामहं वरमानयिष्यामि विचारो न कर्त्तव्य । ततस्तेन वणिजोक्तं, विधि पृष्ट प्राह—तस्य देवगुरुभगिन्यादौ न भक्तिः, भगिन्यपि गेहकार्याणि कार्यन्ते तेन कूटतूलादिना व्यवसाय. क्रियते । अतो गृह धक्ष्यति अत्यब्दम् ।१। ततो राज्ञोक्त पृष्ट विधि प्राह—गोत्रक-दमन करोति, प्रजाः पीडयति तेन कुष्ट न याति ।२। ततो मत्स्योक्तं पृष्ट, विधिः प्राह--मत्स्यः प्राग्भवे विद्यावानपि स्वां विद्यां कस्यापि न ददौ । विद्यामद चक्रे च तेन समुद्रोऽपि मत्स्य न धरते ।३।

तत स पश्चादागच्छन् विधिप्रोक्तं वणिजोऽग्रेऽचीकथत्, ततः स वणिग् कूटतुलादिप्यक्त्वा देवगुर्वोर्भक्तिं चक्रे ततो गृहं न दग्धम् ।१। राज्ञोक्तं विधिना राजाग्रे जगाद स राजा तथा चक्रे ततो राज्ञ कुष्टं गतम् ।२। मत्स्योऽपि प्राग्भवसम्बन्धं ततः श्रुत्वा पश्चात्तापवान् स्व निनिन्द । ततो मृत्वा राज्ञ. पुत्रो जातः सुखी च ।

राज्ञा धनेन तत्रागताय पुरोहितपुत्राय स्वपुत्रीं दत्त्वा महान् कृत, पुत्रस्थाने स्थापितश्च पुरोहितपुत्रः ।

इतोऽनागते पुत्रे राज्ञा प्रेषिताः स्वमन्त्रिगणस्तस्यैव राज्ञो वर पुत्र ज्ञात्वा कन्याया विवाह मेलयित्वा गता । ततो राज्ञा समुख पुत्रीं प्रेष्य तस्मै दापिता । पुरोहितो दुःखी दध्यौ-मम पुत्रः किमुत राजपुत्रीं देवतादिष्टा न परिणिन्ये । अतो विधिलिखितमन्यथा जात । राजापि प्राह—मया विधेर्लिखितमन्यथा चक्रे । ततो विधि स्वप्नेऽभ्येत्य भूपस्याग्रे प्राह—तव पुत्रीं पुरोहितपुत्र परिणिन्ये । ततः पुरोहितपुत्रस्तत्राकारित. । ततो राजा प्राह—विधिलिखित केनाप्यन्यथा न क्रियते । तत पुरोहितपुत्रोऽनिश कन्याद्वययुतः सुखी बभूव ।

इति कर्मविषये लौकिकविधिसम्बन्धः ॥१९३॥

[194] अथ अनित्यतायां चन्द्रधनसम्बन्धः ।

चन्द्रपुरे धनो वसति स्म । भीमपुरे चन्द्रो वसति स्म । तयो प्रीतिरभूत् । एकदा द्वावप्येकत्र मीलित्वा प्रोचतुर्मिथ' धन विना वराकारस्यापि पुस शोभा न भवति । यत.—

जाई रूवं विज्जा, तिन्नि वि निवडंतु कंदरे विवरे ।
अत्थुच्चिअ परिवुड्ढो, जेण गुणा पायडा हुंति ॥१॥

ततो द्वावपि धनार्जनाय विदेशं प्रति चेलतुः । तत्र लक्ष्मीमर्जयित्वा पश्चाद्वलितौ अर्धमार्गे समागतौ तौ । चन्द्रोऽवग्--त्वा विना नाहं क्षणं स्थातु शक्नोमि । किं क्रियते ? गृहे गमनं विना कुटुम्ब सोद्विद्यते । तेनाहं स्वपुरे यियासुरस्मि । अस्मिन्मार्गे गमिष्यते मया, तदा धनोऽपि तथैव जगौ । तयोर्द्वयोरपि विरहश्रमयोः स्वपुरगमन विना निर्वाहो न वीक्ष्यते । ततश्चन्द्रो मित्र प्रणम्य धन प्रति प्राह—

जातां जणउ जुहार, साथी संभारिआ धार ।
दैवह तणइ विचारि , मिलिइ के मिलीइ नहीं ॥२॥

ततो धनोऽप्याचष्ट—

टाढी छांय पलासडा, पाणी भरीआं न ˙˙ ˙˙।
साजण मरसी गोठड़ी, दैव छंडावइ मांड ॥३॥

एवं प्रोच्य स्वस्वग्रामे गतौ ।

इतः कियता कालेन समागते परसैन्ये चन्द्रो युद्धाय ससुख वैरिणो गतः युद्धं कुर्वन चन्द्रो वैरिणा हतः पञ्चत्वं गतः । क्रमात् धन. स्वमित्र हतं श्रुत्वा दुःखी जातो जगौ—

खणि खांडउ खणि आधिलउ, खणि आखु खणि लीह ।
दैव न दीधा ससहरह, सवे सरिया दीह ॥ ४ ॥

एवं विलप्य सन्तोषं धनः कृत्वा तस्थौ ।

इत्यनित्यतायां चन्द्रधनसम्बन्धः ॥१९४॥

[195] अथ निर्द्रव्यपुण्यविषये सिंहधनसम्बन्धः ।

भीमपुरे सिंहश्रेष्ठी, तस्य गृहे धन भूरि विद्यते, क्रमात् सिंहस्यालये श्रीखुटिता, देवसिंहस्य गृहे बह्वी श्रीर्ववृधे । तदा ता श्रिय दृष्ट्वा सिंहो दुःखी जात. । तत्र तदा मित्रेण सिंहं दुःखिनं दृष्ट्वा प्रोचे । यतः—

'आगते गते च धने विषादो न क्रियते, कस्यापि श्रीः स्थिरा न भवति' । यत'—

एकडं दीहिविवात, इक ऊगइ इक आथिमइ ।
माणस केही मात्र, जइ दिणयर दिण पालटइ ॥१॥

कार्यः सम्पदि नानन्दः, पूर्वपुण्यभिदे हि सा ।
नैवापदि विषादः स्यात् , सा हि प्राक्पापपिष्टये ॥२॥

इमे गाथे श्रुत्वा निजमनसि सन्तोष चक्रे । प्रत्यहं निर्द्रव्योऽपि प्रतिक्रमण—गुरुवन्दनक-देवपूजा-नमस्कार-परदानानुमोदनादिपुण्यं कुर्वाणोऽग्रेतने भवे स्वर्गे सुखी जातः, ततो मुक्ति

यास्यति । इति निर्द्रव्यपुण्यविषये सिंहधनसम्बन्धः ॥१९५॥

[196] अथ पट्टकूलिकानयनचाहडमन्त्रिसम्बन्धः ।

बम्बेरकपत्तनस्वामिना राज्ञा वीसलदेवेन पत्तने श्रीकुमारपालभूपालाय पट्ट [दु] कूलवर्यं प्रीतिप्राभृतकृते प्रेषित । तच्च राज्ञा कुमारपालेन गृहदेवालये धौतिक कृत । राजा च तद् दुकूल परिधाय देव पूजयामास । इतोऽन्यदा बाहडपुत्रेण दशवार्षिकेण तदेतद्वस्त्र परिधाय रन्तु लग्न बालकै सह रममाणस्य सप्ताष्ट दिना जाताः। राजा तद्वस्त्र मलिन दृष्ट्वा जगौ केनेद व्यापारितं ? से वकैरुक्त बाहडसूनुना चाहडेन । ततो राज्ञा शिक्षा तस्मै दत्ता कठोरवचसा, ततश्चाहडो रुष्टो भूपपार्श्वे नायाति ।

अन्यदा राज्ञा बाहड पृष्ट —चाहडः कथ न दृश्यते ! बाहडोऽवग्—वस्त्रव्यापारणव्यतिकर । ततो राज्ञा चाहड आकारितः पृष्टश्च किमर्थं त्वया सभाया नागम्यते ? तेन स्वपराभवस्वरूप प्रोक्त । राजा प्राह —त्वया दु ख न कार्यं । अपर वस्त्र व्यापारयिष्यते । ततश्चाहडः प्राह—त्व मे स्वामी अतस्त्वया मह्य शिक्षा दत्ता यत्तद्वर अद्य दिनात्तव सभायां मया तदागम्यम् । य दा पट्टकूलानि एवविधानि आनेष्यन्ते बहूनि । अह बम्बेरकपत्तने यास्यामि । राज्ञोक्त-बम्बेरेशो वीसलदेवभूयो बलिपुष्टो विद्यते । तस्य दुर्गत्रपुमयो विद्यते । परिख ज्वलदङ्गारमयी तस्मिन्वप्रमध्ये सप्तशतानि पट्टकूलिकाना सन्ति । वीसलदेवस्तेभ्यः पट्टकूलानि लात्वा द्रव्येण स्वय परिधाय देशान्तरे प्रेषयति विक्रयाय । पुराद्बहिस्तानि स्तोकान्येव निस्सरन्ति मार्गस्तु विषमोऽस्ति तेन तत्र गमन दुष्कर । चाहडोऽवग्–मया द्वितीयवारं तदा जेमनीयं यदा वीसलदेव जित्वा पट्टकूलकारका अत्रानेष्यन्ते पुरे तव प्रसादात् ततो हृष्टो भूपो बहुबल ददौ । तस्मै प्राह च—वत्स ! त्व लघुरसि । तेन यत्नेन युद्ध कार्यं । चाहड आचष्ट-स्वामिंस्त्वया काऽपि चिन्ता न कार्या । मम हृदये एकः श्रीवीतरागो देवोऽपरश्च भवान् विद्यते तेन सद्यः स जेष्यते । ततश्चाहडः सुमुहूर्त्ते प्रथमं जिनालये जिन प्रणम्य, ततो राजान, ततो मातापितरौ प्रणम्य चचाल चाहडः । मार्गे चर्या शकुना जाता । प्रथम मरुस्थली साधिता । तेऽपि राजानस्तेन सार्द्धं चेलुः । ततोऽन्ये देशा एवविधनामान साधिताः । तथाहि—

जंगडूर जडहार अज्जपुरनराणओ,
नग्रणवाहनगउरो नरहनरवरजिङ्गाणओ ।
सज्जवडसरिवाड भग्गउ सयंभरि,
वग्घेरो लडणूर हुओ झूरि बंबेरो ।
पींपलउरपहुक्कररासपुर मंडलपुरमेवलतूकरि वीसलनारि–
वलिवइ अबललंकदाह चाहडमकरि ॥ १ ॥

एव देशान् साधयन् चाहडः ग्रामपुराणि लुण्टयन् ज्वलयश्च बम्बेरापुरोपान्ते यदागत तावतो वीसलराज प्राह–भो प्रिये ! एष धूम कुतोऽजनि ? ज्ञात प्राह—

'हय हींसारो खेहरो दीसइ वंग वलंति'

पत्नी प्राह—लोडिज्जइ तुह गुठडा, चाहड पुहुतो कंत ।
मंति धूगि कुमरपालह, दतिसमदलिसंजुत्त करिहि कटीकरमालह ॥२॥

दीसइ दुगवलंति लोडिज्जइ ताह गोठडा चाहडस्यचाहडहयमर हींसीरो ।
रायघरट्टिहिं पेसीओ, वंबेरो जव कुट्ट पीसंता उड्डविगओ रायंगणि लट्ठा ॥३॥

गययंगणिलट्ट भणइ वरकामिणि भोली निगुण जिट्ठइ निद्धोरचोरक्किथभूरकी अपोलिअकयसमयं महीराजि गयणि गजवडिहि मरट्टीअ चाहडचपीअपुअदूअलदुलीअरणिरायथरट्टिहि ।

एव वीसलराजः प्रियापार्श्वे श्रुत्वा चाहडेन समं युद्धं चक्रे मिथोऽतीव सग्रामोऽभूत् । वीसलभूपो हतः । पुरान्तरे चाहडः प्रविष्ट तदा वीसलभूपपत्नी प्राह—'त्वं चिर जय, त्वया द्विषोऽनेके जिताः ।' यत —जंगङ्कर जडहार डगीअ अज्जपुर०

एवं श्रुत्वा चाहडो देवगृहे देवान्नत्वा वीसलपुत्रं तस्मिन् राज्ये न्यस्य नत्रत्यान् दुकूलतनकान् पट्टसूत्रवस्त्रवनकान् पञ्चशतीमितकुटुम्बकसहितान् लात्वा दण्डं च पत्तने समेत्य चाहड श्रीकुमारपालभूपालं ननाम । तेषां पट्टसूत्रवस्त्रवनाकाना आवासा दत्ताः । चाहडस्य 'राजघरट्ट' इति विरुद ददौ । राजा ततस्तैर्दुकूलानि वनितानीतैः श्रीसंघ कुमारपालभूपेन परिधापितः । ते पट्टकूलिनः स्वच्छत्रस्याधः स्नापिताः शुद्धाः कृताः । वणिग्जातिमध्ये स्थापिताः । ततश्चाहडः श्रीशत्रुञ्जययात्रां चक्रे । श्रीसंघ. परिधापित प्रात. पितरं मातरं जिनं कुमारपालभूपं प्रणम्य जिमति चाहड सप्तक्षेत्र्यां धनं वपति स्म ।

इति पट्टकूलिकानयनचाहडमन्त्रिसम्बन्ध ॥१९६॥

[197] अथ साक्षाद्गङ्गास्त्रीसम्बन्धः ।

श्रीपुरे चन्द्रश्रेष्ठिन प्रेमवती पत्न्यभूत् । सा चातीव विनयवती पतिजिनगुरुभक्ता । अन्यदा केनचिदुक्त-भो चन्द्र ! आगच्छ, गङ्गाया स्वपापपिष्टये गम्यते । चन्द्रेणोक्त-गङ्गा मम गृहेऽस्ति । तेनोक्तमेव कथ प्रोच्यते ! चन्द्रोऽवग्-मम प्रियैव गङ्गा धर्ममूर्त्तित्वात् । सोऽवग्-तव प्रियाया एवविधा भक्तिस्त्वयि कथ ज्ञायते त्वया 'स्त्रिय प्रायो दुर्विनीता स्युः" चन्द्रोऽवग्-तर्हि परीक्षा क्रियता । ततोऽन्येद्युस्तस्मिन्पुंसि गृहे समागते चन्द्रः प्राह-भो प्रिये ! मयाऽधुना वृत्त्यर्थं भूः खन्यमानाऽस्ति तेनात्रागम्य, ततस्तत्रागता सा । चन्द्रोऽवग्-अत्र घृतभृतं कुम्भ क्षिप दूरे, तया तत्कृतम् । ततश्चन्द्रोऽवग्-इद घृतं दूरादुत्सारय । ततः सा यादृग्हस्ते आगतं तादृगुत्सारितं । चन्द्रोऽवग्-घृतं नीरभृत क्षिप । ततस्तथा कृतम् । एव यद्घटक घटक वक्ति तद्वचनप्रत्युत्तरादानात्करोति परं सम्मुख न जल्पति । तत पुमानुत्थाय चन्द्रपत्न्याः पदो. पतित्वाऽवग्—एका गङ्गा त्वं विद्यते, अपरा तु दूरे । स पुण्यवान् यस्य गृहे त्वं गङ्गा सदा वर्त्तसे

त स पुमान् प्रत्यह गङ्गाबुद्धया तां नमस्करोति ॥१९७॥

इति साक्षाद्गङ्गास्त्रीसम्बन्धः ॥ १९७ ॥

[198] अथ प्राक्कर्म्मणि मित्रद्वयसम्बन्धः ।

चन्द्रग्रामे द्वौ सुहृदौ भीमार्जुननामानौ वसतः स्म । एकदा ताभ्यां छागी एका आनीता । एकेन पादचतुष्क बद्धं । द्वितीयेन गल छिन्नमसिना छागी भक्षिता सर्वकुटुम्बेन । ततः क्रमात्कियता कालेन छागीजीव कर्म क्षिपन् कमलपुरे श्रीदश्रेष्ठिपुत्री चन्द्रावत्यभिधाऽभवत् । भीमजीव क्रमात् लक्ष्मीपुरे धनश्रेष्ठिपुत्रश्चन्द्रनामाऽभूत् । कर्मवशात्तयो पाणिग्रहण जात चन्द्रावतीचन्द्रयो. ।

एकदा तस्य चन्द्रस्य गृहे कोऽपि प्राघूर्णको निशिवासे स्थितः । तदा कलि कुर्वत्या प्रियया । पतिमन्यमिच्छन्त्यास्त पतिं सुप्त निर्भर ज्ञात्वा शनै पत्यु शिरश्छिच्छेद । स्वमस्तकात्कलङ्कमुत्तारयितुकामा प्राघूर्णकसुप्तस्य हस्तौ रुधिरेण लिम्पयामास वस्त्राणि च । ततो यदा स उत्थाय चलन्नभूद्यावत्तावत्कलकल चक्रे । जगौ च-धावत धावत लोकाः मम पत्युः शिरश्छित्त्वाऽसौ याति । लोका राजपुरुषा मिलिता । स च धृत., हस्तौ वस्त्राणि रुधिरक्लिन्नानि दृष्ट्वा राज्ञा ज्ञापित ततो राजादेशात्तस्य हस्तौ पादौ छिन्नौ । ततः स छिन्नहस्तपदो जिजीवायुर्बलात् ।

एकदा ज्ञानिपार्श्वे तेन पृष्ट-मया किं पाप कृत येन ममाह्नो हस्तौ छिन्नौ ? ज्ञानी प्राह-त्वया पूर्वमर्जुनभवे यस्याः छाग्या पादौ बद्धो धृतौ भीमेन च तस्या' शिरश्छिन्नं यत्त्वया हस्तपादा धृता । अतोऽधुना हस्तपादाश्छिन्नाः । यत्कर्म क्रियते तदेव प्राप्नोति जीवः ।

इति प्राक्कर्मणि मित्रद्वयसम्बन्धः ॥१९८॥

[199] अथ दाने युधिष्ठरभीमसम्बन्धः ।

अन्येद्युर्युधिष्ठिरस्य भूपस्याग्रे एकः कविराशीर्वाद ददाविति—

द्वाभ्यां सहोदराभ्यां त्वं, सुभक्ताभ्यां युधिष्ठर !
जीयाच्च पृथिवीं न्याय-मार्गेण पालयंश्चिरम् ॥१॥

तदा युधिष्ठिरोऽवग्—यत्त्वया कूट जल्पित, मम तु सर्वे सोदराः सदृशा एव । यत —

चेतः सार्द्रतरं वचः समधुरं दृष्टिः प्रसन्नोज्वला,
शक्तिः क्षान्तियुता मति' श्रितनया श्रीर्दानदैन्यापहा ।
रूपं शीलयुतं श्रुतं गतमदं स्वामित्वमुत्सेकता-
निर्मुक्तं प्रकटान्यहो न वसुधाकुण्डान्यमून्युत्तमे ॥२॥

'हय हींसारो खेहरो दीसइ वंग वलंति'

पत्नी प्राह—लोडिज्जइ तुह गुठडा, चाहड पुहुतो कंत ।
मंति धूरि कुमरपालह, दतिसमदलिसंजुत्त करिहि कटीकरमालह ॥२॥
ढीसइ दुगवलंति लोडिज्जइ ताह गोठडा त्राहडस्त्ययचाहडहयमर हींसीरो ।
रायघरट्टिहि पेसीओ, वंवेरो जव कुट्ट पीसंता उड्डविगओ रायंगणि लट्टा ॥३॥

गयरंगणिलट्ट भणइ वरकामिणि भोली निगुण जिट्टइ निद्धोरचोरक्कियभूरकी अपोलिअ-कयसमयं महीराजि गयणि गजवडिहि मरट्टीअ चाहडचंपीअपुअदूअलदुलीअरणिरा-यथरट्टिहिं ।

एवं वीसलराजः प्रियापार्श्वे श्रुत्वा चाहडेन समं युद्धं चक्रे मिथोऽतीव सग्रामोऽभूत् । वीसलभूपो हतः । पुरान्तरे चाहडः प्रविष्ट तदा वीसलभूपपत्नी प्राह—'त्व चिर जय, त्वया द्विपोऽनेके जिता. ।' यत —जंगट्टूर जडहार डगीअ अज्जपुर०

एव श्रुत्वा चाहडो देवगृहे देवान्नत्वा वीसलपुत्र तस्मिन् राज्ये न्यस्य तत्रत्यान् दुकूलतनकान् पट्टसूत्रवस्त्रवनकान् पञ्चशतीमितकुटुम्बकसहितान् लात्वा दण्ड च पत्तने समेत्य चाहड' श्रीकुमा-रपालभूपाल ननाम । तेषा पट्टसूत्रवस्त्रवनाकाना आवासा दत्ताः । चाहडस्य 'राजघरट्ट' इति विरुद ददौ । राजा ततस्तैर्दुकूलानि वनितानीतैः श्रीसंघ. कुमारपालभूपेन परिधापितः । ते पट्टकूलिनः स्वच्छत्रस्याधः स्नापिताः शुद्धा कृताः । वणिग्जातिमध्ये स्थापिताः । ततश्चाहडः श्रीशत्रुञ्जययात्रां चक्रे । श्रीसंघ परिधापित' प्रातः पितरं मातरं जिन कुमारपालभूपं प्रणम्य जिमति चाहड' सप्तक्षेत्र्यां धनं वपति स्म ।

इति पट्टकूलिकानयनचाहडमन्त्रिसम्बन्ध ॥१९६॥

[197] अथ साक्षाद्गङ्गास्त्रीसम्बन्धः ।

श्रीपुरे चन्द्रश्रेष्ठिन प्रेमवती पत्न्यभूत् । सा चातीव विनयवती पतिजिनगुरुभक्ता । अन्यदा केनचिदुक्त-भो चन्द्र ! आगच्छ, गङ्गाया स्वपापपिष्टये गम्यते । चन्द्रेणोक्त-गङ्गा मम गृहेऽस्ति । तेनोक्तमेव कथ प्रोच्यते ! चन्द्रोऽवग्-मम प्रियैव गङ्गा धर्ममूर्त्तित्वात् । सोऽवग्-तव प्रियाया एवविधा भक्तिस्त्वयि कथ ज्ञायते त्वया 'स्त्रिय प्रायो दुर्विनीता स्युः" चन्द्रोऽवग्-तर्हि परीक्षा क्रियता । ततोऽन्येद्युस्तस्मिन्पुंसि गृहे समागते चन्द्रः प्राह-भो प्रिये ! मयाऽधुना वृत्त्यर्थं भूः खन्यमानाऽस्ति तेनात्रागम्य, ततस्तत्रागता सा । चन्द्रोऽवग्-अत्र घृतभृतं कुम्भं क्षिप दूरे, तया तत्कृतम् । ततश्चन्द्रोऽवग्-इदं घृत दूरादुत्सारय । ततः सा यादृग्हस्ते आगत तादृगुत्सारित । चन्द्रोऽवग्-घृतं नीरभृतं क्षिप । ततस्तथा कृतम् । एव यद्घटक घटक वक्ति तद्व-चनप्रत्युत्तरादानात्करोति परं सम्मुख न जल्पति । तत पुमानुत्थाय चन्द्रपत्न्याः पदो. पतित्वा-ऽवग्—एका गङ्गा त्व विद्यते, अपरा तु दूरे । स पुण्यवान् यस्य गृहे त्वं गङ्गा सदा वर्त्तसे

ततः स पुमान् प्रत्यहं गङ्गाबुद्धया तां नमस्करोति ॥१९७॥

इति साक्षाद्गङ्गास्त्रीसम्बन्धः ॥ १९७ ॥

[198] अथ प्राक्कर्म्मणि मित्रद्वयसम्बन्धः ।

चन्द्रग्रामे द्वौ सुहृदौ भीमार्जुननामानौ वसतः स्म । एकदा ताभ्यां छागी एका आनीता । एकेन तस्या पादचतुष्कं बद्धं । द्वितीयेन गलं छिन्नमसिना छागी भक्षिता सर्वकुटुम्बेन । ततः क्रमात्कियता कालेन छागीजीवः कर्म क्षिपन् कमलपुरे श्रीदश्रेष्ठिपुत्री चन्द्रावत्यभिधाऽभवत् । भीमजीवः क्रमात् लक्ष्मीपुरे धनश्रेष्ठिपुत्रश्चन्द्रनामाऽभूत् । कर्मवशात्तयोः पाणिग्रहणं जातं चन्द्रावतीचन्द्रयोः ।

एकदा तस्य चन्द्रस्य गृहे कोऽपि प्राघूर्णको निशिवासे स्थितः । तदा कलिं कुर्वंत्या प्रियया । पतिमन्यमिच्छन्त्यास्तं पतिं सुप्तं निर्भरं ज्ञात्वा शनैः पत्युः शिरश्छिच्छेद । स्वमस्तकात्कलङ्कमुत्तारयितुकामा प्राघूर्णकसुप्तस्य हस्तौ रुधिरेण लिम्पयामास वस्त्राणि च । ततो यदा स उत्थाय चलन्नभूद्यावत्तावत्कलकलं चक्रे । जगौ च-धावत धावत लोकाः मम पत्युः शिरश्छित्त्वाऽसौ याति । लोका राजपुरुषा मिलिता । स च धृतः, हस्तौ वस्त्राणि रुधिरक्लिन्नानि दृष्ट्वा राज्ञा ज्ञापितं ततो राजादेशात्तस्य हस्तौ पादौ छिन्नौ । ततः स छिन्नहस्तपदो जिजीवायुर्बलात् ।

एकदा ज्ञानिपार्श्वे तेन पृष्टं-मया किं पापं कृतं येन ममाङ्घ्री हस्तौ छिन्नौ ? ज्ञानी प्राह-त्वया पूर्वमर्जुनभवे ः छाग्याः पादौ बद्धौ धृतौ भीमेन च तस्याः शिरश्छिन्नं यत्त्वया हस्तपादा धृताः । अतोऽधुना हस्तपादाश्छिन्नाः । यत्कर्म क्रियते तदेव प्राप्नोति जीवः ।

इति प्राक्कर्मणि मित्रद्वयसम्बन्धः ॥१९८॥

[199] अथ दाने युधिष्ठरभीमसम्बन्धः ।

अन्येद्युर्युधिष्ठिरस्य भूपस्याग्रे एकः कविराशीर्वादं ददाविति—

द्वाभ्यां सहोदराभ्यां त्वं, सुभक्ताभ्यां युधिष्ठर !
जीयाच्च पृथिवीं न्याय-मार्गेण पालयंश्चिरम् ॥१॥

तदा युधिष्ठिरोऽवग्—यत्त्वया कूटं जल्पितं, मम तु सर्वे सोदराः सदृशा एव । यतः—

चेतः सार्द्रतरं वचः समधुरं दृष्टिः प्रसन्नोज्वला,
शक्तिः क्षान्तियुता मतिः श्रितनया श्रीर्दीनदैन्यापहा ।
रूपं शीलयुतं श्रुतं गतमदं स्वामित्वमुत्सेकता-
निर्मुक्तं प्रकटान्यहो न वसुधाकुण्डान्यमून्युत्तमे ॥२॥

यथा चित्तं तथा वाचो, यथा वाचस्तथा क्रिया।
धन्यास्ते त्रितयो येषां, विसंवादो न विद्यते ॥३॥

मम बान्धवाः सर्वे सत्त्ववन्तो धर्मिष्ठा परोपकारिणो दानिनो दयावन्तो विद्यन्ते। ततः कविः प्राह—

पञ्चभिः सोदरैर्भीमा–र्जुनादिभिर्लसद्बलैः।
जीयास्त्वं पृथिवीं न्याया–त्पालयन् श्रीयुधिष्ठिर! ॥४॥

ततो राजा तथा दानं ददौ यथा यावज्जीवं भवति।

इति दाने युधिष्ठिरभीमसम्बन्धः ॥१९९॥

[200] अथ क्षमायां श्रेष्ठिपुत्रसंबंधः।

श्रीपुरे भीमश्रेष्ठिनः पुत्रश्चन्द्रो हट्टे उपविष्टो व्यवसायं कुर्वाणोऽपरवणिग्भिः समं कलिं कुरुते स्म। श्रेष्ठी स्वं पुत्रं निवारयति। ततः स्वपुत्रसम्मुखहट्टस्थवणिजो कलिं कुर्वाणयोः श्रेष्ठी प्राह—कलिर्न क्रियते इहपरलोकदुःखहेतुत्वात्। तथापि तौ कलेर्न निवृत्तौ। ततः श्रेष्ठी मृदुवचाः सूनोः पुरः प्राहाद्याहं यद्वच्मि तत्त्वया कार्यं। पुत्रः प्राह—शिक्षां वितर। ततः पिता आत्महट्टसमीपस्थो वणिगद्य शुभमशुभं वा यद्वक्ति तत्त्वया क्षन्तव्यं। पुत्रोऽवग्—तात! ते वचः प्रमाणं। ततः श्रेष्ठिना स्वपुत्राय तुला हट्टाग्रे मण्डिता एकस्मिन्पार्श्वे तस्याः सेरो मुक्तः। तदा पार्श्वहट्टस्थो वणिग् गालिं दायंदायं सन्ध्यां यावत्स्थितः। श्रेष्ठिपुत्रस्तु मौनी जातः। सन्ध्यायां श्रेष्ठिनोक्त–भो पुत्र! तुलायामेककं द्वितीयं किं गालिभिर्भृतं न वा नमितं नवा पुत्रस्तौ विलोक्याह–तात यादृशी तुला प्रातर्मण्डिता तथैव धारणयाधुना तुलास्थितास्ति। पिता ततः प्राह–यथा गालिभिस्तुला न भृता तथा गालिभिरप्यात्मनो न लगति। ततः पुत्रोऽवग्—अद्यप्रभृति मया क्षमैव कर्त्तव्या। इति क्षमायां श्रेष्ठिपुत्रसम्बन्धः ॥२००॥

[201] अथ धर्मनिश्चलतायां महणसिंहसम्बन्धः।

एकदा ढील्यां पुरि पीरोजसुरत्राणश्चचालान्यपुरं प्रति तदा महणसिंहः साधुः सार्द्धमाकारितः, मार्गे सूर्यास्तसमये तुरङ्गमादुत्तीर्य प्रतिक्रमणं कर्त्तुं साधुमहणसिंहः सामायिकं ललौ। प्रतिक्रमणं कर्त्तुं लग्नश्च राजा त्वग्रेतने ग्रामे गतः। तदा महणसिंहमाकारयितुं जनमप्रैषीत्। तदा पश्चात्स्थितो ज्ञातः। ततस्तत्र जनः प्रेषितः। सोऽपि तावत्स्थितो यावत्तेन सामायिकं पारितं। ततो महणसिंहो राजपार्श्वे समायातः। राज्ञा पश्चात्स्थितिस्वरूपं पृष्टं। महणसिंहेनोक्तम्–अरण्ये वने ग्रामे रणे नद्यां वा अस्तं याति रवौ अवश्यमुभयोः कालयोः प्रतिक्रमणं मया क्रियते। राजाऽवग्—अनेके वैरिणः सन्ति कदाचित्तैर्मारितः स्यात्तदा का गतिः। महणसिंहः प्राह–धर्मं कुर्वतो यदि मरणं भवति तदा स्वर्ग एव भवति। तेन मया धर्मध्यानं तत्रैव कृतं, वेलातिक्रमो मया न क्रियते। महणसिंहधर्मवचने श्रुते राजा हृष्टो, यत्रारण्ये वने महणसिंहो

धर्मं कर्त्तुं तिष्ठति तत्र सुरत्राणस्यादेशात् सहस्रमितभटप्रमाणं सैन्यं तस्य रक्षयति। राजा तु धर्मार्थी मुहणसिंहस्य धर्मिष्ठतां स्तौति सदा।

इति धर्मनिश्चलतायां महणसिंहसम्बन्धः ॥२०१॥

[202] कर्मणि कुटुम्बिकपुत्रसम्बन्धः।

एकस्य कुटुम्बिनो दश हलानि क्षेत्रे वहन्ति। स च मध्याह्ने समागते भुङ्क्ते। एका घटीं यावच्च हलानि खेटयन्ति तदा च दानं दत्तेऽर्थिभ्यः। स च कालेन मृत्वा पद्मपुरे राजपुत्रश्चन्द्राह्वोऽभूत्। वर्याभरणादि परिधत्ते। परं रोगग्रस्तो जातः। क्रमात्सत्यपि विभवे किमपि भोक्तुं न शक्नोति। यदा वर्यमाहारं गृह्णाति तदोदरपीडा भवति। दानप्रभावाद्राजपुत्रोऽभूत्। परं वृषभाणामतिवाहनात्तस्याङ्गे रोगः समागतः। स्वं प्राग्भवं श्रुत्वा कृषिकरणे नियमं स ललौ।

इति कर्मणि कुटुम्बिकपुत्रसम्बन्धः ॥२०२॥

[203] अथ परस्त्रीपराङ्मुखत्वे महणसिंहसम्बन्धः।

एकदा पीरोजसुरत्राणस्याग्रे नर्त्तक्यो नृत्यं मण्डयामासुः। महणसिंहसाधुस्तदा यावदुत्थातुं लग्नः तदा राजाऽवग्-तिष्ठाधुना। ततो राजाग्रहान्महणसिंहस्तत्र स्थितः। तदा हस्तगृहीत-जपमालया नमस्कारान् गणयन् जपमालादत्तदृक् तस्थौ। नृत्यं तासां न वीक्षते। ततो महणसिंहं ध्यानारूढं दृष्ट्वा राजा हृष्टोऽभूत्। नृत्ते निवृत्ते राजा पप्रच्छ। नर्त्तकीभिर्नृत्यं कीदृक्कृतं? महणसिंहोऽवक्-लोका वदन्ति-वयं नृत्तं। अहं न जाने कीदृक्कृतं नृत्तं। राजाऽवग्-कथमेव वक्षि? महणसिंहोऽवग्-अहं परस्त्रियः सम्मुखं दृढं न विलोकयामि तेन मया नृत्तं न वीक्षितं। ततो राजा हृष्टस्तं परस्त्रीपराङ्मुखं मत्वा बहुधनदानात्प्रीणयामास।

इति परस्त्रीपराङ्मुखत्वे महणसिंहसंबंधः ॥२०३॥

इति श्रीतपागच्छाधिराज श्रीरत्नशेखरसूरि पट्टालङ्करण श्रीलक्ष्मीसागरसूरिशिष्य
प० शुभशीलगणिविहितपञ्चशतीकथाप्रस्तावकोशे-

॥ प्रथमोऽधिकारः समाप्तः ॥



द्वितीयोऽधिकारः

[204] अथ 'घरसरीखी यात्रा नहीं' इति उषाणो ।

श्रीपुरात् धर्मदत्तश्रेष्ठी मातरमापृच्छ्य कस्यचिच्छ्रेष्ठिनः पार्श्वात् द्रम्मान् पञ्चशतीं व्याजेन लात्वा देवयात्रार्थं चचाल । मार्गे चलन् खिन्नोऽभूत् । तदा कस्मिंश्चिद्ग्रामे भद्रीकृत्य यात्रिकवेषभृत् सर्वं धनं भक्षयित्वा यात्रिकलोकेन सार्द्धं पश्चादाययौ । सर्वे स्वजनाः संमुखमायाताः, पुरप्रवेशोत्सवोऽभूत् ।

कियद्दिनानन्तरं स धनदाता श्रेष्ठी स्वधनं सव्याजं याचते स्म, स च न दत्ते । ततो धनदाताऽभ्येत्य तस्यालये लङ्घयितुमुपविष्टः । यदा स श्रेष्ठी यात्रिको धनं न दत्ते तदा तेनोक्तं तीर्थयात्रापुण्यं वितर मम, नो चेद् धनं देहि, नो चेदहं मरिष्यामि । ततो धर्मदत्तो यात्रापुण्यं दातुं लग्नः ।

अत्रावसरे माताऽभ्येत्य प्रोवाच—पुत्र ! आत्मीयं यात्रापुण्यं न दीयते । यात्रापुण्येन स्वर्गसुखं भवति । अतः त्वया यात्रापुण्यं न दातव्यम् । ततश्छन्नं स्थित्वा मातुरग्रे तेन प्रोक्तं—इयं गृहसदृशी यात्रा नास्ति । माताऽवग्—पुत्र कथमेवं त्वया प्रोच्यते ? तदा पुत्रेण यात्रासम्बन्धः प्रोक्तः । ततस्तेनोक्तं—मम यात्रापुण्यं तव भवतु । एवं प्रोच्य धर्मदत्तस्तं विप्रतार्य धनं रक्षितवान् । 'घरसरीखी यात्रा नहीं' इति उखाणो जातः ॥२०४॥

[205] अथ दानफले भीमश्रेष्ठि विक्रमार्कसम्बन्धः ।

अन्यदा विक्रमादित्यो भूपो दानमर्थिभ्यो ददानो दध्यौ दानस्य किं फलम् ?

अत्रान्तरेऽम्बरे दिव्यवागभूत्—'एकगुणं दानं, सहस्रगुणं पुण्यं' कलौ वर्त्तते । राजा दध्यौ—कोऽप्येवं व्योम्नि वक्ति ? ततः पुनर्वाण्यभूत्—यदि दानफलं द्रष्टुं वाञ्छति तदा सोपारकपत्तने गत्वा कदर्यमहेभ्यस्य दानपरभीमश्रेष्ठिनश्चरित्रं विलोकय ।

ततो राजा एकाकी सोपारकपत्तने ययौ । कदर्यश्रेष्ठिगृहे कोटिद्वयरैशालिनि गतः । याञ्चा भोजनाय कृता । किमपि न दत्तं । उत्तरो विदधे—स्वयं न भुङ्क्ते स बान्धवादीनामपि न दत्ते भोजनं पर्वण्यपि । तं तादृशं बद्धमुष्टिं दृष्ट्वा भीमगृहे राजा गतः । श्रेष्ठिना स्वागतं कृतम्, भोजनं याचित्वा यावत्पश्चाद्वलितस्तावत्तेन रक्षितः श्रेष्ठिगेहे तदान्नं राद्धमभूत्, परं घृतं नास्ति । ततः कृपापरो दानी स भीमः कदर्यगृहे गत्वा कदर्याग्रे प्राह—मद्गृहे अतिथिरागतोऽस्ति तस्मै मया भोजनं दास्यते । तेन घृतमर्प्पय । स चाह-धनं । भीमोऽवग्-दाने दत्तेऽर्थिभ्यस्तवापि पुण्यं भविष्यति । कदर्योऽवग्—मम पुण्येन सृतम्, कोऽधिकस्य भारं

वहते। ततो भीमश्चतुर्गुण घृत दास्यामीति जल्पित्वा घृतमानीय विक्रमार्कप्राघूर्णक सादरं गौरवयामास। भीमगृहे राजा रात्रौ स्थित। दैवयोगात्कदर्यभीमश्रेष्ठिनौ मृतौ। राजा दध्यौ-येन ममादरादान दत्त स श्रेष्ठी कथ मृतः। अहमपि मरिष्यामि। ततो यावन्मर्त्तुकामो भूपोऽसिं कुक्षौ चिक्षेप, तावत्पुनराकाशवाणी जाता—

'इतो दशमे मासे त्वया कान्त्या पुर्यां गम्यम्। तत्र दानफलं द्रक्ष्यसि।' ततो राजा नवमासानन्तर कान्त्याः पुर्या पार्श्वे गत। तत्रैकस्य चाण्डालस्य पत्नी षट् पुत्रीर्जनितवती। गृहे तु दारिद्र्यम्। सप्तमो गर्भोऽभूत्तस्या यदा तदा गर्भपातनेच्छाऽभूत्, पर गर्भः पात्यमानोऽपि नापतत्। क्रमात्पुत्री तया जनिता। तया चाण्डाल्या उत्करटके त्यक्ता।

अत्रान्तरे राजा तत्रागतोऽवग्—पुत्री कथ त्यज्यते? ततः सा प्राह—अस्या गर्भस्थाया दुष्टा दोहदा जाताः। गेहे तु अद्यतनमन्न नास्ति। ततो राज्ञा घनं धनं दत्त्वा सा पश्चाद्ग्राहिता मातृपार्श्वात्। ततो राजा पुरान्तरे गतः।

इतस्तत्र पुरे भूपस्य पुत्रोऽभूत्, पर स्तन्यपान पुत्रो न करोति। ततो राजादय सर्वे दुःखिता जाता। ततो राज्ञोक्त—'यो राजपुत्र स्तन्य पिबन्त करोति, तस्मै राजा ग्रामशत दत्ते' इति पटहो वाद्यमानो न केनापि स्पृष्ट। ततः पटहस्पर्शनपूर्वं राजा विक्रमार्को भूपपुत्रपार्श्वं गतः। ततोऽसिं कण्ठे दत्त्वा प्राह राजा—येनास्य बालस्य गल रुद्ध स्यात् स प्रकटीभवतु ममाग्रे, नो चेदह मरिष्यामि। ततो दानाऽधिष्ठितदेवतया बालकमुखेऽवतीर्य प्रोक्त—भो राजन् किं मामुपलक्षयसि न वा? विक्रमार्कोऽवग्—नाहमुपलक्ष्ये। ततो बालोऽवग्—अह सोपारकपत्तनवासिभीमश्रेष्ठिजीवस्तुभ्यमतिथये दानमदाम्। तेन पुण्येन भूपपुत्रोऽभूवम्। राज्ञोक्त—कदर्य क्वावतीर्णोऽस्ति? बालोऽवग्—या त्वया चाण्डाल्या पुत्री त्यजन्ती धन दत्त्वा ग्राहिता सा कदर्यश्रेष्ठिजीवोऽल्पपुण्यः। अह तु दानाधिष्ठायिकदेवी दानफल ज्ञापयितु शिशोरास्येऽवतीर्याऽजल्पम्। ततो बालोऽपि स्तन्यं पातु लग्न। देवी स्वस्थाने गता। बालपित्रा ग्रामशतं दीयमान वि[क्रमा]र्को न ललौ, तदा दानफल देवतामुखात् श्रुत्वा राजा लोकोऽपि दानतत्परोऽभूत्।

इति दानफले भीमश्रेष्ठिविक्रमार्कसम्बन्धः ॥२०५॥

[206]- अथ निरुपकारनरसम्बन्धः।

एकस्य नरस्य राजवर्त्मनि गच्छतस्तैलभृतवर्त्तुलात्तैलबिन्दुर्भूमौ पपात। ततस्तत्र बहुभिर्जनैस्तैलबिन्दवः क्षिप्ता। तत्स्थान देवताधिष्ठित जातम्। स 'तैलदेवते'ति नामाभूत्। सा च देवी पूर्वक्षिप्तबिन्दुपुरुषाय पुनस्तैल क्षिपत [ते] श्रिय दत्ते। ततस्तेन तैलदेवप्रतिमा कारिता। सा [तां] च तैलदेवताप्रतिमा [मां] सर्वेषां श्रिय ददानां दृष्ट्वा स पुमान् परश्रियमद्रष्टुकामस्तां प्रतिमां वने चिक्षेप। ततस्तस्य गृहाच्छ्रीर्गता। स च दरिद्रयभूत्। ततः स एव पुमान् पूर्वस्थाने तां मुमोच। तत. राजवर्त्मस्थतैलदेवता सर्वेषां मनोवाञ्छित ददौ।

इति स्थानप्रधानः निरुपकारनरसम्बन्धः ॥२०६॥

[207] अथ भाग्याभाग्ययोः धनश्रेष्ठितत्पुत्रसम्बन्धः ।

एकस्मिन्पुरे धनश्रेष्ठिनः पुत्रो बहवो जाता । श्रेष्ठिनि मृते परस्परं कलिं कृत्वा केचिन्मृताः केचिद्दरिद्रिणोऽभूवन्, केचिद्ग्रामं त्यक्त्वा गताः, केचिद्भूपपार्श्वाद्दण्डापिता, तदा एकस्तस्य गृहासन्नस्थो नि स्वोऽवग्—

दालिद्द पुण रलियामणू, कियती कियती वार ।
एक उचालइ अनइ पलीवणइ जूआ खेलणकालि ॥१॥

केनापि वैद्येन बहुर्थितेन प्रथम किमपि दत्त नीरोगः सन् किमपि न दत्ते । वैद्यो ऽवग्—ब्राह्मण ! वइ दअनइ कोटीलउ कीथइ कालिमूंकइ ढीलउ ।

इति भाग्याऽभाग्ययोः धनश्रेष्ठितत्पुत्रसम्बन्धः ॥२०७॥

[208] अथ भाग्ये तपस्विश्रेष्ठिसंबंधः ।

एकस्मिन्ग्रामे श्रेष्ठिनो बह्वी श्रीर्विद्यते । कुटुम्ब महत् । इतस्तस्य गृहे एकस्तापसो भिक्षार्थमागतः । तदा तापसः श्रेष्ठिगृहे बह्वीं श्रियं दृष्ट्वा दध्यौ । कस्य [केन] कर्मणाऽस्य गृहे श्रीर्वर्धमानाऽस्ति । तदा श्रेष्ठिपत्नी पुत्रपौत्रगोवृषादीनामपि शुभकर्म न वीक्ष्यते । ततो विलोकमानस्तपस्वी तद्गृहभित्तौ काष्ठघोटकाच्छ्रिय वर्धमानां जज्ञौ । ततस्तपस्वी स्व श्रीमन्त कर्तुं श्रेष्ठिप्रियोपान्ते काष्ठघोटकेन रद्धं क्षीरं हठात् याचते स्म, तदा तं म्रियमाणं दृष्ट्वा श्रेष्ठिपत्नी हत्याभयात् तेन काष्ठेन क्षीरं ररन्ध ।

इतस्तपस्वी स्नानार्थं गतः यावत्स तापसः सरस आयाति तावदितो लेखशालागतो श्रेष्ठिपुत्रो मातुःपार्श्वात् बलात् क्षीर बुभुजे । स च पुत्रो लेखशालायां गतः तपस्वी तत्रागतः क्षीरं बालकभुक्तं ज्ञात्वा स्वशिरः कुट्टयामास जजल्प चेति—ममाभाग्यं विद्यते किमहं स्नानायागाम् । यदि प्रथम क्षीर मया भुक्तमभवत्, तदा मम श्रीरभविष्यत् । अस्य श्रेष्ठिपुत्रस्य भाग्यमित्युदित्वा स गतः श्रेष्ठिगृहेश्रीश्चिरं तस्थौ । इति भाग्ये तपस्विश्रेष्ठिसम्बन्धः ॥२०८॥

[209] अथ कृतघ्ने सिंहसम्बन्धः ।

एकस्या गुहायां वनेचरस्य वसतः शीतार्त्त सिंहो द्वारेऽभ्येत्य करुण रोतितरां गुहामध्ये प्रवेष्टु, तदा वनेचरेण दयया द्वारमुद्घाटितम् । सिंहो गुहामध्ये प्रविष्टः । प्रहरानन्तर शीते त्तरिते वनेचर हत्वा भुक्तवान् । इति कृतघ्ने सिंहसम्बन्धः ॥२०९॥

[210] अथ कुशीलमायायां श्रेष्ठिपत्नीसम्बन्धः ।

एकस्य श्रेष्ठिनः कुशीलिनी प्रियाऽभूत् । तयाऽऽकारितौ द्वौ नरौ भोगाय । तदाऽकस्माद् ग्रामान्तरादागतः श्रेष्ठी । गेहद्वारे तदा ताभ्यां नृभ्यामुक्त मरणमागतम् । तव पतिः समायातो—

ऽधुना । तदा तया द्वयोर्मध्ये एकः स्त्रीवेषभृत् कृत अपरो नृवेषधरश्च, छन्नं स्थापितौतौ च तदा बुभुक्षित स भोक्तु श्रेष्ठ्युपविष्ट, तदा च तया द्वयोर्नरयोरग्रे शनै प्रोक्तं—द्वाभ्यां युवाभ्या-मधोमुखाभ्यां त्वरित गन्तव्य पश्चादह समर्थयिष्ये । ताभ्या तथा कृते श्रेष्ठी प्राह—कौ त्वरित गतौ । साऽवग् ईश्वरपार्वत्यो पूजां विना त्वमत्थ, तेन रुष्टौ तौ गतौ । अधुना ममाग्रे प्रोक्त-मेताभ्यां तव पत्युर्मुख न दर्शयिष्याव । स श्रेष्ठी प्राह—पश्चाद्वालयात' पर पूजां करिष्ये तयो । तयोक्तम्—अद्य तु गतौ पुनर्यदा समेष्यत तदा कथयिष्यते मया । एव तया श्रेष्ठी प्रत्यायित ।

इति कुशीलभार्यायां श्रेष्ठिपत्नीसम्बन्धः ॥२१०॥

[211] अथ श्रीदारिद्रसंवादसम्बन्धः ।

एकदा लक्ष्मीर्विशिष्टविभूषणाम्बरभूषिततनुरेकस्मिन्गृहे महेभ्यस्य विलसमाना सिंहासने उपविष्टा, तदाऽनेके महेभ्यास्ता द्रष्टुं समायाता ।

इतो गोकुले नारायणो भूरिगोपीपरिवारपरिवृतो वादित्रनिनद श्रुत्वा पार्श्वस्थ गोपीजन पप्रच्छ । किमधुनाऽत्र वाद्यन्ते वादित्राणि । गोपीभि प्रोक्त-स्वामिन् ! श्रीदश्रेष्ठिगेहे लक्ष्मी समागता तेन तत्रोत्सवो महान् जायमानोऽस्ति । तत कृष्णो गोपीयुतस्तत्र गत., लक्ष्मी परिवार वीक्ष्य मुमुदे ।

इतस्तत्र गृहद्वारे दारिद्र्य पुमान् समागात् । दारिद्रः प्राह—रे रण्डे ! किमत्रैव त्वया मा विना लोको विप्रतारयितु मण्डितोऽस्ति । किं त्व न जानीषे अह तव माहात्म्य क्षणादेव भिनद्मि । लक्ष्मीजगौ—गच्छाऽतोऽचिराव, नो चेत्त्वा विगोपयिष्यामि । अहमेव लोक सुखिन करोमि । मा विना लोका रङ्का इव गृहे गृहे भ्रमन्ति । दारिद्रः प्राह—त्व तु माहात्म्य मत्त एव प्राप । मत्तो भीता लोकास्त्वा सेवन्ते । अतो मत्कृत एव प्रसादस्त्वयि विलसति । ततो द्वावपि मिथो विवाद चक्रतुः । क्षण विश्रामं न ललतुः । ततो लोकैरुक्तं—भो कृष्ण ! त्वमन-योर्विवाद छिन्द्धि । कृष्णोऽवग्—अह युवा साम्प्रतमस्मि ।

लक्ष्मीदारिद्रौ ! इन्द्रपार्श्वे गच्छतम् । तत्रेन्द्रो वादमनयोर्भेत्स्यति । ततो द्वावपि स्वर्गं गतौ, इन्द्रेण पृष्टौ द्वावपि स्वस्वरूप गदत स्मेति ।

श्रीरवग्—मया जगत्सुखवत् कृतम् ।

दारिद्रोऽवग्—मत्तो भीता जना एना सेवन्ते अतोऽस्या प्रसादो मया दत्त ।

तत इन्द्रो जगौ—युवा वयौं, विवादो न विधीयते । ततः शक्रेण श्री. पृष्टा त्वमद्य यावत् केषु गृहेषु कुत्र स्थाने स्थिता ?

श्रीर्जगौ— ममैतानि गृहाणि विद्यन्ते —

गुरवो यत्र पूज्यन्ते, वित्तं यत्र नयार्जितम् ।
अदन्तकलहो यत्र, तत्र शक्र ! वसाम्यहम् ॥१॥

प्रीतिर्यत्र निर्वैर्गेहे, देहे सत्त्वं सुसंभृतम् ।
पुण्यमात्मजगुण्यं च, तत्र शक्र ! वसाम्यहम् ॥२॥

एवंविधेषु गेहेषु सहस्रेषु अहं स्थास्यामि, स्थिता, तिष्ठामि ।

तत इन्द्रपृष्टो दरिद्रोऽवग्—

द्यूतपोषी[१] निजद्वेषी[२] धातुवादी[३] सदालसः[४] ।
आयव्ययमनालोची[५] तत्र तिष्ठाम्यहं हरे ! ॥१॥

तत्र शक्रो द्वयोः पुरः प्राह—यस्य भाग्य विद्यते तस्य लक्ष्मि ! त्वं तिष्ठसि, नान्यस्य । यस्याऽभाग्यं विद्यते तत्र दारिद्रो वसति । अतो युवयोः को गर्व. ! अतो गर्वं मुक्त्वा यस्य भाग्यं विद्यते तत्र लक्ष्मीस्तिष्ठतु । यस्याभाग्यं तत्र दारिद्रस्तिष्ठतु । ततो विवादो भग्न' शक्रेण ।

इति श्री—दारिद्रसंवादसम्बन्धः ॥२११॥

[212] अथ कूटमानकश्रेष्ठिसम्बन्धः ।

धनावहश्रेष्ठिनो धनाढ्यो नन्दनोऽजनि । क्रमात् श्रेष्ठी हट्ट मण्डयामास । तत्र हट्टे बहूनि क्याणकानि मण्डयन्ते । श्रेष्ठिना लोकं वञ्चयितुं कूटानि मानकतुलादीनि कृतानि । मानकस्य एकस्य दायकस्य 'एक पोकर' नाम दत्तम् । धान्यदानाय ग्राहकस्य मानकस्य पञ्चपोकर इति । तत श्रेष्ठी यदा धान्यं गृह्णाति तदा पञ्चपोकरेण लाति । यदा दत्ते तदा एकद्वित्रिचतुःपोकरेण । यदा धान्यं गृह्णाति तदा पुत्रं प्रति वदति—पञ्चपोकरमानकमानय । यदा धान्यं दत्ते तदा वदति-एकपोकर-द्विपोकर-त्रिपोकर-चतु'पोकर पुत्र ! मानकमानय ।

एकदा एकग्राहिका बीजंगौ—श्रेष्ठिन् ! तव पुत्रस्तु एक एव दृश्यते नामानि बहूनि कथमस्य । श्रेष्ठ्यवग्—एकं नाम मया, एकं मात्रा, एक मातुलेन, एक मातुलान्या, एक तु लोकैर्नामास्य पुत्रस्य दत्तं । एव प्रोच्य सा वञ्चिता । एव वंचवंचं श्रेष्ठी श्वभ्रं गतः ।

इति कूटमानकश्रेष्ठिसम्बन्धः ॥२१२॥

[213] अथ सीतावनत्यजनसम्बन्धः ।

एकदा श्रीरामो रावण जित्वा सीतां स्वसदनेऽनैषीद्यदा तदा सीता श्रीराममान्यां दृष्ट्वा राज्ञीनामष्टसहस्रमीर्ष्यां कुरुते । ताभी राज्ञीभिर्मिथा विमृष्ट, सीता रामचित्तादुत्तार्यते ।

ततश्चान्यदा सीतामन्तःपुरे आगच्छन्तीं वीक्ष्य सर्वा अन्तपुर्यो वर्यासन मण्डयामासु, अभ्युत्थानं चक्रुश्च । सीतोपविष्टा ताभिः सविनय प्रोक्तं—स्वामिनि ! त्व लङ्कामस्थाः, स रावणो दशानन कीदृशो दृष्ट., लङ्का वा कीदृशी विद्यते ! सीताऽवग्—

रावणो यदा यदा मम पार्श्वे समागात्तदा तदा अधोमुखं कृतं तेन रावणाङ्ग न दृष्टं, पुन पादौ तस्य दृष्टौ ।

ताभिरुक्त-तर्हि लङ्कादिरावणपादानि भूमौ त्वया लेखनीयानि ।

ततस्तया मुग्धस्वभावत्वात् लङ्काधिपरावणपादादि सर्वं भूमौ लिखितं । रामोऽवग्—सीतैव कथं लिखति । ताभिः प्रोक्तं—या यस्याश्चेतसि विद्यते स तस्या हृदि तिष्ठत्येव । रावणाङ्घ्री आलिख्य प्रणमति सीता ।

ततो रामो दध्यौ—अहं सीतां सतीमेव वेद्मि, यस्या हेतवे मनुष्याणां बहूनां संहारः कृतो मया सा त्वेवंविधाऽस्ति । ततो रामो दध्यौ—सर्वाः पत्न्य एवंविधाः सन्ति अतः सर्वास्त्यक्ष्यामि ।

ततो रामो रात्रावेकाकी पुरं द्रष्टुं निर्ययौ । एकस्य गाच्छिकस्य गृहोपान्ते गतः, तस्य पत्नी तस्मात्सूरे समागता सती गाच्छिकेनोक्त-त्वमेतावन्तं कालं कुत्रास्था ? पत्न्योक्त-प्रातिवेश्मिकालये । कान्तः प्राह-एवं त्वं यास्यन्ती असती भविष्यसि । साऽवग्-एवं यन्नसतीत्वमागमिष्यति तदा सर्वाः स्त्रियोऽसत्य एव भविष्यन्ति ।

ततो हृष्टः स यदा गृहाद्बहिः कर्षयितुं लग्नः तदा साऽवग्-श्रीरामः सीतां रावणगृहे बहुकालं स्थितामपि स्वगृहे स्थापयति, त्वमेवं कथं कुरुषे ?

'अहं रामतुल्यो नास्मि'। एतद्वचः श्रुत्वा पुनः सीतोपरि जातद्विट् सीतां वने तत्याज ।

इति सीतावनत्यजनसम्बन्धः ॥२१३॥

[214] अथाविचार्य जल्पने क्षत्रियसूत्रधारपुत्रसम्बन्धः ।

काणककाछिकः कस्यचित्क्षत्रियस्य वृषभौ कस्मैचित्कार्यायानीतवान् । सिद्धे कार्ये तस्य गृहे वृषौ दत्तौ । तेन प्रोक्तं च दृग्भ्यां दृष्टौ ? सोऽवग्-दृष्टौ । काछिकः स्वगृहे गतः ।

इतस्तौ वृषौ गतौ तस्य गृहात्, विलोकितौ सर्वत्र न लब्धौ । स च क्षत्रियो वृषौ मार्गयितुं गतः । काछिकोऽवग्-मया पश्यतस्तव तौ दत्तौ, तथापि स क्षत्रियस्तौ मार्गयति सदा, कलिं कुरुते । ततस्तौ मार्गे कलिं कुर्वाणौ निर्गतौ ।

इतः काछिकस्याग्रे क्षत्रियेणोक्त-भो पुमन् ! अश्वो हन्तव्यः गच्छन्नस्ति । तेन तदाऽसिना हतेऽश्वो मृतः । स चाश्वं मार्गयति । द्वाभ्यां पुनः काछिको देवगृहे गतः दध्यौ च, "अहमेतयोः पार्श्वान्मृतिं विना न छुटिष्यामि" ततस्तयोः सुप्तयोर्मर्तुकामः काछिकः प्रासादस्योर्ध्वं चटित्वा झम्पामदात् । तदाऽधस्तात्सुप्तस्य सूत्रधारस्योपरि पपात । सूत्रधारो मृतः । सूत्रधारपुत्रोऽपि स्वपितरं याचते । त्रयोऽपि काछिकं दृढं कृत्वा राजकुले गताः । स्वं स्वं लहनकं ममार्गुः [मार्गयामासुः] स्वं स्वं सम्बन्धं प्रोचुः । काछिकोऽपि स्वसम्बन्धं जगौ । तदा भूपामात्येनोचे-'भो क्षत्रिय त्वयोक्त-दृग्भ्यां वृषभौ दृष्टौ ततस्त्वं दृष्टी देहि, असौ वृषभौ दास्यति ।' ततः स मौनं व्यधात् । द्वितीयक्षत्रियाग्रे प्रोक्त-त्वया जिह्वयोक्तं अश्वो हन्यतां ततोऽस्मै त्वं जिह्वां छित्त्वा देहि, ततोऽसौ तुरङ्गमं दास्यति । सूत्रधारपुत्रस्याग्रे प्रोक्तं—त्वमपि प्रासादोपरि चटित्वाऽस्य

सुप्तस्योपरि यत। ततः सर्वे मौन चक्रुः। काछिकश्छुटितस्तेभ्य. स्वगृहे गतः।

इति अविचार्यजल्पने क्षत्रियसूत्रधारपुत्रसंबंधः ॥२१४॥

[215] अथ शुद्धाहारग्रहणे वत्सकथा।

श्रीनिलये पुरे श्रीदः श्रेष्ठी, पुत्राः ४ क्रमात्परिणायिताः श्रेष्ठिना। तस्य च गृहे एका गौरेको वत्सः तस्य चारिपानीययोश्चिन्ता ता वारकेण कुर्वन्ति।

एकदा विवाहे जायमाने स वत्सो विस्मृतो, बुभुक्षितस्तासां मुखं विलोकयति विवाहासक्ता न स्मरन्ति वत्सम्। इतः श्रेष्ठी वत्सं बुभुक्षित जज्ञौ। तत श्रेष्ठी ताः प्रति प्राह– यूयं न वरा, यतो वत्सस्य सारा न कृता इति हसितास्ताश्चारिपानीयादि दातुं वत्सं प्रति चेलुः, तदा यथा वत्सस्तस्मिन् चारिपानीयादौ एकाग्रचित्तोऽभूत्, न तासु। तथा साधुभिर्भिक्षासु चित्तं देयं, नान्यत्र।

इति शुद्धाहारग्रहणे वत्सकथा ॥ २१५ ॥

[216] अथ विध्यविधिभ्यां धर्मं कर्त्तव्यमिति पुरुषत्रयकथा।

कस्मात्पुरात् त्रयः पुरुषाः द्रव्यार्थं चेलुः। गतास्तुङ्गशैले, तत्र सिद्धपुरुषं षण्मासं यावन्निरन्तरं सिषिविरे तथा, यथा प्रसन्नीभूयऽवग्–मार्गयत यूयं चित्तेष्टं, ते जगुर्धनं देहि। ततः पुनस्तुम्बिका बीजानि दत्त्वाऽवग्–भवद्भि पुष्यार्कयोगे मध्याह्ने जाते शतवारं क्षेत्रं खेटयित्वा छायाया कृताया मण्डपयोगात् बीजानि वपनीयानि। अयं मन्त्रश्च जपनीयः इत्यादि विधिना तुम्बिकाबीजानि उद्गतानि पुनर्बीजानि तासां जायन्ते यदा तदा सपत्राः सशाखास्तुम्बिका उत्पाट्य आतपे शुष्कयित्वा तासां बीजानि पृथक्कृत्वा सुस्थाने स्थाप्यानि। यतः पुनर्वपनाय तासां चूर्णमेकग–दीयानकमितं तप्तत्रपुमध्येऽपि क्षिप्यते सर्वं सुवर्णं भविष्यति।

एवं श्रुत्वा तास्तुम्बीर्लात्वा तासां बीजानि ते ललुः। ततस्तं सत्पुरुष नत्वा स्वग्रामे ययुस्ते त्रयः। तेषु प्रथमो गुरूक्तविधिना तानि तुम्बीबीजानि उप्त्वा सुवर्णं चक्रे, बहु ततः सुख्यभूत्। द्वितीयो गुरूक्तं विधिं शिथिलयन् तानि बीजानि उप्त्वा रजत चक्रे। तृतीयो गुरूक्तं विधिं न न व्यधात् तस्य किमपि नाभूत्।

एवं ये गुरूक्तविधिना सादर देवपूजादानशीलतपोभावनादिपुण्यं कुर्वन्ति ते प्रथमपुरुषवत्स्वर्गापवर्गादिसुखभाजः स्युः।

ये तु विधिना धर्मं कुर्वन्तः कदाचिदविधिनाऽपि देवपूजादिपुण्य कुर्वन्ति ते द्वितीयपुरुषवन्मनुष्यजन्म लभन्ते।

ये तु गुरूक्तं धर्मं विधिनाऽविधिनाऽपि न कुर्वन्ति ते तृतीयपुरुषवद्दुःखिनो नरके भवन्ति। एवं विधिना धर्मकृत्य नो चेदविधिनाऽपि कर्त्तव्य, न धर्मकृत्यं विना स्थेय। यत —

अविहिकए वरमकयं, असूयवयणं भणंति समयण्णू ।
पायच्छित्तं जम्हा, अकयगरूअं कयलहुअं ॥१॥

इति विध्यविधिभ्यां धर्म कर्त्तव्यमिति पुरुषत्रयकथा ॥२१६॥

[217] अथ द्वेषे भूपपत्नीकथा ।

श्रीपुरे चन्द्रभूपस्य पञ्चदशपत्न्योऽभूवन् । तासु मध्ये चन्द्रवती पट्टराज्ञी जिनधर्मे कुशला । अपरासामग्रे वक्ति–भो भगिन्य ! अस्माभि पूर्वं पुण्यं कृतं तेन वय भूपस्य पत्न्योऽभूम । यदि जैनो धर्मः क्रियते तदा वर । एवं कथयन्तो जिनप्रासादं कारयामास । तत्रादिदेव-प्रतिमा स्थापिता ।

एकदा भगिनीना पुर प्रोक्तं–जिनप्रासादप्रतिमाकारणे बहु पुण्यं जायते, यतः—

अङ्गुष्ठमात्रमपि यः प्रकरोति बिम्बं,
वीरावसानवृषभादिजिनेश्वराणाम् ।
स्वर्गप्रधानविपुलर्द्धिसुखानि भुक्त्वा,
पश्चादनुत्तरगतिं समुपैति धीरः ॥ १ ॥

इत्यादि धर्मोपदेश पट्टराज्ञीमुखादाकर्ण्य सर्वाभी राज्ञीभिर्जिनालयास्तुङ्गाः कारिताः । चन्द्रवती गुरुणीति कृत्वा स्थापिता इयं पुण्यवतीति ता जल्पन्ति । क्रमाच्चन्द्रवती लोकमुखात्स्वं जिनालयमपराहर्दालयेभ्यो हीनं श्रुत्वा खिन्ना दध्यौ । मया पाप कृत यदासां पार्श्वात्प्रासादा कारिता । किं कथमपि प्रासादा पतन्ति तदा वरम् । एव सदार्त्तध्यानपरा हृदये परेभ्यः स्वं पापमप्रकाशयन्ती क्रमादुत्पन्नरोगा मृता ग्रामशुनी जाता । सा च प्रभुप्रासादे प्रविशन्ती ता कष्टापयन्ति कुट्टयन्ति बहिर्निष्काशयन्ति ।

एकदा प्रभुबिम्ब दृष्ट्वा जातिस्मृतिं प्राप्याश्रुप्रवाह मुञ्चन्ती तिष्ठति स्म, न कुत्रापि गच्छति पुन स्वकृतकर्म निन्दति च तदा केवली तत्रागात् । स च सर्वाभिः पट्टराज्ञीभिर्भूपेन वन्दित धर्मोपदेशः श्रुत । पृष्ट ताभिः अस्मद्गुरुणी चन्द्रवती मृत्वा कुत्रोत्पन्ना ? केवल्यवग्—शुनी या जिनबिम्ब दृष्ट्वाऽश्रु पातयति सैव । ततः पृष्ट कथ पुण्यवत्येवविधाऽभूत् ? केवल्यवग्–आर्त्त-ध्यानात् कुत्सितध्यानाच्च । ताभि पृष्ट कथ ज्ञायते ? केवल्यवग्—भवन्त्यस्तत्र गत्वा पृच्छन्तु, सास्य संज्ञापयिष्यति । तत केवलिपार्श्वे आनीता । केवल्यवग्—परस्मिन् द्वेष कुर्वन् तिर्यग्पदीय भवति एषा शुनी यथा तत सर्वो वृत्तान्तः प्रोक्तः । सा चानशन लात्वा स्वर्गं क्रमाद् दिवि यास्यति । ततः सर्वा राज्ञः पत्न्यो द्वेष त्यक्त्वा शुद्ध धर्मं कृत्वा प्रान्ते चारित्रं लात्वा सर्व-कर्मक्षयान्मुक्ति गताः । इति द्वेषे भूपपत्नीकथा ॥२१७॥

[218] अथ भाग्ययोगात्स्वेष्टयोगो भवति ।

एकस्मिन् ग्रामे भग्ने परैः एकस्य निगमस्य प्रिया वैर्गृहीता वैरिभि । सा स्त्री वैरिभिश्चालिता

सती मार्गे समेत्य पत्या छोटयितुं चतुःशतीस्फरकाना मानिता। स्वगृहे सर्वं गृहं धनैः रिक्तं दृष्ट्वा स्वजनपार्श्वात् धनं मार्गयित्वा चचाल। तदा एको द्विजश्छली तद्धनं तेन नैगमेन समं चचाल। स वणिग् न विश्वमिति। स च चलन् मार्गे एकस्य कूपस्य प्रान्ते समागात्। तदा विप्रोऽवग्—अत्र पयः पीयते, कूपस्य कण्ठे उपविशत्। तदा छलेन द्विजस्तस्य पार्श्वात् धनं लात्वा कूपे चिक्षेप। कटिदघ्ने जले स्थितः क्षणात्सचेतनीभूतः स्वां प्रियां तत्रैव दृष्ट्वा हृष्टः प्राह—भो प्रिये! कथं त्वमत्रागाः। ततस्तेन स्वस्य कूपपतनवृत्तान्तः प्रोक्तः। ततो भार्यापि तेन पृष्टाऽवग्—स्वकूपपतनवृत्तान्तं प्राहेति—अहमत्रायाते शिविरे छलं कृत्वा कूपेऽपतं तदा दिनद्वयं जातं कोऽपि न तत्रायाति। यः कर्षयति तदाकस्मात् कूपस्याधःस्थविवरेऽकस्मात्तत्र पयः पातुं शिवा समागात्। सा पयः पीत्वा पश्चाद्यावद्वलते तावत्स वणिग् तस्य पृष्ठौ विवरात् गव्यूतद्वये बहिर्निर्गत्य स्वां प्रियां कर्षयामास। यत्र शिवा भूमध्यविवरेभ्यः पातालस्थं पयः पिबति ततस्तत्र विप्रपार्श्वे गत्वा तं हक्कयित्वा राजकुले नीत्वा स्वं धनं जग्राह। भार्यायुतः स्वपुरे गतः।

इति भाग्ययोगात्स्वेष्टयोगो भवति ॥२१८॥

[219] अथ कुमारपालपश्चाद्भवसम्बन्धः।

ग्रीष्मे तुल्यगुडां सुसैन्धवयुतां वर्षावनद्धाम्बरे,
तुल्यां शर्करया शरद्यमलया शुण्ठ्या तुषारागमे।
पिप्पल्या शिशिरे वसन्तसमये क्षौद्रेण संयोजितां,
पुंसां प्राप्य हरीतकीमिव गदा नश्यन्तु ते शत्रवः ॥१॥

सुरगिरि एकावन्ना, सावउ भावउ देइ दाणं।
तस्स न तत्ती अपुंनं, त्तीअ सामइए इक्के ॥२॥

सामाईअसुद्धिआणं, जह जह उल्लसइ सुद्धपरिणामो।
तह तह खवंति जीवा अणेगभवसचिअं कम्मं ॥३॥

सामाईअसामग्गि, अमग चिंतंति ही अयमज्झंमि।
जइ हुज्ज घडीव दुगं, ता अम्ह नुगत्तणं सुलं ॥४॥

एकदा कुमारपाल श्रीहेमसूरिपार्श्वेऽप्राक्षीत्। मया पूर्वभवे किं कृतं पुण्यमत्रे को भवो भविष्यति? सिद्धराज कुतो मह्यमद्रुह्यत्? मन्त्री उदायनो यूयमपि वत्सला कुतः? यतः—

नहि प्राग्जन्मसंबंधं, विना कस्यापि कर्हिचित्।
वैरं च सौहृदय्यं च, स्नातामात्यन्तिकं ध्रुवम् ॥५॥

सूरिः प्राह—नेदानीं निर्मलं ज्ञानं न विद्यते तथापि देवतां पृष्ट्वा कथयिष्यामि। ततः सूरिः सिद्धपुरे गत्वा श्रीनेमिप्रासादे नेमिमम्बिकामुद्दिश्य तपस्तेपे। उपवासत्रयान्ते अम्बिका

प्राक्सम्बन्धं प्राह । ततो गुरुः प्राह–मेदपाटमध्ये भीमपर्वतोपान्ते परमान्वयी जयताहः पल्लीपतिः लोकान् मुमोप । ग्रामान् भनक्ति स्म ।

अन्येद्युर्धनदत्त सार्थप तत्राध्वनि आगच्छन्त दृष्ट्वा लुलोट । धनदत्तो नष्टः सार्थपः स्वगृहे गत्वा मालवेश ससैन्य तद्बलं लात्वा पल्लीपुर वेष्टयित्वा युद्धे जयत जिगाय । जयतो नष्टः धनदत्तस्तद्भृत्यान् हत्वा तत्पत्न्याः सगर्भाया उदर विदार्य कर्षयित्वा शिलायामास्फाल्य यमगृह नीतवान् । ततो यदा धनदत्त पल्लीपतिधन राज्ञोऽग्रे मुमोच, तदा राजा तत्कृत्य ज्ञात्वा रुष्टो जगौ—

त्वं वाणिजोऽपि जात्यारे, कर्मणासि जनंगम ।
निर्घृणो यत्स्वहस्तेन, स्त्रियं बाल च जघ्निवान् ॥६॥

अथैतत्कर्म निर्माति, चाण्डालोऽपि न कर्हिचित् ।
यत्त्वया निर्मितं रे रे, लोकद्वयविरोधकम् ॥७॥

अतस्त्वमदृष्टमुखो दूरं याहि, मद्देशे न स्थेय । ततो निर्गत्य तापसो भूत्वा अज्ञान तप कृत्वा सिद्धराजोऽभूत् । धनदत्त जयताकः पल्लीपतिः निःस्वो भूत्वा यशोभद्रसूरिं सेवते स्म, धर्मं शृणोति । यतः—

रोगिणां सुहृदो वैद्याः, प्रभूणां चाटुकारिणः ।
मुनयो दुःखदग्धानां, गणिकाः क्षीणसम्पदाम् ॥८॥

चौर्यं श्वभ्रफल ज्ञात्वा, स्तैन्य तत्याज जयतः ।

स्थानभ्रंशं कुलध्वंसं, निःशेषविभवक्षयः ।
तत्काल कलयन् स्तेया–त्कः सुधीर्विदधीत तत् ॥९॥

ततो जयताक एकशिलापुर्यां प्रेषित । तत्र उदरमहेभ्यगृहे कर्मकरोऽभूत् । भद्रकस्वभावत्वात् गुरुरपि तत्रागात् उदरो धर्मोपदेश शुश्राव ।

एकदा उदरेण जयतः पृष्टः, कुत्र तिष्ठसि बह्वीं वेला । तेनोक्त–यशोभद्रसूरेः पार्श्वे तिष्ठामि । तत उदरो हृष्टस्त भृत्य गुरुपार्श्वं निनाय । धर्मं द्वावपि शृणुतः स्म । उपदेश श्रुत्वा उदरो जिनागारमकारयत् । तत्र श्रीवीरदेवप्रतिमा यशोभद्रसूरि [रिः] प्रतिष्ठयन् ।

एकदा पर्युषणादिने बहून् श्राद्धान् जिनमर्चयतो दृष्ट्वा स्वीयपञ्चकपर्दैः पुष्पान् लात्वा प्रभोर्जयतोऽर्चां चक्रे । प्रातर्गुरून् प्रतिलाभ्योदर पारणक व्यधात् । स कर्मकरोऽनुमुमोद तत्पुण्यम् । उदरो मृत्वा उदायनो मन्त्र्यभूत् । जयताको मृत्वा भवानभूत् । यशोभद्रसूरिस्त्वं-वा हेमाऽभूवम् । धनदत्त. सार्थपो मृत्वा सिद्धराजोऽभूत् । अत. प्राग्भववैरात् त्व मारयितुमारब्धस्तेन मम तव उदयनस्य च प्रीति प्राग्भवभूताऽभूत् । तत एकशिलापुरिप्रेष्यभृत्यान् पुरगृहमासादादिपुण्य ज्ञातमतो मृत्वा भवान् व्यन्तरेन्द्रो भविष्यति । इन्द्रवत्स्वशाश्वतचैत्यानि

वन्दिष्यसि ततश्च्युत इह भरते भद्दिलपुरे शतानन्दभूपस्य धारिणीकुक्षिभूतः शतबलाह्वः पुत्रो भविष्यसि। तत्र धर्मवान् भविष्यति। त्वां राज्ये न्यस्य नन्दो स्वर्गं गमिष्यति। त्वयि शतबलभूपे राज्यं कुर्वति तत्र श्रेणिकभूपजीवः पद्मनाभः सर्वज्ञः तत्रागमिष्यति। उपदेशं श्रुत्वा प्रबुद्धः शतबलो राज्ये पुत्रं न्यस्य दीक्षां ग्रहीष्यति। तत्र गणधरो भविष्यति। केवलज्ञानं प्राप्य जीवान् प्रबोध्य भवान् मुक्तिं गमिष्यसि।

इति कुमारपालपश्चाद्भवसम्बन्धः ॥२१९॥

[220] अथ कुबेरदत्त–कुबेरदत्ताकथानकमष्टादशनात्रकगर्भितम्।

मथुरायां वेश्या कुबेरसेना मातुरुपरोधादेकादशदिने स्वापत्ययुग्मं कुबेरदत्तः—कुबेरदत्ताः नामाङ्कितमुद्रिकाद्वयसहितं काष्ठपेटायां प्रक्षिप्य यमुनायां प्रवाहयत्। सा वहमाना सूर्यपुरेऽगात्। इभ्यपुत्राभ्यां गृहीता। समये तयोरेव द्वयोः कुबेरदत्ता—कुबेरदत्तयोर्विवाहोऽभूत्। असम्बद्धे एव मुद्रिकात उपलक्षणं भ्रातृभगिनीभाव मुद्रिकाक्षरतो ज्ञात्वा देवनत्यवसरे निजनामाक्षराङ्कितमुद्रादर्शनात् कुबेरदत्तकुबेरदत्ताभ्यां भ्रातृभगिनीभावौ ज्ञातौ। ततो व्यवसायार्थं कुबेरदत्तो मथुरायां गतः। कुबेरसेनायाः स्वमातुरज्ञानात्कलत्रीकरणे पुत्रोत्पत्तिरभूत् तयोः। कुबेरदत्ता विरक्ता भवाद्दीक्षां ललौ। तपसा तस्या अवधिज्ञानमुत्पेदे। स्वपुत्रपुत्र्यादिसम्बन्धमवगत्यावधिज्ञानात् कुबेरदत्ता यतिनी कुबेरसेनामातृगृहोपान्ते कस्यचिदुपाश्रयं याचित्वा स्थिता। ततो मातृभ्रात्रोः प्रबोधाय कुबेरदत्तकुबेरसेनोत्पन्नं बालं पालनस्थं रटन्तमिति तत्रैत्याललाप—

भ्रातासि[१] तनुजन्मासि,[२] वरस्यावरजोऽसि[३] च।
भ्रातृव्योऽसि[४] पितृव्योऽसि,[५] पुत्रपुत्रोऽसि[६] चार्भक! ॥१॥

यश्च बालक! ते पिता, स मे भवति सोदरः[१]।
पिता[२] पितामहो[३] भर्ता,[४] तनयः[५] श्वशुरोऽपि[६] च ॥२॥

या च बालक! ते माता, सा मे माता[१] पितामही[२]।
भ्रातृजाया[३] वधूः[४] श्वश्रूः,[५] सपत्नी[६] च भवत्यहो ॥३॥

एतद्विवरणश्लोकाश्चैते—

आर्योचे मम बालोऽयं, भ्रातैका जननी यतः। १
वदामि तनुजन्मान–ममुं मत्पतिसूरिति ॥४॥ २

मद्भर्तुः सोदर इति, देवरोऽपि भवत्यसौ। ३
भ्रातुस्तनय इति च, भ्रातृव्यं कीर्त्तयाम्यमुम् ॥५॥ ४

पितृव्यश्चैष भवति, भ्राता मातृपतेरिति। ५
पुत्रः सपत्नीपुत्रस्ये–त्यसौ पौत्रो मयोदितः ॥६॥ ६

योऽस्य वप्ता स मे भ्राता, माता ह्येका यदावयोः । १
अस्य तातश्च मे तातो, भर्त्ता मातुरभूदिति ॥७॥ २
पितृव्यस्य पितेत्येन—मुद्घोषयामि पितामहम् । ३
परिणीताऽहममुना—ह्यस्मीति पतिरेष मे ॥ ८ ॥ ४
ममैष तनुजन्मा च, सपत्नीकुक्षिभूरिति । ५
देवरस्य पितेत्येष, भविता श्वशुरोऽपि हि ॥९॥ ६
याऽस्याम्बा सा ममाप्यम्बा, तया जातास्म्यहं यतः । १
पितृव्यकस्य मातेति, मम सापि पितामही ॥१०॥ २
भ्रातृजायाऽपि भवति, मद्भ्रातुर्गृहिणीत्यसौ । ३
सपत्नीतनयस्यैषा, गृहिणीति वधूरिति ॥११॥ ४
मातापत्युर्मदीयस्ये—त्येषा श्वश्रूरसंशयम् । ५
भर्त्तुर्भार्या द्वितीयेय—मिति जाता सपत्न्यपि ॥१२॥ ६

ततः कुबेरदत्तभ्राता कुबेरसेनामाता च कुबेरदत्तायतिनीपार्श्वे पुत्र-पुत्री-भ्रातृ-पितृमात्रादि १८ नात्रकसम्बन्धं स्वस्य ज्ञात्वा प्रबुद्धौ। कुबेरदत्त गृहीतव्रत स स्वर्गमगात् । मुद्रिकादर्शनेन मातुरपि प्रबोध' सम्यक्त्वादिप्रतिपत्तिश्च ।

इति कुबेरदत्त-कुबेरदत्ताकथानकमष्टादशनात्रकसम्बन्धगर्भितं समाप्तम् ॥२२०॥

[221] अष्टविधप्रतिक्रमणस्य दृष्टान्तानि—प्रथमं अध्वदृष्टान्तम् ।

पडिक्कमणं[१] पडियरणा[२] , परिहरणा[३] वारणा[४] निवत्ती[५] य ।
निंदा[६] गरिहा[७] सोही[८] , पडिक्कमणं अट्ठहा होइ ॥ १ ॥

प्रतिक्रमणे दृष्टान्ता —

अद्धाणे[१] पासाए[२] दुद्धकाय[३] विसभोअणतलाए[४] ।
दोकन्नाओ[५] पइमारिया[६] य, वत्थे[७] अ अगए[८] अ ॥२॥ *

अध्वानो नृपेण प्रासादार्थं दत्तस्तत्रान्तर्गच्छद्ग्राम्यद्वयस्य निषिद्धस्य एको धृष्टत्वात्को दोष इति वदन् नृपानुगैर्हत । द्वितीयस्तु तैरेव पदैर्वलमानो मुक्तः सुखी जात. । एवं द्रव्य-प्रतिक्रमण ।

* आवश्यक निर्युक्तौ, गा० न० १२३९ ।

भावे दृष्टान्तस्योपनयो यथा—राजस्थानीयैरर्हद्भिः प्रासादः सूत्रस्थानीयः संयमो रक्षणीय इत्यादिष्टे ग्राम्यसाधुना एकेनातिक्रान्त स दु खभागी । यः प्रासादेन संयमं गत' प्रतिनिवृत्तोऽकरणतया प्रतिक्रमति स शिवभागी । इति प्रथमः ॥२२१॥

[222] अथ प्रतिचरणायां प्रासादेन दृष्टान्तो यथा—

कश्चिद्वणिगर्थसमृद्धः प्रासादो यत्त्वयाचिन्त्य इति भार्यायै उक्त्वा देशान्तरमगात् । तया देहमण्डनादिपरया स प्रासाद शनै शनैः पतितो न प्रतिचरितः । आगतेन वणिजा त पतितं दृष्ट्वा पत्नी निःसारिता गृहात् । यथा न दृष्टा । तेन पुनरन्यः प्रासादः कारित । अन्या पत्नी परिणीता च । पूर्ववत्तं प्रासाद नवीन पत्न्यै सम्भाल्य दूरे गत । पुनरागत सन् तं प्रासादं तया प्रतिचरित दृष्ट्वा गृहस्वामिनी कृता । एषा द्रव्यप्रतिचरणा ।

भावे वणिक्स्थानीय आचार्य, प्रासादः सयम, इत्यादि पूर्ववत् ज्ञेयम् ।

इति द्वितीयः ॥ २२२ ॥

[223] अथ तृतीयः—(परिहरणायां) दुग्धकाये दुग्ध—कावडिः ।

एकः कुलपुत्र, तस्य द्वे भगिन्यौ स्तः । स च परीक्षा विना न कस्यापि स्वा भगिनीं दत्ते । तस्य पुत्रीयाचनाय द्वौ नरौ समायातौ । कुलपुत्रेणोक्त—यो दक्षो भविष्यति तस्मै दास्ये पुत्रीम् । ततस्तेन कावडियुक्तौ द्वौ दुग्धमानयनाय गोकुले प्रेषितौ । तत्र गत्वा दुग्धघटौ दुग्धेन भृत्वा कापोतीमादाय निवृत्तौ ।

तत्र द्वौ पन्थानौ, एक परिहारेण समोऽस्ति, अपर ऋजुर्विषमश्च । तत एकस्य ऋजुना प्रविष्टस्य प्रस्खल्यैकघटभङ्गे द्वितीयोऽपि भग्न । द्वितीयो दूरमार्गेण पर्वतपरिहारेणाखण्डघट. समायात, तस्मै पुत्री दत्ता । तेन एषा द्रव्यपरिहरणा भावे कुलपुत्रस्थानीया अर्हन्तः, दुग्धं चारित्र, 'कन्या सिद्धि, गोकुल मनुष्यभव' । इति तृतीयः ॥२२३॥

[224] वारणायां विषभोजनतडागेन दृष्टान्तः चतुर्थः ।

एको राजा परचक्रागम ज्ञात्वा ग्रामेषु दुग्धदधिभोज्यादिषु तटाकादिषु, वृक्षपुष्पफलादिषु च विषयोग कारितवान् । आगतेन राज्ञा तथा ज्ञाते घोषणया वारित सैन्यम् । ये वारिता भृत्या राज्ञोक्तमङ्गीचक्रुस्ते सुखिनोऽभूवन्, अपरे मृताः । भावे विषान्नपानसदृशा विषया. भूपतुल्या गुरवः, भृत्यसमा भव्यजना ये गुरूक्तमङ्गीचक्रुस्ते सुखिनोऽन्ये तु न ।

इति चतुर्थः ॥ २२४ ॥

[225] अथ—द्वयोः कन्ययो राजसुता—चित्रकरसुतयोर्मध्ये पूर्वं निवृत्तौ राजकन्यया दृष्टान्तः पञ्चमः ।

एक. शालापतिस्तस्य शालायामेको धूर्तो मधुरस्वरेण गायति । तेन सम शालापतिपुत्री

तत्सखी राजपुत्री लग्ने। द्वे अपि यावत्तस्य वरणार्थम्। मार्गे गाथामेकां शृणुतः स्मेति—

जइ फुल्ला कणी[णि]यारया चूयय !, अहिमासयंमि थट्टंमि [धुट्ठंमि]।
तुह न खमं फुल्लेउं, जइ पच्चंता करंति डमराइं ॥१॥

यदि कर्णिकाराद्या नीचाः पुष्पिता' तदा तव भूतोत्तमस्य पुष्पितुं न युक्तम्, श्रुत्वेति राजपुत्री मम रत्नकरण्डको विस्मृत इति छद्मना कुविन्दसुतायै निवेद्य पश्चादागता। तस्मिन् दिने सामन्तपुत्राय दत्ता पित्रा सुखिनी बभूव। स च श्वशुरबलेनारीन् जित्वा सुख्यभूत्। कुविन्दपुत्री तेन धूर्तेनाङ्गीकृता दुःखिनी जाता।

भावे-आद्या भूपपुत्रीतुल्यो चारित्री साधु, कुविन्दपुत्रीतुल्यो धर्मः, चारित्री साधु', धूर्त-तुल्या विषयाः, गीततुल्याचार्येण मम तु शिष्टो निवृत्त सुखी जातः। यथा द्रव्यभावनिवृत्तो क्वापि गच्छे एक साधुस्तरुणो ग्रहणधारणसमर्थ इति सूरिप्रिय सोऽन्यदाऽशुभकर्मोदयेन प्रतिगच्छन् शृणोति—

तरियव्वा च पइन्ना, परिअव्वा समरे समत्थेण।
असरिसजणतुल्ला वा, न हु सहिअव्वा कुलपसूएण॥

श्रुत्वेति स प्रबुद्धो निवृत्त। इति पञ्चमः ॥२२५॥

[226] निन्दायां चित्रकरसुतादृष्टान्तः षष्ठः।

चित्रकरसुता बुद्धिमती केनचिद्राज्ञा परिणीता बुद्धया षण्मासान् नृप स्वावासे स्थापितवती सा। यच्छिद्राणि वीक्षन्ते। सा चापवरके प्रविश्य पुराणमणिचीवराणि पुरः कृत्वा आत्मानं निन्दति इति त्व चित्रकरसुतासि। एतद्वस्त्रादि तव पितुः सम्बन्धी, एव प्रतिदिन वस्त्राभरणादि पितृसत्कमग्रे मण्डयित्वा तां सपत्नीं जल्पन्तीं दृष्ट्वा सपत्न्यो भूपस्याग्रे प्रोचुः-एषा तव कार्मणं कर्तुमेव करोति वक्ति च। ततो राज्ञा रहःस्थितेन सर्वं निन्दन्तीं शुभकर्मोदयादह। राज्ञ पत्न्यभूवमेतच्च वस्त्रादि पितृसत्कम्, एतच्च राज्ञः सत्कम्, त्वया च कस्याप्युपरि द्वेषो न कार्यः। श्रुत्वैतत्पत्नीवचो भूपस्तां पट्टराज्ञीं चक्रे।

भावे साधुनैवमात्मा निन्दितव्यः। इति आत्मनिन्दायां ः ॥२२६॥

[227] अथ गर्हायां पतिमारिकाया न्तः सप्तमः।

कस्यापि वृद्धस्योपाध्यायस्य तरुणी पत्न्यभूत्। परकूलवासिगोपरता नर्मदां तीर्त्वा तत्र भोग तेन सम भुङ्क्ते स्म। सा गृहे तु निष्कारके गच्छन्ती काकेभ्यो बिभेति। नद्यां च कुतीर्थानि जानाति च इत्यादि ज्ञात्वैकेन णोक्तं तां प्रति—

दिवा बिभेति काकेभ्यो, रात्रौ तरति नर्मदाम्।
कुतीर्थान्यपि ासि, जलजन्तुविरोधनम् ॥१॥

सा प्राह–किं कुर्वे युष्मादृशा नेच्छन्ति। स उपचरित. प्राह–उपाध्यायाद्बिभेमि। सा ततः पतिं सुप्त व्यापाद्योज्झनाय पिटिके क्षिप्त्वाऽटव्या गता। व्यन्तर्या पिटकं तच्छीर्षे स्तम्भितम्। क्षुधाकुला लोकगृहे गत्वा वक्ति। सा पतिमारिकायै भिक्षा दीयतामित्यादि जल्पन्ती भिक्षां प्राप्य बहुकाल निनाय। अन्यदा साध्व्या पदोः पतितायास्तस्या पिटक भूमौ पपात। स्वपापमालोच्य व्रतिनी जाता। क्रमात्तस्मात्पापात् शुद्धा। इति सप्तमम् ॥२२७॥

[228] अथ शुद्धौ वस्त्रागदेइति अष्टम्।

तथाहि—वस्त्रे–राजकुले श्रेणिकेन स्व क्षौमयुग रजकस्य समर्प्पितम्। कौमुदीक्षणे तेन भार्याद्वयस्य दत्तम्। कौमुद्या च-श्रेणिकाभयौ रहो हिण्डत. स्म। श्रेणिकेन स्वं क्षौमयुगं रजकपत्नीद्वयपरिधत्तं दृष्ट्वा अभिज्ञानाय ताम्बूलेन सिक्तं वस्त्र रजकेन क्षारादिभि शोधितमानयने (राज्ञा) राज्ञस्तदर्प्पितम्। राज्ञा पृष्टो यथास्थित प्राह रजकः, ततो राज्ञा सत्कृतः। एवं साधुनाऽपि पापमालोच्य गुरोरग्रे।

अगदो यथा—परबलागमे नीरविनाशार्थं राज्ञा विषाकरः पातित पुञ्जाकृता वैद्येन यवमात्रमानीत। राजारुष्टोऽवग्–स्तोकं कथमानीत? वैद्योऽवग् सहस्रधात्येतत्। ततो मृतेभस्य पुच्छमुत्पाट्य क्षिप्त तद्विप सर्वोऽपि हस्ती विषमयोऽभूत्। यस्त खादति सोऽपि विषं ततो लक्षवेधे अगदे दत्ते तथैव वलित वैद्यधी एवं शोधिः कार्या। इत्यष्टमम् ॥

इति प्रतिक्रमणविपये अष्टावुदाहरणानि ॥२२८॥

[229] अथ सदुपदेशे श्रेष्ठिपुत्रसम्बन्धः।

श्रीपुरे भीमश्रेष्ठिन चन्द्रो नन्दनोऽभूत्, स च परिणीतः। अन्यदा तस्यापि कमलाह्वः पुत्रोऽजनि। भीमपत्नी मृता। स भीमो वृद्धोऽभवत्। चन्द्रपत्नी पत्यु पुर प्राह—'अयं श्वशुरो वृद्धोऽङ्गणे उपविष्टो न शोभते। ततं पत्न्या प्रेरितेन तेन स्वपिता वाटके कुटीरकं कृत्वा स्थापित। अन्नपान तत्रैव दीयते। प्रातर्जलभृतः कुम्भस्तत्र मुञ्चति। वधूः भोजनावसरे एको वंशः सशिखिरस्तत्र मुक्तः। पुत्रेणोक्त–तात! यदा जेमनावसरो भवति तदा त्वया एष वंशो वादनीय, तेन शब्देन मत्पत्नी समेत्य तुभ्य भोजनं दास्यति। ततः श्रेष्ठी तत्रस्थः काल गमयति दुःखेन।

अन्यदा कमलकुमारो रममाणो बाल्यचापल्यात् वंशटोकरकं लात्वाऽग्रे गच्छन् घोटकमिवारुढो व्रजति। ममायं घोटको वर्योऽस्ति। ततस्तेन बालेन रममाणेनान्यत्र त्यक्तः। दिनत्रय जातं श्रेष्ठिनो भोजन विना। ततोऽकस्मात्पुत्रागात्। पित्रोक्त–दिनत्रयं जातमन्नेन विना। पुत्रोऽवग्–वंशः क्व तात? तत श्रेष्ठी वंशस्वरूप प्राह। ततस्तेन कमलः पृष्ट.। क्व वंशो मुक्तस्त्वया? वंशवादनं विना तातो दिनत्रय बुभुक्षितोऽभूत्। पुत्रोऽवग्–वंशो रहसि स्थापितोऽस्ति। ततश्चन्द्रोऽवग्–भो पुत्र! वयं न कृत त्वया। कमलकुमार. प्राह–तात! यदा त्वमपि वृद्धो भविष्य[ति]तदा तत्रापि वंशो विलोकयिष्यते। श्रुत्वेति पुत्रवचश्चन्द्रस्तातं भोजयित्वा जिमति। यदा तस्या. आकारयितुं कोऽपि न याति यदा चन्द्रपत्नी दध्यौ–अहं पत्या मुक्ता गृह सर्वं

भक्षितम् । तेन छलं कृत्वा पत्युर्गृहे यास्यामि । ततः सा सायं महिषपुच्छे विलग्ना चलन्ती प्राह—"पाडा मांडमतेडिल्ह तुरीसावी छउ" ।

इति जल्पन्ती स्वगृहे समायाता । तत श्वशुरस्य पतिकवद्भक्तिं चक्रे ।

इति सदुपदेशे श्रेष्ठिपुत्रसम्बन्धः ॥२२९॥

[230] कपटे छालीदन्तालीग्राहकद्विजसम्बन्धः ।

एकस्मिन्पुरे कृष्णद्विजस्य ज्योतिष्कस्य छालीदन्ताल्यादयो गृहे विलोक्यन्ते । स चान्यदा कस्यचिदाभीरस्य गृहे तत्पुत्रस्य चिकित्सार्थं गत । तत्तस्य नाड्यादि वीक्ष्य लग्न विलोक्य मस्तक द्विजोऽधूनयत् । ततः स आभीरोऽवग्—मस्तकधूननकारण प्रोच्यताम् । द्विजोऽवग्—विषमोऽस्य रोग । पिताऽवग्—कथ याति रोग ? वैद्योऽवग्—कथयिष्यते । ततस्तस्य गृहऋद्धिं विलोकयन् प्राह—

काली छाली वरखग्रकाली एवं ताली रोगनी आली ।
ए रोग छइ आमलदूमल, तो जाइ जो दीजइ पांच पीडल ॥१॥

ततः स तस्मै छाल्याद्य सर्वं ददौ । तत क्रमाद्रोगोऽपि गतः । आभीरोऽवग्—अय वैद्यो वर्यः ।

इति कपटे छालीदन्तालीग्राहकद्विजसम्बन्धः ॥२३०॥

[231] अथ रात्रौ उच्चैर्न जल्पितव्यमिति सम्बन्धः ।

एकस्मिन्पुरे घाञ्चिको रात्रौ तिलभृत शुण्डलक पीलयितु मुक्त्वा सुप्त । मध्यरात्रौ वैदिकद्विजोच्चारितोच्चैः शब्दश्रुतेजागरित सकाल एवोत्थितः । घाणिकायां तिलान् क्षिप्त्वा पीलयामास । तैलमसदृश दृष्ट्वा पार्श्वे बिलाडिका रुदन्ती दृष्ट्वा खलमध्येऽस्थिशकलानि दृष्ट्वा बिलाडिकाबालक पिलित जज्ञौ । ततः पश्चात्तापवान् सोवोरपार्श्वे व्रत लात्वा स्वकृत पाप प्रकाशयामास । भगवन् प्राह—बहु पाप द्विजानां लग्न रात्रावुच्चैः शब्दोच्चरणात् । तव पाप स्तोकमज्ञानात्तव कृपा हृदि त्वयाऽत पर रात्रावुच्चैर्न वक्तव्यम् । यतना च कार्या । ततस्तत्पापमालोच्य स्वर्गं गत । ततो मुक्तिं यास्यति ।

इति रात्रावुच्चैर्न जल्पितव्यमिति सम्बन्धः ॥२३१॥

[232] देवपूजायामभयकुमारसम्बन्धः ।

कस्मिंश्चित्पुरे श्रेष्ठिनो गृहे श्रीरस्ति । जिनपूजां विशेषतः श्रेष्ठी चक्रे ।

एकदा बटुक कणान् मार्गयन्त दृष्ट्वा श्रेष्ठी पप्रच्छ, कियन्त कणाः कणवृत्तौ मिलन्ति । तेनोक्तं—मानकमेकं । श्रेष्ठी आह—मम देवपूजार्थं वाटीतः पुष्पाणि त्वयाऽऽनेतव्यानि, तुभ्य

मानकं साधिकं दास्यामि । ततः स बटुको वर्षाणि पुष्पाण्यादाय दत्ते श्रेष्ठिने । स बटुकः स्वकर्णैः पुष्पाणि लात्वा प्रभुं पूजयामास । तेन पुष्पेण स्वर्गं गत्वा श्रीश्रेणिकस्य भूपस्याभयकुमारः पुत्रोऽजनि । इति देवपूजयामभयकुमारसम्बन्धः ॥२३२॥

[233] अथ सुपात्रदाने श्रेष्ठिसम्बन्धः ।

कस्मिंश्चित्पुरे दुष्काले जाते पात्रापात्रादिविचारं विना दानं श्रेष्ठी दत्ते । तदा श्रेष्ठिना एकस्य मात्सिकस्य दान ददौ । स मात्सिकस्तेन धान्येन जालक चक्रे । ततो जले जालकं क्षिप्त्वा बहून् मत्स्यान् नीत्वा विक्रीय धनी जातः । तस्य कुटुम्बं ववृधे । जालकं यत्नेन रक्षति स्म सः । तस्य श्रेष्ठिनोऽङ्गे कुष्ठं जातं । तत्र ज्ञानी समागात् । श्रेष्ठिना वन्दित. पृष्टश्च रोगोत्पत्तिकारणम् । ततः केवली जगौ—त्वया मैनिकाय दानं ददे, स च मैनिको नाधुना धनी भूत्वा बहुपापं चक्रे । तज्जालं यदि विनश्यति तदा स पापं तेन जालकेन न करोति ततस्तव नीरोगता भवति । ततस्तेन श्रेष्ठिना मिषं कृत्वा जालकं लात्वा च वह्नौ भस्मीकृत्य तेन भस्मना स्वाङ्गं लूषयामास । श्रेष्ठी ततः नीरोगो जातः धनी च मैनिको निर्धन' । तत' स्वर्गं गत्वा मुक्तिं यास्यति ।

इति सुपात्रदाने श्रेष्ठिमैनिकसम्बन्धः ॥२३३॥

[234] अथ पापदाने मैनिकसम्बन्धः ।

एकस्य श्रेष्ठिनो दुष्काले दानं ददतः कालो गच्छति । अत्रान्तरे एकस्य मैनिकस्य भोजन दत्तम् । तत उत्थाय मैनिक' प्राह–भो श्रेष्ठिन् ! तवाहारेण मम कुटुम्बं जीविष्यति यतोऽहं तव भोजनेन जले जालक क्षिप्त्वा मत्स्यानानीय विक्रीय विक्रीय स्वकुटुम्बं जीवयिष्यामि । तत. स श्रेष्ठी दध्यौ । मम पाप लग्नमतस्तथा करिष्ये यथाऽग्रतः पापं न चलति । तत' स मैनिकः काष्ठागरे क्षिप्तः स्वसेवकपार्श्वात् तावद्यावत्स्वदत्ताहारं जीर्णं तत कर्षयित्वोक्तं त्वं तु पापी तैनेवं मया कृतम् । ततः स मैनिको जीवहिंसानियमं जग्राह । श्रेष्ठिना ततो धनदानात्संमानित. । इति पापदाने मैनिकसम्बन्धः ॥२३४॥

[235] अथ उचितदाने याचकसम्बन्धः ।

एकदा एकेनापि राज्ञा याचकः पृष्टः 'तत्तत्र' इति शब्देन गीते किमुच्यते ? ततोऽर्थी राज्ञोऽग्रे जगौ—

प्रापं प्रापं धनं भूरि, स्वर्णरूप्यादिकं सदा ।
धनिभ्योऽर्थिगृहे नूनं, तत्रास्ति यत्र भुज्यते ॥१॥

तत्र तत्र यद्दानिना दत्तं तद्गृहे चिरं न तिष्ठति इति तत् न । तत् न इत्युचितवचः श्रुत्वा राजा याचकायोचितं बहुदानं ददौ ।

इति उचितदाने याचकसम्बन्धः ॥ २३५ ॥

[236] अथ पापशुद्धोपरि शण्डसम्बन्धः ।

एकेन कौटुम्बिकेन पुण्यहेतो' स्वगवा जनितो वत्सो गोवर्गे मुक्तः । स च शण्डोऽभून्मत्तः । स च शान्तात्मा पुरमध्ये तिष्ठति कस्यापि शृङ्गेण न हन्ति । तस्य पदोरधो जनो याति तथापि विघ्नं तस्य न चक्रे । ततः साधुशण्ड इत्यभूद् घोषः ।

इतस्तत्रैकस्य श्रेष्ठिनो दुश्चारिणी पत्न्यभूत् । श्रेष्ठी तु पुण्यवान् धर्मं कुर्वन् कर्मक्षयाय शून्यगृहादौ कायोत्सर्गं चक्रे ।

इत. पत्न्या दुश्चारिण्या ध्वान्ते निविडे सति श्रेष्ठिपदोरुपरि शय्या मण्डिता । श्रेष्ठिचरणौ विद्धः । श्रेष्ठी तु पूर्वकर्म स्मरन् न क्रोध चक्रे, मृतश्च स्वर्गं ययौ । तं श्रेष्ठिन मृतपतिं ज्ञात्वा पत्न्या ध्यात, लोकाग्रे किमुत्तरं दास्यते । ततस्तया तस्य शण्डस्य शृङ्ग रुधिरेणावलिप्त कृत तथा । ततः शण्डस्य श्रेष्ठिमारणकलङ्कस्तया दत्तः । ततो लोकाः प्रोचुः—अय शण्ड पापी यतो तेन पापिना श्रेष्ठी हतः । ततस्तेन शण्डेन भूपमात्यलोकसाक्षिक तप्तगोलक जिह्वया लात्वा स्व शुद्ध चक्रे । ततः सा निर्द्धाटिता श्रेष्ठिपत्नी ।

इति पापशुद्धोपरि शण्डसम्बन्धः ॥२३६॥

[237] अथ घ्नतायां गृहोलिकासम्बन्धः ।

एकस्मिन्स्थाने गृहोलिकाया नेत्रे मलोऽभूत् । तेन मलेन सा लिप्ताक्षी न पश्यति बुभुक्षिता मृतप्राया जाता ।

इतो मक्षिका स्वभक्ष्यबुद्ध्या तस्या नेत्रमलमपाचक्रे । तत. सा गृहोलिका तामेव मक्षिकां जघान । इति कृतघ्नतायां गृहोलिकासंबंधः ॥२३७॥

[238] अथ परप्रत्यये वेश्यासम्बन्धः ।

अथ कस्यचिच्छ्रेष्ठिन' पुत्रो वेश्यया द्रव्यलक्षेण स्वं कौशल्य शिक्षितः । ततस्तया रात्रौ तस्य परीक्षार्थं प्रोक्त—घोलवटकानि ममानय । ततस्तेन गर्दभमलपिण्डीरानीता ।

पुनरेकदा तस्य श्रेष्ठिपुत्रस्य भोक्तुमुपविष्टस्य वेश्यया थूत्कृतम् । स पश्चात् स्थितो यदा तदा वेश्यामात्रा शपथपूर्वं प्रोक्त–मम पुत्री किमेवं करोति । ततः स यदा भोक्तु लग्न तदा तया चुट्केन शीर्षे आहृत, प्रोक्त च नयनेन यद्दृष्टं तद्वचनेन किं मन्यते ? तदा क्षमां स चक्रे । ततो विनीत त मत्वा तस्मै ततस्तया वर्या' कला शिक्षिता. ।

इति परप्रत्यये-वेश्यासम्बन्धः ॥२३८॥

[239] अथ दारिद्रसेवकसम्बन्धः ।

एको दरिद्री गृहे दीप मुक्त्वा भिये गन्तुं चचाल यदा तदा स्वां यष्टिं गृहे

विस्मृतां ज्ञात्वा तां नेतुं गृहे समागात्। तदा दीपतैलेन पुमानुपानहौ चोपडयन्दृष्टः पृष्टश्च-त्वं कः? स प्राह—अहं दरिद्रो तव किंकरः। यत्र त्वं यास्यसि तत्र यास्यामि—

यथा धेनुसहस्रेषु, वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पूर्वकृतं कर्म, कर्त्तारमनुधावति ॥१॥

एतत् श्रुत्वा स तत्रैवोवास। इति दारिद्रसेवकसम्बन्धः ॥२३९॥

[240] अथ बुद्धौ श्रेष्ठिस्नुषाकथा।

एकदा श्रीपुरात्स्वस्नुषाया आनयनार्थं श्रेष्ठी ययौ। लक्ष्मीपुरे तां स्नुषां गृहीत्वा पश्चादागच्छन् वीरपुरे कस्यचित् श्रेष्ठिनो गृहे वासार्थं गतः। तस्य श्रेष्ठिनः पत्नीद्वयं विद्यते। तदा श्रेष्ठिपत्नी प्रथमा जगौ—अत्र स वासं वसति य आवाभ्यां वादं करोति। तदा श्रेष्ठी स्नुषां प्रत्यवग्, अन्यत्र गृहे गम्यते। ततः स्नुषाऽवग् भो श्वशुर! त्वं शय्यायां स्वपिहि अहं वादं करोमि। ततः श्रेष्ठिनि सुप्ते श्रेष्ठिवधू तस्थौ यत्र तदा तत्रत्यश्रेष्ठिपत्नी प्रथमा महिषीं दोग्धुमुपविष्टा। ततस्तदा श्रेष्ठिस्नुषा द्वितीयां श्रेष्ठिपत्नीं प्रत्यवग्-किं तवेयं सपत्नी विद्यते? तयोक्तं—त्वया कथमिदं ज्ञातम्। श्रेष्ठिस्नुषाऽवग्—तवेयं सपत्नी पृष्ठिं दत्त्वा महिषीं दोग्धुमुपविष्टा। ततो मिथोऽत्यन्तं कलिं कर्तुं लग्ने इति द्वितीययोक्तं—त्वं मम पृष्ठिं दत्से। एवं द्वयोः सपत्न्योरेव स्त्रियोर्विवादं कुर्वत्योः प्रभातं जातम्। ततः श्रेष्ठी चचाल। एवं पुरुषं स्त्रिया बुद्धया स्वं कार्यं करोति।

इति बुद्धौ श्रेष्ठिस्नुषाकथा ॥२४०॥

[241] वस्त्रदाने कथाचूडभूपकथा।

शुद्धान्नवस्त्रपात्रादि, ददानो यतये जनः।
लभते सुखमश्रान्तं, कथाचूडमहीशवत् ॥१॥

श्रीपुरे कथाचूडो भूपश्चतुर्दशसहस्रभूपहस्तिचतुर्दशस्वामी बभूव। एकदा नृपश्चन्द्रपुरे समागात्। तत्र देवगृहासन्नस्थमेकं गृहं दृष्ट्वा मूर्च्छां च प्राप भूपः। तदामात्यैर्नीतश्चेपाग्नेना सचेतनीभूतो भूपो वर्यमेकं स्वकृतं श्लोकमाचष्ट—

मार्गागतचतुः साधु-प्रवरेभ्यः पृथक्पृथग्।
वस्त्रचतुष्टयं दत्त्वा, राज्यं प्रापन्महन्नृपः ॥२॥

मन्त्रिभिः प्रोक्तमस्य श्लोकस्यार्थो विस्तरादुच्यताम्। ततो राजा जगौ— सद्मनोऽहं स्वामी कौटुम्बिको धीरो पुराऽभुवम्। एकदा मम क्षेत्रपार्श्वे साधुचतुष्टयमुत्सूरे गच्छन्तं दृष्ट्वा धीर उत्पन्नकृपः स्वगृहे समानीयोपाश्रयं ददौ। ततो मध्याह्ने शुद्धमाहारं प्रतिलाभ्यैकैकमक्रीतं पृथक्पृथग्ददौ। दानं सदक्षिणमेव देयं सद्भिः। यतः—

त्रिपञ्चसंख्याशततापसानां, तपःकृशानामपुनर्भवाय ।
अक्षीणलब्ध्या परमान्नदाता, स गौतमो यच्छतु वाञ्छितं मे ॥३॥

ते साधवस्ततो विहृता अन्यत्र । धीर कौटुम्बिकस्तेन पुण्येन क्रमान्मृत्वा चतुर्दशचतुःसहस्रेशस्वामी बभूव । मन्त्रिणा जगुः—स को भूप । राजोवाचाऽहमेव । मन्त्रिणो जगुः–कथ त्वया ज्ञातम् ? ततो भूप स्वजातिस्मृतिभवनत पश्चाद्भव जगौ । ततश्चमत्कृता भूपेनोक्ता मन्त्रिप्रमुखा लोकाः सर्वं धर्मकरणतत्परा बभूवु । तत कथाचूडभूप शुद्धान्नपानवस्त्रादि साधुभ्यो ददन् क्रमात् शुद्धा भावना भावयन् गृहवासेऽपि केवलज्ञान प्राप्य देवतादत्तयतिलिङ्गो प्रबोध्य भव्यजीवाश्चिर मुक्ति ययौ । इति वस्त्रदाने कथाचूडभूपकथा ॥२४१॥

[242] अथ शुद्धान्नपानवस्त्रदाने श्रीधरभूपकथा ।

कस्मिंश्चिद्ग्रामे पञ्चशती रजकाना चास्ति । समृद्धाश्च पञ्चशतग्रामाणा स्वामिन सर्वे घोटकारूढा गच्छन्त्यागच्छन्ति कस्याप्याज्ञां न धरन्ति ।

क्रमात्तत्र श्रीपुरात् श्रीधरभूपसैन्यं तान् जेतु तत्रागात् । तदा, सर्वेऽपि रजका, सनह्य बहिर्निर्गता । बहिर्नेजकान् स्वस्वोत्तारेषु दत्त्वा स्थिताः । आडम्बरपूर्वक तदा तत्र वैरिभूपेन स्वमन्त्रिण प्रेषिता । यस्य रजकस्योत्तारे मन्त्रिणो गच्छन्ति । स च वक्ति–अहमेव मुख्योऽस्मि । ततो ज्ञात तैर्नेजे नेजे मीरो विद्यते । ततस्तै स्वस्वामिपार्श्वे गत्वोक्त, नेजे नेजे मीरो विद्यते । तत सनह्य वैरी रजकैः सम युद्ध व्यधात् । ततो नष्टाः केचिद्रजकाः, केचित् हताः । तत श्रीधरो भूपः स्वामाज्ञा ग्राहयित्वैकच्छत्र राज्यं करोति स्म । हस्तिना शतत्रय घोटकानां लक्षाष्टक जातम् । ततोऽन्यदा चन्द्रसूरिपार्श्वे स्व प्राश्चात्य भव पप्रच्छ । मया किं पुण्यं कृत ? गुरुराह–

त्व पूर्वभवे महेन्द्रपुरे वणिग् निःस्वो मेघाह्वोऽभूत् । तत्रैकदा साधुद्वय जीर्णवस्त्रयुगं समागात् । ताभ्या वस्त्रद्वय दत्त शुद्धभावात् । ततः कालक्रमान्मृत्वा त्वं श्रीधरभूपोऽभूः । एतत् श्रुत्वा भूपो विशेषतो यतिभ्यः शुद्धान्नवस्त्रादि ददौ । ततो मृत्वा, श्रीधरभूपश्चतुर्थं स्वर्गं गत्वा पुनर्भूपो भूत्वा सर्वकर्मक्षयान्मुक्ति ययौ ।

इति शुद्धान्नवस्त्रदाने श्रीधरभूपकथा ॥२४२॥

[243] अथ वस्त्रदाने मदनभूपकथा ।

अन्यदा राजा चन्द्रपुरे गत्वाऽन्तस्तत्रैक जीर्णं कुटीर दृष्ट्वा जातिस्मृति प्राप । ततो मन्त्रिपृष्टो भूपो जगौ–

मयैकवस्त्रदानेन सुसाधोः पूर्वसंसृतेः ।
अत्रेदं विपुलं राज्यं प्राप्तं कुम्भादिसंयुतम् ॥१॥

ततो विस्तरान्मन्त्रिपृष्टो भूपो जगौ—अहं पूर्वभवेऽस्मिन् कुटीरे वृद्धा नारी सुन्दर्याह्वाऽभूत् । तत्र सूत्रकर्त्तनादिना निर्वाहं करोति । वस्त्राणि च कारयति तन्तुवायपार्श्वात् । सरलचित्ता मायां विना धर्मं करोति ।

एकदा यतिभ्यः एक वस्त्र ददौ भावात्ततस्तेन दानेन क्रमान्मृत्वा सरलस्वभावत्वात् स्त्रीभवं त्यक्त्वा राजाऽभूवमेवं जातिस्मृते राजाधर्मं चकार । अन्ये मन्त्रिणोऽपि साधुभ्यः शुद्धान्नपानवस्त्रादि ददौ । ततो वस्त्रदानान्मदनभूपः संयमं लात्वा कर्मक्षयं कृत्वा मुक्तिं ययौ ।

इति वस्त्रदाने मदनभूपकथा ॥४॥

[244] अथ वस्त्रदाने चन्द्रचूडकथा ।

श्रीधराह्वपुरे चन्द्रचूडश्रेष्ठी गुरुपार्श्वे धर्मं श्रोतुं गत गुरुभिरुपदेशो ददे इति—

वसही सयणासण–भत्तपाणभेसज्जवत्थपत्ताई ।
जइवि न पज्जत्तधणो, थोवावि हु थोवयं देह ॥१॥

धर्मोपदेशं श्रुत्वा ी जगौ—अतः परं शुद्धामाहारपानवस्त्रादि मया साधुभ्यो देयम् । ततोऽनिशं यः साधुस्तत्रायाति तस्मै शुद्धमाहारादि ददान सद्भावां करोति स्म । ततः कालक्रमेण चन्द्रचूडो मृत्वा लक्ष्मीपुरे पद्माकरभूपस्य श्रीमत्या पत्न्या उदरे चतुर्दशस्वप्नसूचितो नन्दन अवततार । क्रमात्पुत्रोऽभूत् तस्य नाम श्रीदत्तचक्रीति ।

३२००० राजानः सेवन्ते, ६४००० अन्तपुर्यः सपादलक्षं विलासिन्योऽभूवन् , नवनिधयः चतुर्दशरत्नानि ९६ कोडिग्रामाः इत्यादि ऋद्धिमानभूत् । तस्मिन्नपि भवे स्वं पाश्चात्यभवं ज्ञात्वा वस्त्रादिदानं साधुभ्यो दत्त्वा क्रमात्केवलज्ञान प्राप्य मुक्तिं ययौ ।

इति वस्त्रदाने चन्द्रचूडकथा ॥२४४॥

[245] अथोपकारेऽप्यपकारकर्तृकसर्पसम्बन्धः ।

दवाग्निमध्येऽन्यदा ज्वलन्सर्पः कञ्चन पुरुषं प्रति प्राह—मामस्मात्कष्टात्कर्षय तव पुण्यं भविष्यति । यत.—

निर्गुणेष्वपि सत्त्वेषु, दयां कुर्वन्ति साधवः ।
न हि संहरते ज्योत्स्नां, चन्द्रश्चण्डालवेश्मसु ॥१॥

स नरो दयापरस्तमहिं ततः सर्पोऽवग्—त्वामेव भक्षयिष्यामि । यतः—कलौ उपकारं करोति सोऽनर्थं लभते" सोऽपि पुमान्सर्पेण भक्ष्यमाणः आराधनापरः गतः, सर्पो मृत्वा दुर्गतिं गतः ।

इति उपकारेऽपि अपकारकर्तृकसर्पसम्बन्धः ॥२४५॥

[246] अथ उपकारेऽपि अपकारकर्त्तृकवृद्धासम्बन्धः ।

एकस्या वृद्धायाः पुत्रं सर्पो ददंश । तामतीव रुद्यमानां दृष्ट्वा वृक्षोऽवग्-भो वृद्धे ! मा रुदः, स्वस्थीभव, मन्मूलं वारिणा घर्षयित्वा अङ्गे देयम्, नीरोगः पुत्रो भविष्यति । कस्याप्यग्रे एतन्न कथनीयम् । तया वृक्षोक्तयुक्त्या पुत्रः सज्जीकृतः । क्रमात्तया केषामग्रे वृक्षमाहात्म्यं प्रोक्तम् । ततः सर्वैरपि लोकैश्छिन्नमूलः कृतः सन् प्रलयं गतो वृक्षः ।

इति उपकर्त्तुरपकर्त्ता ॥२४६॥

[247] अथ कर्मणि स्तेनकथा ।

श्रीपुरे धनश्रेष्ठिना कूटतुलामानादिना धनमर्जितं चौरभयात्स्वर्णटङ्कस्वर्णेष्टिकाभिर्गोणीं बभार । स चाङ्गणे तां चिक्षेप, परितो धूलीछाराणि क्षिपति स्म ।

एकदा तत्र गृहे धाटी प्रविष्टा । गृहं मुषितम् । एकेन तां जीर्णवस्त्रावृतामपि गोणीं ललौ । मार्गेऽतीवभारं मुक्त्वा एकस्मै तां दत्त्वा स्वर्णपल्ल्ययनं ललौ । स च ग्रामे सर्वे गता यावद्गोणीं विलोकयति तावत्स्वर्णमेव पश्यति । अपरस्तु पल्ययनं वालत्रयस्वर्णखचितं ददर्श । यतः उक्तं च-

आः खुदा जस कूंदिइ, तसकूं मुड्ढिमारी दिइ ।
जसकूं कूदालइ तसकूं, हाथि चढाविउ लंखावइ ॥

इति कर्मणि स्तेनकथा ॥२४७॥

[248] अथ शुद्धाशुद्धविचारे कथा ।

एकेन श्रेष्ठिना कपटेन व्यवसायेन सौवर्णिकपञ्चकमर्जितं । सौवर्णिकत्रयं तु शुद्धमार्गेण एकस्या ग्रन्थौ अष्टौ बद्धाः । इतश्चौराः प्रविष्टाः ग्रन्थिश्चटितास्तेषां हस्ते यावत्ते छोटयन्ति तावत्सौवर्णिकपञ्चकं श्रेष्ठिपार्श्वे ढलित्वा गतम् । अथ [इदं] तु विवरोपरि पपात । यथा ते चौराः कर्षयन्ति तथा तत्त्रयमधस्ताद् गतं । तदा श्रेष्ठी जहास । चौरैः पृष्टं किं हस्यते भवता ?

श्रेष्ठी जगौ—अन्यायेन यदर्जितं तद् मद्गृहाद्भवद्भिर्गृहीतं, भवद्धस्ताद्विवरे पतितं, यच्च न्यायेन स्वर्णपञ्चकं तन्ममोपान्ते ढलित्वा गतमतो हस्यते । ततश्चौरैः श्रेष्ठिना च नियमो गृहीतः परधनग्रहणे । इति शुद्धाशुद्धविचारे कथा ॥२४८॥

[249] अथ वञ्चकस्त्रीसम्बन्धः ।

श्रीपुरे कामकेतुर्भूपो विज्ञः । चन्द्रकान्ता पत्नी, सन्तानाभावाद्दुःखी राजा । अपरां स्त्रियं परिणीतवान्, काष्ठमयेन गरुडेन हिण्डति भूपः ।

अन्यदा द्वितीया काष्ठमयूरारूढा कीलकं कर्षितवती । ततो मयूरो व्योम्नि भ्रमन् पश्यतां नृणामदृश्योऽभूत् । राजादिजनः सर्वः सचिन्तोऽभूत् । क्रमादन्येद्युर्भूपः पत्नीं प्रति प्राह—प्रिये !

पत्नीविलोकनाय यामि । प्रिया प्राह—गच्छ । ततः सप्तदिनभोजनयोग्यं शम्बलं कृत्वा सप्तग्रन्थिषु वर्धापितवती, राजा हृष्टः सशम्बलः प्रियावीक्षायै चचाल । भोजनावसरे प्रथमग्रन्थिशम्बले भुक्ते भूपस्त्रिफणी सर्प्पः ।१। द्वितीयग्रन्थौ सहजस्वरूपः ।२। तृतीयग्रन्थौ ओतुः ।३। चतुर्थग्रन्थौ स्वं ।४। गौ सिंह ।५। षष्ठग्रन्थौ सहजम् ।६। सप्तमग्रन्थौ मृगः ।७।

ततः स गच्छन् व्याधस्त्रिबाणैर्विद्धः, एकस्मिन्पर्वते गत । इत. स काष्ठगरुड तस्मिन् पर्वते आस्फाल्य भग्न । सा पतिता मूर्च्छिता क्षणात्सचेतनाऽभूत् । ततो रुदितु लग्ना क्रमाद्भ्रमन्ती श्रीऋषभजिन दृष्ट्वा पूजयामास तुष्टाव च । एवं बहुषु दिनेषु गतेषु क्षीणपूर्वकुकर्मतः सा मृगं तं दृष्ट्वा बाणान् चकर्ष । तयोः स्नेहोऽभूत् । द्वावपि ऋषभं नमत. स्माभीक्ष्ण अन्यदा ज्ञानी तत्रागात् । विद्याधराणामग्रे धर्मोपदेश. मृगराज्यौ दृष्ट्वा ज्ञानिना हसितं तदा तै. पृष्टं कथं हास्यं कृतम् । ततो गुरुणा तयो कान्तकातास्वरूप प्रोक्तम् । येन सर्वेषा धर्मे दृढताऽभूत् । ततो विद्याधरै राजा स्वरूपभृत् चक्रे । कामकेतुराज्यौ हृष्टौ ततः कामकेतु सप्रियः सम्यक्त्वमूलं जिनधर्मं प्रपेदे । ततो भूपो ज्ञानिनं ऋषभं नत्वा स्वपुरं प्रति चचाल । मार्गे तदैको यतिरभिग्रहं ललौ । यदा वने शुद्धाहारश्चटिष्यति तदा पारण करिष्ये । पञ्चमे मासे ताभ्यां भूपराज्ञीभ्या पारण कारितः । पञ्च दिव्यानि, देवः कोऽपि प्रकटीभूय वरं वृणु । ततो राज्ञोक्तनव नगर स्वर्णप्राकारमयं कारय । ततो रक्षादेवेन नगरं कारितम् । लोका वासिता । राज्ञा प्रासादः कारित । सप्तक्षेत्रेषु राज्यं व्ययाय क्रमात्स्वपुत्राय राज्यं दत्त्वा स्वर्गं गतः मुक्तिं यास्यति ।

इति वञ्चकस्त्रीसम्बन्धः ॥२४९॥

[250] अथ पापवचोजल्पने द्विजसम्बन्धः ।

अक्खरेनो पोक्खरे हल वहइं वलदेसरवार ।
हलखेडो कुंडे वासे वदे फिरइं विहुं पासें ॥१॥

कस्मिंश्चिद्ग्रामे द्विजस्य द्वौ पुत्रौ बभूवतुः । एको विज्ञोऽभूत्, द्वितीयो मूर्खः । एको वेदान् पाठंपाठं सदा दरिद्रोऽजनि । द्वितीय कृषि कुर्वाणो धनी जातः । ततो धनो सन् न धर्मं करोति स्म । तदा द्वितीयं प्रति प्राह—अक्खरे नइ पोक्खरे । ततो द्विज. सदा लक्ष्मीमर्जयन् तादृग् हास्यवाचा जल्पन् धन्यपि स द्विजो दुर्गतिं गत । अन्यस्तु आरम्भमकुर्वाण. स्वर्गभाग्जातः । अत पापक वचो न जल्पनीयम् ।

इति पापवचोजल्पने द्विजसम्बन्धः ॥२५०॥

[251] अथ कृतकर्मणि श्रेष्ठिसम्बन्धः

श्रीपुरे चन्द्रश्रेष्ठी चक्रेश्वरीमारराध । सा च प्रत्यक्षीभूताऽवग्-मन्त्रो दत्तः । उक्तं च-त्वया एष मन्त्रो लक्षवारं जपनीय । ततोऽहं वरं दास्ये तव । ततस्तेन मन्त्रो जपितुमारब्धो । लक्षप्रमाणो जपित , देवी न प्रत्यक्षाऽभूत् । ततो द्वितीयवार जपित. तथापि न प्रत्यक्षाभूत् । एव

दशलक्षवार जपितः एकादशे लक्षे गणितुमारब्वे देवी प्रत्यक्षाऽभूत्, प्राह च–वरं मार्गय। सो –त्वयोक्त लक्षे गणिते मन्त्रेऽह प्रत्यक्षा भविष्यामि। एकादशे लक्षे जपिते कथ प्रत्यक्षाऽभूत्त्वम् । सा देवी प्राह—त्वया पूर्वभवे दशवारं कठोरवाक्यानि 'मारिस्फाडि' इति जल्पित दशलक्षगणने न गतं। तेन एकादशे लक्षे जपिते प्रत्यक्षाऽभूवम। ततो देवी तुष्टा स्वर्णरससिद्धिविद्या ददौ तस्मै। तत स श्रीमानभूत् । सप्तक्षेत्र्यां श्रियं व्ययित्वा स्वर्ग गत । तत क्रमान्मुक्तिगाम्यपि भविष्यति । इति कृतकर्मणि श्रेष्ठिसम्बन्धः ॥२५१॥

[252] अथ प्रियावशत्वे ब्रह्मदत्तचक्रिसम्बन्धः ।

ब्रह्मदत्तचक्रिणो देवतापार्श्वात् सर्वतिरश्चां भाषा ज्ञाता। देवतयोक्त–यदि मया दत्ता विद्याऽन्यस्मै कथयिष्यते तदा तव मृतिर्भविष्यति । तत स चक्री सर्वेषां तिरश्चां भाषा वेत्ति ।

अन्यदाऽन्तःपुरस्थस्य चक्रिणश्चन्दनभृत कच्चोलं शरीरोपभोगायाऽऽनीतवती राज्ञी तदा भित्तिस्थया गृहोलिकया गृहोलिकपार्श्वे प्रोक्त स्वभाषया चन्दन देहि । गृहोलिकोऽवग्—यद्यह चन्दन कच्चोलकाल्लात्वा तुभ्य दास्ये तदा राजा मा हन्त्येव । ततो गृहोलिकाऽवग्—यदि न दत्से चन्दन तदाऽह मृतैव। एतत्कदाग्रह तस्याः श्रुत्वा राजा जहास । राज्ञी प्राह—स्वामिस्त्वया कथं हसित ? ततो राजा यदा हास्यस्वरूपं न प्राह, तदा राज्ञी प्राह-यदि न कथयिष्यसि हास्यहेतुं तदाह मृतैव। ततो भूपोऽवग्—चितापार्श्वे गच्छ तत्राऽह कथयिष्यामि। हास्यहेतौ कथिते मम मृतिर्भविष्यति। कदाग्रे[द्दै]त्वमुक्ते राजा चलित राज्ञ्या सह चिताया प्रवेष्टुम् ।

अत्रान्तरे राजमार्गे राज्ञोऽश्वाना भक्षणाय यवभृत शकट नीयमान राजपुरुषैर्वीक्ष्य छागी छाग प्रति प्राह—मम यवपूलक देहि । बोल्कटोऽवग्–यदि यवपूलक तुभ्य दास्ये तदा राजपुरुषा मम प्राणान् गृह्णन्ति । बोल्कटिकाऽवग्–यदि न दत्से यवपूलकं तदाऽह मृतैव। बोल्कटोऽवग्–अह तु ब्रह्मदत्तवत् बोल्कटो नारीवश्यो नास्मि । यत–प्रियावचसा मर्तुं चचाल । एतत् श्रुत्वा राजा दध्यौ–अह बोल्कटादपि मूर्खः। यत –प्रियावाक्यान्मर्तुं चलितोऽस्मि ततो राजा बोल्कट गुरुं कृत्वा पश्चाद्वलते राज्ञी स्वय कदाग्रहं तत्याज ॥

इति प्रियावशत्वे ब्रह्मदत्तचक्रिसम्बन्धः ॥२५२॥

[253] अथ कुलाचारविषये क्षत्रियपत्नीसाहससम्बन्धः ।

केनापि क्षत्रियेण स्वीया पुत्री चन्द्रक्षत्रियाय दत्ता। तस्यालये एवमाचारोऽस्ति या नवीना वधूरायाति तस्या ऊर्ध्वस्थाया कर्णकुण्डलमध्ये बाणो दूरत क्षिप्यते। सा च बिभ्यती नेहते। तत सा पश्चात्पितुर्गृहे गच्छन्ती गान्छिकां पितुः स्वल्पा (?) उपरि वंशात् छिन्दन्तीं दृष्ट्वा पितु पार्श्वे प्राह–अस्य गान्छिकस्य किं मस्तके पीडा न भवति । पिता प्राह–नदुष्यति मस्तकमस्य—

जो जस्स कम्माचरइ, सो तस्स इ भेओ।
खलीइं वंश जिफाडिइं, तोइ न होइ पीड ॥१॥

ततः सा पश्चात्पत्युर्गृहे गता । ततः साहसं कृत्वोर्ध्वं तस्थौ । ततो दूरं स्थित कर्णयोरन्तरे बाणस्तथाक्षिप्तो यथा न मनाक्पीडा बभूव ।

इति कुलाचारविषये क्षत्रियपत्नीसाहससम्बन्धः ॥२५३॥

[254] अथ दयायां विप्रमीनसम्बन्धः ।

कस्मिंश्चिद्वेलाकूले जलवीचिप्रेरितो वारिधेर्महानेको मत्स्यः समागात् । जलं पश्चाद्गतम् मीनस्तत्र तस्थौ । तत्र तदा दुर्भिक्षे घोरे सति धान्याऽभावात् क्षुधार्त्तो लोकः कुठारैर्मत्स्यं छेदंछेदं स्वं निर्वाहं चक्रे, तथापि महाकायत्वान्न म्रियते ।

अत्रावसरे पत्नीप्रेरित. कोऽपि विप्रः क्षुधार्त्तो मीनमासं लातु ययौ । तं मीनं छेदयन्तं बहुजन वीक्ष्य विप्रस्य कृपाऽभूत् । अहमेनं न छिनद्मि पापहेतुत्वात्तदा तस्य दया वीक्ष्य कोऽपि देवो मीनकायमधिष्ठायावग्–भो विप्र ! मामन्ये लोकाश्छेदंछेदं मांस गृहणन्ति त्वं कस्मान्मासं न गृहाण । विप्रोऽवग्—मम दयास्ति परं भार्यया प्रेरितोऽत्रागा मांसाय परमधुना पुनर्दयोत्पन्ना मीनोऽवग्–तव कृपाऽस्ति यदि तदा तेन पुण्येन त्वमग्रेतनभवे सुखी भविष्यसि । अय पापी लोको मा मारयन् दु खी भविष्यति । अहं मृत्वा अकामनिर्जरातपसाऽत्रैव पुरे राजपुत्रः पुरन्दराह्वो भविष्यामि । त्वं च ममोपाध्यायो भावी । अहं प्राग्वैरान् लोकान् कदर्थयिष्यामि । तदा त्वयाऽहं वारणीयः पापात् । एवं प्रोच्य देवे गते स मीनो मृत्वा तत्र पुरे राजाऽभूत् । तं भूपं लोकं दण्डयन्तं वारयामास । विप्रो मीनमारणसम्बन्धं यदा प्राह तदा राज्ञो जातिस्मृतिर्जाता । पश्चाद्भवः स्मृत' । ततो विशेषतो राजा विप्रश्च दयाधर्मं चक्रतुः । ततो मृतौ स्वर्गं गतौ ।

इति दयायां विप्रमीनसम्बन्धः ॥२५४॥

[255] अथ रामरावणदुर्योधनकंसशातवाहनमूर्खपञ्चकसम्बन्धः ।

श्रीरामो रावणः कंस–स्तुर्यो दुर्योधनो नृपः ।
एषा चतुष्टयी मूर्खा, पञ्चमः शातवाहनः ॥१॥

कुरङ्गः काञ्चनः पूर्वं, न दृष्टो न श्रुतः क्वचित् ।
दृष्ट्वा दधाव तं रामो, यत्तन्मूर्खत्वमुच्यते ॥२॥ (१)

सीतायाः परितो यस्य [येन] रेखामुल्लङ्घयितुं कोऽपि देवो वा दानवो वा न शक्नोति ता तादृशीं रेखा दृष्ट्वाऽपि कामपीडितो रावणो भिक्षुरूपधरो भिक्षायाचनाकपट कृत्वा सीतां यज्जहार तद्रावणस्यापि मूर्खत्वम् । (२)

देवक्या पाणिग्रहे देवक्या सप्तापत्यानां मध्यादेकेन स्वमरणं श्रुत्वाऽपि यत्कंसो देवकीमेव न मारयामास तत्कंसस्यापि मूर्खत्वम् । (३)

पञ्चभिः पाण्डवैर्महाबलभुजाशालिभिर्द्वादशवर्षाणि वनवासे स्थितम् । पुनः प्रतिज्ञां पूरयित्वा

गतैस्तैर्ग्रामपञ्चक दुर्योधनपार्श्वे मार्गितम् । ततः क्रमादेकं ग्रामं मार्गितम् । स च दुर्योधन शूच्यमात्रां भुव न तेभ्यो ददौ । पश्चाद्युद्धे जायमाने स्वमरणात्सर्वां भुव तेभ्यो ददौ । यत्तद्दुर्योधनस्य मूर्खत्वम् । (४)

शेषेण पूर्वं शातवाहनस्याग्रे तुष्टेन प्रोक्त–त्वया मृन्मय सैन्यं कारयित्वा गोदावर्यां मोच्य ततः सजीव तद्भविष्यति युद्ध च दृढ करिष्यति । ततो वैरिबल मृन्मय सैन्यं कृत्वा जित तेन एव बहुशो मनोरथस्तस्य पूर्ण । एकदा शातवाहनेन वरे दत्ते शेषेण सशय कृत ततस्तत्कार्यं न सिद्धम् । इति शातवाहनस्यापि मूर्खत्वम् । (५)

इति रामरावणदुर्योधन–कंस–शातवाहनमूर्खपञ्चकसम्बन्धः ॥२५५॥

[256] अथ तीर्थसेवाफले गिरिकुण्डसम्बन्धः ।

चन्द्रपुरे गिरिकुण्डभूपोऽनेकपापकृत् न मन्यते देवगुरुमातृपितॄन् । परस्त्रीपरधनहरणपापर्धिचौर्यादि करोति स्म । जीवान् घ्नतस्तस्य रोग उत्पन्न । एकदा यावत्परद्रोहपरस्त्रीहरण ध्यायति तावदेकः श्लोक व्योम्नि श्रुत —

धर्मादधिगतैश्वर्यो, धर्ममेव निहन्ति यः ।
कथं शुभायतिर्भावी, स स्वामिद्रोहपातकी ॥१॥

एतदर्थं ज्ञात्वाऽवबुद्ध सन् अचिन्तयदिदम्–अहो मया बहूनि पापानि कृतानि, तेभ्य कथं छुट्टन मे भविष्यति । तत्पापच्छिदेऽद्रिजलपाताय ययौ । स यावद्बहिर्ययौ तावद् गा पश्यति स्म । सा च शृङ्गेण नॄन् घ्नन्ती तटान्युत्पाटयन्ती समुखमायान्ती खड्गमुत्पाट्य तां हन्तु दधाव । ततो गौरपि तं हन्तुमधावत् । तन्मार्गासिना भूपेन तस्या द्विधा कृताया काचित् स्त्री निर्ययौ । सा च स्त्री भीषणाङ्गी कर्त्तिका करे कुर्वती निष्ठुराक्षरेण भूप प्रत्याह—

अरे त्वया पशुर्दीना, हता गौरस्त्रवर्जिता ।
यद्यस्ति काऽपि ते शक्तिः, तद्युध्यस्व मया सह ॥२॥

श्रुत्वैतत् राजा ता प्रत्यवग्—

भवता (ती) युवती काचित् कदलीदलकोमला ।
अहं तु क्षत्रियः शूरः, शास्त्रशस्त्रविशारदः ॥३॥

गौरवग्–यदि ते शक्ति' स्यात्तदा युद्ध कुरु । श्रुत्वैतत् भूप सासिस्ता जघान । ततो वत्सोऽपि शृङ्गेण तमहन् । अखण्डिताङ्गो गौर्जगौ ।

तावद्बलं , महस्ताव–द्यावत्कीर्तिरखण्डिता ।
यावत्पुराकृतं पुण्यं, न म्लानिमधिगच्छति ॥४॥

पुण्यमेवं स्या–दङ्गिनां शुभकर्मभिः ।
क्षीणतेजाः कियत्कालं, तपत्यपि विभाकरः ॥५॥

पुण्यैः संभाव्यते सर्वं, सुखदायि सदा ः ।
तदेव हीनपुण्यस्य, विषवद् दुःखदायकम् ॥६॥

तदा दध्यौ भूपः—अहमनया गवा पशुनाऽपि जितो व्योम्नि उत्पाटितश्च तया एवं ध्यायति स्म । स मया राज्य त्यक्तं गोवधश्च कृत. । एतदपि पापं जात मे दुर्गतिदं, यत.—

अनासादितपुण्यः सन्, जन्तुर्भवति दुःखितः ।
विना नीवीं सुदक्षोऽपि, पुमान् सीदति दीनवत् ॥७॥

अधुना क्रियते पुण्यं, मया दुःखात्मना किमु ।
लग्ने प्रदीपने कूपः, खन्यमानः सुखाय न ॥८॥

एवं ध्यायतस्तस्य देवाङ्गनागताऽवग्—पूर्वं मदीयेन राज्य त्यक्तं पश्चाच्चिन्तितं मूर्ति मुक्त्वा मे वधः कृतः। अधुना किं धर्मं कर्त्तुं शक्नोमि। राजा दध्यौ—केयं मे वक्ति। तावद्देवी जगौ अहं त्वद्गोत्रदेवी। त्वत्सत्त्वपरीक्षणं कृतं गोरूपं कृत्वा। कोपो न क्रियते। धर्मं कुरु। कथय मया कुत्र धर्म. क्रियते ? देव्यवग्–त्वं गच्छ सर्वतीर्थेषु। अवसरे धर्मस्वरूपं वक्ष्ये। सातिरोऽभूत्। राजा दध्यौ—मद्भाग्यं विद्यते यतो देवी प्रसन्नाऽभूत्। ततोऽनेकेषु तीर्थेषु भ्रमतो गतक्षुत्पाव-कस्य कोल्लकगिरिं गतस्य चित्तं निर्मलमभूत्। इतः कोऽपि सुरः पूर्वभववैरी प्रत्यक्षोऽभूत्। गादापाणिः कोपवान् जगौ। यत्त्वया मत्पत्नी हृता तत्पापं समेतमधुना तदा मौने कृते तेन तमुत्पाट्याम्बरे पर्वतगुहायां नीत्वा विविधैर्बन्धनादिभिस्ताडयामास। ताड्यमानः स पुनस्तेन पर्वताग्रे आस्फाल्यते स्म। तदा स दध्यौ—

अहो प्रागुप्तपापद्रोः, पल्लवोऽयमभून्मम ।
पुष्पं फलं पुनर्भावि, दुर्योनिनरकादिषु ॥९॥

ततस्त मुक्त्वा स तिरोदधे तस्य प्राग्भवभाग्याद्। ततो द्वेषरिक्तः पुण्यकृते भूमौ भ्रमन् गोदावरीतटे ययौ। तत्र सैव सुरी समेत्यावग–वत्स ! त्वं गच्छ सिद्धाद्रौ। तत्र हत्यादिपाप गमिष्यति तत्तीर्थं सर्वपापहृत्। यतः—

यदा शत्रुञ्जये तीर्थे, गत्वा विधीयते तपः ।
तदा हत्यासमुद्भूतं, पातकं छेद्यते ध्रुवम् ॥१०॥

पापिनाऽपि मनुष्येण, गत्वा शत्रु चले ।
तार्चा जिनेन्द्रस्या–नन्तं पापं निकृत्यते ॥११॥

तत्र तीर्थे गत्वा सर्वं कर्म क्षिप । तत्र त्व सेत्स्यति इति श्रुत्वा तीर्थमाहात्म्यं शत्रुञ्जयं प्रत्यचलत् । सप्तभिर्दिनैरनाहार स शत्रुञ्जय ददर्श । दृष्ट्वा तत्र तत्तीर्थं, नत्वा तत्रस्थं मुनिं धर्ममिति शुश्राव । यदि शीघ्र मुक्ति गन्तास्ते तदा चारित्रं गृहाण । शत्रुञ्जये गत्वा शुद्धं तप' कुरु यथा ते हत्यादि पापं याति । ततो व्रत गृहीत्वा शत्रुञ्जये ययौ । तत्र सुर एकोऽवग्—इद तीर्थं सर्वपापक्षयकर जगदुत्कृष्ट सीमन्धरजिनेन वर्ण्यमानं मया श्रुतम् । तत्र गिरिकुण्ड तीर्थसेवया सर्वरोगरहितो दीक्षा लात्वा सिद्धः ।

इति तीर्थसेवाफले गिरिकुण्डसम्बन्धः ॥२५६॥

[257] अथ धर्मौषधविषये भूपपुत्रसम्बन्धः ।

क्षितिप्रतिष्ठिते पुरे जितशत्रोर्भूपस्य बहूपयाचितै पुत्रोऽभूत् । स च तस्य जीवितादतीवप्रिय । ततस्तेन राज्ञा ध्यातम् । मम पुत्रस्य यथा रोगो न भवति तथा करोमि । ततो वैद्या आकारिता. । भूपेन प्रोक्त च तेभ्य—तथा कुरुत यथा मम पुत्रस्य नीरोगता स्यात् । तैरुक्त–करिष्यते । ततो राज्ञोक्त—कस्य कीदृशी चिकित्सा विद्यते । प्रथम प्राह—मदीयान्यौषधानि अग्रेतनं पूर्वोत्पन्न रोग हन्ति [घ्नन्ति] , यदि पूर्वं न स्याद्रोग तदौषधभक्षितार घ्नन्ति औषधानि सद्यः । ततो राज्ञोक्तमल तवौषधैः स्वहस्तोदरप्रमर्दनशूलव्यथातुल्यैः । (१)

द्वितीयोऽवग्—यद्यस्ति रोगस्ततस्तमुपशमयन्ति । अथ नास्ति ततः तानि प्रयुक्तानि प्राणिनो न दोष न गुणं कुर्वन्ति । राज्ञोक्त–अलमेतैरपि भस्माहुतिकल्पैः । (२)

तृतीयोऽवग्—यदि रोगे सति प्रयुज्यन्ते तदा रोग निर्मूलकाष कषन्ति । अथ न विद्यते रोगस्तथापि त देहिनं बलवर्णलावण्यवन्त कुर्वन्ति, पूर्वोत्पन्न रोग घ्नन्ति, उत्पद्यमान घ्नन्ति, भविष्यन्तमपि च । (३)

ततो राज्ञा तृतीयवैद्योक्तानि औषधानि पुत्र कारित [पुत्राय कारितानि] । ततो यावज्जीव नीरोगशरीरः स पुत्रोऽभूत् भावितभूतभविष्यद्रोगस्फेटनात् । अतस्तृतीयवैद्योक्तौषधतुल्यानि वन्दनप्रतिकर्मकृत्यानि । इति धर्मौषधविषये भूपपुत्रसम्बन्धः ॥२५७॥

[258] अथ मातापित्रोर्विषये पुत्रभक्त्यादिकथा ।

कमलपुरे श्रीदश्रेष्ठिनश्चत्वारः पुत्रा शिवापत्नीभवा बभूवुः । चत्वारोऽपि परिणायिताः बहुधनव्ययात् हर्षेण, कष्टेन भूरिधनमर्जित क्रमात्, स्नुषाभिः स्वस्वपतयो वशीकृताः पृथक्पृथग्जाताः । तत. पिता स्वयमेव लक्ष्म्यर्जनकृते रलति [अटति] ।

एकदा श्रेष्ठिन स्वय घृतमानयन्त वीक्ष्य विमल सुहृद प्राह-भो मित्र ! कथ त्व स्वमानयसि कणादि । श्रेष्ठी प्राह–वसति ग्रामे मुषितोऽस्मि । सुहृत्प्राह–केन मुषितः ! श्रेष्ठी जगौ–मम स्नुषाभि पुत्रा उद्दाल्य गृहीताः किं क्रियते । सुहृद् प्राहाह तव पुत्रान् वालयिष्यामि । ततो मित्रेण धर्मोपदेशेन द्वौ पुत्रौ स्वपत्नीभ्या वालयित्वा श्वशुरश्वश्रूभक्तौ कृतौ अन्यौ न । ततो मातापित्रोर्भक्तौ जातौ तौ इहपरलोकसुखिनौ जातौ नान्यौ [नान्यौ] ।

इति मातापित्रोर्विषये पुत्रभक्त्यादिकथा ॥२५८॥

[259] अथ अणक्षककुम्भकारकथा ।

पाटलपुत्रपुरे अणक्षक कुम्भकारः कस्यापि मोटिमादिवर्यचलनवस्त्रपरिधानभूषणपरिधानोच्चजल्पनादि असहमानो नगरान्निर्गत्यारण्ये तृणमये कुटीरके तस्थौ । पुरमध्ये नैति । तत्रैकदा नृप. भ्रमन्नश्वारूढो भूपो गतः । तृषा लग्ना, तेन पानीयं पायितो भूप. सन्मानं दत्त्वा पुरीमध्ये आनीय सप्तग्रामदानपुरस्सर धवलगृहं तस्य वासायादात् ।

इतो राजा तैलिकपुत्रीं अरण्ये बदरीफलानि चुण्टन्तीं सुरूपा वीक्ष्य परिणीतवान् । तयाः सप्तभूमिमयं गृहमदात् । वर्यवेषधरा सखीपरिवृता सुखासनासीना कुम्भकारगृहोपान्ते गच्छन्तीं कंचिन्नरं वरवेषं दृष्ट्वा नक मोटयामास । ता तथा कुर्वन्तीं दृष्ट्वा अणक्षकोऽवग्—

कल्ले वोरज वीणती, अज्ज न जाणइ खक्ख ।
अड्डविइं करिसि वर, न सहुं एह अणक्ख ॥१॥

पुनरपि कुम्भकारः पुराद्बहिर्गत्वा पूर्ववत्तस्थौ । इति अणक्षककुम्भकारकथा ॥२५९॥

[260] दानसंवादे युधिष्ठिरभीमसम्बन्धः ।

अन्यायसंभवा श्री–रन्यायेनैव याति सा नियतम् ।
अर्जुनहानिक्लेशः, केवलमवशिष्यते सुधिया ॥१॥

साकारोऽपि सविद्योऽपि, निर्द्रव्यः क्वापि नार्च्यते ।
व्यक्ताक्षरः सुवृत्तोऽपि, द्रम्मः कूटो विवर्ज्यते ॥२॥

हस्तिनागपुरे युधिष्ठिरस्याग्रे भीमेनोक्तम्—

मूर्खस्तपस्वी राजेन्द्र !, विद्वांश्च वृपलीपतिः ।
उभौ तौ तिष्ठतो द्वारे, कस्य दानं प्रदीयते ॥३॥

युधि०— सुखसेव्यं तपो भीम ! विद्याकष्टं दुराचरम् ।
विद्वांसं पूजयिष्यामि, तपोभिः किं प्रयोजनम् ॥४॥

भीमोऽवग्— श्वानचर्मगता गङ्गा, क्षीरं मद्यघटे स्थितम् ।
कुपात्रे पतिता विद्या, किं करोति युधिष्ठिर ॥५॥ इत्यादि ।

भयं लोभस्तथा स्नेह–स्त्रयो दानस्य हेतवे ।
ये दातारस्त्रयं मुक्त्वा, धन्यास्ते मुक्तिगामिनः ॥६॥

इति दानसंवादे युधिष्ठिरभीमसम्बन्धः ॥२६०॥

[261] दाने (स्वभोंगीति) शालिभद्रश्रेणिकभूपसम्बन्धः ।

स्वभोंगभङ्गी [भोगी] नृपतिः क्रयाणकं, सुवर्णं निर्माल्यमभूत्स्रगादिवत् ।
भूपस्य मानेऽप्यमानचिन्तनं, शालेर्महाश्चर्यकरं चतुष्टयम् ॥१॥

कृत्वा ध्यं यदि वा महर्घ्यं, णकं श्रेणिकनामधेयम् ।
यथा रिदं गृहाण, णमम्बैव किमत्र पृच्छा ॥२॥

शालि पिता गोभद्रश्रेष्ठी देवलोक गतः, सम्मोहात्स्वपुत्रस्य दिव्याभरणवस्त्रादि पूर- इति स्वभोंगभङ्गी ।१।

यदि श्रेणिकभूप शालिभद्रगृहवीक्षार्थमागत तदा मात्रोक्तं-पुत्र आगच्छ गवाक्षादुत्तर तदा शालिभद्रोऽवग्-यादृक्तादृगागत क्रयाणक गृह्यतां मूल्येन इति नृपतिक्रयणाकम् ।२।

दिनं दिनं प्रति हेमाद्याभरणादीनि दिव्याम्बरादीनि च कूपे क्षिप्यन्ते इति स्वर्णाद्याभर- णानि ह्यभूत् ।३।

यदा शालिभद्रो यदा श्रेणिकेन स्वोत्सगे निवेशित. तदा भूपाङ्गतापमसहमानो गलद्बिन्दुत- नुरभूत् तथा स्वमर्धमासने निवेशित दृष्ट्वा स्वस्योपरि स्वामीति राजनाम श्रुत्वा मानेऽप्यमान- चिन्तनं जात शालिभद्रस्येति मानेऽप्यमानजातम् ।४।

तदा श्रेणिकवचः—

स्नुही महातरुर्वह्नि-र्बृहद्भानुर्यथोच्यते ।
सारं तेजोवियोगेऽपि, नरदेवास्तथा वयम् ॥३॥

पूर्वं न मन्त्रो न तदा विचारः, स्पर्द्धा न केनापि फलेन वाञ्छा ।
पश्चानुतापोऽनुशयो न गर्वो, हर्षस्तथा संगमके बभूव ॥४॥

वसुहाण० ॥१॥

पुरुषाः तीर्थङ्कर-चक्रि-वासुदेव-मण्डलिक-महेभ्यप्रमुखपुरुषाः । इय भूमि वर्यपुरुषावतारं विना अरण्यभूमिवत्स्यात् । यदा यदा जिनाद्या आभरणभूता स्युस्तदा वसुधा भूषिता स्यात् । पुरुषस्याभरण लक्ष्मी सुवर्णरत्नरूप्यादि । अरण्ये पवते गतं न किंचित् स्यात् । तदेव पुरुषाश्रितं शोभते । पुरुषो हेमादिना शोभते, नान्यथा कृपणश्रीवत् दानस्याभरणं ?सुपात्रसेव दानमित्यादिदाने स्वभोंगीति । इति शालिभद्रश्रेणिकसम्बन्धः ॥२६१॥

[262] अथ भूप-बप्पभट्टिगुरुमाननसम्बन्धः ।

पुरिसेहिं रईयतित्थं, न हु पुरिसा हुंति तित्थरईयावि ।
इत्तोऽपि वरं, तित्थं, पुरिसं पभणंति सव्वण्णू ॥१॥

पुरिसाउ होइ तित्थं, न हुंति तित्थाउ तिहुयणे पुरिसा ।
सलिलाउ हवइ घणं, नो नीरं होइ घण्णाओ ॥२॥

जिणभुवणाइं जे उद्धरंति, भत्तीइ सडियपडियाइं ।
ते उद्धरंति अप्पाणं, भीमा स भवसमुद्दाओ ॥३॥

यथा गोपगिरौ आमनृपः स्वं वर्यं सिंहासनं बप्पभट्टीसूरेरुपवेशनायादात् । तद् दृष्ट्वा द्विजैः क्रुद्धैर्भूपो वि प्तः श्वेताम्बरा अमी एभ्यः सिंहासनं किं दीयते । एवं भूरिशः प्रोक्तो भूपः तत्सिंहासनं कोशगतं कारयित्वा लघु गुरोरुपयवेशायादात् । प्रातः सूरिर्भूपावज्ञां सिंहासनग्रहणे ऽवग् भूपस्याग्रे—

मर्द्दय मतंगह दर्प्पं, विनयशरीरविनाशनसर्प्पम् ।
क्षीणो दर्प्पाद्दशवदनोऽपि, यस्य न तुल्यो भुवने कोऽपि ॥१॥

इद श्रुत्वा राजा लज्जितः सन् मुख्यसिंहासनं पुनर्मण्डापयामास । ततो राजा ३० सहस्र-सौवर्णिका आनीताः । भो विप्रा ! यो वर्यो विप्रो भवति तस्मै दीयते । तदा जल्पन्ति । वयं पात्रमेव तन्नूनं तैर्गृहीतम् । द्वितीयेऽहनि सूरय आकारिता भूपेनोक्तं—लक्षसौवर्णिकानि गृहाण । सूरिराह-धनेनास्माकं किं प्रयोजनं, यतः—दोससयमूल० ॥१॥

आरंभे नत्थि दया, महिलासंगेण नासए बंभं ।
संकाए संमत्तं, पव्वज्जा अत्थगहणेणं ॥२॥

लाभकलंतरि चिंतविउ, गंठि बंधिउ दम्म नवि ।
णो नवि सेवडओ, गउअ त्थो जम्म ॥३॥

म मेली रिद्धिडी, जिहिं मूंकि तिहि जाइ ।
पेटिं धूसक्कउ हियय, मय भीपी रि जपाइ ॥४॥

ब्रा णो ब्रह्मचर्येण, क्षत्रियाः शस्त्रपाणयः ।
कृषिकर्मकरा वैश्याः, शूद्राः प्रेषणकारकाः ॥५॥

हस्ततलम तु, यो भूमिं कृषति द्विजः ।
नश्यते तस्य त्वं, शूद्रत्वमभिजायते ॥६॥

अतो वयं न ॰ः किन्तु वैश्या, यदि वयं शूद्रा भवामः तदा वणिजा गृहे द्विजा प्रतिग्रहं न गृह्णन्ते, यतः—

अधीत्य चतुरो वेदान्, साङ्गोपाङ्गान् सलक्षणान् ।
शूद्रात्प्रतिग्रहं कृत्वा, खरो भवति श्वा ॥७॥

॰रो द्वादशजन्मानि, षष्टिं जन्मानि शूकरः ।
श्वानः सप्ततिजन्मानि, इत्येवं मनुरब्रवीत् ॥८॥

इति मनुपुराणे । एवं श्रुत्वा राजा विप्रान् निराकृत्य सूरेर्मान ददौ ।

इति आम्रभूपबप्पभट्टिगुरुमाननसम्बन्धः ॥२६२॥

[263] अथ जीर्णोद्धारे धनसारकथा ।

यस्तृणमयीमपि कुटीं, कुर्याद्दद्यात्तथैकदिवसमपि ।
भक्त्या परमगुरुभ्यः, पुण्योन्मानं कुतस्तस्य ॥१॥

राजगृहे ॰र-गुणसारौ द्वौ बान्धवौ । वृद्धस्य धनी प्रिया शीलादिगुणशालिनी, लघोः काली पत्नी पर दुष्टत्वेन कालिकैव । काल्या वचसा लघुः पृथग्भूय मुख्यगृहे बलात्स्थितः । वृद्धस्त्वपरगृहे कर्मयोगाल्लघो. श्रीर्वृद्धी, वृद्धस्याल्पा श्री ।

एकदा ग्रामान्तरवासिन शिल्पकुट्टका ऐयुस्तत्र कालीं वयवेषां वीक्ष्य ते पप्रच्छुः कोऽत्रास्ति प्रासादोद्धिकारयिता । तदा तया धनमदेन हास्यार्थं धनसार एष आवास कारयिष्यति । ततस्ते धनसारगृहे गताः । धन्या पृष्टा किं कुरुथ यूयं ? तैरुक्तं—वय प्रासाद कुर्मः । तदा तत्र कान्तोऽपि आगात् । कान्तेन काली हास्यादिवचः प्रोक्त । ततो धन्या स्वाभरणानि दत्त्वा प्रासादो जीर्णः समुद्धृतः । प्रतिष्ठाधनार्थं धनसारो देशान्तर गच्छन् मार्गे कस्यापि सिद्धपुरुषस्य मिलितः । तदुक्तकल्पविधिना योगिना सार्द्धं योगिकृतमाहिषीपुच्छदीपिकोद्योतेन श्रीपर्वतगुहायां प्रविष्टः । अन्तरा वृश्चिकभ्रमरादिभिरुपसर्पितोऽपि न खिन्न । ततः स्त्रीभिरुपसर्गितो नाचालीत् शीलात् । साहसत्वेनाग्रतो गतः योगी क्षोभुब्धस्तत्रस्थः शतखण्डीकृतः । धनसारस्तु गुफान्तरे हेममयं सप्तभूमावास हेममयखद्ध(,?)न्दोलकसिंहासन ददर्श । तत्रत्यदेवेन समानितः प्रोक्तं त्वं मम भ्रातृतुल्योऽसि । पूर्वभवेऽहं जिनदास इभ्योऽभूवम् । मयैष प्रासाद कारित., स त्वयोद्धृतः । ततो रत्नानि कोटिमूल्यानि लक्षमितानि दत्त्वोत्पाद्य स्वगृहे धनसारो मुक्तः । कार्येऽहं स्मरणीयः । तदनु प्रतिष्ठामहोऽभूत् । सघगुरुभक्तिश्च काल्या स्वर्णजिह्वा कारिता । संघेन पृष्टं किं त्वया ईदृशी जिह्वा कारिता ? साऽवग्—कालीजिह्वाप्रसादात् जीर्णोद्धारप्रतिष्ठाधनाप्तिरभूत् । ततोऽनिशं सप्तक्षेत्र्यां व्ययित्वा धनसार सप्रिय. स्वर्गं गत मुक्तिं यास्यति ।

इति जीर्णोद्धारे धनसारकथा ॥२६३॥

[264] अथ दशधा दानकथा ।

कमलपुरे भीमश्रेष्ठिना गुरुपार्श्वे प्रोक्तं कति दानानि ? गुरुणोदितानि दश दानानि । तथाहि-

दप[1] संगह[2] भय[3] कारणिय[4] ।[5] गारव[6] अधम्म[7] धम्मेय[8] ।
हीइ[9] कयमायेणं, दाणमेयं भवे दसहा ॥१॥

सरोग[1] भिक्षाचरादीनां[2] दुर्जनानां[3] पुत्रादिवियोग[4] लोकलज्जया भट्टचारणानां[5] यत्लार्थं[6] हिस्राणां[7] साध्वादिसंवरयन[8] पुण्यार्थं[9] प्रत्युपकारवाञ्छया प्रागनेन मे बहूपकृतं[10] ।

श्रुत्वेति कमलो गुरुक्तदानानि ददानः स्वर्गभागभूत् क्रमान्मुक्तिमपि यास्यति ।

इति दशधा दानगाथा ॥२६४॥

[265] अथ ाहारग्रहणे यतिक्षुल्लकसम्बन्धः ।

कश्चिद्भूपो जातवैराग्यो धर्मपरीक्षां चक्रे । कोऽत्र निसृष्टं भुङ्क्ते । ततो राज्ञा अनेके यूयं कथं निर्वहथ ? । एकेनोक्तं—मुखेन । द्वितीयेन पादाभ्यां । तृतीयेनोक्तं-हस्ताभ्यां । चतुर्थः- लोकानुग्रहेण । पञ्चमो जैनक्षुल्लोऽवग्—अहं मुधा जीवामि । भावार्थं पृष्टास्ते जगुरेवं—

प्रथमो —रामायणादिकथाकथनेन जीवामि मुखेनैव ।

द्वितीयोऽवग्—लेखवहनेन ।

तृतीयोऽवग्—अहं लेखकोऽस्मि अतो हस्ताभ्यां जीवामि ।

र्थो भिक्षुरवग्—लोकानुग्रहेण ।

क्षुल्लोऽवग्—संसारासारतां विलोक्याहं महेभ्यसुत. प्रव्रजितः ततो न मदर्थं कृतं यदन्नं तदाहारं मुधा गृह्णामि । ततो राजा जैनव्रतं सर्वदुःखमोचकं मत्वा दीक्षां लात्वा शत्रुञ्जयं तपस्तप्त्वा मोक्षं गतः । इति शुद्धाहारग्रहणे यतिक्षुल्लकसम्बन्धः ॥२६५॥

[266] औदार्ये कुमारपाललक्षटङ्ककदानसम्बंधः ।

एकदा श्रीहेमसूरिणा स्वकरधृतवामकरस्य कुमारपा शत्रुञ्जयचैत्यपाटीं कुर्वतः कपर्दिक-कविः प्राह—

श्रीचौलुक्यसदक्षिणस्तव करः पूर्वं समासूत्रित,
प्राणिप्राणविघातपातकसखः शुद्धो जिनेन्द्रार्चनात् ।
वामोऽप्येष तथैव खः शुद्धिं कथं प्राप्नुयात्,
न स्पर्शेन करेण चेद्यतिपतेः श्रीहेमचन्द्रप्रभोः ॥१॥

तत्र श्रीकुमारपालभूपालस्तस्मै कवये लक्षटङ्ककान्ददौ ।

इत्यौदार्ये कुमारपाललक्षटङ्ककदानसम्बन्धः ॥२६६॥

[267] अथ वस्तुपालौदार्यदानबालचन्द्रसूरिसम्बन्धः ।

बालचन्द्रक्षुल्लेन श्रीवस्तुपालो वर्णित इति—

गौरी रागवती त्वयि त्वयि वृषो बद्धादरस्त्वं पुन-
र्भूत्या त्वं च समुल्लसद्गुणगणः किं वा बहु ब्रूमहे ।
श्रीमन्त्रीश्वर नूनमीश्वरकलायुक्तस्य ते युज्यते,
बालेन्दुं चिरमुच्चकै रचयितुं त्वत्तः परः कः क्षमः ॥१॥

तदनु मन्त्रिणा तस्य सूरिपदं दापितम् ।

इति वस्तुपालौदार्यदानबालचन्द्रसूरिसंबंधः ॥२६७॥

[268] अथ ललितासरोवरवर्णने ललितादेवीदानसम्बन्धः ।

हंसैर्लब्धप्रशंसैस्तरलितकमलप्रत्तरङ्गैस्तरङ्गै-
र्नीरैरन्तर्गभीरैश्चटुलबककुलग्रासलीनैश्च मीनैः ।
पालीरूढद्रुमालीतलसुखशयि श्रीप्रगीतैश्च गीतै-
र्भाति प्रक्रीडदातिस्तव सचिवबलच्चक्रवाकस्तटाकः ॥१॥

ललितादेवीसरोवरवर्णने सोमेश्वराय १६ सहस्रान् ददौ ।

इति ललितसरोवरवर्णने ललितादेवीदानसम्बन्धः ॥२६८॥

[269] अथ सालिगसाधुदानसम्बन्धः ।

अनेकतीर्थोद्धारक सा० देसलसुतस० सालिगससदि कश्चिद्द्विजः समागात् । ः कुतः समागास्त्वम् ? तेनोक्त तीर्थात् । किं वर्त्तते तत्र ? श्रीऋषभदेवः सर्वदेवसुतोऽस्ति तेन वर्णिततीर्थे सहस्रं दत्तिः । इति सालिगसाधुदानसंबंधः ॥२६९॥

[270] अथ समरसाधुनोद्धारकारितसंबंधः ।

एकदा १८००००० अश्वयुतेन सुरत्राणेन जावडिप्रतिमा भग्ना । तत उके तिचूडामणिसाधुसमराकेन १३७१ वर्षे श्रीशत्रुञ्जये प्रतिमोद्धार कारितः । तदा सघाचार्या रागभट्टेनाभाणि—

अधिक रेखया मन्ये, समरं सगरादपि ।
कलौ म्लेच्छबलाकीर्णे, येन तीर्थं समुद्धृतम् ॥१॥

सुवर्णजिह्वादत्तिरत्र—

पित्तलसुवन्नरूप्पय—रयणेहिं चंदकतमाईहिं ।
जो कारेइ जिणवर—पडिमं सो पावए मु ॥२॥

इति　रसाधुनोद्धारकारितसंबंधः ॥२७०॥

[271] अथ अर्बुदगिरौ साधुभीमकारित्तपित्तलमयप्रतिमासंबंधः ।

श्रीमालज्ञातीयभीमसाधुना भीमेन अर्बुदे स्वकारितप्रासादे ५१ अङ्गुलमयी श्रीआदिनाथप्रतिमा निर्मलबहुगालितपित्तलरसैश्चिकीर्षिता तावता प्रल्हादनपुरीय सं० धनाकेन विज्ञप्तं भो भीम! मद्भागो मध्ये दातव्यस्तेन निषिद्धस्ततो बिम्बभरणवेलायां ॐस्त्राङ्गरक्षकबाहुद्वयं सह-स्रमितहेमटङ्ककैर्भृत्वा विलोकनमिषेणागतो रसढालनवेलायां बाहुद्वय विस्तार्य हाटकमध्ये मुक्तास्तेनाद्यापि द्वादशादित्यवद् झगझगायते श्यामिका न। सा० सम्प्रतिकुम्भमेरौ पूज्यमानाऽस्ति ।

इति अर्बुदगिरौ भीमकारितपित्तलमयप्रतिमासंबंध ॥२७१॥

[272] मण्डपदुर्गे सीताकारितश्रीसुपार्श्वप्रतिमासम्बन्धः ।

तथा सीतामहासतीपूजनार्थं वनवासे लक्ष्मणकुमारकृता छगणमयी श्रीसुपार्श्वप्रतिमा तच्छीलमाहात्म्याद्वज्रमयी च जाता। सा सम्प्रत्यपि मण्डपदुर्गे यवनादिभि. कुसुमभोगादिभिः प्रेषणैः पूज्यमानाऽस्ति, इत्यादि ।

इति मण्डपदुर्गे सीताकारितश्रीसुपार्श्वप्रतिमासम्बन्धः ॥२७२॥

[273] अथाम्रभूपकारितपौषधशालासंबंधः ।

यस्तनोति वरपौषधशालां, सर्वसिद्धिललनावरमालाम् ।
सर्वदैव लभते सुविशालां, बोधिबीजकमलां विमलां सः ॥१॥

यथा गोपगिरौ बप्पभट्टीसूरिप्रतिबोधितश्रीआम्रनरेश्वरेण सहस्रस्तम्भमयी साधुश्राविका-सुगमप्रवेशनिर्गमप्रवरद्वारत्रयमण्डिता, दूरतरपट्टशालोपविष्टसाधूनां प्रतिलेखनास्वाध्यायादिसप्त-मण्डलीवेलाज्ञापकमध्यस्तम्भबन्धितमहाघण्टाटङ्कारवरणरणकारिणा, पौषधशाला कारिताऽऽम्रेण।

तस्या व्याख्यानमण्डपस्त्रिलक्षद्रव्येण, ज्योतीरूपमणिशिलाछिन्नश्चन्द्रकान्तमणिकुट्टिम (?), १२ सूर्यवन्निशायां सर्वतमोपह, पुस्तकाक्षरवाचनसूक्ष्मबादरजीवविराधनादिहेतो. पौषधशालापुण्यकृते आम्रकथा। आम्रभूपकारितपौषधशालासंबंधः ॥२७३॥

[274] अथ पौषधशालायां सोन्तूसम्बन्धः ।

ॐ जूर्णपट इति प्रत्यन्तरे ।

पापनिष्कन्दनं धर्म-सदनं कारयन्ति ये ।
तारयन्ति भवाब्धेः स्वं, ते जनाः कुलतेजनाः ॥१॥

१ श्रीपत्तने जयसिंहभूप सर्वव्यापारकृत् ५०००० तुरङ्गाधिपतिः श्री श्रीमालज्ञातीय-मन्त्रिसान्तूः श्रीदेवसूरिगुरभक्तश्चतुरशीतिसहस्रटङ्कव्ययेनापूर्वं राजधवलगृहसमानगृहं कारितवान्। लोका विलोकितुमायान्ति । श्रीगुरोरेकदा तददीदृशत् गुरूणामव्याख्याने कारण पृष्टं मन्त्रिणा, तदा सौभाग्यनिधानक्षुल्लेनोक्तः-मन्त्रिन् ! यद्येवंविधा पौषधशाला स्यात्तदा वरं धर्महेतुत्वात् अन्यस्य पापहेतुत्वात् गुरुभिर्न व्याख्यायते, गृहं पापारम्भमयमेव, यतः--

खण्डनी पेषणी चुल्ही जलकुम्भप्रमार्जनी ।
पञ्चैते तमसां हेतु-स्तेन नो वर्ण्यते सदा ॥१॥

ततस्तदेव गृहं प्रासुकं सान्तूर्धर्मनिमित्तमकरोत्, एवमन्यां धर्मशालां व्यधाः ।

इति पौषधशालायां सान्तूप्रबन्धः ॥२७५॥

[275] अथ प्रासादपुण्ये आम्रकथा ।

खरीकाकचट्यादिपक्षिणोऽपि अनेकशः ।
कुर्वते स्वगृहं यत्ना-त्र पुण्यं तत्र जायते ॥१॥

पुण्याय कुर्वते धर्म्म- दि ये जनाः सदा ।
तेषां स्याद्विपुलं पुण्य-माम्रभूमिपतेरिव ॥२॥

श्रीरिय पुरुषान् प्रायः, ते निजाकिङ्करान् ।
कुर्वते किङ्करीं ता ये, तैरसौ रत्नसू रसा ॥३॥

एतत् श्रुत्वाऽऽम्रभूप श्रीवीरप्रासाद कारयामास। तत्र एकोत्तरशतहस्तोच्चः प्रासादः सार्द्ध-तृतीयकोटिसुवर्णमयप्रतिमालङ्कृत तद्रङ्गमण्डपे २१ सुवर्णलक्षा लग्नाः। मूलमण्डपे तु पञ्चविंशतिसहस्राधिकस्वर्णलक्षः, ८११ वर्षे एककोटिसुवर्णव्ययेन श्रीबप्पभट्टिसूरीणां सूरिपदं कारितं तदुपदेशेन श्रीशत्रुञ्जये रैवते च यात्रोद्धाराश्च कारिताः ।

इति प्रासादपुण्ये आम्रकथा ॥२७५॥

[276] अथ प्रासादकारणपुण्ये सम्प्रतिकथा ।

श्रीमज्जैनगृहे जिनप्रतिकृतौ जैनप्रतिष्ठाविधौ,
श्रीजैनस्नपने जिनार्चनविधौ श्रीसंघपूजादिके ।
श्रीजैनागमलेखने च सततं श्रीतीर्थयात्रादिके,
येषां स्वं विनियोगमेति धनिनां धन्यास्त एव क्षितौ ॥१॥

येषां   समेति, ते धन्याः । यदुक्तम्—

ज्वलनजलचौरचारण–नृपखलदायादबन्दिकोद्वृत्तम् ।
धन्योऽसौ यस्य धनं, जिनगृ ादौ शुभे लग्नम् ॥२॥

विशिष्य च प्रासादपुण्यमपारमाहुर्महर्षयः । यदुक्तम्—

काष्ठादीनां जिन से, यावन्तः परमाणवः ।
तावन्ति वर्षलक्षाणि, तत्कर्ता स्वर्गभाग्भवेत् ॥३॥

परमाणुस्वरूपं लौकिकं—

जालान्तरगते सूर्ये, यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः ।
तस्य त्रिंशत्तमो भागः, परमाणुः स उच्यते ॥४॥

नूतनार्हद्गृहावासे, विधाने यत्फलं भवेत् ।
तस्मादष्टगुणं पुण्यं, जीर्णोद्धारे विवेकिनाम् ॥५॥

अतो मातुः प्रमोदाय जिनप्रासादमण्डितां भुवं व्यधात् । प्रातर्मातुः पादौ प्रणम्यापरकार्यं करोति ।

संप्रतिर्वर्तयामास, सौवायुर्वासराण्यहो ।
नव्यकारितषट्त्रिंश–त्स र्कगृहैर्मुदा ॥६॥

श्रीसम्प्रतिनृपस्त्रिखण्डभूभर्त्ता भूविजयं कृत्वा १६ सहस्रमुकुटबद्धनृपपरिवृतोऽन्यदोज्ज-यिन्यामागात् । समहं धवलगृहे प्राप्तः स्वजनन्याः कमलायाः पादयोः पतित तदा ीं श्यामास्यामप्राक्षीत् । मातर्मया देशाः साधिताः, त्वं कथं न हृष्टा । माताऽवग्–मम जिनप्रा-सादादिषु पुण्यकृत्यैरेव हर्षः स्यान्नान्यथा । ततो वर्षशतायुर्मृत्वा प्रति दिनं एकैकं प्रासादं कारयन् ३६ सहस्रप्रासादान् कारयामास । मातुः पादौ प्रणम्यैव जिमति

इति प्रासादकारणपुण्ये सम्प्रतिकथा ॥२७६॥

[277] अथ चन्द्रकथा ।

कल्याणपुरे भीमौ द्वौ सोदरौ वसतः स्म । क्रमात् चन्द्रो निःस्वोऽभूत् । भीमो महेभ्यो जातः । चन्द्रो यदाऽन्यगेहेषु अन्येषां सेवां कृत्वा निर्वाहं करोति तदा भीमोऽवग्–त्वमात्मनो गृहे तिष्ठ, यद्विलोक्यते तद्ग्राह्यं । चन्द्रस्ततो भ्रातृगृहे कर्म कृत्वा निर्वाहं कुरुते ।

एकदा रात्रौ जलदे वर्षति भीमोऽवग्–चन्द्र ! त्वं क्षेत्रे गच्छ । तत्र केदारेभ्यो जलं निर्गच्छत् त्वया सभाव्यते तेन तत्र पालिर्बन्धनीया । चन्द्रो दध्यौ–यद्यहं नाधुना गमिष्यामि तदा निर्वाहो मे दुःशक इति ध्यात्वा क्षेत्रे गत । केदाराणां स्फुटन्तीः पालीर्बध्नतो नरान् वीक्ष्य चन्द्रोऽप्राक्षीत्—के यूयं, ते प्रोचुः—वयं व्यन्तरा भीमस्य कामुकाः स्मः । भीमस्य पुण्याकृष्टाः

पालीर्वन्धयन्त' स्मः । चन्द्रोऽवग्–मम क्व सन्ति सेवकाः कामुकाः। ते प्रोचुस्तव वीरमपुरे सन्ति । तत्र गत्वा यदि श्रीऋषभस्य सेवा कुरु । तथा तेऽपि कामित स्यात् । ततश्चन्द्रः सकुटुम्बस्तत्र गतः । ऋषभस्य जिनस्य प्रत्यह सेवां कुर्वाणस्तृणकाष्ठभार वनादानीय विक्रीय निर्वाहं कुरुते ।

एकदा प्रभुभक्त्या तुष्ट कपर्दी यक्षोऽवग्—अहमस्या-चतुर्दश्या शत्रुञ्जयाद्रौ श्रीशान्तिजिनस्य दृष्टे रसकूपिकामुद्घाटयामि । सन्ध्यां यावत् यदि तवेच्छा स्यात्तदा तत्रागम्य । रसो ग्राह्य । स रस एकगदीयानकप्रमाण षष्टिगदीयानकत्रपुमध्ये क्षिप्यते । सर्वं सुवर्णं स्यात् । ततश्चन्द्रस्तत्र गत्वा ऋषभ जिन भक्त्या पूजयित्वा स्तुत्वा ततः श्रीशान्तिजिनं प्रणम्य रसकूपिकातस्तुम्बकत्रयं जग्राह । ततो गृहे समेत्य स्वर्ण कार कार महेभ्यो जात । सप्तक्षेत्र्यां धनं व्ययामास । तथा यथा सप्ताष्टभवमध्ये मुक्ति गन्ता चन्द्रः ।

इति चन्द्रकथा ॥२७७॥

[278] अथ उग्रपापकरणे तत्क्षपणाविषये वीरमतीकथा ।

कुन्तुलपुरे वीरश्रेष्ठिनो मुकुन्दाह्वः पुत्र, तस्य पत्नी वीरमती । अन्यदा पितु श्रिय यो भुङ्क्ते सोऽधर्म एव इत्यादि ध्यात्वा वलात् पितरमापृच्छय विदेश प्रति श्रियोऽर्जितु चचाल । इत पत्न्यास्थिता वीरमती मठस्थिततापसान्ते गत्वाऽवग्—मां भुङ्क्ष्व । अह कामार्त्ताऽस्मि । मम पतिस्तु विदेशे गतोऽस्ति । ततस्तेन भुक्ता । एव सप्तवर्षाणि स्वेच्छया तेन तापसेन सह रेमे । भर्त्ता समागात् । ततो भर्त्तार रात्रौ भोगदानेन रञ्जयित्वाऽत्रागाम् । तापसोऽवग्–भर्त्तरि जीवति समागते नाहं भोक्ष्ये त्वाम् । तत पश्चाद् गत्वा गलट्टम्पकदानेन पतिं परासु कृत्वा पुनर्भोगायागता तापसाग्रे पतिस्वरूप प्राह । तत सोऽवग्—गच्छ त्वया मम न कार्यम् । तत सा द्वयाच्चुकिता बलाद्भर्त्ता अकस्मान्मृतो मे इति प्रोच्य प्रातः काष्टभक्षणाय चलिता चितापार्श्वे गता तदा राज्ञः सती वीक्षितुमागता । राजाऽपि तस्याश्चरित जानन् तत्रागत्यावग्—त्वया यथा तापसो भुक्तः पतिर्मारितस्तथा ज्ञात मया रात्रावेवमधुना त्वेव काष्ठभक्षणात्कृतकर्मणो न छुटिष्यति । जीव तपसा छुटति कर्मत । सा पश्चाद् गृहे समेत्य प्रव्रज्या लात्वाऽभिग्रह ललौ । यदा मम पूर्वकृत स्मरिष्यति तदा न भोक्तव्यमेव कदाचिन्मासेन द्विमासेन त्रिमासेन चतुर्मासेनेत्यादिदुष्कर तपस्तप्त्वा सर्वकर्मक्षय कृत्वा प्राप्तकेवलज्ञाना मुक्ति गता वीरमती । इत्युग्रपापकरणे तत्क्षपणाविषये वीरमतीकथा ॥२७८॥

[279] अथ सुबुद्धौ कमलश्रेष्ठिकथा ।

एकस्मिन् श्रीपुरे धनो वणिग् भारवाहनाद् टम्माणां लक्षमर्जयामास । किमपि न व्ययति धर्मादौ एव तत्पुत्रो भीमो द्विलक्षस्वाम्यजनि । तत्पुत्रश्चन्द्रस्त्रिलक्षस्वामी वभूव । तत्पुत्रो मदनश्चतुर्लक्षस्वामी अजनि । तत्पुत्रकमलोऽपि क्षाधिपः । किमपि धर्मादौ स्वगृहेऽपि धन न व्ययति । तदा पत्नी लक्ष्मीर्जगौ—स्वामिंस्त्व किमपि धर्मं न कुरुषे ।

एकदा कमल पत्न्या गुरुपार्श्वे नीतः । तदा गुरुणोक्त–धर्मं विना जीवा न सुखिन

स्युः । अतस्त्वं किमप्यभिग्रहं गृहाण । ततः कमलोऽवग्—अतः परं देववन्दनं विना न भोक्ष्ये ।

एकदा श्रीयुगादि प्रणम्य भोक्तुमुपविष्ट गे यावत्कवलं हस्ते ललौ, तावत्स्वगृहीताभिग्रहं सस्मार, प्राह च प्रियां प्रति अहं देवं नत्वैव भोक्ष्ये । तथावस्थित एवाभ्युत्थितस्तदा प्रिया प्राह-स्वामिन् ! हस्तं घृतस्निग्धं प्रक्षालय । कमलोऽवग्-एतद् घृत हस्तलग्नं त्यक्ष्यते । ततो गेहिनीहस्तेनाम्बरं परिधाय देवगृहे ययौ । युगादिजिन भावात्प्रणम्य यावद्वलितस्तावद्गोमुखयक्षः प्रकटीभूत्वाऽवग्—तव प्रभुभक्त्या तुष्टोऽस्मि । वरं मार्गय । को—प्रियां पृष्ट्वैव मार्गयिष्यामि वरम् । तत. कमलस्तथावस्थ पश्चादागत्य गोमुखयक्षतुष्टत्वादि प्राह प्रियान्ते । तत प्रियाऽवग्—सद्बुद्धिं मार्गय । तत कमलो यक्षपार्श्वे सुबुद्धिं याचित्वा गृहागतः प्राह-प्रिये ! जलमर्पय हस्तं प्रक्षालयामि । प्रियाऽवग्—सर्पिर्ह गमिष्यत्येव । : प्राह—हस्तपादप्रक्षालनादि विना न भोक्ष्यते मया, ततो हस्तं प्रक्षाल्य बुभुक्ते स्म सः ।

इतस्तत्र पुरे र स्वकारितमहत्सरोमध्ये स्तम्भं स्थापयित्वोक्तम्—

"यः पुरुष अमुं स्तम्भ कण्ठस्थो दवरकेण बध्नाति, पट्टहस्तिनं तोलयित्वा यावन्तो भाराः स्युस्तावत. कथयति तस्मै सर्वमन्त्रिमुख्यं पदं ददामि ।"

तदा वाद्यमानं पटहं : स्पृष्ट्वा महान्तं दवरकं सरसः पालौ परितो मुक्त्वा तद्दोरप्रान्ते तद्दोरस्यादौ ग्रन्थिं बध्वा कर्षयन्स्तम्भं कमलः सर पालिस्थो बबन्ध ।

यानपात्रे हस्तिनं आरोहयामास । यावन्मात्रं यान जलनिमग्नं तत्राभिधानं कृतं तेन । ततो हस्तिनमुत्तार्य पाषाणैस्तं बभार, तावद्यावत्पूर्वाभिधान ततः सर्वे पाषाणास्तोलिता । तोलयित्वाऽवग्—अष्टादशभारप्रमाणोऽयं हस्ती । ततो राज्ञा ग्रामाणां सहस्रं दत्त्वा मन्त्रिमुख्य कृत । ततो वयं धौतकादि परिधाय वर्यपुष्पचन्दनादिना पूजयति । प्रभु त्रिकाल गुरुपार्श्वे धर्मं शृणोति सदा पञ्चशतीलोकोत्सर्गकायोत्सर्गं करोति ।

एकदा तस्य कायोत्सर्गस्थस्य सर्वं कर्म क्षीणं केव नमुत्पन्नं ततः प्रियापि केवलिपार्श्वे राजापि धर्मं श्रुत्वा देवपूजादिधर्मं कुर्वाणो मुक्तियोग्यं कर्मार्जयामास ।

इति सु ौ कमलश्रेष्ठिकथा ॥२७८॥

[279] अथ शुद्धधर्मे कमलकथा ।

एकः श्रेष्ठी अनुज्ञाप्य भूम्यधिष्ठायिकां कायिकीं करोति । एकदा बहिर्गतो यत्र यत्र "अणुजाणह जस्सुग्गह" करोति तत्रेको यक्षो वक्ति—मा उपविश । तत एकदा यक्ष - यित्वा कायिकां व्युत्सृजन् । ततो यक्षस्तुष्टोऽवग्—वर मार्गय । ततो यक्षपार्श्वादावासो महान्कारित । ततो बहूनि निधानानि स्वगृहे आनीतवान् । तदा यक्षोऽवग्—मम कार्यं कथयिष्यति न तदा त्वा छलयिष्यामि । ततः कमलो यं यमादेशं दत्ते त त य सद्य. करोति । तत. श्रेष्ठिगृहस्याग्रे महान्तं स्तम्भ कारयित्वा तत्र स्फारां शृङ्खलां कारयित्वा गले क्षिप्त्वा—

ऽवग्–अस्मिन्स्तम्भे चट उत्तर च, यावदहं द्वितीयमुत्तरं न दास्ये । ततो वानररूपधर श्रेष्ठयुक्त कुर्वन् खिन्नोऽवग् यक्षो—मा मुञ्चात पर त्वा न छलयिष्यामि । तत श्रेष्ठ्यवग्—यदाऽहं त्वां स्मरामि तदाऽऽगन्तव्यम् । ततः श्रेष्ठिमुक्तो यक्ष श्रेष्ठिवश्योऽभूत् । तत श्रेष्ठी शुद्ध धर्मं कृत्वा मुक्ति गतः । इति शुद्धधर्मे कमलकथा ॥२८०॥

[281] अथ आखुसेवकहस्तिमोचनसम्बन्धे मित्रकरणविषये कथा ।

पद्मवनेऽनेकपाभिः सप्तशतमिताभि परिवृत एको महान्हस्ती सल्लकीर्भक्षयन्मत्तोऽभूत् । तस्यैकदैक उन्दरोऽभ्येत्यावग्—यदि ते रोचते तदाऽहं सेवां करिष्ये तव । तदेभो हसन्नाह—'अहो त्व मम सेवां करोषि तदाऽहं रक्षितोऽस्मि वैरिभि' इत्यादि हास्य वचः श्रुत्वोन्दरोऽवग्–कदाचि–ल्लघुजातिजोऽपि लघुतनुरपि वृद्धतनोरुपकारकृत् स्यात्, तदापि स हसतितरा हस्ती ।

एकदा हास्यादाह हस्ती—यदि मा त्वमापद कर्षयिष्येस्तदाऽहं त्वां महान्तं मन्ये ।

एकदा व्याधमण्डितदृढपाशे हस्ती पपात । तदा हस्ती कष्ट तिष्ठति । पाशान्निर्गन्तु न शक्नोति । दिशो विलोकयति । तदोन्दरः सोऽभ्येत्यावग्–त्व मया स्वामी चक्रे । यदि रोचते ते तदा कर्षयिष्याम्यतस्त्वाम् । तदा हस्त्यवग्–त्व कथ मोचयिष्ये मामुन्दरोऽवग्–मम वीर्यं विलोकयाह तथा प्रपञ्च करिष्ये यथा त्वं मुत्कलः स्यात् इत्युक्त्वाऽऽखु सर्वान् वनस्थानाखून् मेलयित्वा वाध्र आर्द्रं कृत्वा ततो दन्तैस्त्रोटयामास तथा यथा हस्ती मुत्कलोऽभूत् । ततो हस्ती आखून्प्रीत्या प्रामोदयत् । एव हस्तिवज्जीवः कर्मबन्धैर्मोहव्याधेन बद्धः सन् शुभध्यानसन्ततिरूपश्वेताखुभिर्मोचित सुखी शिवभाग् स्यात् ।

इति आखुसेवकहस्तिमोचनसम्बन्धे मित्र विषये ॥२८१॥

[282] अथ असम्बद्धजल्पने चौरव्यवहारियथा ।

कश्चिद्व्यवहारी बहुविधरत्नरूप्यादिवस्तुयुतो विदेश प्रति गच्छन् मार्गे चौरैर्दृष्टस्तैर्यदा हर्तुं मन चेलु तदा स व्यवहारी समुख तेषामचलत् । प्राह च बुद्ध्या–भवता यद्विलोक्यते तद् गृह्यताम् । तदा चौरा जगुर्हास्यात् भवत सर्वं पश्चादर्प्पयिष्यते । ततो वणिक्प्राह–मम कोऽपि साक्षी क्रियतां । ततस्ते जगुरय वनमार्जार एव साक्षी । तदा तेन वणिजा सर्वं वस्तु व्यक्त्या यित्वा इद हेम, इद रौप्यमित्यादि दत्तम् । ते चौरा हृष्टा वस्तु लात्वा गता रमापुरे वणिगपि पृष्टौ तस्मिन्पुरे ययौ । भूपश्च मिलित उक्तं च तेन ममैतैश्चौरै सर्वं वस्तु गृहीतम् । ततो मन्त्रिभिर्भूपादेशाद्युक्त–वणिज पार्श्वे कः साक्ष्यस्ति ? वणिजोक्त मार्जारोऽस्ति । ततः स वणिग् यदा कृष्ण बिडाल गृहीत्वाऽऽगात्तत्र मन्त्रिणां पुरः प्राहाय साक्षी ।

ततस्ते चौरा जगु–स मार्जारो रक्तवर्णोऽभूदय तु कृष्णवर्णः । ततो मन्त्रिभिरुक्त–एते चौरा धन हृत्वा कूटं जगर्दुः । ततस्तान् दण्डयित्वा नैगमस्य सर्वं धन दापित मन्त्रिभि । इति असम्बद्धजल्पने चौरव्यवहारिकथा ॥२८२॥

[282] अथ औदार्ये भोजश्रेष्ठिकथा।

श्रीपुरे भोजाह्वश्रेष्ठिनः पद्माह्वा पुत्रो बभूव विचक्षणा। श्रेष्ठी दानी। पुत्र्यपि तादृशी। श्रेष्ठिना पद्मपुरे वीरमहेभ्यस्य धनाह्वपुत्राय दत्ता। सा च स्वसुरगृहे स्थिता सायं दीपं चकार गृहे तदा तैलस्य बिन्दवः सम्राष्ट दीपाद् भूमौ पेतुः। श्रेष्ठी आगात् तैलबिन्दून् भूपतितान् वीक्ष्य पादयोरुपानहौ उत्तार्य लू(ष)क्षयामास। स्नुषया ध्यातमयं श्रेष्ठी कृपण., कथं कालो नेष्यते। य एवं तैल गृह्णाति स तु अतीव मितंपचः। एव ध्यात्वाऽपरेद्युर्मिषं मण्डयित्वा सुप्ता शय्यायां श्वशुरेण पृष्टा वधूः। किं दुष्यति तव ? स्नुषाऽवग्—शिरोर्त्तिर्बाढं जाताऽस्ति। ततोऽनेकान्यौषधानि कारितानि। ततोऽपि साऽवग्—ममैवंविधैरौषधैः शिरोर्त्तिर्न याति, येन याति तत्त्वया कर्त्तुं न शक्यते। ततः श्रेष्ठी जगौ यत्त्वयौषध कथ्यते तत् कारयिष्यते मया। ततः स्नुषाऽवग्—मम पुरा यदा शिरोर्त्ति. स्यात्तदा सर्वोत्कृष्टमुक्ताफलचूर्णेन भालं लिप्यते तदा शिरोर्त्तिरुत्तरिष्यति। तदा महेभ्येन कोशात्सर्वोत्तममुक्ताफलानि चूर्णं कर्त्तुं प्रकटीकृतानि। यदा वर्त्तयितुं प्रारब्धानि तदा वधूः प्राह-शिरोर्त्तिरुत्तीर्णा। महेभ्यः प्राह-भो स्नुषे! कथमेवं प्रोच्यते ? वधूः प्राह—मया तवोदारगुणपरीक्षाकृतमिदं। यत महेभ्योऽवग्—अव्यवहारेण यद्याति तैलादि तद्वृथैव। अतो मया भूपतिततैलबिन्दुभिरुपानहौ लूषितौ। अहं तु धर्मकृत्यगृहकृत्यादिषु बहुधन व्ययामि मुधा तु एकं लोहडिकमपि न व्ययामि। ततो महेभ्यो भूरिधनं सप्तक्षेत्र्या व्यययामास।

इति औदार्ये भोजश्रेष्ठिकथा ॥२८३॥

[484] अथ संप्रतिभूपपृष्टचतुःप्रकारजयकथा।

एकदा सम्प्रतिभूपः श्रीसुहस्तिगुरुपार्श्वे पप्रच्छ कियन्तो जयाः स्युः।

तदा गुरुराह—बाह्यान्तरङ्गाभ्यां द्विधा-अन्तरङ्गबहिरङ्गवैरिणो जयश्चक्रवर्त्तिना केषांचित्पञ्चपाण्डव श्रीरामप्रभृतिभूपानां च।१।

अन्तरङ्गजयो, न बाह्यजयः गणधरश्रीनेमिनार्थमल्लिजिनादीनां स्यात्।२।

बाह्यजयो, नान्तरङ्गजय वासुदेवदुष्टभूपादीना स्यात्।३।

नान्तरङ्गारिजयो न बाह्यारिजय कालिकसूरिकपामरभिल्लवणिगादीनां स्यात्।४।

सम्प्रतिभूपपृष्टचतुःप्रकारजयकथा ॥२८४॥

[285] अथ अर्कदुग्धौषधकथकवैद्यकथा।

एकस्मिन् पुरे भीमाह्वस्य वैद्यस्य सकुटुम्बस्य कलह कुर्वत. तत्रत्यैका वणिक्प्रिया वृद्धा अन्धीभूता औषधं प्रष्टुं समागता। औषधं पप्रच्छ पुन पुन, तदा रुष्टेन भीमेनोक्तम्-अयमर्कतरुर्दृश्यते ? तस्यार्कस्य क्षीरं चक्षुषो. क्षिप। तया तथा कारित स्वकुटुम्बान्तिकात्, तदा तस्याः चक्षुषी निर्मले जाते।

दिवि तारा पश्यन्त्यभूत् । ततो भीमो दध्यौ कथमर्कतरुक्षीरेण चक्षुषी वर्ये जाते । ततस्तस्य तरोरधस्तात्खनित्वाऽधोधृतभृतं भाजन ददर्श । भीमः तत श्रेष्ठी महावैद्य इति नाम जातम् । तत स वैद्यो सकललोकानामुपकार चक्रे । तत. उपकारात्स्वर्गं गत्वा मुक्तिं यास्यति । इति अर्कदुग्धौपधकथक्ैयंकथा ॥२८५॥

[286] अथ परिग्रहपरिमाणे जिनदत्तभूपसम्बन्धः ।

चन्द्रपुरे जिनदत्तस्य गृहे बह्वी श्रीरस्ति । व्यवसाय कुर्वतस्तस्य यत्तत्क्रयाणक गृह्णतो द्विगुणस्त्रिगुणश्चतुर्गुणो लाभो भवति, तदा भार्या जगौ प्रिय ! सप्तक्षेत्र्यां धन व्यय । तत स न किमपि व्ययति धन धर्मे । ततः क्रमादेकदा श्रीर्देवी स्वप्नेऽभ्येत्यावग्—अह यास्यामि । तव पुण्य क्षीणम् । प्रातः श्रीप्रोक्ते पत्न्या पुर प्रोक्ते पत्नी प्राह—मया बहु प्रोक्तं, धन धर्मे व्यय, त्वया तु न व्ययित, किं क्रियतेऽधुनाऽपि व्यय धनं तदपि वर । तत तेन सर्वं धन धर्मे व्ययित । रात्रौ देवी श्रीर्धन व्ययित दृष्ट्वा तत्पुण्यबद्धा तथैव मुक्ताफलमण्यादिगृह तस्य पूर्णीचक्रे । एवं तेन तस्मिन्धने व्ययिते श्रीस्तथा व्यधाद् गृहं २१ दिनप्रान्ते श्रेष्ठिना विंशतिसहस्रटङ्कपरिग्रहपरिरक्षणमानं लात्वा शेष धन व्ययित । तत श्रिया तस्य पुरस्य भूपस्यापुत्रस्य मृतस्य तस्मै राज्य ददौ । तत स जिनदत्तभूप. प्रमुं राज्ये निवेश्य स्वयं मन्त्री भूत्वा सप्तक्षेत्र्या धनं सदा व्ययन्मुक्तियोग्यं कर्म्मार्ज्जयामास । ततो जि ः सप्रियो मृत्वा स्वर्गं गत्वा मुक्तिं यास्यति । इति परिग्रहपरिमाणे जिनदत्तभूपसम्बन्धः ॥२८६॥

[287] अथ नीचानीचभवनचाण्डालिनीसम्बन्धः ।

सिद्धपुरासन्नकम्बलिकाग्रामस्थ-भीमस्य भाम्भिकस्य मृतस्य पत्नी विदेशं ययौ ।

एकस्मिन्ग्रामे गता लोकैः पृष्टा तस्या जातिः । तयोक्तं मुग्धत्वात् ढेढस्य पत्नी । लोकैरुक्तमेव ग्राममध्ये नागम्यते । साऽवग्—को ग्रामध्ये समेति । तैरुक्तं—यो वणिग् विप्रो वा भवति स चोक्ष । ततः साऽपरस्मिन्ग्रामे गता तथा तत्र ब्राह्मणीवेषधारिणी जाता । ततो 'ब्राह्मणी अहमिति' जल्पन्ती वाराणस्या गता । तत्र मठवासनिका जाता यमुनायां सदा स्नान चक्रे । विदेशागता द्विजास्तस्या गृहे भुञ्जते ।

एकदा सिद्धपुरीया द्विजास्तत्रागतास्तस्या गृहे भोजन कारयितुमागता. । तयोक्त यूय के ! तैरुक्त वय ब्राह्मणाः । तयोक्त—भवन्तो-भवन्तः क्रमाद्द्विजा जाता । तैरुक्त-'भवन्तो भवन्त' इत्यस्य कोऽर्थ ! तयोक्त—अहमिव । तैरुक्त-त्वं भवन्ती कथ जाता ! साऽवग्—धुरि अहभाम्भिकभार्याऽभूव, ततो वणिजाभूवं, तत क्षत्रिया, ततः सूत्रधारिका, ततो ब्राह्मणी, ततो मठवासिका इति भवन्त्या अर्थः । ततस्तैरुक्त—अहो पापिन्या त्वया सर्वे द्विजा विटालिता । तयोक्तम्-एवं कथमुच्यते ! अस्मिंस्तीर्थे ये स्नातास्ते सर्वेभ्योऽपि पवित्राः । ततस्तैरुक्तम्-इय सत्य वक्ति । इद तीर्थं पवित्र । तत इयमस्मिन्जले स्नाता पवित्राऽभूत् ततो द्विजास्तत्र भुक्ता ।

इति नीचानीचभवनचाण्डालिनीसम्बन्धः ॥२८७॥

[288] अथ परवञ्चनद्विजसम्बन्धः ।

एकस्मिन्ग्रामे द्विजस्य पत्नी पतिवचनासक्ताऽस्ति। एकदा द्विजे ग्रामे गते वैदिका द्विजास्तत्रागताः। तैश्च विप्रगृहं पृष्ट्वा वैदिकगृहे गत्वा द्रव्यं दत्त्वा क्षीरपूपिकाघृतवरमण्डकमोदकादिवर्या रसवती कारिता। ततो द्विजा नद्यां स्नानार्थं गताः। इतो द्विजो गृहस्वाम्यागात् रसवत्यादिरिन्धनं ज्ञात्वा द्विजोऽवग्—इय रसवती आत्मनो गृहे स्थाप्यते स्वय भोक्ष्यते तदा वरं। भार्याऽवग्—कथमेव क्रियते परान्नहरणान्। द्विजोऽवग्-तथाऽहं करोमि यथा स्वय द्विजा यास्यन्ति त्वया मौनमेव कार्यं च। ततो यदा द्विजा' स्नानं कृत्वा गतास्तदा द्विजः पिप्प[प्प]लस्य वृक्षस्य शाखा छेत्तुमूर्ध्वं चटित.। वृक्षशाखा छिन्दानं तं दृष्ट्वा द्विजास्ते जगु -भो द्विज! कृष्णवसनस्थान पिप्प(प्प)लस्त्वया किं छिद्यते! सोऽवग्-पिप्पलपत्रभक्षण विना ईश्वरनामाङ्किता वृषभा शण्ढा असमारिताः कथ क्षेत्रे वहन्ते। तैरुक्त-त्वं किमीश्वरनामाङ्कितान् शण्ठान् खेटयति। द्विजोऽवग्—यद्येवविधा वृषभा न पोष्यन्ते 'तदा घृतभार्याया अपत्यानि धान्य विना कथं जीवन्ति। तैरुक्त-तव गृहे किं घृता पत्नी विद्यते। तेनोक्त-मम ग्रामाटस्य घृतमद्यादिसेविनः को द्विज' पुत्री निजा दत्ते। तैरुक्तं—का जातिस्तवपत्न्याः तेनोक्तं—मम व्यसनसेवकस्य यदा कोऽपि द्विजः स्वा पुत्रीं न दत्ते तदाऽहं गतो वर्यमोचिकगृहे मां वयं वरं दृष्ट्वा सोऽवग्—मम रण्डा पुत्री विद्यते। यदि रोचते तव तदाङ्गीकुरु त्व ता। ततस्तस्य ता पुत्रीं वर्यां दृष्ट्वाऽहं परिणीतवान्। ततस्तयाऽपत्यानि जातानि अमूनि विद्यन्ते। ततस्ते द्विजा. पापिष्ठोऽय पापिष्ठोऽयं एवं वदन्त उत्थिता'। तां रसवतीं तादृशीं त्यक्त्वा गता अन्यत्र। ततो द्विजोऽवक् पत्नि! यथारुचि इयं रसवती भुज्यता बुद्धिधनेन गृहीता, न मुधा, तेन पाप न लगति, ततस्तेन स्वेच्छया पत्न्या युतेन रसवती भुक्ता। इति परवञ्चने द्विजसम्बन्धः ॥२८८॥

[289] अथ मोहेन काष्ठभक्षणसम्बन्धः ।

कस्मिंश्चिद्ग्रामे कोऽपि कौटुम्बिक. पत्नीवियोगात्काष्ठभक्षणाय चचाल यदा तदा एको भट्टो धनार्थी प्राहोच्चैः स्वरं, भो कौटुम्बिक! त्वं भाग्यवानसि, त्वं मातापितृपक्षोद्योतकारकः स्वर्गसुखमनुभवसि। त्वमस्माद्दुःखाच्छुटितोऽसि इत्यादि जल्पन्तं भट्ट प्रति स प्राह—अधुनैवं कथं पुनः प्रोच्यते। यदि वयं काष्ठभक्षणं स्वर्गसुखदायकं भवति तदा त्व कथ न करोषि। अत्र तु दीनादिवचनजल्पनादुदरं बिभर्त्ति। तत्र स्वयमत्यन्त सुखं भविष्यति। भट्टोऽवग्—कथ त्वयैवं प्रोच्यमानमस्ति। स प्राह—अह मोहेन काष्ठभक्षणं कुर्वाणोऽस्मि। अग्रे को जानाति किं भविष्यति। त्वमपि धनलोभादेवं जल्पन्नसि किं बहुजल्पने। ततो भट्टो मौनी जातः।

इति मोहेन काष्ठभक्षणसम्बन्धः ॥२८९॥

[290] अथ कुशीलिनीस्त्रीविषये सम्बन्धः ।

एकस्मिन्पुरे मोचिका .र्याणि खेटकानि रचयति तेनान्यदा नोसलेन चर्म्मकृताऽन्येन स्त्री पत्नी कृता। अत्रान्तरे तस्य अट्टे पुमांसो जजल्पुर्नोसल! त्वया पत्नी आनीता श्रुता सा

कस्य पुत्री विद्यते । नीसलोऽवग् किमेव पृच्छयते । ते प्रोचुः—रण्डा विधवा वा । सोऽवग्—देवडेन मयाङ्गीकृता । तदा केचिज्जगु—वयं कृत गेह च सदभूत् । तदैकेनोक्तं—या पत्या त्यज्यते सा कुशीलिन्येव । अथवा अकथितकारिका दोषं विना कोऽपि स्त्रियं न त्यजति । तदा नीसलोऽवग्—अतीवाधुना सलज्जा दृश्यते स्तोकजल्पा च । वृद्धः पुमान् प्राह—स्वरूप न ज्ञायते यतः—

अक्कफल किविणघण, दुज्जणवयणं सुकोमल होइ ।
असई होइ ।, खारजलं सीअलं होइ ॥१॥

नीसलोऽवग्—साम्प्रतं वर्याऽस्ति ततोऽन्यदा कस्मिन्स्थाने पुसाऽन्येन समं वार्त्तां कुर्वाणा नीसलेन पृष्टा परपुसा च । यदा साऽन्येषा पुर पत्नीस्वरूप प्राह नदा तै प्रोक्तं—त्यज्यते पत्नीय । नीसलोऽवग्—रूपवती कथं त्यज्यते । अन्यस्मात्पुरुषाद्यदीयं ममापत्यानि जनिष्यति तदा तान्यपि मां प्रति 'तात बाप अऊआ आता' इति जल्पिष्यन्ति । तेनेय स्थाप्यमानाऽस्ति तदा तैरुक्तम्-एव चेदस्ति तदा वयं जातं । नीसलेन तादृशी पत्नी ज्ञाताऽपि न त्यक्ता मोहपाशबद्धेन ।

इति कुशीलिनीस्त्रीविषये सम्बन्धः ॥२९०॥

[291] अथ मुग्धजटिलसम्बन्धः ।

एकस्मिन्ग्रामे द्रिरुच्चशृङ्गे विषमे मठी योगिना कृता । तत्र च योगिना बालिका स्थापिता । साऽथाऽन्यं नर न पश्यति क्रमात्परिणीता स्वयं । इयं कुशीलिनी न भविष्यति । ततो ग्राममध्ये भिक्षां याचमानो गृहे गृहे वदति—"इकपरिसाई इकपरिसाई" एव पुनर्वदन्त-मन्य. पुमान् प्राह–'इमकाई बालइ भाई' । ततो योगी जगौ–'ऊचइ डुंगरि कोई न जाई' । एव जल्पन्त श्रुत्वा दध्यौ । स स्वां पत्नीं सुशीलां वेत्त्यसौ । तत. स योगिप्रियापरीक्षणायैव वर्य-दि लात्वा योगिन्यन्यत्र गते पर्वतशृङ्गे योगिनीपार्श्वे गत । योगिन्यै पक्वान्नादि दत्त । योगिन्या भोगस्तेन सहेप्सितः ।

इतः स योगी मठपार्श्वे समागात् । ततः सद्यस्तया मठमध्ये छन्न कृत्वा महोद्वारेऽभ्येत्यावग् अत्रैव स्थिरीभव । अधुना ईश्वर आगतोऽभूत् । तेनेत्युक्तं गतं च यदि ते पतिश्चक्षुषो. पट्टकं बन्धित्वा कण्ठे घर्घरमालिका च त्रिर्वार मठ्या परितोऽधोमुखो मन्त्रामजापपरो भविष्यति ततो मठीमध्ये समेष्यति तदा बहुवर्षाणि आयुर्भविष्यति । ततस्तेन पत्न्योक्तं सर्वं कृत्वा मठीमध्ये आगत यदा छन्न तदा स च नि स्वस्थाने गत । द्वितीयदिने योगी तस्य गृहे निति—

इक्कपुरिसाई पुरिसाई कांई बोलइं भाई
ऊंचे ऊचे डूंगरउइ कोइ न जाई ॥

तदा स पुमान्प्राह—

आंखिडं पाटा कोटइं माटा, अम्हे हुंता मठमांही ॥१॥

पूर्णा गाथा जाता। एवं प्रोक्तेऽपि मोहात्तेन योगिना वचोऽयगडूथं न ज्ञातं। ततः स्थाने स्थाने सम्पूर्णां गाथां जल्पति। योगी तु स्वां पत्नीं सुशीलां वेत्ति। सा लब्ध्वा(लब्धा)स्वादा पुसाऽन्येन रमते। एवं पाप कृत्वा श्वभ्रे गता। योगी तु यावत्स्वां पत्नीं सतीमेव मेने।

इति मुग्धजटिलसम्बन्धः ॥२९१॥

[292] अथ काकेन काकशतमिति सम्बन्धः।

श्रीपुरे चन्द्रश्रेष्ठिनः पत्नी कथितकारिणी विद्यते। क्रमाद्दारिद्रे ममेते किमपि न करोति। इतोऽन्यदा मलोत्सर्गं कुर्वन् बहिर्निधि ददर्श। त तत्र स्थगित्वा गृहागतो भार्यायाः पुर. प्राह–मयाऽद्य मलोत्सर्गं कुर्वता काकपिच्छ हृदित, त्वया कस्याग्रे न प्रोच्यं। तयोक्तं–मयाऽद्य यावत्कस्याग्रे नोक्तं ततस्तयाऽन्येद्युः पानीयानयनार्थं गच्छन्त्याऽन्यपानीयहारिकायाः पुर पत्युः पिच्छहरणोस्वरूप प्रोक्त। ततस्तयाऽन्यस्या अग्रे प्रोक्त ततस्तयाऽन्यस्या अग्रे ततो लोकशतैः श्रुत गृहे गृहे सा वार्त्ता जाता। लोकैरुक्त–भो श्रेष्ठिन्! काकपिच्छ शत हृदित त्वया। ततो ज्ञात भार्यास्वरूप ततस्तेन नीधिरानीतो विलसितः पर पत्न्या. पुरो नोक्त, श्रेष्ठी तत 'काकं काकशत'मिति ख्यातिं दध्यौ [धौ]॥

इति काकेन काकशतमिति सम्बन्धः ॥२९२॥

[293] अथ सुखवासे कौटुम्बिककथा।

श्रीग्रामे लक्ष्मीधरो राजा न्यायी लोकप्रियः। लोकाः सर्वे यथोक्त ददते धनिनो जाताः।

एकदा मन्त्रिणा स्पर्द्धकद्वयं चन्द्रकौटुम्बिकपार्श्वे याचितम्। सोऽवग्–अर्थमर्घ्यं धनं भग्ना, अधुना नास्ति यथा मा मार्गय तथाऽन्योऽपि किं न मार्ग्यन्ते। अहमेवैकोऽस्मि किम्।

अत्रान्तरेऽन्येद्युस्तेन कौटुम्बिकेन खलात् छन्न गोधूमै. शकट भृत्वा निर्गत रात्रौ। वर्त्मनि शकट गर्त्तायां पतितं न निस्सरति यदा तदा स कौटुम्बिक आकुलोऽभूत्।

अत्रान्तरे राजा अजल्पन् तस्य शकट कर्षयामास। राज्ञा स्तैन्य ज्ञातं। तथापि चित्ते किमपि नानीतम्।

इतोऽन्येद्यु मन्त्रिणा समं कलिं कुर्वन्भूपपार्श्वे कौटुम्बिको ययौ। तदा मन्त्रिणा राज्ञोऽग्रे प्रोक्तं यदाऽसौ मार्ग्यते तदा यद्वा तद्वा जल्पति। कौटुम्बिकोऽप्यवग्—अह वासे स्थातुं न शक्नोमि। अमुकममुक मयाऽर्पितं पुन' स्पर्द्धकद्वय मन्त्री याचते। राज्ञोक्त—यो राजा गोधूमभृत शकट गर्त्तायां पतितं कर्षयति, तस्य वासे त्वया उषितव्यम्। एतद्वच श्रुत्वा कौटुम्बिको मौनी भूत्वा भूपपार्श्वे प्राह–यद्विलोक्यते तद् गृह्यताम्। ततो राजाऽपि तद्वचनेन तुष्ट'।

इति सुखवासे कौटुम्बिककथा ॥२९३॥

[294] अथ धनदानवशीकारे ग्रामपतिकथा ।

लोडणपुरे ग्रामपति कृष्ण प्रजाः पाति स्म । तत्रान्यदा तैलिकमोचिके कलिं कुर्वाते स्मेति । त्वया मम छगणानि छन्न गृहीतानीत्युक्ते तैलिका जगौ-रे चाम्रिके ! मम गृहात्त्वया गोमय छन्न गृहीतम् । एव मिथः कलिं कृत्वा प्रथमं चाम्रिका ग्रामपतये तैलिकसङ्गालिकं दत्त्वा स्वं सम्बन्ध कथितवती । ग्रामेशोऽवग्—मा भैषी, चर्मकारिका दण्डयिष्यते ।

इतश्चर्मकारपत्नी भूपपत्न्यै वयं पादुकायुग दत्त्वा स्वसम्बन्ध, प्राह । त्वया ममोपान्ते स्थातव्यम् । अपराह्णे द्वे कलिं कुर्वाणे ग्रामपतिपार्श्वे समेते । स्वं स्वरूप द्वाभ्यां प्रोक्तम् । राजाऽवग्–चर्मकारिकामन्यायिनीं दण्डयिष्यते । तैलिकया तैलसहोलिकोऽर्पितोऽस्ति । राज्ञा राज्ञ्या' पुर प्रोक्तम् । राज्ञी प्राह–पल्यङ्कस्याधस्ताद्विलोक्यताम् । नोर्ध्वं वीक्ष्यते । ततो राजा पादुकाद्वय नवीनमपूर्वं दृष्ट्वा प्राह–द्वयोर्मध्ये कस्या अपि दोषो न । स्वस्वगृहे यात युवामतः परमन्यायो न कार्यं तेन स्वस्वगृहे गते ।

इति धनदानवशीकारे ग्रामपतिकथा ॥ २९४ ॥

[295] अथ ऋणसम्बन्धे सूत्रधारकथा ।

कस्मिन्ग्रामे भीमस्य सूत्रधारस्य भूरिषु देवेषु आराधितेषु पुत्रोऽभूत् । जन्मोत्सव कृत । स्वर्णमय पालनक कृतं, तत्रस्थ हिण्डालयति स्म । क्रमाद्रिङ्खन् वर्याहारभूषणादिभि पोष्यते पुत्रः ।

एकदा स्वोत्सङ्गे कृत्वा पुत्र रमयन्त श्रेष्ठिन दृष्ट्वा साधुः प्राह । पुत्र दर्शं दर्शं किं मोद धत्से ? एव प्रोच्य यावत्साधुर्निस्ससार तावच्छ्रेष्ठी चकितः । साधो पदोः पतित्वा प्राह—त्वयैव कथ प्रोक्तम् ? साधु' प्राह पृच्छनेन सृत, पुत्रस्वरूपे प्रोक्ते तव दु ख भविष्यति । ततो बहु कथितेऽएकान्ते साधु प्राह—

पद्मपुरे चन्द्रो वणिग बभूव । स चान्यदा कमलपुरे सिंहश्रेष्ठिगृहे गतः । तस्यापण उपविशति च सिंहोऽन्यदा पञ्चशतटङ्कभृता वासनिका हट्टमध्ये मुक्त्वा कार्यार्थं गत । ततश्चन्द्रस्ता वासनिकां छन्न कृत्वाऽन्यत्र मुक्त्वा तत्रापण आगत्योपविष्टः । ततः सिंहो हट्टागतो वासनिकामदृष्ट्वा प्राह—त्वया धन गृहीतम् । चन्द्रोऽवग्—कूट किं जल्पसे ! शपथं चकार । तत. क्रमात् साधुभ्यो दान दत्त्वा चन्द्रो मृत्वाऽय तव पुत्रो जातोऽस्ति । तेनाय लहनक लात्वा गमिष्यति । यदि त्वमेतस्यार्थे न व्ययिष्यसि तदा सर्वां श्रियमपहरिष्यसि तत' सूत्रधारेण पूर्वदत्त धन तस्य लेखके धर्मे व्ययित । तत स स्व लहनकं लात्वा परलोक गत ।

इति ऋणसम्बन्धे सूत्रधारकथा ॥२९५॥

[296] अथ मुग्धतायां म्बिकधनतत्पत्नीलिम्बडीपुत्रीकथा ।

श्रीपुरे धनकौटुम्बिकस्य लीम्बडीनाम्नी पुत्री बभूव । क्रमाच्चन्द्रपुरे धनदत्ताय सोत्सवं

दत्ता । तस्या आभरणानि कारितानि । एकदा समुत्पन्नरोगा लिम्बडी पतिगृहस्था मृता । तां मृतां श्रुत्वा मातापितरौ दुःखिनौ जातौ । आभरणानि पितुर्गृहे स्थितानि । तदा कोऽपि धूर्त्तो धनकौटुम्बिकोऽभ्येत्यावग्—नमश्चक्रे तयोः । तदा ताभ्यां प्रोक्तं— : स्थानात्त्वमागाः ? सोऽवग्—अहं भवतोः पुत्रीपार्श्वाऽत्तदा माताऽवग्—लिम्डीपुत्री क्वास्ति ? धूर्त्तोऽवग्—स्वर्गे देवाङ्गना जाताऽस्ति सुखिनी च । मन्मुखेन तया सर्वाणि आभरणानि याचितानि सन्ति । यदि अर्प्यन्ते तानि तव पुत्र्या अर्पयामि । मात्रा मुग्धया पुत्रीमोहात्तस्मै सर्वाण्याभरणानि दत्तानि । सोऽपि छलितानि लात्वा चचाल ।

इतो धनो गृहे आगात् । पुत्रीभूषणप्रेषणस्वरूपं पत्युरग्रे पत्न्योक्तं धनोऽवग् । प्राह—त्वं तु मुग्धा । स तु छली । तानि लात्वा गतः । ततो भूषणानि वालयितुं वयंघोटिकारूढस्त-त्पृष्ठौ चचाल । मार्गे मिलितः सन् तं हक्कयामासोच्चैः रे दुराचार ! मुञ्च भूषणानि पुत्र्या नो चेद्धनिष्यसे । छली धनमागत दृष्ट्वा मार्गस्थतरोरूर्ध्वं चटितः । स च कौटुम्बिकः घोटि उत्तीर्य वृक्षमारूढो धर्तुं तम् । स बली शाखयोत्तीर्य त्वरितं घोटिकामारुह्य त्वरितं चचाल । कौटुम्बिको ादुत्तीर्य तत्पृष्ठौ दधाव हक्कयति च । यदा न मिलति धनस्तस्य तदोच्चैः स्वरं प्राह—एषाऽपि घोटिका साभरणा लिम्बडयै भवतु एव प्रोच्य पादचारी गृहागतो धनः पृष्ठ पत्न्या, तदा धनोऽवग्—त्वया पुत्र्या आभरणानि प्रेषितानि मया तु घोटिका । पत्नी प्राह—वरं कृतम् ।

इति मुग्धतायां कौटुम्बिकधनतत्पत्नीलिंबडीपुत्रीकथा ॥२९६॥

[297] अथ दन्तदर्शने श्रेष्ठिवधूकथा ।

श्रीपुरे - श्रेष्ठिनस्तिस्रो वध्वोऽभूवन् । एकस्या वर्या मुद्रिका कारिता श्रेष्ठिना, द्वितीयस्या वर्या शाटिका, तृतीयस्याः स्वर्णमया दन्ताः । ताभिरेकदा स्वजना जेमनाय निमन्त्रिताः । ता जेमनायागता यदा तदा मुद्रिका दर्शिता, द्वितीयया शाटिका दर्शिता, तृतीयस्या गृहे या जेमनायागताः तासां पुरः तृतीया दन्तान् स्वर्णमयानुद्घाट्य हसित्वा प्राह—भोः स्त्रियः अद्य किमपि रद्धुं न शकितं । कल्ये जेमनायागन्तव्यम् । ताभिः प्रोक्तं—वयं कृतं गौरवं दन्ताः स्वर्णमया दर्शिता । दन्तदर्शनेन वयं भोजिता । दन्तदर्शनेनापि यच्छुटितास्तद्वरं इति जल्पन्त्यस्ताः स्वस्वगृहे गताः । इति दन्तदर्शने श्रेष्ठिवधूकथा ॥२९७॥

[298] अथ अविमृश्यकारकधनकथा ।

एकः कोऽपि मुग्धः पुमान् पलाशपत्राणि फलानि च वर्याणि वीक्ष्य दध्यौ—एवंविधो वृक्षो यदि गृहाङ्गणे भवति तदाऽतीव गृहशोभा भवति ।

ततस्तेन तद्बीजान्यानीयारोपितो वृक्षः वर्धितो वारिसिञ्चनत. सच्छायोऽभूत् । क्रमात्फलानि लग्नानि आस्वादितानि कटुकानि । पत्रेषु च वृश्चिका उत्पद्यन्ते । पक्षिणोऽभ्येत्य ते कलकल

कुर्वन्ति । ततो रुष्टस्तमुत्पाटयामास । स ज्वालित । स एकं पत्रं तस्योद्धरितं, तच्च क्रमात् हेममयं जातम् । ततस्तादृशानि बीजान्यलभमानो दु खी जात ।

इत्यविमृश्यकारकधनकथा ॥२९८॥

[299] अथ परद्रव्यपरिहारे सोमभीमकथा ।

चन्द्रवत्या पुरि सोमभीमौ सोदरौ वसत स्म । पृथग्जातौ तथापि व्यवसायमेकत्र कुरुतः स्म । सोमो गुरूपान्ते परद्रव्यपरिहाराभिग्रहं ललौ । भीमस्तु न गृह्णाति स्म ।

एकदा द्वावपि भ्रातरौ द्रव्यार्जनाय मार्गे चेलतुः । साय रात्रिघटीद्वय गत यदा तदा रत्नकुण्डल बहुमूल्य सोमो दृष्ट्वाऽपि चचालाग्रत । तत पश्चात्क्रमशते भीम आगच्छन् रत्नकुण्डल ललौ । रहो विधाय चचाल । ततः मार्गे भ्रात्रा पृष्ट—त्वया पश्चात् किं दृष्टम् ? भीमोऽवग्—न किमपि दृष्ट मया । ततस्तावपि भ्रातरौ श्रीपुरे गतौ । तत्र भीमो व्यवसाय कुर्वन् कुण्डलं विक्रीय बहुमूल्य क्रयाणक बहु ललौ । तदा बहुमूल्य क्रयाणक बहु गृह्णानं भीम वीक्ष्य सोमोऽवग्—भ्रातस्त्वया किं लब्धं येन बहु क्रयाणकमलास्त्वं बह्वाग्रहे कृते भ्रात्रा रत्नकुण्डलग्रहणविक्रयसम्बन्धः प्रोक्तो भीमेन । ततः सोमोऽवग्–यत्त्वया रात्न कुण्डलं पतितं गृहीतं तन्न वर कृतम् । आत्मनः क्रयाणकमग्रेतनवस्तुसत्क यद्विद्यते तन्मम दीयताम् । त्व तावकं पृथक्कुरु । क्रमाद्द्वौ सोदरौ गृहे आगतौ भीमस्य तस्मिन्नेव दिने गृहे चौराः प्रविष्टा । सर्वमानीत लुण्टित्वा गता । प्रात सर्वं गृह क्रयाणरिक्तं दृष्ट्वोदरं कुट्टयन् जगौ भीम । चौरा मम जीवं गृहीत्वा गता । सोम आगत प्राह—भ्राता रुद्यते कि यत्परद्रव्य गृह्यते तच्चात्मीयमग्रेतनमपि धन लात्वा याति । अत पर त्वया परकीय पतितमपि धन न ग्राह्यम् । ततस्तेन परद्रव्यग्रहणे नियमो गृहीतः । ततो भ्रात्रा बहुधन ददे । ततो द्वावपि सोदरौ चिरं स्वमभिग्रह प्रपाल्य स्वर्गं गतौ । क्रमान्मुक्तिं यास्यतः । इति परद्रव्यपरिहारे सोमभीमकथा ॥२९९॥

[300] अथ 'वानर अनइ वींछी खाधउ' इति ऊखाणा कथा ।

कस्मिन्वने वानर आम्रछोतरकं भक्षितु मुखे चिक्षेप तदा छोत्तरकस्थेन वृश्चिकेन कपिर्भक्षित । ततो क्षलयित्वा त्वरित भूमौ पतितः । मुख भग्नप्राय जातम् । कुत्रापि रतिं न लभते । तदा कपिना अन्येन पृष्ट भो वानर ! किमेवंविधाक्रियां करोषि ? तदा स प्राह—यत्र तत्र मुखं न प्रक्षिप्यते, सरलदृष्टमार्गेण चलनीयम् । उक्त च तेन—

जीवजीव जीवउं किमइ आंबइ हाथ न लाउं किमइ जीवजीव ।
जीवइ ईम छोत्तरि हाथि जीवाहि वानीम ॥१॥

इति वानर अनइ वींछी खाधउ इति ऊखाणा कथा ॥३००॥

[301] अथ कर्णसम्बन्धः ।

पत्तने भीमभूपस्य पत्नी पद्मिनी सगर्भा ज्योतिष्कक प्रति जगौ । वयं पुत्रो जातो यस्मिन्

दत्ता । तस्या आभरणानि कारितानि । एकदा समुत्पन्नरोगा लिम्बडी पतिगृहस्था मृता । तां मृतां श्रुत्वा मातापितरौ दुःखिनौ जातौ । आभरणानि पितुर्गृहे स्थितानि । तदा कोऽपि धूर्त्तो धनकौटुम्बिकोऽभ्येत्यावग्—नमश्चक्रे तयोः । तदा ताभ्यां प्रोक्तं—कुतः स्थानात्त्वमागाः ? सोऽवग्—अहं भवतोः पुत्रीपार्श्वात्तदा माताऽवग्—लिम्डीपुत्री क्वास्ति ? धूर्त्तोऽवग्—स्वर्गे देवाङ्गना जाताऽस्ति सुखिनी च । मन्मुखेन तया सर्वाणि आभरणानि याचितानि सन्ति । यदि अर्प्यन्ते तानि तव पुत्र्या अर्पयामि । मात्रा मुग्धया पुत्रीमोहात्तस्मै सर्वाण्याभरणानि दत्तानि । सोऽपि छलितानि लात्वा चचाल ।

इतो धनो गृहे आगात् । पुत्रीभूषणप्रेषणस्वरूपं पत्युरग्रे पत्न्योक्तं धनोऽवग् । प्राह—त्वं तु मुग्धा । स तु छली । तानि लात्वा गतः । ततो भूषणानि वालयितुं वर्यघोटिकारूढस्तत्पृष्ठौ चचाल । मार्गे मिलितः सन् तं हक्कयामासोच्चैः रे दुराचार ! मुञ्च भूषणानि पुत्र्या नो चेद्दुःहनिष्यसे । छली धनमागतं दृष्ट्वा मार्गस्थतरोरूर्ध्वं चटितः । स च कौटुम्बिकः घोटिकाया उत्तीर्य वृक्षमारूढो धर्त्तुं तम् । स छली शाखयोत्तीर्य त्वरितं घोटिकामारुह्य त्वरितं चचाल । कौटुम्बिको ादुत्तीर्य तत्पृष्ठौ दधाव हक्कयति च । यदा न मिलति धनस्तस्य तदोच्चैः स्वरं प्राह—एषाऽपि घोटिका रणा लिम्बड्यै भवतु एवं प्रोच्य पादचारी गृहागतो धनः पृष्ठ पत्न्या, तदा धनोऽवग्—त्वया पुत्र्या आभरणानि प्रेषितानि मया तु घोटिका । पत्नी प्राह—वर्यं कृतम् ।

इति मुग यां कौटुम्बिकधनतत्पत्नीलिंबडीपुत्रीकथा ॥२९६॥

[297] अथ दन्तदर्शने श्रेष्ठिवधूकथा ।

श्रीपुरे श्रेष्ठिनस्तिस्रो वध्वोऽभूवन् । एकस्या वर्या मुद्रिका कारिता श्रेष्ठिना, द्वितीयस्या वर्या शाटिका, तृतीयस्याः स्वर्णमया दन्ताः । ताभिरेकदा स्वजना जेमनाय निमन्त्रिताः । ता जेमनायागता यदा तदा मुद्रिका दर्शिता, द्वितीयया शाटिका दर्शिता, तृतीयस्या गृहे या जेमनायागताः तासां पुरः तृतीया दन्तान् स्वर्णमयानुद्घाट्य हसित्वा प्राह—भोः स्त्रियः अद्य किमपि रद्धुं न शकितं । कल्ये जेमनायागन्तव्यम् । ताभिः प्रोक्तं—वर्यं कृतं गौरवं दन्ताः दर्शिता । दन्तदर्शनेन वयं भोजिता । दन्तदर्शनेनापि यच्छुटितास्तद्वरं इति जल्पन्त्यस्ताः स्वस्वगृहे गताः । इति दन्तदर्शने श्रेष्ठिवधूकथा ॥२९७॥

[298] अथ अविमृश्यकारकधनकथा ।

एकः कोऽपि मुग्धः पुमान् पलाशपत्राणि फलानि च वर्याणि वीक्ष्य दध्यौ—एवंविधो वृक्षो यदि गृहाङ्गणे भवति तदाऽतीव गृहशोभा भवति ।

ततस्तेन तद्बीजान्यानीयारोपितो वृक्षः वर्धितो वारिसिञ्चनत. सच्छायोऽभूत् । क्रमात्फलानि लग्नानि आस्वादितानि कटुकानि । पत्रेषु च वृश्चिका उत्पद्यन्ते । पक्षिणोऽभ्येत्य ते कलकल

कुर्वन्ति । ततो रुष्टस्तमुत्पाटयामास । स ज्वालित । स एकं पत्रं तस्योद्धरितं, तच्च क्रमात् हेममयं जातम् । ततस्तादृशानि बीजान्यलभमानो दु:खी जातः ।

इत्यविमृश्यकारकधनकथा ॥२९८॥

[299] अथ परद्रव्यपरिहारे सोमभीमकथा ।

चन्द्रवत्यां पुरि सोमभीमौ सोदरौ वसत स्म । पृथग्जातौ तथापि व्यवसायमेकत्र कुरुतः स्म । सोमो गुरूपान्ते परद्रव्यपरिहाराभिग्रहं ललौ । भीमस्तु न गृह्णाति स्म ।

एकदा द्वावपि भ्रातरौ द्रव्यार्जनाय मार्गे चेलतुः । सायं रात्रिघटीद्वय गतं यदा तदा रत्नकुण्डल बहुमूल्य सोमो दृष्ट्वाऽपि चचालाग्रत । तत पश्चात्क्रमशते भीम आगच्छन् रत्नकुण्डलं ललौ । रहो विधाय चचाल । ततः मार्गे भ्रात्रा पृष्ट—त्वया पश्चात् किं दृष्टम् ? भीमोऽवग्—न किमपि दृष्ट मया । ततस्तावपि भ्रातरौ श्रीपुरे गतौ । तत्र भीमो व्यवसाय कुर्वन् कुण्डलं विक्रीय बहुमूल्य क्रयाणकं बहु ललौ । तदा बहुमूल्य क्रयाणक बहु गृह्णानं भीम वीक्ष्य सोमोऽवग्—भ्रातस्त्वया किं लब्ध येन बहु क्रयाणकमलास्त्वं बह्वाग्रहे कृते भ्रात्रा रत्नकुण्डलग्रहणवि म्बन्धः प्रोक्तो भीमेन । ततः सोमोऽवग्-यत्त्वया रात्न कुण्डलं पतित गृहीतं तन्न वर कृतम् । आत्मनः क्रयाणकमग्रेतनवस्तुसत्क यद्विद्यते तन्मम दीयताम् । त्व तावक पृथक्कुरु । क्रमाद्द्वौ सोदरौ गृहे आगतौ भीमस्य तस्मिन्नेव दिने गृहे चौराः प्रविष्टा । सर्वमानीत लुण्टित्वा गता । प्रात सर्वं गृह क्रयाणरिक्तं दृष्ट्वोदरं कुट्टयन् जगौ भीम. । चौरा मम जीवं गृहीत्वा गता । सोम आगत प्राह—भ्राता रुद्यते किं यत्परद्रव्य गृह्यते तच्चात्मीयमग्रेतनमपि धन लात्वा याति । अत पर त्वया परकीय पतितमपि धन न ग्राह्यम् । ततस्तेन परद्रव्यग्रहणे नियमो गृहीतः । ततो भ्रात्रा बहुधन ददे । ततो द्वावपि सोदरौ चिरं स्वमभिग्रह प्रपाल्य स्वर्गं गतौ । क्रमान्मुक्तिं यास्यतः । इति परद्रव्यपरिहारे सोमभीमकथा ॥२९९॥

[300] अथ 'वानर अनइं वींछी खाधउ' इति ऊखाणा कथा ।

कस्मिन्वने वानर आम्रछोतरकं भक्षितु मुखे चिक्षेप तदा छोत्तरकस्थेन वृश्चिकेन कपिर्भक्षित । ततो झलयित्वा त्वरितं भूमौ पतितः । मुख भग्नप्राय जातम् । कुत्रापि रतिं न लभते । तदा कपिना अन्येन पृष्ट भो वानर ? क्रिमेवंविधाक्रियां करोषि ? तदा स प्राह—यत्र तत्र मुखं न प्रक्षिप्यते, सरलदृष्टमार्गेण चलनीयम् । उक्त च तेन—

जीवज्जीव जीवउं किमइ आंबइ हाथ न लाउं किमइ जीवज्जीव ।
जीवइ ईम छोत्तरि हाथि जीवाहि वानीम ॥१॥

इति वानर . वींछी खाधउ इति ऊखाणा कथा ॥३००॥

[301] अथ कर्णसम्बन्धः ।

पत्तने भीमभूपस्य पत्नी पवित्रो सगर्भा ज्योतिष्कक प्रति जगौ । वयं पुत्रो जातो यस्मिन्

क्षणे स्यात् स क्षणः कथ्यताम्। ततो ज्योतिष्कको जगौ। उच्चपरमोच्चग्रहसम्बन्धे ज्योतिष्कोक्तक्षणे तयौषधग्रहणात् पुत्रो जनितः कर्णभरणे निर्गतः। ततस्तस्य कर्ण इति नाम ददौ। तस्मिन् जनिते सुते सूतरोगेण सूता माता क्रमाद्वर्धमाने तस्मिन् राज्यभारं न्यस्य राजापि मृतः। तदा उज्जयिन्यां भोजो राजा द्वाभ्यां दानस्पर्द्धा क्रियते। ततस्ताभ्यां मिथो ज्ञापितं य एकस्मिन् दिने सपूर्णं प्रासादं कारयिष्यति तेन जितं ततः कर्णेन यामचतुष्केण संपूर्णः प्रासादः कारितः। तस्मिन् लिङ्गमपि स्थापितं भोजेन। ततस्तस्य प्रासादस्य कर्णमेरुरिति नाम जातम्।

इति कर्णसम्बन्धः ॥३०१॥

[302] अथ मरणसमये वृद्धभोजसम्बन्धः।

वृद्धभोजेन म्रियता स्वसेवकस्य प्रोक्तं मया पुण्यं न कृतं तेन कृपाणस्याग्रे मम कृष्णं हस्तं कृत्वा स्थाप्यः। यदा लोका पृच्छन्ति तदा प्रोक्तव्यं। राज्ञा प्रोक्तं क्रियमाणमस्ति। ततो वृद्धभोजसेवकैर्लोकप्रबोधाय धर्मे कृष्णो हस्तो भोजस्य दर्शितः। लोका भोजस्य मरणचेष्टितं श्रुत्वा दानिनो जाताः। इति मरणसमये वृद्धभोजसम्बन्धः ॥३०२॥

[303] अथ वस्तुपालमन्त्रिणः १२ यात्राशकुनकथा।

वस्तुपालमन्त्रीशस्य प्रथमयात्रायां चलत आदौ दुर्गा विपरीता जाता। यदा मन्त्री स्थितस्तदा सारवकोऽवग्—चल्यतां मन्त्रीश ! १२ यात्रा भविष्यन्ति। मन्त्री कथमेव ज्ञायते। सोऽवग् यस्मिन्नावासे उपविश्य दुर्गा रवं चकार। तस्य निष्पद्यमानस्य १२ स्थरा निष्पन्ना दृश्यन्ते, अत उच्यते मया। ततो मन्त्री तां शकुनं लात्वा चचाल। ततः १२ यात्रा अभूवन्× त्रयोदश्यां यात्रायां अर्द्धमार्गे उत्पन्नज्वरस्य अङ्के (ङ्का) वालकग्रामे स्वर्गगमनं मन्त्रिणोऽजनि।

इति वस्तुपालमन्त्रिणः १२ यात्राशकुनकथा ॥३०३॥

[304] अथ शत्रुञ्जयतीर्थप्रभावे शूरकथा।

कलाणकपुरे मदनभूपते पत्नी प्रेमवती पुत्रः शूरः स च उत्कटः। एकदा राजा पुरोद्याने गतः। तत्रैका श्वेताम्बरधरा नारी प्राह—भो भूप ! अहं यदि तव पत्नी स्यां तदा तव राज्यं वर्धते। राजा जगौ आगच्छ, पत्नी भव। ततः साऽवग्—त्वं गृहे गच्छ अहं तव पृष्ठौ आगमिष्यामि। ततो राजा गृहे गतः।

इतो कस्माद्वैरिचक्रेणागत्य पुरं वेष्टितं। राजोत्थाय युद्धं कर्तुं लग्नः। ततो महद्बलं वीक्ष्य पुरमध्ये भूपः प्रविष्टो दध्यौ। वैरिसेना तु महती तेन किं करिष्यते ! अहं तया स्त्रिया वाहितः शब्दच्छलात्, तव राज्यं वर्धते वर्धते च। वर्धनं विध्यापनं च कथ्यते। दीपो

× इत्येतद् C सञ्ज्ञकप्रतौ नोपलभ्यते।

वर्ध्यतां दीप क्षय नीयताम् । अतो राज्य गतम् । सा स्त्री दरिद्रिणी यदि साम्प्रतं नश्यते तदा वरम् । जीवन्नरो भद्राणि लभते । एव विमृश्य राजा पत्नी पुत्रयुतः किंचिद्धन लात्वा छन्न रात्रौ पुरान्निर्ययौ । पथि गच्छतो भूपस्य धन भिल्लैर्लुंटितम् । क्रमाद्धनाभावात्परिवारो गत । ततो राजा पत्नीपुत्रयुत पादचारी जातः । पदेपु कण्टका भज्यन्ते । रुधिर निर्गच्छति । क्रमात्तृषा लग्ना । ततो राजा दूर गत्वा पानीयमानीय पत्नीपुत्रौ पायितौ । फलाहार कुर्वाणो राजा पद्मपुरे गतः । तत्र राजान सेवते स्म । किमपि न लभते । ततः काष्ठेन्धनतृणादि वनादानीय विक्रीय च स्वोदर बभार भूप सकुटुम्ब एव तस्याब्दाष्टक गतम् ।

इतोऽन्यदा कयाचिद्देवतया तत्पुण्यप्रेरितयाऽभ्येत्य प्रोक्तम् । गच्छ स्वपुरे । तत्र छन्न स्थेय वैरी अपुत्रको मरिष्यते । तव राज्य भविष्यति । ततस्तेन देव्योक्ते कृते वैरिणि मृते राजा बभूव । मदन क्रमाद्राजा । मदन पुत्राय राज्य वितीर्य परलोकमसाधयत् । स शूरराजा कुससर्गाद्दिनं प्रति [प्रतिदिन] बहून्पशून् हन्ति । सचिवैः प्रोक्त—ईदृशी जीवहिंसा न क्रियते नरकहेतुका । ततो न शूरस्तस्थौ तस्मात्पापात् । ततस्तीर्थध्वम चकार । एव पापपर शूर कुष्ठी जात । अनेकै वैद्यैश्चिकित्सितो रोगो न गत । ततो गङ्गागयादितीर्थेपु स्नानानि चकार । राजा [ज्ञः] तथापि न गुणोऽभूत् । ततोऽतीवजातार्त्ति सचिवान्प्रति प्राह—अह जीवितु न शक्नोमि । काष्ठभक्षणेन देह त्यक्ष्यामीति । ततो मन्त्रिणो जगु । काष्ठभक्षणात्कृतकर्मणो न छुट्यते । ततो यदा राजा काष्ठभक्षणायाचालत्तदा तत्राकस्मात् ज्ञानी समागात् । ततस्त गुरु भूपोऽप्राक्षीत् मम कथ रोगोपशमो भविष्यति । ततो ज्ञानी जगौ । शत्रुञ्जये गम्यते । तत्र चन्द्रकुण्डे स्नानं कृत्वा श्री ऋषभदेवस्य पूजा क्रियते । सप्त षष्टानि, एकमष्टम च । राजादन्या अध स्थितया मृत्तिकयाङ्ग रुक्ष्यते २१ दिनानि यावत्, तदा रोगो याति तव । ततो ज्ञान्युक्ते कृते राज्ञो रोगो गतः । ततो राजा महान्त तत्र प्रासाद कारयामास । तत्र ऋषभस्य प्रतिमामस्थापयत् । श्री शत्रुञ्जये यात्रा विस्तराच्चकार । ततः शूरः स्व सुत राज्ये न्यस्य शत्रुञ्जये गत्वा तपस्या लात्वा सर्वकर्मक्षयान्मुक्तिं ययौ ।

इति शत्रुञ्जयतीर्थप्रभावे शूरकथा ॥ ३०४ ॥

[305] अथ भाग्ये चन्द्रकथा ।

चन्द्रपुरे चन्द्रो वणिग् दुःस्थोन्यदा नदीतटे गत । तत्राकस्मान्नदीतटं पपात । तत्र निधि प्राप । ततोऽन्यदा भूपपार्श्वे भूमिं मार्गयित्वा आवास कारयितु चन्द्रो लग्न । तदा तत्र भूमि खनयतस्तस्य कोटिमितं धन निर्गत । तद्राज्ञो दर्शित चन्द्रेण । राजाऽवग्—मया तु भूरिय तुभ्य दत्ता । ततोऽधुना तव पुण्याद्धन निर्गत । ततस्त्वमेव गृहाण । ततश्चन्द्र सर्वज्ञप्रासादान् धर्मशालाश्च भूरिश कारयामास सप्तक्षेत्र्या लक्ष्मीं व्ययति स्म । चन्द्रः स्वर्गं गतः क्रमात्सेत्स्यति । इति भाग्ये चन्द्रकथा ॥३०५॥

[306] अथ मेघवातसंवादसम्बन्धः ।

एकदा मेघवातौ मिथो जल्पत स्मेति । मेघोऽवग्—अहमेव लोक जीवयामि वारिदानाद् ।

वायुराचष्टे—त्वया किं स्याद्यद्यहं वर्ये न वामि, तदा तव वृष्ट्योत्पादितं धान्यं विनक्षत्येव, तेनाहमेव जगज्जीवयामि । अहमेव या लोकानां शरीरे तिष्ठामि तावल्लोका जीवन्ति यदाऽहं गतः तदा स मृत एव ।

मेघोऽवग्—मत्कृत्य पश्य । ततोऽवसरेऽवसरे विलोक्यमानस्तथा मेघो ववर्ष यथा लोकानां शस्यमुद्गता कणभवनं यावद्वर्द्धित । इतोऽकस्माद्वातस्तथा वाति स्म यथा सर्व — मेकस्मिन् वर्षे मेघो वृष्टो नैव, तदा लोकैर्धान्यमुप्तमपि न । ततो लोकैरुक्त—भो मेघवातौ ! युवामेकीभूय जगज्जीवयथो नो चेन्मरिष्यति जगत् । ततो वातमेघौ प्रीतिभाजौ तथा चक्रतुः यथा बहु सस्य जातं । लाका अन्ये जीवा अपि यथा सुखिनोऽभूवन् ।

इति मेघवातसंवादसम्बन्धः ॥३०६॥

[307] अथ निःस्वत्वानिःस्वत्वयोर्वीरकथा ।

एकपुरे देवडश्रेष्ठिनो धनवीराह्वौ द्वौ पुत्रौ, धीमती श्रीमत्यह्वे पुत्र्यौ बभूवतु । सर्वं परिणायिता. श्रेष्ठी परलोक ययौ । द्वौ सोदरौ पृथग्जातौ । क्रमादेको धनी अन्यो दुःस्थोऽजनि ।

एकोदरसमुत्पन्ना, एकनक्षत्रजातकाः ।
न भवन्ति समाः शीला, यथा बदरीकण्टकाः ॥१॥

यथा सोदर्यौ मिलनाय यातः तदा वृद्धस्य भ्रातु लक्ष्मीत्वात्सोदर्यौ भक्ति चक्रतुः, लघोस्तु निःस्वस्य न । एकदा लघुर्भ्राता लक्ष्म्यर्थं कस्यचित्सार्थस्य सार्थे विदेशं प्रति चचाल । मार्गे भगिनीपुरं समागात् सर पालौ सार्थः स्थित ।

इतो वीरभगिनी जलाय सरसि समागात्, तया भ्राता जीर्णत्रुटिताम्बरो निःस्वो दृष्टः, तदा भगिनी भ्रातुः संमुखमपि न व्यलोकयन्निःस्वत्वात् । वीरो दध्यौ भगिन्यादिकः सर्वः श्रिय मन्यते, न भ्रातर । ततोऽग्रे चचाल कर्मयोगाद्बह्वीं श्रियमर्जयित्वा पश्चादागच्छन् तस्यैव सरसः पालौ स्थित । भ्रातरमर्जितबहुधनं श्रुत्वा तत्रागत्य भगिनी जगौ—सोदर ! गृहे आगच्छ । ततो वीरो भगिनीगृहे गतः । भगिन्या वर्या रसवती कृता । स्नानादि कारितं वर्यं । भाजनं मण्डितं जेमनायोपवि ः । भगिन्या पक्वान्नादि परिवेषितं यदा तदा वीरो वर्यकुण्डलरत्नमुद्रिकाभरणानि भाजने मुमोच । प्राह च—भो कुण्डलकेयूरमुद्रिकाः ! भक्षयत । एवं पुनः पुनर्जल्पति सोदरे भगिनी प्राह—भ्रातरेवं किं पुनः पुन. जल्प्यते । भ्राता प्राह—भगिनि ! इदं मोदकादि सर्वं कुण्डलकेयूरप्रमृतिविभूषणवस्तुधनानां परिवेषित विद्यते । मम परिवेषित नास्ति किन्तु श्रियाः कुण्डलादिरूपाया । यदाऽहमग्रतश्चलितस्तदा त्वया सन्मुखमपि न वीक्षितं मयि निर्धनत्वादधुना सधनत्वादेवं भक्ति. क्रियते मम, अतोऽहमेवं जल्पन्नस्मि मुद्रिकादीनां पुरः । ततो भगिनी र क्षमयामास । अहं मुग्धा त्वमेव धन्यः । ततो भ्रात्रा

सर्वमाभरणादि भगिन्यै ददौ । ततो जिमित्वा वीरोऽवग्—लोके धनमेव, न भ्रात्रादयः ।

इति निःस्वत्वानिःस्वत्वयोर्वीरकथा ॥२०७॥

[308] अथ यशोदाने याचकसम्बन्धः ।

हेमपुरे एक. क्षत्रियो याचको भूत्वा सोम धनिनं घोटिकादि याचनाय गतो विरुदावलीमिति जगाद—

वैरिकुम्भिकेसरि ! त्वं वैरविजित्वर ! त्वं ।
दानजितार्जुनकर्ण ! त्वं सत्येन युधिष्ठिर ! त्वम् ॥

एतत् श्रुत्वा तेन घोटको दत्तस्तस्मै । इतोऽन्येद्युस्तस्य धनिनः पुरः एकः समागतो जगौ—

"यथाऽन्ये दानं ददते तथा त्वं कथं दत्से त्वं गृहशूरः"

इत्यादि श्रुत्वा तस्मै गालिं ददौ ।

इति यशोदाने याचकसम्बन्धः ॥२०८॥

[309] अथ जिनप्रभसूरिभिः पीरोजसुरत्राणः प्रतिबोधित इति सम्बन्धः ।

ढिल्यां श्रीविजयसिंहसूरय आगताः। श्राद्धा धर्मं श्रुत्वा प्रोचुः। गोजनकसुरत्राणो म्लेच्छोऽनेकान् जिनप्रासादान् पातयन् केनापि निषिद्धुं न शक्यते । ततो गुरुभि ध्यातं यदि केपि देव आराध्यते तदा सुरत्राणमनुकूली करोमि तथा यथा प्रासादान् न पातयति ।

इतो धर्मोपदेशावसरे गुरुभिः प्रोक्त प्रासादा कार्यन्ते मुक्तिहेतुत्वात् । श्राद्धैरुक्तं—अग्रेतना पात्यमानाः सन्ति यवनैर्नवीनाः कथ कार्यन्ते ? यदि वः शक्ति स्यात्तदा रक्ष्यन्तां प्रासादाः। गुरुभिः प्रोक्त—यदि ष[षा]ण्मासीं यावत्पद्मावतीध्यान क्रियते तत्र ध्यानं कुर्वतो यस्य साधुभिर्विहृत्यानीतमन्न पद्मिनी परिवेषयति। सा पार्श्वे अहोरात्रौ तिष्ठति । तस्य चेद्ध्यानं निश्चलं भवति मनोऽपि न चलति तदा पद्मावती स्मृता सती सदा चिन्तितं करोति । श्राद्धैरुक्त—यद्विलोकयिष्यते तदऽस्माभिरानेष्यते । ततो गुरुभिर्मानिते पद्मिनी स्त्री आनीता । गुरुभि. [षा]षण्मासीं यावन्निश्चल ध्यानं कृतम् । पद्मावती प्रत्यक्षाऽभूत् यदा तदा गुरवो न जल्पन्ति । तत. पद्मावती प्राह—भगवन् ! कथं न जल्प्यते, प्रसन्नीभूय , ममापराधं क्षमस्व । त्वया यदा ध्यानमारब्ध तदाऽह प्रभो. पार्श्वे समागां परं जल्पितुं न शक्ताऽभूवं कारणात् । गुरु प्राह—किं कारण पद्मावत्याह–श्रीपूज्यपादबलात् ध्यानादह समागता परं स्तोकमायुर्दृष्ट्वा विमर्शे पतिताऽह । गुरुराह–मम कियदायुरस्ति ? पद्मावत्यवग्—षाण्मासीमेव । गुरवो जगुः–आयुर्वर्धते न तथापि तथा कुरु यथा मम ध्यानं सफलं भवति। पद्मावती जगौ—तव शिष्यस्याहं प्रत्यक्षा भविष्यामि । गुरुः प्राह—कोयोग्यो यस्य प्रत्यक्षा भवसि । पद्मा प्राह—गच्छमध्ये

न दृश्यते शिष्यः । गुरुः प्राह—अन्यत्र यो मम पट्टयोग्यः स्यात्तस्य [स्मै] दीयते । पद्माऽग्—

गलिकर्कोटकपुरे जिनदत्तश्रेष्ठिन. सप्त पुत्रा सन्ति । तेषां सप्तमो भूमिगृहे वर्धमानोऽस्ति लघीयान् । गुरवो जगु.–पर स दूरो लघीयान् मुग्धः । पद्माऽवग्—दूरेऽपि स्थित आसन्नो भविष्यति । तत पद्मावत्या गुरव शीघ्र तत्र नीताः । उपदेश. श्रेष्ठिनो दत्त. । श्रेष्ठो जगौ किं कार्यं गुरवो जगुः—य. सप्तम पुत्रस्तवास्ति स दीयतां । श्रेष्ठी जगौ पद्मावत्या जल्पित भवतः सप्तमो मम पट्टे सूरिर्भविष्यति । तत श्रेष्ठिनार्पितः गुरवस्त लात्वा पश्चादागताः स दीक्षितस्तस्य सूरिमन्त्रो[त्रं] ददे । पद्मावत्या स्वा विद्या ददे प्रोक्तं च—यदा तव कार्यं स्यात्तदाऽहं स्मरणीया । जिनप्रभसूरिर्नामाऽजनि । गुरव. स्वर्गं जग्मुः । पद्मावतीसान्निध्याद्यन्मनसि चिन्तयति तत्सिध्यति । क्रमात्सम्पूर्णविद्यावन्तो जाताः ।

एकदा श्रीजिनप्रभसूरयो राजमार्गे पीरोजसुरत्राणप्रधानेन वन्दिताः । तच्च सुरत्राणेन गवाक्षस्थेन दृष्ट । गुरव आकारिताः पृष्ट च भूपेन । भवद्भि किं ज्ञायतेऽतीतानागतादि तदा गुरुभिः प्रोक्त–ज्ञायते किमपि न तथापि किमपि ज्ञायते । ततो राज्ञाऽन्यदा स्वमुद्रिका छन्न चित्रशालायां स्तम्भमध्ये तथा क्षेपिता यथा कोऽपि न जानाति । ततो गुरव पृष्टा—अस्मन्मुद्रिका क्वास्ति ? ततो गुरुणा तृणवृश्चिकं कृत. उक्तं यत्र सुरत्राणमुद्रिकाऽस्ति तत्र गच्छ । मुद्रिकां प्रकटीकुरु । ततो वृश्चिकोऽपरवृश्चिकवच्चलन् स्तम्भे चटित्वा मदनमपसार्य मुद्रिकां प्रकटीचकार । ततोऽवग् राजा चौरं दर्शय । तत· स राजपार्श्वं गत· । ततो राजा चमत्कृत राजा यद्यत्पृच्छति तत्तत्पद्मावत्याः सान्निध्यात्कथयंति । सुरत्राणोऽवग्—मार्गय वाञ्छित । गुरुभिः प्रोक्त–अद्यप्रभृति जिनप्रासादा न पातयितव्या· । ततः सुरत्राणोऽवग्—ये पातितास्ते पातिता अत परं न पातयिष्यन्ते । श्रीजिनप्रभसूरिभिः सुरत्राणः शत्रुञ्जये यात्रां कारित. एवं गुरूणामवदाता बहवोऽभूवन्

इति जिनप्रभसूरिभिः सुरत्राणः प्रतिबोधित इति सम्बन्धः ॥३०९॥

[310] अथ स्ववस्तुस्वभावाकथने वणिग्दृष्टान्तः ।

एको वणिक् क्रयाणकैः शकट भृत्वा पुरं प्रत्यचलन् मार्गे शुल्किको मिलितः । तेन पृष्टं—किमस्ति शकटे ?

वणिक्प्राह—खेरोझेरो । शुल्किनोक्त—लिखितं पुनः पृष्ट किमस्ति ?

तेनोक्त—चलूपेलु ! इति उक्ते बहुशो यदाऽपृच्छन्न तिष्ठति शुल्की तदा स स्पर्धकत्रयं हस्ते मुमोच न पुनर्वस्तुनो नाम जगौ श्रेष्ठी ।

इति स्ववस्तुस्वभावाकथने वणिग्दृष्टान्तः ॥३१०॥

[311] अथ मौढ्यविषये विधवापुत्रसम्बन्धः ।

कस्या अपि विधवायाः पुत्रो व्यवसायं कुर्वन्नेकस्यापि कार्यस्य पारं सन्ध्यायामपि न

याति । कार्याणि बहूनि आरभते न कस्य पारं गृह्णाति । ततो विचाले कार्याणि मुञ्चति । एकदा मात्रोक्तं—पुत्र ! तव पिता यत्कार्यं कर्त्तुमारब्धवान् तस्य पारं नीत्वैवामुञ्चत् । एतन्मातुर्वचनं श्रुत्वा एकदा भाद्रमासमत्तशण्डस्य क्षेत्रे प्रविष्टस्य हक्कयितु धावितः, पुच्छे विलग्नः स शण्डः क्षेत्रमध्ये इतस्ततस्त्वरितं त्वरितं धावति । मातुर्वचः स्मरन् शण्डस्य पुच्छं यदा नामुञ्चत् तदा लोकैरुक्त—मुञ्च शण्डपुच्छं नो चेत् यमसद्मनि यास्यसि । तेषामग्रे प्राह स मम पिता समारब्ध कार्यं कदापि नामुञ्चत् । अहमपि पितृवत्कार्यं कुर्वाणोऽस्मि, एव जल्पन् स मृतः । माता दु खिनी जाता ।

इति मौढ्यविषये विधवापुत्रसम्बन्धः ॥ ३११ ॥

[312] अथ कातरत्वे तम्बोलिककथा ।

एकदा तम्बोलिकगृहे गृहोलिका निरगात् तदा श्रेष्ठः तम्बोलिको बिभ्यन् बहि कर्षयितुं न शशाक । स वधू प्रति प्राह—गच्छ चतु पथे कचन पुरुषं चतुःपथादाकारय । यथा स एता बहि कर्षयति, सा च स्वसुर वचोऽङ्गीकृत्य चतुःपथे गता लज्जया कमपि पुरुषमाकारयितु न शशाक । तत पश्चादागात् । तम्बोलिकोऽवग्—कोऽपि पुरुषो नाकारितः । सा प्राह—भा भा भा भा त्वमपि पुरुषोऽसि । ततस्तेनोक्तं—वधु ! वरं प्रोक्त अहमपि पुरुषोऽस्मि पर कातरत्वात्स्त्रीलक्षणोऽस्मि । ततो वध्वोक्त—भा भा भा भा सत्यं प्रोक्त, एवं जल्पतोस्तद्योर्गृहोलिका गृहाद्बहिर्निर्गता यदा ताभ्यामुक्तं वर जातं । गृहोलिका स्वयमेवात्मनो भाग्याद्गृहाद्बहिर्निर्ययौ । इति कातरत्वे तम्बोलिककथा ॥३१२॥

[313] अथ पापानुबन्धि धर्मानुबन्धि भवतीति विषये कथा ।

कस्मिंश्चिद्देवाकूले धनश्रेष्ठी धर्ममूर्त्तिर्धर्मं करोति, दान दत्ते । अन्यदा श्रेष्ठी चतुःपथे गत तदा तत्र मञ्जिष्ठत्राहिकानि विक्रेतुमानीतानि सन्ति । तदा सप्ताष्ट त्राहिकानि लात्वा व्यवहारिणो गता । त्रीणि त्राहिकानि स्थितानि तेषा कोऽपि लाता न । ततो धनस्तान्यपि लात्वा गृहे समागात् । रात्रौ सुप्तो धन । कोऽप्यागत्य स्वप्नेऽवदत्तस्य यानि त्राहिकानि त्वया गृहीतानि तानि विलोक्यैव विक्रेतव्यानि । तव गृहे कल्पद्रुमा समागताः । ततो जागरितस्तेषु रत्नपञ्चक दृष्ट्वा स धर्ममूर्त्तिस्त्राहिकदातृपार्श्वे गत्वा प्राह—भवद्भिः सत्य प्रोच्यतां । कुत्र गृहीतानि त्राहिकानि । तैरुक्त—स्तेनोपान्ते । ततस्तेन चिन्तितम्—एतद्धन धर्मे एव मया व्ययितव्य ततस्तद्धनं सर्वं परकीयमिति वदन् जिनप्रासादान् कारयामास । ततस्तेन पापानुबन्धि धनं धर्मानुबन्धि कृत ।

इति पापानुबन्धि धर्मानुबन्धि भवतीति विषये कथा ॥३१३॥

[314] अथ स्वकौशल्यदर्शने जिनप्रभसूरिकथा ।

गुरुपार्श्वे अद्य मम शुद्ध आहारो दातव्यः । ततः श्रीगुरुभि. शुद्धाहारेण श्रीजिनप्रभसूरयो

गौरविताः वासके स्थिताः। प्रातः प्रतिलेखनावेलायां प्रतिलेखनां भाणयित्वा सर्वे साधवः प्रश्नक्किकां यतनयोत्तार्य प्रतिलेखनां कर्त्तुमुपविष्टाः, तदा तादृशीं सामाचारीं दृष्ट्वा जिनप्रभसूरयो जगुः। धर्मोऽधुनाऽत्र विजयते। तदा एकस्य यतेर्गुञ्छकादिवस्त्राणि आखुना भक्षितानि। तेन साधुना गुरुणा (भ्य) तानि (दर्शितानि) ततश्चमत्कारार्थं श्रीजिनप्रभसूरिभिः प्रोक्त—शालास्थैरुन्दरै– सर्वैरत्रागम्यम्। ततः क्षणात्सर्वे उन्दरा आगता, संमुखहस्तौ योजयित्वा स्थिता। गुरुभि· प्रोक्तं—यैः साधुशिक्किका भक्षिताः तेऽत्र तिष्ठन्तु अन्ये न तिष्ठन्तु। अद्य-प्रभृति अन्यायो न कार्यः। ततस्तेऽपि सर्वेषां साधूनां पदेषु पतित्वा स्वस्थाने गताः।

इति स्वकौशल्यदर्शने जिनप्रभसूरिकथा ॥३१४॥

[315] अथ भक्त्यभक्तिविषये भ्रातृद्वयकथा।

श्रीपुरात् द्वौ सोदरौ श्रियै निर्गतौ। कस्मिंश्चिन्नगोपान्ते कस्यचित् सिद्धपुरुषस्य पार्श्वे तुम्बकबीजानि प्राप्य तेषां माहात्म्यं पप्रच्छतुः। तेन शुद्धनरेण प्रोक्तं—क्षेत्रं शतवारं कृष्यते बीजानि तत्र पुष्यार्के रोप्यन्ते, तेषां तुम्बकानां फलानि पत्राणि छायायां शुष्यन्ते। ततश्चूर्णं क्रियते। तच्च वह्निना रक्षा क्रियते। ६४ गदीआनकत्रपुमध्ये एकगदीआनकं क्षिप्यते स्वर्णंभवति। ततस्तौ तानि लात्वा गृहे आगतौ वृद्धेन भ्रात्रा शुद्धपुरुषोक्तविधिना भक्तिपूर्वकं शुद्धपुरुषनाम-स्मरणपूर्वकं स्वर्णं कृतं। लघुभ्राता अवहीलनपूर्वं ९९ वारकर्षितक्षेत्रे शुद्धपुरुषोक्तविधिना रूप्यं चकार। बीजानि तु रक्षितवान्, वृद्धभ्राता तु तानि रक्षितबीजानि पुनरुप्त्वा स्वर्णं चक्रे। ततो यावज्जीवं सुखी जातः। लघुभ्राता तु एकवारं रूप्यं कृत्वा तच्च भक्षित्वा दरिद्रो जातो दुःखी च। एवं च गुरूक्तं बहु मन्यते स सुखी स्याद् वृद्धभ्रातृवत्। यस्तु गुरूक्तमवमन्यते स लघुभ्रातृवद् दुःखी भवति। इति भक्त्यभक्तिविषये भ्रातृद्वयकथा ॥३१५॥

[316] अथ साधुशकुने मित्रद्वयकथा।

द्वौ सुहृदौ मार्गे चलितौ। वर्त्मनि साधू मिलितौ। वृद्धेन साधू वन्दितौ। लघुना तु हसितौ साधू। ततोऽग्रे गच्छतोः वृद्धस्य श्रीपुरे अपुत्रमृतभूपस्य राज्यमभूत्। अपरस्य ज्वरश्चटित। चिरं मोघ भुक्त्वा मृतः।

इति साधुशकुने मित्रद्वयकथा ॥ ३१६ ॥

[317] अथ अवहेलनायां भरटककथा।

एकस्मिन् ग्रामे भरडको वसति स्म। इत आसन्नग्रामे भीमकौटुम्बिकेन बहवो लोका जेमनायाकारिता सन्ति। ततः पत्नी भरटकं पतिं प्रति प्राह—त्वं क्षेत्रे गच्छन्नसि। यदि कदाचित्तव जेमनायाकारणमागच्छति तदा क उत्तरो दीयते ?- तेनोक्तं—अस्य पापिनो गृहे को याति। यदि कदाचिदायात्याकारणं तदा प्रोच्यम्। अस्मिन्नासन्नक्षेत्रे भरटकोऽस्ति। एवं

प्रोच्य स क्षेत्रे गतः । इत आकारणं नायात । ततः सन्ध्याया भरटक आगतः । पल्योक्तं— भवत आकारण नायातं । भरटकोऽवग्—तस्य कृपणस्य गृहे को याति ।

इति अवहेलनायां भरटककथा ॥३१७॥

[318] अथ श्रीविक्रमादित्ययात्राप्रबन्धः ।

श्रीसिद्धसेनदिवाकरप्रतिबोधितस्य विक्रमादित्यस्य श्रीशत्रुञ्जयादितीर्थयात्राविस्तरोऽयम्—

श्रीसङ्घे चतुर्दश नृपाः मुकुटवर्धनाः, ७० लक्षा श्राद्धकुटुम्बानाम् । श्रीसिद्धसेनदिवाकरादय ५०० सूरीणां चलनम् । ६९ सौवर्णदेवालयाः । एककोटि १० लक्षनवसहस्रमितानि शकटानाम् । १० लक्षतुरङ्गमा. । षट्सप्ततिशतानि गजानाम् । एव करभादिसंख्या ज्ञेया । तत्र तीर्थोद्धारश्चक्रे ।

राजा क्रमाद्वत्सरावधि लोकमनृणीकृत्वा स्वनाम्ना सवत्सरं प्रावीवृतव । हेमपुरुषद्वयं जातमनेका उपकाराः कृता । इति श्रीविक्रमादित्ययात्राप्रबन्धः ॥३१८॥

[319] अथ सप्तक्षेत्रेषु आभूव्ययप्रबन्धः ।

थिरापद्रे सघवी आभू श्रीश्रीमालज्ञातीय पश्चिममण्डलीकबिरुदं वहन् बभूव । तथाहि—

कमलः श्रेष्ठी स्वां पुत्रीं दातु थिरापद्रे भीमश्रेष्ठिन पुत्राय गतः । शकुनाभावाद्विवाहो नामिलत् । ततो यदा पश्चाद्वलते तावदेकेनोक्तम्—अस्य श्रेष्ठिनो भागिनेयो वर्योऽस्ति । दीयते पुत्री स चाधुना कलहरीं कुर्वाणोऽस्ति यावत्तत्र याति श्रेष्ठी तावदेक पुमान् असौ श्रेष्ठिभागिनेयोऽत्र यावद्विस्तरितोऽस्ति । सर्वेषामप्युच्चोऽस्ति श्रुत्वेति तेन तस्मै पुत्री दत्ता । आभूनाम जात । क्रमान्निधानप्राप्तिराजबहुमानादि वा यस्य यात्रायां ७०० देवालया द्वादशकोटिस्वर्णव्ययः प्रथमयात्रायां कृतः । ३ त्रिकोटिटङ्कै सरस्वतीभाण्डागारे वर्त्तमानसर्वागमप्रतिरेका, सौवर्णाक्षरा द्वितीया सर्ववर्त्तमानग्रन्थप्रतिर्मष्यक्षरमयी । ३६० आत्मसदृशा साधर्मिकाः कृता । सघे ७०० महिषाः पानीयानयनाय । ७०० आचार्यपदानि कारितानि । सूनेतरमाहृतग्रामयोः सारू । आरघाटमयौ प्रासादौ कारितौ । सस्तारकदीक्षावसरे कोटिद्रव्यव्यय. कृत । इति सप्तक्षेत्रेषु आभूप्रबन्धः ॥३१९॥

[320] अथ पेथडप्रबन्धः ।

मण्डपदुर्गे सघपतिपेथडेन प्रथमयात्रायां १ लक्षा टङ्का रूप्यमयाना व्ययश्चक्रे । सघे ७ लक्ष मनुष्याणा देवालया ५२ । मण्डपगढे जैनप्रासादशतत्रयोपरि स्वर्णमया कलशाः कारिता. । श्रीधर्मघोषसूरीणा पेथडसघपतिना प्रवेशमहोत्सवे ७२ सहस्रव्यय कृत । भृगुकच्छे यो

भाण्डागारमलीलिखत् । ८४ प्रासादाः कारिता । श्रीगिरनारमहातीर्थे युगपदेव श्वेताम्बरदिगम्बरः श्रीसंघः प्राप्त. । श्वेताम्बरदिगम्बराणां मिथः तीर्थविवादोऽजनि । सघपतिद्वयस्यापि मध्ये यः इन्द्रमालां परिधास्यति तस्य तीर्थमिदमिति । वृद्धचतुर्जनोक्तौ पेथडसंघपतिना सुवर्णस्यैव ५६२१ धडीप्रमाणस्येन्द्रमाला परिधापन चक्रे । तीर्थं च स्वकीयं कृतं येन धर्मघोषसूरीणां पार्श्वे परिग्रहपरिमाणं पूर्वं गृहीतं टङ्ककद्वयशतप्रमाणाभिग्रहे सति पुरुषभाग्यं निःसीमत्वमिति । श्रीगुरुवचनेन लक्षत्रयप्रमाणद्रव्याभिग्रहो गृहीतः । ततोऽप्यधिकद्रव्यप्राप्तौ देवगुरुयोग्य-मिति नाम दत्त । द्रव्ये तस्य सुतः झांझणदेवः समजनि । तेन श्रीशत्रुञ्जयगिरिनारमहातीर्थ-योरेकैव ध्वजाः पञ्चवर्णा स्वर्णरूप्यपट्टकूलादिमया दत्ता । तेन राजाधिराजस्य सारङ्गदेवस्य जेमनानन्तरं कर्पूरार्पणसमये द्विहस्त योजनप्रभृतिविधानं कारित । एक प्रासादो देवगिरौ कारितस्तत्र अष्टौ कोट्य षण्णवतिलक्षा ८४ सहस्रदोररज्जुषाणानामुपरि चटनार्थं एकलक्षटङ्का-दीपतैले । इति पेथडप्रबन्धः ॥३२०॥

[321] अथ सम्प्रतिप्रबन्धः ।

सम्प्रतिभूपेन सपादकोटिजैनप्रतिमा कारिताः । सपादलक्षजैनप्रासादाः कारित ाः सिन्धुदेशमध्ये मरोटग्रामे ९५ सहस्रप्रतिमाः पित्तलमया अद्यापि सन्ति । ७०० दानशालाना[या] येन स्वकीया वण्ठा साधुसामाचारीं शिक्षयित्वा साधुवेषेण सर्वत्रदेशमध्ये प्रथम प्रेषिताः पश्चात्स-त्यसाधव प्रेपितास्तत्रानार्यदेशे। ३६ सहस्रनवीनाः प्रासादाः । अन्येऽन्यत्र बहवो जीर्णोद्धाराः कारिता. । बहुविस्तरपूर्वं रथयात्रा । इति सम्प्रतिप्रबन्धः ॥३२१॥

[322] अथ कुमारपालप्रबन्धः ।

श्रीपत्तने श्रीकुमारपालेन पितुस्त्रिभुवनपालस्य प्रासादः कारित । ७२ देवकुलिकायुत, २४ प्रतिमा रत्नमया, २४ प्रतिमा पित्तलस्वर्णमयाः, रूप्यमया १४ । १४ भारमया मुख्य-प्रासादे १२५ अङ्गुलप्रमाणारिष्टरत्नमयीप्रतिमा कारिता । तत्र द्रव्यव्ययः ९६ लक्षमाण. । सर्वत्र स्वर्णमयाः कलशा । प्रासादे आम्बडमन्त्रिणा मङ्गलप्रदीपावसरे ३२ लक्षा दीनाराणां याचकेभ्यो दानं दत्त । लक्षमध्ये दानं न यस्य कुमारपा ।

इति कुमारपालप्रबन्धः ॥३२२॥

[323] अथ वस्तुपालदानप्रबन्धः ।

तथा श्रीवस्तुपालेन हेममया लक्षटङ्का आरात्रिकावसरे दत्ता याचकेभ्यः । भोजनावसरे सोमेश्वरेणोक्तमिदं काव्यम्—

इच्छामि द्विसमन्विते सुरगणे कल्पद्रुमैः स्थीयते,
पाताले पवमानभोजनजने प्रन[ण]ष्टो बलिः

नीरागानगमन्मुनीन् सुरगवी चिन्तामणिः क्वाप्यगात्,
तस्मादर्थिकदर्थनां विषहतां श्रीवस्तुपालः क्षितौ ॥१॥

काव्यं श्रुत्वा लक्षं ददौ ॥३२३॥

[324] अथ प्रासादादिपुण्यकरणे हरिषेणचक्रिप्रबन्धः ।

एकदा हरिषेणचक्री धर्मघोषगुरोः पार्श्वे वन्दनार्थे गत, गुरुभिर्धर्मदेशना कृता । तथाहि—

जिणभवणबिंबपुत्थयसंघसरूवाइं सत्तखित्तेसु ।
ववीअं धणं पि जायइ, सिवफल इम हो अणंतगुणं ॥१॥

सर्वज्ञो हृदि वाचि तद्गुणगणः कायेन देशव्रतं,
धर्मे तत्परतापरः परिणतो बोधो बुधश्लाघ्यता ।
प्रीतिः साधुषु बन्धुता बुधजने जैने रतिः शासने,
यस्यैवं भवभेदको गुणगणः स श्रावकः पुण्यभाक् ॥२॥

श्रुत्वैतदुपदेशं चक्री प्राह—मया सर्वा भूर्जिनप्रासादमण्डिता कारयितव्या । ततो गृहमेत्य स्वसचिवादिप्रधानान् प्रति प्राह—कोशाद् द्रव्यं गृह्णन्तु ग्रामे ग्रामे पुरे पुरे सर्वत्र प्रासादान् कारयत यूय । विलम्बो न कार्यः । धर्मस्य त्वरिता गतिर्विलोक्यते । यत—

अवाप्य धर्मावसरं विवेकी, कुर्याद्विलम्बं न हि विस्तराय ।
ततो जिनस्तक्षशिलाधिपेन, रात्रिं व्यतिक्रम्य पुनर्न मेने ॥१॥

चक्रिण आदेश प्राप्य मुदिता मन्त्रिणो ग्रामे ग्रामे पुरे पुरे प्रासादान् कारयामास । राजा तत्र स्वय गत्वा गुरूनाकार्य प्रतिष्ठादिकार्यं सर्वं विस्तरपूर्वं कारयामास । एवंविधं पुण्यकृत्य कृत्वा प्रान्ते त्यक्तराज्यः चारित्रं केवलज्ञानं प्राप्य मुक्तिं ययौ ।

इति प्रासादिपुण्यकरणे हरिषेणचक्रिप्रबन्धः ॥३२४॥

[325] अथ रावणजिनप्रासादकरणम् ।

एकदा रावणो व्योम्नि गच्छन् पुरे पुरे तीर्थे तीर्थे प्रासादपंक्तिं वीक्ष्य पप्रच्छ । केनेयं मही जिनप्रासादसुन्दरा कारिता । मन्त्रिणोक्तं—सम्प्रतिचक्रिणा । तत चक्रिणो धर्मनि श्रुत्वा रावणोऽपि बहून्प्रासादानर्हतां कारयामास ।

इति रावणजिनप्रासादकरणम् ॥३२५॥

[326] अथ विमलप्रबन्धः ।

प्राग्वाट्वंशे श्रीविमलो दण्डनायकः। स चिरमर्बुदाधिपत्यमनुभवन् श्रीगूर्जरेश्वरस्य प्रशस्तेः विमलमतेर्वाञ्छाद्वयमभूत् । पुत्रप्रासादवाञ्छा । तत्सिद्धौ श्रीअम्बादेवी प्रत्यक्षीभूय प्राह-भो वत्स ! वाञ्छा-स्वरूपं ब्रूहि ।

विमलोऽवग्—पुत्रप्रासादयोर्वाञ्छाऽस्ति ।

देव्योक्त—द्वे प्राप्ती न स्तस्तव, एकां ब्रूहि ।

पुत्रवाञ्छां संसारविवर्द्धिनीमिति मत्त्वा विमलोऽवग्—हे देवि ! अम्बे ! तवोक्तं भवतु ।

देव्यवग्—प्रतीक्षस्व क्षणमर्बुदा प्रष्टव्या । श्रीमातुरनुमतिं गृहणामि । तावद्विमलो ध्याने स्थितः। श्रीमातुःसंमतिं लात्वा अम्बाऽवग्—हे वत्स ! यत्र पुष्पस्रग्रुचिरा गूंहली द्रक्ष्यसि तत्र प्रासादं कारय । तथा दृष्ट्वा प्रासादमस्थापयत् । अष्टकोटिसुद्रव्यव्ययः तत्र प्रासादे, पित्तलमयी प्रतिमा महती स्थापिता संवत् १०८८ । इति विमलप्रबन्धः ॥३२६॥

[327] अथ यात्रोपरि पुनडसंघभक्त्युपरि वस्तुपालमन्त्रिकथा ।

नागपुरे सा० देल्हासुत सा० पूनडश्रीमोजदीनसुरत्राणबीबीप्रतिपन्नबन्धु अश्वपति-गजपति नरपतिमान्योऽभूत्। सोऽन्यदा गुरोः पार्श्वे गतस्तत्रगुरुर्देशना कृता । लक्ष्मीर्धर्मस्थानेषु स्थाप्यते तदा शाश्वती भवति । इहलोकपरलोके च जीवः सुखी भवति । विशेषतो यात्रापुण्यं महत्। यतः-

आरम्भाणां निवृत्तिर्द्रविणसफलता संघवात्सल्यमुच्चै-
नैर्मल्यं दर्शनस्य प्रणयिजनहितं जीर्णचैत्यादिकृत्यम् ।
तीर्थोन्नत्यं प्रभावो जिनवचनकृतिस्तीर्थकृत्कर्मकत्वं,
सिद्धेरासन्नभावः सुरनरपदवी तीर्थयात्राफलानि ॥१॥

श्रुत्वैतत्तेनाद्या यात्रा १२७३ वर्षे बिम्बेरपुरात्कृता । द्वितीया यात्रा सुरत्राणदेशात् १२८६ नागपुरात्कर्त्तुमारब्धा । १८०० शकटानि महान्ति १००० सेजवाला । ४०० वाहिन्यः । ५०० घोटकाः । भूरिशो देवालयाः । भूरिशो महाधराः शुभे मुहूर्त्ते ततश्चलन् स्थाने स्थाने उत्सवं कुर्वन् माण्डलिकग्रामासन्नो यावदायातस्तावत्संमुखमागत्य तेजःपालेन धवलक्कमानीतः श्रीसंघ। श्रीवस्तुपालसमुखमागात् । सघधूलीपवनानुकूल्यतो यां दिशं याति तत्र तत्र गच्छति । संघजनैरभाणि—मन्त्रीश ! इतो रज, इत. पादाववधार्यताम् । मन्त्री प्राह—इदं रज पुण्यै स्प्रष्टं लभ्यते । अस्मिन्स्पृष्टे पापरजो दूरे नश्यति । यतः—

श्रीतीर्थपान्थरजसा विरजीभवन्ति, तीर्थेषु बंभ्रमणतो न भवे भ्रमन्ति ।
द्रव्यव्ययादिह नराः स्थिरसम्पदः स्युः, पूज्या भवन्ति जगदीशमथार्चयन्तः ॥२॥

पूनडसंघपतिमन्त्रिणोर्गाढालिङ्गनादिप्रतिपत्तिः परस्परमभूत् । सरस्तीरे स्थित. सघ, रात्रौ मन्त्रिणा कथापित पूनडाय, प्रात श्रीसघेन सह भवताऽस्मदावासे भोक्तव्य । तथेत्यादृतम् । भोजनमण्डपे निष्पन्ना सर्वप्रकारा रसवती । प्रातरायान्ति नागपुरीया भोजनाय । मन्त्री सर्वेषां पृथक्पृथक्पादप्रक्षालन तिलक च स्वयमेव करोति । एवं द्विप्रहरी लग्ना । मन्त्री तथैवाऽखिन्न तदा तेज पालेन विज्ञप्तमन्यैरपि तथा देव ! भक्ति. कारयिष्ये । यूयं भुङ्ग्ध्वम् । तापो भावी। मन्त्री प्राह—मैव वद । पुण्यैरयमवसरो लभ्यते । गुरुभि कथापित—

जेण कुल आयत्तं, तं पुरिस आयरेण रक्खिज्ज ।
नहि तुम्बंमि विणट्ठे, अरया साहारया हुंति ॥३॥

मन्त्रिणेदं काव्य गुरुभ्यः प्रहितम्—

अद्य मे फलवती पितुराशा, मातुराशिशिखाङ्कुरिताऽद्य ।
यद्युगादिजिनयात्रिकलोकं, प्रीणयाम्यहमशेषमखिन्नः ॥४॥

भोजयित्वा परिधाप्य च रक्षितः श्रीसघः ।

इति यात्रोपरि पूनडसंघभक्त्युपरि वस्तुपालमन्त्रिकथा ॥३२७॥

[328] अथ साधर्मिकवात्सल्ये कथा ।

श्रीकुमारपालो राज्य चकार । अन्येद्यु श्रीहेमसूरिपार्श्वे गत उपदेशं शुश्राव । तथाहि—

दानं वित्ताद् ऋतं वाचः, कीर्तिधर्मौ तथायुषः ।
परोपकरणं काया—दसारात्सारमुद्धरेत् ॥ १ ॥

साधर्मिकभक्त्या श्राद्ध उत्तम पद प्राप्नोति—

पुरा भरतभूपेन, युगादिजिनसूनुना ।
साधर्मिकाय विहिता, भक्तिरन्नादिदानतः ॥२॥

अत्र ब्राह्मणोत्पत्तिर्वाच्या । श्रुत्वैतत्कुमारपाल साधर्मिकभक्ति कुर्वाण एकसाधर्मिक शालाया चिन्ताकारकं चकार । स च मुखवस्त्रिकामर्प्पयति भूपाय गृह्णाति च । तस्य राज्ञा द्वादश ग्रामाणि दत्तानि । गङ्गाजलतुरङ्गमपञ्चशती दत्ता ।

एकदा साधर्मिकस्य एव समृद्धिर्दृष्ट्वा श्रीपार्श्वजिनप्रासादाग्रे केनचिच्चारणेनोक्तम्—

रुडउं पारसनाथ जइ एए हवउ जाइ सिइ सहिसि ।
सेवउ सत्थ कुमरनरिंदहवाहिरिउं ॥ ३ ॥

श्रीकुमारपालेन भूरय. साधर्म्मिका लक्ष्मीवन्तः कृता. ।

इति साधर्मिकवात्सल्ये कथा ॥ ३२८ ॥

[329] अथ संघभक्तौ रत्नकथा ।

श्रीवस्तुपालो गुरूणामुपदेश श्रुत्वा बहुसघयुत १४४ देवालयसहितो वढवाणग्रामे प्राप्तलक्षमनुष्यो. तत्र पुरस्थेन श्रीरत्नेन संघस्य भक्तिः कृता । अत्रावसरे एकेन कविना काव्यमुक्तमिदम्-

पूर्वं श्रीऋषभान्वयी व्यरचयन् श्रीदण्डवीर्यो नृपः,
श्रीमांस्तीर्थपथाध्वगार्हततते र्वात्सल्यमुच्चैस्तराम् ।
कुर्वन् सप्तमनुष्यलक्षकलितः श्रीसंघभक्तिं परां,
श्रीरत्नः वान् त्वदीययशसः श्रेष्ठी पुनर्यौवनम् ॥१॥

वस्तुपालाग्रहात् श्रेष्ठ्यपि सघसार्थे चलित. । एकदा मध्यरात्रौ दक्षिणावर्त्तशंखाधिष्ठायकदेवेन कथितं अह श्रीवस्तुपालमन्त्रिपार्श्वे यास्यामि । तत. कियत्कालमभ्यर्च्य स्थापित । श्रीशत्रुंजयादितीर्थे यात्रा कृत्वा श्रीवस्तुपालसघो वढवाणे प्राप्त । रत्नश्रेष्ठिना भोजनार्थं निमन्त्रितः पर न तिष्ठति बहुकालविलम्बात् । बहाग्रहाद्दिनाष्टक स्थापित । पुनः शखेनोक्तम्--

सर्वगृहे भोजनसामग्री मत्प्रभावात्कार्यता । सकलोऽपि सघोऽन्नपानादिना सन्मानितः । अष्टौ दिनानि श्रीसंघ सन्मान्य रत्नश्रेष्ठी सुखी जातः । ततो रत्नो गुरूणां सघार्चां कृत्वा वस्तुपालमन्त्रिण स्वगृहे आकार्य गोमयेन गूंहलिका कृत्वा तदुपरि आसने उपवेश्य छवाया शखं मुक्त्वाऽर्प्पयामास । ततः शत्रुञ्जये यात्रा कृता रत्नेनापि मन्त्रिणा समम् ।

इति श्रीसंघभक्तौ रत्नकथा ॥३२९॥

[330] अथ निर्लोभे कुमारपालकथा ।

श्रीपत्तने कुमारपालोऽन्यदा सामायिकं लात्वा नमस्कार श्रीयोग ादिगणनपरोऽभूत् । तत्र चत्वारो आम्बड-बाहड-चाहडसोलाद्या' समायाता । राज्ञा पृष्टास्ते किमर्थमागमनम् ' ते प्रोचुः कुबेरदत्तो वाहणे सदा चटति निष्पुत्रोऽद्य विपन्नः । सोऽपि श्रूयमाणोऽस्ति तेन गृहलक्ष्मीर्विलोक्य गृह्यतां । राजा प्राह-पौषधशालायामिद वक्तु न युज्यते सामायिकभङ्गात् । यत -"सामाइअंमि अ कए" तत. सामायिक संपूर्य-पारयित्वा च गृहे गतः । तस्यावासो दृष्टः परमरम्य. गृहमध्ये । देवालये चन्द्रकान्तरत्नमयीप्रतिमा रत्नमयालयः भूमिपीठं रत्नमयं तत्र परिग्रहपरिमाणं तस्य दृष्टम् । एकसहस्र हस्तिन' । ५० सहस्रतुरङ्गमाः । ८० सहस्रगोकुलशतमूढकैरेका खारी । एवंविधा खारी वर्षे द्विसहस्रा विलोक्यन्ते । रत्नहीरातुलापलशतं सहस्र च । ५२ वाहण । ५०० हल । ५०० शकट । ६ कोडिसुवर्णं । ८ कोडिरूप्य । १४ कोडिनवोना व्ययार्थं वाहने

समागता सन्ति । एतत्सर्वं दृष्ट्वा राज्ञा चेतसि चिन्तित । योऽस्य लक्ष्मीं ग्रहीष्यति स तस्य पुत्रो भविष्यति । एतद्विचार्य किमपि न गृहीत । ततः ७२ लक्ष रुदतीपट्ट स्फेटित उक्तं । चातः पर नाऽपुत्रिकायाः स्त्रियाः श्रीभूपेन ग्राह्या । ततः कविनोक्त—

निःशूकैः शकित न यन्नृपतिभिस्त्यक्तुं क्वचित्प्रागुनैः[प्रागुणैः]
पत्न्याः क्षार इव क्षितेः पतिमृतो यस्यापहारः किल ।
आपाथोधि कुमारपालनृपतिर्देवो रुदत्या धनं,
बिभ्राणः मदयं प्रजासुहृदयं मुञ्चत्ययं तत् स्वयम् ॥१॥

राजा सुखी जात । इति निर्लोभे कुमारपालकथा ॥३३०॥

[331] अथ पात्रदाने सालवाहनभूपसम्बन्धः ।

प्रतिष्ठानपुरे सालवाहनो राजा । एकदा गोलानदीतीरे राज्ञा स्नान कृतं, तदा मीनो जलान्निर्गत्य हास्यं कुर्वन् दृष्ट । राज्ञा हास्यकारणं मीनपार्श्वे पृष्टम् । मीन उवाच पूर्वभवे त्व काष्ठवाहकोऽभूत् ।

एकदा त्वया सातूआ मासक्षपणपारणे साधो[धवे]र्दत्ता तेन पुण्येन राजा जात. । अतस्त्वं कस्माद्दान न ददासि । राज्ञा पृष्ट—दानदापनविषये तव का चिन्ता ? मीनेनोक्त—अह पूर्वभवे भारवाहकस्तव मित्रमभूवम् । परं मम दानेच्छा न पर त्वद्दत्तदानानुमोदनात् व्यन्तरो जातः अत्रासन्नवटे । अतो दान देय त्वया । राज्ञा प्रोक्त—तादृशी लक्ष्मीर्नास्ति, सरस्वत्या रोधने शब्दवेधी रस पारदो लब्ध । तस्य प्रभावेण धातवः सर्वा अपि स्वर्णमया भवन्ति । ततो राजा दानानुमोदनात्सुर जात श्रुत्वा मुमुदे पूर्वभवपुण्यादेवा अपि वशीभवन्ति । यतः—

"धम्मो मंगल० १ पंचसु जिणस० २"

ततो राज्ञा तेन स्वर्णसिद्धिरसेन प्राप्तेन स्वर्णं कारकारं दीनदुस्थादिभ्यो बहुदानं ददानोऽन्यदा महत्संघयुतः श्रीशत्रुञ्जयगिरिनाथतीर्थयोर्यात्रां चक्रे । तत श्रीशत्रुञ्जये उद्धार चकार च । ततश्चिर सुखी जातः ।

इति पात्रदाने सालवाहनभूपसम्बन्धः ॥ ३३१ ॥

[332] अथ उदारत्वे विक्रमार्कभूपसम्बन्धः ।

उज्जयिन्या विक्रमादित्यो राजा राज्यं करोति, दानं दत्ते स्म बहु । एकदा कुतश्चिद्-ग्रामात् कोऽपि द्विज स्वक्षेत्रलब्धरत्न राज्ञ समीपे मूल्यार्थमागात् । अमूल्यत्वात्केनापि मूल्यं न कृत । ततोऽग्निवेतालसान्निध्यात्त रत्न गृहीत्वा राजा पाताले बलिपार्श्वे गत. । तत्र द्वारपालो विष्णुरस्ति । विष्णुना तमागत दृष्ट्वा बलिपार्श्वे गत्वोक्त—राजाऽऽगतोऽस्ति । बलि-

नोक्तं—किं युधिष्ठिर ? विष्णुनोक्तं—मण्डलीक । बलिनोक्तं—किं रावण ? पुनर्गतो विष्णुर्बलिपार्श्वे गत्वा प्राह—मण्डलीको न कुमार आगतोऽस्ति । बलिनोक्तं—किं स्वामिकार्त्तिकेयः १ लक्ष्मणः २ बलिपुत्रोऽङ्गदः ३ पुण्यधवल ४। विष्णुनोक्तं—वाठ आगतोऽस्ति तर्हि हनुमान् सोऽपि न पुनर्गत्वा प्रोक्तं—तलारः समागतोऽस्ति तर्हि किं विक्रमादित्यः समागतोऽस्ति ? ततो मिलित बलिनोक्त राज्ञा बले रत्न दर्शितं बलिनोक्तं—राजा युधिष्ठिर एव कथ्यते नापरः येन सदा ८८ सहस्रऋषीणा दिने दिने अमूल्यरत्नानि अष्टाशीतिसहस्राणि ब्राह्मणानां दिने दिने भुञ्जन्ते हेमपात्रेषु युधिष्ठिरनिकेतने ।१। अतएव स राजा सत्यः । मण्डलीको रावणं विनाऽपरः कथ कुमारस्वरूप प्रोक्तम् । वांठोऽपि न तादृक्कार्यकरणाभावात् । अतस्त्वं तलारसमः ग्रामपुरादिरक्षाकारकत्वात् गर्वोत्ताले अमूल्यरत्नमेक एवास्ति अपराणि अमरै रक्षितानि अस्य मूल्य नास्ति । एव श्रुत्वा राजोऽज्जयिन्यामागतः । राज्ञा दशकोटिः स्वर्णस्य दत्ता । रत्न विनापि द्विजस्य, ततो राजा सुखी जातः ।

उदारत्वे विक्रमार्कभूपसम्बन्धः ॥ ३३२ ॥

[333] अथ यात्रोपरि कुमारपालभूपकथा ।

श्रीपत्तनात् कुमारपालो यात्रार्थी शत्रुञ्जयं प्रति चलितः । संघे ७२ सामन्तदेवालयाः । एको राज्ञ, चत्वार —आम्बड-वाहड-चाहड-सोलादिमन्त्रिणामेवं ७७-९९ स्वर्णलक्ष स्वामी व्यय ठाडाकप्रमुखाष्टादशशत व्यवहारिणां चाष्टादशशतदेवालयादि श्रीसंघसहितः चलितः । स्थाने स्थाने महोत्सवं न वलभ्यां संघो गतः । शत्रुञ्जय दृष्ट्वा लपनश्रीलाहनादिस्नात्रमहोत्सवगीतगानादि चकार । श्रीशत्रुञ्जये श्रीऋषभदर्शनेन च लक्षस्वर्णैर्नवाङ्गपूजा तदनु परिधापनावसरे केनचित्पुरुषमात्रेण सपादकोटिरत्नं मुक्त्वा प्रथममाल गृहीता । एवं गिरिनारेऽपि अंगपूजादि ज्ञेय । तथा पत्तने श्रीचन्द्रप्रभप्रासादेऽपि नवांगपूजा नवलक्षस्वर्णैः कृता । त्रिषु स्थानेषु सपाद २ कोटिरत्नेन मालापरिधापनं कृत दृष्ट्वा चमत्कृतो भूप. पृष्टः स पुरुष. । तेनोक्तं—हे राजन् ! मधुमतीवास्तव्यो मण्डांसाकः पिताऽभूद्हारुमाताऽभूत्, तयोरहं पुत्रो नाम्ना जगडुक । मम पिता ११ वार समुद्रे चलित क्षेमेण यात. समुद्रदेवेन मम पितु सपादकोटिमूल्य रत्नपञ्चकं ददौ, तेन मया तव सघावसरं प्राप्य प्रमोदान्मालापरिधापनं कृत । ततश्चमत्कृतेन राज्ञा शेषरत्नद्वयं मूल्येन गृहीत्वा पञ्चस्थानेषु हारेषु पदकस्थाने स्थापितमेकस्तु श्रीशत्रुञ्जये, द्वितीय रैवतगिरौ, तृतीयं श्रीचन्द्रप्रभप्रासादे देवपत्तने, चतुर्थो हारोभृगुकच्छे, पञ्चम पत्तने त्रिभुवनपालप्रासादे च, एवंविधा यात्रा कृत्वा राजा सुखी जातः ।

इति यात्रोपरि कुमारपालभूपकथा ॥३३३॥

[334] अथ पूजायां कपर्दिकश्राद्धकथा ।

एकदा पत्तने श्रीहेमसूरिपार्श्वे कपर्दी श्राद्धो वन्दितुमाययौ । तैः सूरिभिः समाधिस्वरूपं पृष्ट, तेनोक्तं—दारिद्रत्वमेवास्ति मम गृहे । श्रीगुरवः प्रोचुः भक्तामरस्य दशमं काव्यं-'नात्यद्भुत'

मिति गणनीय षण्मासान् यावत्, मन्त्रश्च विधिना, तस्य गुरूक्तविधिना जपतो रात्रावेकदा चक्रेश्वरी देवी प्रसन्ना धव । स्रीवेषभूता जाता । तयोक्त षोडश—षोडश मयणमया [मृण्मया] ३२ कुम्भा गृहमध्ये स्थाप्या, अहं तु कामधेनूरूपेण तत्रागता त्वया दुह्या, सर्वे कुम्भा. स्वर्णमया भविष्यन्ति । तत प्रतिप्रभातं गोदोहनात् ३१ घटा भृता' द्वात्रिंशत्तमे दिने देव्या पदयोः पतित्वा श्रेष्ठी प्राह—तव प्रसादादेते घटाः एकत्रिंशत्स्वर्णमया बभूवुः, द्वात्रिंशत्तमं कुम्भ तथा कुरु यथाऽहं सपरिवारं भूप भोजयामि । देव्योक्तमेव भवतु । तत स मुदितः श्रेष्ठी प्रातः कुमारपालभूप निमन्त्रयामास, प्रहरे याते राजा चरमुखेन भोजनसामग्रीं न पश्यति, अहो ह्यस्य मया सह मण्डित । एव सति स आकारणाय समागात', कामधेनूरूपेण देवी समागता । द्वात्रिंशत्तमे कुम्भे भोजनसकलसामग्री जाता । हृष्टेन राज्ञा चमत्कृतेन पृष्टः स, ज्ञात श्रीयुगादिजिनपूजाध्यानमाहात्म्य, स सुखी पुण्यवान् ध्यानप्रभावाज्जात' ।

इति पूजायां कपर्दिकश्राद्धकथा ॥३३४॥

[335] अथ तीर्थपूजायां वस्तुपालकथा ।

एकदा वस्तुपालमन्त्री शत्रुञ्जये विस्तरेण स्नात्रमहोत्सव कृत्वा यावदुत्तरति द्वितीयप्रपायामगात् तावन्मधुमतीपुरात् बहवो मालिका पुष्पकरण्डकान् भृत्वा त्वरितं तत्र प्रपायामाययु । सघमुत्तरन्त वीक्ष्य खिन्नाः तान् तादृशान्वीक्ष्य वस्तुपाल. प्राह—खेदो न कार्य, अहं तथा कुर्वे यथा भवतां बहु द्रव्यमुत्पत्स्यते, रह स्थापितास्ते तत्र, क्रमादन्ये व्यवहारिण आगता । मन्त्री प्राह—भवद्भिर्देवा सर्वत्र पूजिताः सन्ति न वा? किमपि विस्मृतं नास्ति इति पृष्टे ते इभ्याः प्राहु—युष्माक प्रसादाद्देवा नता पूजिताः । मन्त्री प्राह—इद तीर्थमेव स्पृष्ट शिवाय भवति, इद तीर्थमेव पूज्य, तीर्थपूजा न कृता इभ्या प्रोचुः—पुष्पाणि न सन्ति । मन्त्री प्राह—पुष्पाणि आयास्यन्ति ततस्ते मालिका. प्रकटीकृता । श्रीवस्तुपालेन ससंघेन पुष्पाणि लात्वा सर्वत्र तीर्थभूपूजा कृता, यतः—

पञ्चाशद्योजने मुक्ति—र्दर्शनात्स्पर्शनादपि ।
ये जातास्ते गमिष्यन्ति, कालेनापि परां गतिम् ॥१॥
तीर्थनामुत्तमं तीर्थं, नगानामुत्तमो नगः ।
क्षेत्राणामुत्तमं क्षेत्रं, सिद्धाद्रिः श्रीजिनैर्मतः ॥२॥

ततो बहु द्रव्यमुपार्ज्य स्वस्थाने गता मालिका । मन्त्री ससघः पुण्यद्रविण भूरि उपार्ज्य स्वपुरमगात् । इति तीर्थपूजाया वस्तुपालकथा ॥३३५॥

[336] अथ बप्पभट्टि प्रबोधितद्विजकथा

एकस्मिन् पुरे एक शिवभक्तो विद्वान् विप्रोऽनशन गृहीत्वा शिवप्रासादे उपविष्टस्तस्मिन् समये तत्र बप्पभट्टिसूरय आगताः । श्राद्धैरुक्त—भवद्भि सर्वं जगत् प्रतिबोध्यते यदि तदा

एषोऽपि द्विज कथं न प्रतिबोध्यते ? ततः सूरिभिस्तत्र गत्वा शिवस्तुतिः शृङ्गाररौद्रमयी प्रारब्धा । तथाहि—

एकं ध्याननिमीलितं मुकुलितं चक्षुर्द्वितीयं पुनः,
पार्वत्या विपुले नितम्बफलके शृङ्गारभारालसम् ।
अन्यत्क्रूरविकृष्टचापमदनक्रोधानलोद्दीपितं,
शम्भोर्भिन्नरसं समाधिसमये नेत्रत्रयं पातु वः ॥१॥

कृष्णात्प्रार्थय मेदिनीं धनपतेर्बीजं बलेर्लाङ्गलं,
प्रेतेशान्महिषो वृषश्च भवतः फालं त्रिशूलादपि ।
शक्ताहं तव भक्तदानकरणे स्कन्दोऽपि गोरक्षणे,
दग्धाऽहं तव भिक्षया कुरु कृषिं गौर्या वचः पातु वः ॥२॥

द्विजेनोक्तमधुनाऽनवसरे मम पुरोऽनशनंगृहीतस्य रागमयी स्तुति. कस्माद्विधीयते ? गुरुणोक्त—"यादृशी सभा तादृशं वाच्य, यादृशो देवस्तादृशी पूजास्तुतिरिति" भवानेवानवसरज्ञोऽनशन लात्वा सरागदेवपार्श्वे उपविष्टस्तत., प्रबुद्धो जिनेन्द्रगृहं गत्वा । शान्तो वेषः शमसुखफल० १ ।

प्रशमरसनिमग्नं दृष्टियुग्मं प्रसन्नं, वदनकमलमङ्कः कामिनीसङ्गशून्यः ।
करयुगमपि यत्ते शस्त्रसम्बन्धवन्ध्यं, तदसि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव ॥३॥

इत्यादि स्तुति पपाठ स द्विजः, तदनन्तरं जिनभवनोपविष्टः क्षीणायुः स्वर्गं गतः । अतः स्तुत्यार्हो जिन एव, नान्यः । इति वप्पभट्टिप्रबोधितद्विजकथा ॥३३६॥

[337] अथ तीर्थभक्तिश्रुतोक्तिकाव्ये वस्तुपालमन्त्रिदानसम्बन्धः ।

अन्यदा श्रीवस्तुपालः ससघः श्रीशत्रुञ्जये देवान्नत्वाऽग्रतश्चलन् देवकपत्तने ययौ । श्रीसघं सदन्नपानतः सन्मान्य सघपूजायामनेके आचार्या उपविष्टाः सन्ति, गुरवः परिधापिता. । अत्रान्तरे सोमेश्वरपण्डितेनेदं काव्यमुक्त वस्तुपालं प्रति—

लक्ष्मि प्रेयसि ! केयमास्यशितता वैकुण्ठ ! कुण्ठोऽसि किं ?,
नो जानासि पितुर्विनाशमसमं संघोत्थितैः पांसुभिः ।
मा भै[पीः]र्भीरुगभीर एष भविनाम्भोधिश्चिरं नन्दतात्,
संघेशो ललितापतिर्जिनपतेः स्नात्राम्बुकुल्यां सृजन् ॥ १ ॥

एवं सोमेश्वरः काव्यपद्धत्यार्थमाह—अहमद्य विष्णुसद्मनि गतस्तत्र विष्णुश्रियो मिथ एव

जल्पन्तावभूतां, प्रथम कृष्णेन श्रीः पृष्टा, किं भवत्या मुखे कालिमा ?। श्री प्राह—हे वैकुण्ठ ! ण्ठोऽसि मूर्खोऽसि न वेत्सि मम पितुर्विनाशो भविष्यति सघस्य वस्तुपालस्य रजोभि'। ततो वेष्णुः प्राह—"मा भैरित्यादि०"। ततो वस्तुपालेन तस्य लक्षद्रव्यं दत्तम्।

इति तीर्थभक्तिश्रुतोक्तिकाव्ये वस्तुपालमन्त्रिदानसम्बन्धः ॥३३७॥

[338] अथ यात्रायामामप्रबन्धः ।

गोपालनगराच्छ्रीशत्रुञ्जयमाहात्म्यं बप्पभट्टिगुरुमुखात् श्रुत्वा बहुसघसमेत आमराजः तीर्थनतिं यावत् त्यक्ताहारश्चलितः। मार्गे स्थाने स्थाने उत्सव कुर्वन् गूर्जरायामागात्। शरीर क्लाम्यति स्म भूपस्य। मन्त्रिणो वदन्ति—पारण क्रियतां, गुर्वादिभिर्बहूक्तोऽपि पारण न करोति। राज्ञ साहस दृष्ट्वा शासनदेवता रात्रौ राज्ञ' मन्त्रिणां सर्वसघस्य पुरः प्रकटीभूयेद प्राह-भूमिलाभविभूषणाया पुरि जीर्णां श्रीयुगादिप्रतिमां परिसरभूमिमध्यस्थां कथयामास। अथवा श्रीशत्रुञ्जयादानीतेति प्रघोष । ततः प्रातर्देवीवचनात्प्रतिमां भूमध्यात्कर्षयामास। शत्रुञ्जयस्य स्थापना कृता। ता प्रतिमां नत्वा राजा पारणं चकार। ततो राज्ञा तत्र स्थाने महाप्रासादः कारित । प्रतिमां तस्य प्रासादस्य मध्ये स्थापयामास समहोत्सव। ततो लोकैरपि पूजार्हतः कृता। तत' प्रभृति लघुश्रीत्रुञ्जयेति नाम शिखर जातं। ततो प्राज्यशत्रुञ्जये रैवते च देवान्नत्वा स्वपुरमगात्। इति यात्रायामामप्रबन्धः ॥३३८॥

[339] अथ श्रीशत्रु प्रासादबिम्बसंघपतिभवनादिसम्बन्धः।

युगादौ श्रीश ये प्रथमचक्रिणा श्रीभरतेश्वरेण स्वर्णमयं श्रीजिनभवन कारितं। तत्र भवने मणिमय बिम्ब स्थापित। तस्मिन्समये कोडि ८९ लक्ष ८४ सहस्राः किञ्चिदधिका एते प्रौढछत्रधरा राजान सघपतयोऽभूवन्। तत्र येऽन्तरान्तरा उद्धारा आदित्यक्षितिपादिभि कारितास्तेषा सख्यां केवली वेत्ति।

तदनन्तर ५० कोडिलक्षसागरोपमान्तरे द्वितीयः सगरश्चक्री सजातः। तेन श्रीशत्रुञ्जये द्वितीयो उद्धारः कारितः। ताम्रमय जिनभवन रत्नमयं बिम्बं। कारित तस्मिन् समये ७ कोडि ९५ लक्ष ७५ सहस्रा एते प्रोढछत्रधरा राजेन्द्रा सघपतयोऽभूवन्।

तदनन्तर ५० कोडिलक्षसागर ८६७५० न्यूनान्तरे पाण्डवैस्तृतीयः उद्धारः, काष्ठमयप्रासादे लेपमय बिम्बं स्थापित तस्मिन्समये। २५ कोडि ९५ लक्ष ७५ सहस्रा एते भूपाः सघाधिपतयोऽभूवन्। ८६७५० पाण्डव श्रीमहावीरान्तर जात। तदनन्तरं वीरविक्रमादित्यान्तरे ८४ सहस्रा नरेन्द्राः शतानीक-श्रेणिक-दधिवाहनप्रमुखाः संघपतयोऽभूवन्। एकशताष्टोत्तरे वर्षे श्रे० जावडेन बिम्बोद्धार कारितः। पञ्चप्रासादोद्धारः श्रीमाली बाहडदेवेन कारित. १२१३। अस्मिन्समये सवत् १३७१ सा० समरनरेन्द्रेण ६ श्रीयुगादिजीर्णोद्धार कारित । श्रे० जावडसमरनरेन्द्रान्तरे सर्पातसघपतिसस्या-श्रूयतां ३ लक्ष ८४ सहस्राः प्रौढाः श्राद्धा संघपतयोऽभूवन्। ७७ सहस्रा मीणाकारा सघपतय., जैनक्षत्रिया. १६ सहस्रा सघपतयः, जैनविप्राः १५ सहस्रा. संघपतय,

१२ सहस्रा कौटुम्बिकसंघपतयः, ९ सहस्रा लेऊआ कौटुम्बिकाः संघपतयः, ५०४५ कांसारा संघपतयः, ७ सहस्रा अन्त्यजाः संघपतय, श्रीशत्रुंजयतलहट्टिकां यावत् भरतचक्रि बाहडमन्त्रिणासन्तरे अन्ये ये प्रासादोद्धाराः, बिम्बानि जातानि कारितानि अन्यैर्भूपेभ्यादिभिस्तेषां संख्या न ज्ञायते । इति श्रीत्रुंजयप्रासादबिम्बसंघपतिभवनादिसम्बन्धः ॥३३९॥

[340] अथ प ण्डवकृतोद्धारमुक्तिगमनसम्बन्धः ।

अन्यदा श्रीयुधिष्ठिरराजः दक्षिणमथुरायां राज्य कुर्वन् न्यायमार्गेण पृथिवीं शशास ।

इतः द्वारकायां दग्धायां सत्यां कृष्णबलभद्रौ निःसृत्य कस्मिंश्चिद्वने गतौ । बुभुक्षा । बलभद्रो भिक्षार्थमा ग्रामे गतः ।

इतस्तत्र भ्रमन् जराकुमारः सुप्त कृष्ण पादे मृगभ्रान्त्या बाणं मुमोच । करुणशब्द श्रुत्वा यावत्तत्रायाति जराकुमारस्तावद्भ्रातरं वीक्ष्य शुशोच, दूनोऽभूच्च । कृष्णोऽवग्–गच्छ, अमुं कौस्तुभं लात्वा पाण्डवपार्श्वे । मम प्राणा यास्यन्त्येव नेमिनाथपूर्वोक्तत्वात् । बलभद्रो यदि आयास्यति तदा त्वं हत एव, तेन ततो भयभ्रान्तो जराकुमारः भ्रातरं क्षमयित्वा कौस्तुभरत्नमादाय युधिष्ठिरराजपार्श्वे गत । रत्न तस्मै दत्त्वा कृष्णमृत्युवृत्तान्तः कथितस्तेन । पाण्डवाः सर्वेऽपि कृष्णमरणादिवृत्तान्तात्संसारानित्यतां भावयामासुः । ततो बहुविस्तरपूर्वं तद्रत्नगर्भितां श्रीयुगादिजिनलेप्यमयप्रतिमां प्रासाद च श्रीशत्रुञ्जये कारयामासु । प्रतिष्ठां च । पश्चादागताः संसारानित्यतां भावयता गिरिनारगिरावागतं श्रीनेमिनाथं श्रुत्वा ते पञ्चापि पाण्डवा मातृपत्नीयुताश्चेलु । अन्तराले श्रीनेमिनिर्वाणगत श्रुत्वा आत्मानं नेमिवन्दनवञ्चितं निन्दित्वा श्रीशत्रुञ्जये सिद्धक्षेत्रे गत्वा दीक्षां लात्वा पादपोपगमनानशनेन सर्वेऽपि अष्टौ कर्माणि क्षिप्त्वा द्रौपदीवर्जं मुक्तिं ययुः । द्रौपदी द्वादशे स्वर्गे ययौ । पूर्वभवनिन्दाऽज्ञानबद्धत्वात् ।

इति पञ्चपाण्डवकृतोद्धारमुक्तिगमनसम्बन्धः ॥३४०॥

[341] अथ सा० गुणराजसम्बन्धः ।

पल्ल्यां गुण सा० चाचानन्दनोऽहम्मदसुरत्राणमान्योऽभूत् । संवत् १४६८ वर्षे श्रीदेवसुन्दरसूरिगुरुवचनं श्रुत्वा दिने दिने मूढकद्वयधान्यदानेनात्मज्ञातिपरज्ञातिजनान् जीवयामास । एका महाविस्तरेण सोपारकपत्तने यात्रां चकार । तत्र ८० सहस्रटङ्का व्ययिताः । विंशतिसहस्रटङ्कान् व्ययेन श्रीमुनिसुन्दरसूरीणां उपाध्यायपदं कारितं येन । यस्य भ्राता आम्बाकः ४००० द्रम्मान् यथा तथापूर्वं व्ययति स्म महाव्यसनी च ।

एकदा भार्यया तस्य निर्विकृति भग्नं । ततो जातवैराग्यस्तादृशीं समृद्धिं भार्यां पुत्रयुतां मुक्त्वा स्वयमेव व्रत जग्राह सः । गुरवो भार्याया अनुमतिं विना न ददते । बहु अवदातैर्भार्यां मानयित्वा श्रीदेवसुन्दरगुरुपार्श्वे दीक्षा जग्राह । तत्र विंशतिसहस्रा टङ्कानां व्ययो गुणराजेन कृतः । श्रीसोमसुन्दरादेशात् अहम्मदसुरत्राणादेशं प्राप्य १० देवालया, ३६००

सेजवालां, ७०० शकट, ४००, वाहिन्यः, ५०० तुरङ्गम, लक्षद्वयानुमितबहुदेशागतश्रीसंघ तेन श्रीसोमसुन्दरसूरि–श्रीमुनिसुन्दरसूरिप्रमुखाः शतानुमितसूरिसहस्रद्वयानुमितसाधुः स्थाने स्थाने स्नात्रपूजादिमहोत्सवः श्री शत्रुञ्जयगिरिनारयोश्चकार गुणराजः । प्रान्तेऽनशन समहोत्सव लात्वा स्वर्गं गतः । इति सा० गुणराजसम्बन्धः ॥३४१॥

[342] अथ कल्याणत्रयोद्धारसम्बन्धः ।

श्रीसोमसुन्दरसूरीणामुपदेशात् सोनीसमरसिंहमालादेभ्या श्रीगिरिनारतीर्थे श्रीनेमिनायक–ल्याणत्रयप्रासादोद्धारः कारित । तत्र लक्षसाधिकलक्षटङ्कव्ययः ।

इति कल्याणत्रयोद्धारसम्बन्धः ॥३४२॥

[343] अथ गोविन्दनाणावटीसंबंधः ।

इयदरनगरे नाणावटीगोविन्दोऽभूत् धर्मवान् । तत्रैकदा श्रीसोमसुन्दरसूरय आगता । वन्दितु गतः गुरूणामित्युपदेशः "जिणभवणबिंबपुत्थय०"

दप्रति त्रा–प्रतिष्ठादिप्र
अमार्युद्घोषणादीनि महापुण्यानि गेहिनाम् ॥१॥

तारङ्गगिरौ श्रीकुमारपालप्रासादे सप्तभूमिके प्रासादे बिम्बमतीव लघीय., । पूर्वबिम्बस्य भङ्गोऽभूत्, तेन यः कश्चिद्बिम्बोद्धार कारयति स महान् । एतत् श्रुत्वा नाणावटीगोविन्दो हस्तौ योजयित्वा प्राहाहं बिम्बोद्धार कारयिष्यामि, तत आरासणपुराद् बहुद्रव्यव्ययेन ६५ अगुलप्रमाण प्रतिमां तत्रानिनाय । बहुषु देशेषु कुङ्कुमपत्रिकाः प्रेषिताः । श्रीसंघः सप्तलक्षप्रमाणो मिलितः । शोभने लग्ने श्रीअजितस्वामिप्रतिमां श्रीसोमसुन्दरसूरयः प्रतिष्ठयामासु । सर्वोऽपि श्रीसंघः परिधापितः, टङ्कानां लक्षत्रयी व्ययिता संभाव्यते ।

इति गोविंदनाणावटीसम्बन्धः ॥३४३॥

[344] अथ धरणविहारसम्बन्धः ।

मेदपाटभूमण्डनराणकपुरनगरे श्रीधरणसाधुः । श्रीसोमसुन्दरसूरीणामुपदेशात् १०८ देव–कुलिकालंकृत श्रीऋषभदेवविहार चतुर्मुख प्रासाद कारयामास । तत्र बहुलक्षटङ्कव्यय, स–१४९५ वर्षे । इति धरणविहारसम्बन्धः ॥३४४॥

[345] अथ पाजाश्रेष्ठिकारितप्रासादसम्बन्धः।

वढवाणग्रामे श्रे० पाजाह्वः कोटिध्वजो वसति स्म । तेन गुरोरुपदेशात् पाजाह्वा वसतिः कारयितुमारब्धा । बह्वो जनाः कार्यं कुर्वन्ति । राजा वप्र महान्त ग्राम परित. कारयति ।

प्रासादे बहवः कर्मकरा आयान्ति, वप्रे च नायान्ति । राज्ञा वारि निषिद्धं । श्रेष्ठिना तैलकूपानुद्घाट्य माषपीठकेन प्रासादः कर्त्तुमारब्ध । राज्ञा तत् ज्ञातं । संमानितः श्रेष्ठी । सहस्रस्तम्भमयः प्रासादो निष्पन्न । प्रतिष्ठाऽभूत् । तत्रात्मीयात्मीया कला दर्शयितुं सूचिकाधांचिकाभ्यां च कीर्त्तिस्तम्भोपरिस्थाभ्या भूस्थसूचिप्रोतन भूस्थतैलभाजनभरणादिकला दर्शिता प्रासादाग्रे । इति प्रजाश्रेष्ठिकारितप्रासादसम्बन्धः ॥३४५॥

[346] अथ पूर्नसिंहकोष्ठागारिककारितगिरिनारतीर्थप्रासादसंबंधः ।

तपागच्छाधिराजश्रीरत्नशेखरसूरीणामादेशात् श्रीगिरिनारतीर्थे पूर्नसिंहकोष्ठागारिको महान्तं प्रासादं कारयामास । तत्र श्रीऋषभदेव प्रातिष्ठिपत् । तत्र बहुलक्षटङ्कधनव्ययः ।

इति पूर्नसिंहकोष्ठागारिककारितगिरिनारतीर्थप्रासादसम्बन्धः ॥३५६॥

[847] अथ साधर्मिकभक्तिः ।

राजा कुमारपालः त्रुटितसाधर्मिकस्य समीपागतस्य दीनारसहस्रं दत्ते । आमडमन्त्रिपार्श्वात् गुरूणां च ज्ञापितं राज्ञा यदुचित साधर्मिको ज्ञाप्य ।

एकदा वर्षलेखके कृते एका कोटिर्जाता । यदा तदा आमडः प्राह–स्वामिंस्तव द्विधा कोशोऽस्ति, एक. स्थावरोऽन्यो जङ्गम. । अहं तु जङ्गमः कोशस्तेनाहं यद्दामि तत्तवैव । राज्ञोक्तं–एवं त्वया विनयेन प्रोच्यते । यन्मया मम कोशाद्दीयते तदेव पुण्याय । ततो राजा हृष्टः । आभडं विशेषाद्बहु मन्यते स्म । एवं भूपाभिग्रहो बहुवर्षाण्यभूत् ।

इति साधर्मिकभक्तिः ॥३४७॥

[348] अथ दाने कुमारपालमन्त्रि–अभयकुमारश्रेष्ठिकथा ।

अन्यदा श्रीश्रीमालज्ञातिशिरोरत्न नेमिनागपुत्रः अभयकुमार. श्रेष्ठी कृतो राज्ञा ।

अत्रान्तरे श्रीपालपुत्रेण सिद्धपालेनोक्त——

क्षिप्तो तोयनिधेस्तले मणिगणः रत्नोत्करः रोहणे,
रेण्वावृत्य सुवर्णमात्मनि दृढं बद्ध्वा सुवर्णाचलः ।
क्ष्मामध्ये च धनं निधाय धनदो विभ्यत्परेभ्यः स्थितः,
किं स्यात्तैः कृपणैः समोऽयमखिलार्थिभ्यः स्वमर्थं ददत् ॥१॥

ता जुत्तं देवकयं, तुमए जं इत्थधम्मठाणंमि ।
अभयकुमारो सिट्ठी, एसो सव्वेसरो विहिओ ॥२॥

तत्र साधर्मिकभक्तिरेवम्—

वत्थाइं पसत्थाइं, कुडुंबनेत्थारणत्थमत्थं तु ।
एवं सत्तागारं, कयं नरिंदेण जिणधम्मे ॥४॥

पारणकदिने त्रिभुवनविहारस्नात्रागतैर्बहुभिः श्राद्धैः समं भुङ्क्ते स्म । भूपः भोजनावसरे गुरून् प्रतिलाभ्य दीनदुस्थादिभ्योऽन्नं ददन् भुङ्क्ते च पटहवादनपूर्वं च गृहद्वारं उद्घाटं मोचयति, यतः—

नेवदारंपिहावेइ, भुंजमाणो सुसावओ ।
अणुकंपा जिणिंदेहिं, सड्ढाण न निवारिया ॥५॥

एवं भूपं दानं ददानं दृष्ट्वा अन्ये बाहडमन्त्रिप्रमुखा लोका ददते दानम् ।

इति दाने कुमारपालमन्त्रि–अभयकुमारश्रेष्ठिकथा ॥३४८॥

[349] अथ साधर्मिकभक्तौ आम्बडदेवसम्बन्धः ।

एकदा बाहडदेवो विशिष्टतमारासनाश्ममयं प्रासादं कारयितुं लग्नः । तत्रान्यदा यदा कुमारपालस्तं द्रष्टुमागात्तदा नेपालदेशस्वामिना सोमेन २१ अङ्गुलमयं चन्द्रकान्तमणिमयं श्रीपार्श्वबिम्बं प्राभृतं चक्रे । तद्बिम्बं दृष्ट्वा राजा बाहडदेवं प्रति प्राह—एष प्रासादो मह्यं दीयतां, यतोऽस्मिन् प्रासादे इदं बिम्बं स्थाप्यते । ततो बाहडदेवोऽभ्युत्थाय विनयपूर्वकृताञ्जलिः प्राह—एष प्रासादः कुमारविहारनामा भवतु । प्रतिमा स्थाप्यताम् । ततः २४ जिनालयप्रासादे अष्टापदतीर्थावतारशोभिते तद्बिम्बं महामहोत्सवपुरस्सरमतिष्ठपत् ।

कणयामलसारपहाहि, पिंजरे जंमि मेरुसारिच्छे ।
रेहंति कोउदंडा, कणयमया कप्परुक्खुव्व ॥१॥

इति साधर्मिकभक्तौ आम्बडदेवसम्बन्धः ॥३४९॥

[350] अथ त्रिषष्ठिशलाकापुरुषोत्तमचरितसम्बन्धः ।

कुमारपालराजर्षिणा २१ ज्ञानकोशाः कारापिताः । त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित्रं श्रोतुमिच्छता तच्चरित्रं हस्तरूढं कारयित्वा महता महेन लक्षमितरैव्ययात् धर्मशालायां राजा प्राभृतीचकार । इति त्रिषष्ठिशलाकापुरुषोत्तमचरितसम्बन्धः ॥३५०॥

[351] अथ पुस्तकाराधने श्रीताडागमने श्रीकुमारपालसम्बन्धः ।

एकदा ११ अङ्ग १२ उपाङ्गादिसिद्धान्तप्रतिर्लेखिता रैमयाक्षरैः राज्ञा । २० वीतरागस्तवाः, १२ योगशास्त्रप्रकाशा रैमयाक्षरैर्लेखिताः[1] । तेषां बहु प्रति लेखयित्वा साधुभ्यो वाचनाय दत्त–

वान् । राजा देवपूजावसरे सिद्धान्तपुस्तकानि पूजयामास । राजा श्रीगुरुकृतान् ग्रन्थान् लेखयितुं दधिग्रहणाभिग्रहं लली । ७०० लेखका लिखन्ति कागदेषु । ततोऽन्यदा गुरून् प राजा । बहुकालं पुस्तकानि कथं तिष्ठन्ति, न विनश्यन्ति च । गुरुः प्राह—श्रीताडपत्रैर्लिखितानि पुस्तकानि बहुकालं तिष्ठन्ति न विनश्यन्ति च । ततो राजा श्रीताडपत्रैः पुस्तकानि लेखयितुं लग्नः । श्रीताडत्रुटिर्जाता । राजा दध्यौ यान् ग्रन्थान् समग्रान् लेखयितुमहं न शक्तः । ततो राज्ञा श्रीताडानयनविषयेऽभिग्रहो लले । यदा श्रीताडा आगमिष्यन्ति तदा मया भोक्तव्य । उपवासत्रये जाते शासनदेव्या खरताडाः श्रीताडा कृता । प्रातरारामिकः श्रीताडान् दृष्ट्वा राजानं वर्धयामास, प्राह च—तव साहसात्सर्वे खरताडाः श्रीताडाः जाताः । ततो राजा गुरवोऽन्येऽपि मिथ्यात्विनोऽपि तद्दृष्ट्वा जिनधर्मं प्रशशंसु । ततो जिनशासनेऽतीवोन्नतिर्जाता ।

इति पुस्तकाराधने श्रीताडागमने श्रीकुमारपालसम्बन्धः ॥३५१॥

[352] अथ औचित्यदाने ।

सर्वजीवान् रक्षन्त भूप दृष्ट्वा एक कविं प्राह—

पूर्वं वीरजिनेश्वरेऽपि भगवत्याख्याति धर्मं स्वयं,
प्रज्ञावत्यभयेऽपि मन्त्रिणि न यां कर्त्तुं क्षमः श्रेणिकः ।
अक्लेशेन कुमारपालनृपतिस्तां जीवरक्षां व्यधात्,
लब्ध्वा यस्य वचःसुधां स परमश्रीहेमचन्द्रो गुरुः ॥१॥

तस्मै लक्षदानम् । इति औचित्यदाने ॥३५२॥

[353] अथ श्रीकुमारपालभूपस्वर्णसिद्ध्यप्राप्तिस्वरूपम् ।

एकदा स्व संवत्सरं प्रवर्त्तयितुकामो भूपः श्रीहेमसूरिपार्श्वे स्वर्णसिद्धिं याचते स्म । गुरुणोक्त—अस्मद्गुरवः श्रीदेवचन्द्रसूरयो जानन्ति । ततो गुरून् बहुविज्ञप्त्या तत्र समहोत्सवमाकारितवान् । श्रीहेमसूरि-कुमारपालभूपाभ्यां द्वादशावर्त्तवन्दनादिभिर्विनय कृतः । गुरु-भूपौ गुरो पादयोर्लगित्वा स्वर्णसिद्धिं याचेते । गुरुषु तामददानेषु श्रीहेमसूरिः प्राह—भगवन् ! मम बाल्ये श्रीप्रभुपादैरेकस्य भारवाहकस्य काष्ठभारात् वल्ली स्फीता मम पार्श्वाद् ग्राहिता, तेन वल्लीरसेनाभ्यक्त ताम्रखण्ड युष्मदुक्तविधिना वह्नियोगात्स्वर्णीयभूव तस्य । तस्या वल्लेश्च किं नामेत्यादिश्यता । ततः कोपादुक्त गुरुणा—

अग्रे तव मुद्गरसप्रायदत्तविद्यया अजीर्णं जातं, किमिमां विद्यां याचसे ? तव कालविशेषाभ सा सेत्स्यति । अधुना तादृग् भाग्य भवतोर्न दृश्यते अतो न वक्तव्यं । ततो गुरूणामभिप्रायं ज्ञात्वा क्षमितं, ताभ्यां गुरुभूपाभ्याम् ।

इति श्रीकुमारपालभूपस्वर्णसिद्ध्यप्राप्तिस्वरूपम् ॥३५३॥

[354] अथ कर्मविषये दुःस्थसम्बन्धः ।

पद्मपुरे धीरभूपो गवाक्षस्थो राज्ञीं प्रति प्राह—पश्य, पत्नि ! मया प्रजा सुखिनी कृता, क्रियते, करिष्यते च । राज्ञी जगौ—यदि त्वद्दत्तेन धनेन प्रजा सुखिनी स्यात् तदा एष दुःस्थो मस्तककृतेन्धनभारो नरः सुखी क्रियतां त्वया ।

राजा प्राह—पश्य पत्नि ! अमुमपि सुखिनं करोमि । राज्ञी-प्राक्कृतं शुभं कर्मास्य भविष्यति तदा तस्यालये श्रीः स्थास्यति, नो चेत्त्वया दत्ताऽपि यास्यति ।

ततो राजा कर्मपरीक्षार्थं वर्त्मनि यस्मिन् याति दुःस्थस्तस्मिन् सपादलक्षं हारं मुमोच ।

ततः स तत्रागतो यदा सर्पं वीक्ष्यान्येन मार्गेण गतः । द्वितीयदिने राज्ञा मुक्तं हारं सिन्दूरं पतितमग्रे स गतः । ततो राजा तमाकार्य पप्रच्छ । त्वं कल्ये मार्गं मुक्त्वाऽन्येन मार्गेण कथं गतः ? सोऽवग्—सर्पो दृष्टो मार्गे । अथ न सिन्दूरं दृष्टं मया । ततो राजा जगौ—

मसिबिण माथामांहि आखर जे आगइ लिख्या ।
अधिक न उ ठाथाइं, चहुटा ते चाचिग भणइ ॥१॥

एवं प्रोच्य तस्य वर्यं भोजनं दत्त्वा राजा विससर्ज ।

इति कर्मविषये दुःस्थसम्बन्धः ॥३५४॥

[355] अथ कौतुकजल्पने क्षुल्लसम्बन्धः ।

एकस्य पण्डितस्य बहुकालादेकः क्षुल्लकः सम्पन्नः । स बहुभक्षकः [पण्डितस्त] पण्डितं दृष्ट्वा वर्णयति मम क्षुल्लकोऽतीववर्योऽस्ति, तदाऽन्येन साधुना हास्यादुक्तं—

घसि घोघर ढुंढणि ढलस खीच तेल नो काल ।
गुरुनइ चेलो सांपडिओ, चालंतो दुकाल ॥१॥

इति कौतुकजल्पने क्षुल्लसम्बन्धः ॥३५५॥

[356] अथ कृत्तकर्णपुच्छशृगालसम्बन्धः ।

एकदा एकस्मिन् ग्राममध्ये शृगालः समागात् भिक्षार्थं [भक्ष्यार्थं] यदा तदा लोकानामग्रे निर्गन्तुं न शशाक । ततः स मायया जीवितुं वाञ्छन् चत्वरके मृतप्रायो भूत्वा पतितः । तदा लोका मिलिता मृतोऽयं मृतोऽयमिति जगुः । तदा एको वैद्यस्तत्रागात् प्राह च—अस्य शृगालस्य कर्णेन भक्षितेनातिसारो याति । अस्य पुच्छेन च शिरोऽर्त्तिर्याति । दन्तैर्ज्वरो याति । ततो लोकैः कर्णौ छिन्नौ, ततः पुच्छं छिन्नं, ततो यदा दन्तादिच्छेदं कर्तुमुत्थिता लोकाः तदा स उत्थाय श्लोकमेकं जल्पन्नष्टः—

तद्विलोकयन्नस्मि । युवा प्राह—किं रत्नं पतित ? वृद्धो जगौ भवद्भिरपि जीवद्भिरत्र रत्न हारयिष्यते, युवाऽवग्-कि रत्नं भवति तत्त विलोक्यते । वृद्धोऽवग्-यौवनरत्न हारित पातित च तद्विना सर्वोऽपि पुत्रपत्नीप्रभृतिर्न मानयति । यत —

गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता दन्ताश्च नाशं गता,
दृष्टिर्भ्रश्यति रूपमेव ह्रसते वक्त्रं च लालायते ।
वाक्यं नैव करोति वान्धवजनः पत्नी न शुश्रूषते,
हा ! कष्टं जरयाऽभिभूतपुरुषं पुत्रोऽप्यवज्ञायते ॥१॥

युवा प्राह—सत्यंवृद्धेनोक्त--ततो वृद्ध क्षमयित्वा युवा गतः ।

इति वृद्धत्वे वृद्धनरसम्बन्धः ॥३५९॥

[360] अथ बुद्धौ श्रेष्ठिपत्नीसम्बन्धः ।

एकस्मिन् पुरे धनिन राजा दण्डयितुमिच्छति छलं चिन्तयति च, परमवसर न लभते । दीपालिकावसरे राज्ञा ध्यातं—मम लक्ष्मीः पट्टराज्ञी वर्त्तते । एतद्भार्या तु प्रभाते वक्ष्यति—

'पइ सिलाछि निसरि अलछि'

इति वदन्ती बहिर्निर्यास्यति एव प्रोक्तेऽह धनिन दण्डयिष्यामि । श्रेष्ठिना राजाभिप्रायज्ञेन पत्नीति शिक्षिता शूर्पक त्यजन्ती प्रोवाचोच्चैः ।

'पाडोसीनि रीति रीति'

एव श्रुत्वा भूपो न दण्डयितु समर्थोऽभूत् ।

इति बुद्धौ श्रेष्ठिपत्नीसम्बन्धः ॥ ३६० ॥

[361] अथ सामायिके निसढस[वि]सढकथा ।

असमंजसाइ जंपइ, गहिओ मामाई अपि जो सड्ढो ।
विसढो वि कुगइपत्तो, सो मो[सो] यड अप्पणो खलिअ ॥१॥

तथाहि—साकेते पुरे आसधर. श्रेष्ठी मृदुभाषी, तस्य वसुन्धरा पत्नी, विसढ पुत्रः प्रमदमदाढिवान्, तस्य मित्र निसढः प्रकृत्या धर्मकर्मकृत् ।

अन्यदा धनं प्रधानमिति हृदये कृत्वा धनार्जनाय निर्गतौ स्वगृहात्तौ । मार्गे चलन्तौ साधुद्वयमुन्मार्गे समागच्छन्तं दृष्ट्वा च मिथश्चिन्तयतः । एतौ साधू ज्ञानिनौ लाभादि पृच्छयेते, तदा तत्रैत्य ज्येष्ठ साधुराचष्ट को मार्गोऽमुकग्रामस्य, ततस्तौ हसत स्म । हसनकारणे साधुना पृष्टे तौ वणिजौ जगदतुः--आवाभ्यां ज्ञातमेतौ साधू ज्ञानिनौ स्तः अतो लाभादि

गतौ कर्णौ गतं पुच्छं, दन्तानां विद्यते कथा ।
व्याधिना पीडितो लोको, यः पला[य]ति स जीवति ॥१॥

एवं प्रोच्य गतः स शृगालो जिजीव चिरमेवं ये विनष्टं ग्रामं दृष्ट्वा त्यजन्ति ते जीवन्ति ।

इति कृतकर्णपुच्छशृगालसंबंधः ॥३५६॥

[357] अथ प्रभुपूजायां कार्वाटिकासंबंधः ।

श्रीपुरे भूपपत्नी चन्द्रवती एक कार्वाटिक मस्तकन्यस्तेन्धनभार विक्रीणन्तं वीक्ष्याकस्मात् प्राप्तजातिस्मरणा भूपे शृण्वति गाथामेका प्रोवाच—

अडवी पत्ती नई अजल तोइ न वूढा हत्थ ।
अज्ज एह कब्बाडीह दीसइ साइज अवत्थ ॥१॥

एता गाथां श्रुत्वा सोऽपि कार्वाटिक प्राप्तजातिस्मरणोऽश्रुप्रवाह मुञ्चन् बभूव ।

इत. भूपः पप्रच्छ—पत्नि ! एषा गाथा कस्माज्जल्पिता त्वया ? सा प्राह—वने अह कार्वाटिकाऽभूवं, एष कार्वाटिको मम पतिरभूत् । प्रभो. पूजाफल यतिपार्श्वे श्रुत्वा अटवीसत्कसुगन्धिपुष्पाणि लात्वा नद्या जलं नीत्वा प्रभोः पूजामकार्षम्, एष. तु बहूक्तोऽपि प्रभोः पूजां नाकार्षीत् । अहं प्रभोः पूजाफलाद्भूपपत्नी अभूवं । एष तु तदवस्थ एव । अतो मया गाथा प्रोक्तेयं । ततो राजा सोऽपि कार्वाटिकोऽन्येऽपि बहवो जनाः प्रभो पूजा चक्रु ।

इति प्रभुपूजायां कार्वाटिकासंबंधः ॥३५७॥

[358] अथ योगिचेल्लकसम्बन्धः ।

एकदा योगिचेल्लकौ निर्गतौ । वर्त्मनि चेल्लकेनाकस्माद्रासनिका प्राप्ता कस्यचित् ।

ततोऽग्रे यदाऽचालीद्योगी, तदा चेल्लको जगौ । साम्प्रतमत्रासन्नग्रामे स्थीयते, तदा योगिनोक्तमात्मनो निर्ग्रन्थस्य का भीतिः ? ततश्चेल्लको यदा न चलति तदा योगिना ज्ञातमस्य पार्श्वे किमपि धनं विद्यते अतोऽस्य भीर्भवति । तत. पश्चाद्वलित्वा योगिना चेल्लको विलोकित. । धनं निर्गतं । तत प्रोक्तमात्मनो धनमनर्थाय भवति, तदिदं त्यज । ततस्तेन धनं त्यक्त । ततश्चेल्लको जगौ-भयं भाजने भवति, तच्च धन, धनं च गतमतश्चल्यता । ततो निर्भयौ भूत्वा योगिचेल्लकौ चेलतुः । इति भयभाजने योगिचेल्लकसम्बन्धः ॥३५८॥

[359] अथ वृद्धत्वे वृद्धनरसंबंधः ।

एको वृद्धो मार्गे अधोमुखो याति, तदा [ते] तथा हिण्डमानं दृष्ट्वा तरुण एकः पुमान् प्राह—भो वृद्ध ! अधोमुखं किं हिण्डयते ? वृद्धोऽवग्—रत्नमेकं मार्गेऽस्मिन् पतितं

तद्विलो स्मि । युवा प्राह—किं रत्नं पतित ? वृद्धो जगौ भवद्भिरपि जीवद्भिरस्र रत्नं हारयिष्यते, युवाऽवग्-किं रत्नं भवति तत विलोक्यते । वृद्धोऽवग्-यौवनरत्न हारित पातित च तद्विना सर्वोऽपि पुत्रपत्नीप्रभृतिर्न मानयति । यत —

गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता दन्ताश्च नाशं गता,
दृष्टिर्भ्रश्यति रूपमेव ह्रसते वक्त्रं च लालायते ।
वाक्यं नैव करोति वान्धवजनः पत्नी न शुश्रूषते,
हा ! कष्टं जरयाऽभिभूतपुरुषं पुत्रोऽप्यवज्ञायते ॥१॥

युवा प्राह—सत्यंवृद्धेनोक्त--ततो वृद्धं क्षमयित्वा युवा गतः ।

इति वृद्धत्वे वृद्धनरसम्बन्धः ॥३५९॥

[360] अथ वुद्धौ श्रेष्ठिपत्नीसम्बन्धः ।

एकस्मिन् पुरे धनिन राजा दण्डयितुमिच्छति छलं चिन्तयति च, परमवसर न लभते । दीपालिकावसरे राज्ञा ध्यातं—मम लक्ष्मीः पट्टराज्ञी वर्त्तते । एतद्भार्या तु प्रभाते वक्ष्यति—

'पइ सिलाछि निसरि अलछि'

इति वदन्ती वहिर्निर्यास्यति एव प्रोक्तेऽहं धनिन दण्डयिष्यामि । श्रेष्ठिना राजाभिप्राय-ज्ञेन पत्नीति शिक्षिता शूर्पक त्यजन्ती प्रोवाचोच्चैः ।

'पाडोसीनि रीतिं रीति'

एव श्रुत्वा भूपो न दण्डयितु समर्थोऽभूत् ।

इति बुद्धौ श्रेष्ठिपत्नीसम्बन्धः ॥ ३६० ॥

[361] अथ सामायिके निसढस[वि]सढकथा ।

असमंजसाइ जंपइ, गहिओ सामाई अपि जो सड्ढो ।
विसढो वि कुगइपत्तो, सो मो[सो] यइ अप्पणो खलिअ ॥१॥

तथाहि—साकेते पुरे आसधर श्रेष्ठी मृदुभाषी, तस्य वसुन्धरा पत्नी, विसढ. पुत्रः प्रमदमदादिवान्, तस्य मित्र निसढः प्रकृत्या धर्मकर्मकृत् ।

अन्यदा धन प्रधानमिति हृदये कृत्वा धनार्जनाय निर्गतौ स्वगृहात्तौ । मार्गे चलन्तौ साधुद्वयमुन्मार्गे समागच्छन्तं दृष्ट्वा च मिथश्चिन्तयतः । एतौ साधू ज्ञानिनौ लाभादि पृच्छयेते, तदा तत्रैत्य ज्येष्ठ साधुराचष्ट को मार्गोऽमुकग्रामस्य, ततस्तौ हसतः स्म । हसनकारणे साधुना पृष्टे तौ वणिजौ जगदतुः—आवाभ्यां ज्ञातमेतौ साधू ज्ञानिनौ स्तः अतो लाभादि

प्रक्ष्येते, भवद्भ्यां मार्गोऽपि न ज्ञायते, अतो हास्यमभूत्। साधू जगदतुः—द्वौ मार्गौ स्तः-द्रव्यभावरूपौ। वयं तु भावमार्गं जानीमः। द्रव्यमार्गोऽयं गमनारब्ध पन्थाः, [तस्माद्भावमार्गात्तु इह लोको न स्यात्, द्रव्यमार्गात्तु स्यात्] तस्मात् भावमार्गात्तु न द्रव्यमार्गादिहलोकः स्यात्। भावमार्गात्तु स्वर्गादिशिवान्त सुख स्यात्। भावमार्ग सामायिक 'सामाईअंमि उ कए'।१। इत्यादि।

ततो द्वावपि सामायिकाभिग्रहं ललतुः। क्रमाद्विसढः प्रमादी मित्रेण वार्यमाणोऽपि सामायिकं हास्यकौतुकादिभि खण्डयति, विकथा करोति स्म। अन्यदा कृतसामायिकं तं प्रति श्राद्धैरुक्तं—निरवद्य सामायिक सावद्यैर्वचोभिर्न खण्ड्यते। ततः स प्राह—मम प्रकृतिरियं, मत्प्रातिवेश्मिक सान्त इवास्ति। यतः—

मह पाडिवेसओ जह, वारिज्जंतोवि पुत्तनत्तूहिं।
अहिअं निट्ठुरभासी, होइ तहा अहमवि अहन्नो ॥२॥

तथाहि—अस्ति सान्तो नाम्ना धनी, स च निष्ठुरमेव भाषते पुत्रादिभिः समं। तथाहि—

निट्ठुरभासी पुत्ताइ संतई दूमेइ।
अह अन्नया पत्तो, वीवाहो तस्स गेहंमि ॥३॥

तणयदुहियाइ ततो, पत्ते वरिणज्जयस्स समयंमि।
पुत्तेण पिया भणिओ, पजंपि[य]व्वं न दुव्वयणं ॥४॥

अन्नोवि हु भासंतो, अमंगलं ताव वारिअव्वो अ।
जम्हा आसन्नोच्चिअ, पवट्टए लग्गसमओत्ति ॥५॥

तो भणइ सिट्ठि 'तो, लग्गं वा इओ मरणं वा एउ।
नाहं किंचिवि भणिमो, मुउव्व मुक्क व्व चिट्ठिस्सं ॥६॥

तत्तो निसीहसमए, सयं समुट्ठे वि संत[ओ] सिट्ठि।
अवलोइविगहचक्कं, विणिच्छियं लग्गसमयं व ॥७॥

सो सद्दइ नियतणयं, रे रे छोहरय गोरकयंडोउ।
उट्ठवसु जेण लग्गं, सो साहइज्जइमूओ नेव ॥८॥

तो भणियं तणएणं, मामा ताय एरिसं वयणं।
भणसु सुभासियवयणं, जं चउरीए धूया चडिही ॥९॥

चडउ चउरीए सूलीए वावि ताहि न किंपि जंपिस्सं।
जाव न एसा रंडा, मज्झ गिहाओ विणीहरिआ ॥१०॥

तो भणियं तणएणं, रंडा मा भणसु ताय पढमंमि ।
सो भणइ तुम्ह जणणी, सयावि रंडा मए भणिआ ॥११॥

तहवि न जाया रंडा, किं रे दुद्धाइ मंगलसएहिं ।
जो मंमि एवमाई, तब्भणिमाण नो संखा ॥१२॥

एवं स श्रेष्ठी दुष्टवचपरो न निववर्त्ते । एव ममापि स्वभावेन सत्यपि सामायिके सावद्यवचोजल्पनं । विसढ सावद्य सामायिक करोति स्म । यदा कोऽपि वारयति तदा स वक्ति—यदा त्व स्वर्गे गमिष्यसि तदाऽह मार्दङ्गिको भविष्यामि । मम केलिस्वभावो न याति । कालेन निसढ सामायिकपरो मृत्वा महर्द्धिक सुरः स्वर्गे जातः । पिसढो मृत्वा स्वल्पद्धिको मार्दङ्गिको जातः । तेन प्राक्स्नेहात् गौरवेण दृश्यमानोऽपि तद्विभव दृष्ट्वा प्राग्भवं स्मृत्वा झूरयति ।

सरिसो गिहिधम्मो, दोहिवि परिवालिओ तहवि जाओ ।
अज्झवसायवसेण, एसो सामी अह भिच्चो ॥१३॥

इत्यादि । ततो द्वावपि मुक्ति यास्यत ।

इति सामायिके निसढ[वि]सढकथा ॥ ३६१ ॥

[362] अथ सम्यक्त्वे वज्रकर्णकथा ।

वज्रकर्णभूप सम्यक्त्वधारी नान्येषां देवानां मस्तक स्व नामयति । ततो मुद्रिकास्थ जिनं नमन् निजेशं सिंहोदर न नमति । तस्य क्रमाद्रामलक्ष्मणौ धर्म्मोत्साहाय्य चक्रतुः । उक्तं च—

अहं सात्त्विकमूर्धन्यो, वज्रकर्णमहीपतिः ।
सर्वनाशेऽपि योऽन्यस्मै, ननाम न जिनं विना ॥१॥

इति सम्यक्त्वे वज्रकर्णकथा ॥३६२॥

[363] अथ रामलक्ष्मणरावणहनुमत्सीतामूर्खत्वसम्बन्धः ।

रावणं जित्वा पश्चादयोध्यायामागच्छन् रामो लक्ष्मणेनोक्तः । तुङ्गगिरौ हनुम-[माता] न्मातुमिलत्यते । ततो रामप्रेषितोऽग्रे भूत्वा हनुमान् गत्वा मातरं नत्वाऽवग्-राम आगच्छन्नस्ति, किमपि भव्य वाच्य । "आगच्छन्त्वत्र रामादय" इति तयोक्ते आगता रामादयस्तत्र । हनुमन्मात्रोक्त—भो राम ! मूर्खकुटुम्ब ! त्वया गम्यतां । रामोऽवग्—भो मातरह कथ त्वया मूर्खः कृतः ? सा तुवाच—यत्त्व सौवर्णं मृग ज्ञात्वाऽपि तत्पृष्टौ धावित', मृगा रैमया न भवन्तीति न विचारित, अतस्त्व मूर्ख । यतः—

न भूतपूर्वं न कदापि संस्मृतं, हैमः कुरङ्गो न कदापि वीक्षितः ।
तथापि तृष्णा रघुवंशजस्य, विनाशकाले विपरीतबुद्धिः ॥१॥

लक्ष्मणेनोक्तमहं कथं मूर्खः ? सा चाह—लोकोक्त्यैवं प्रोच्यते—रामेण खरदूषणाभ्यां सह युद्धं कुर्वाणेन यथा सिंहनादरूपार्त्तस्वरः कृतः तदा त्वं रामं मरणान्तेऽप्यार्त्तस्वरमजल्पन्तं ज्ञात्वाऽपि सीतां शून्यां मुक्त्वा तत्रागाः। अतस्त्वमपि मूर्खः ।२।

सीतयोक्तमहं कथं मूर्खा ?—यद्रामकर्षितरेखाया बहिः पदं दत्तवतीति तेन मूर्खा ।३।

हनुमता पृष्टं—कथमहं मूर्खः ? सा प्राह—ईदृग्बली भवान् लङ्कावने सीतापार्श्वे गतः सन् तामुत्पाट्य यन्नानीतवान् अतस्त्वमपि मूर्खः ।४।

सर्वैर्वृद्धवानर्योक्तं यथा सत्यं मानितं तथाऽन्यैरप्यधुना वृद्धप्रोक्तं माननीयम् ।

इति रामलक्ष्मणहनुमत्सीतामूर्खत्वसम्बन्धः ॥३६३॥

[364] अथ लोका भूपानामपि दुराराध्या भवन्तीति विषये रामसम्बन्धः ।

रामेण वने गच्छता भरतं प्रति शिक्षेति दत्ता—

आलस्योपहतः पादः, पादः पाषण्डमाश्रितः ।
राजानं सेवते पादः, एकः पादः कृषीवलः ॥१॥

एकं पादं त्रयः पादा, भक्षयन्ति दिने दिने ।
तथा भरत ! कर्त्तव्यं, यथा पादो न सीदति ॥२॥

तदनु रामपादुका सिंहासने उपवेश्य १२ वर्षाणि भरतो राज्यमकार्षीत्प्रजा चाऽकरामकरोत् । रामागमे तलिका तोरणबन्धनाय प्रत्यट्टं एकैकसूत्रफालकमार्गणेन कैश्चिदर्पित, कैश्चिन्न, केचित्तदा दूनास्तस्मिन्मार्गणे । द्वितीयदिने प्रजा रामं नन्तुं यदा गता सुखोक्तौ रामेण पृष्टाया दूनैः कैश्चिदुक्तं—भरतेन वयं पीडिताः । ततो रामेण भरतः पृष्टः सन्प्राह—मयाऽद्य यावत्सूत्रफालकं विना कोऽपि लोको न मार्गितः । ततो रामेणाचिन्ति भविष्यद्विवाहाय स्थापितमहिषीदोहनेच्छावत् बहुदिनेषु या न दुग्धा सा विशुष्का । अतः प्रजाऽप्येवं । ततो रामेण एकः करः कृतः ततोऽष्टादशकरा जाताः ।

इति लोका भूपानामपि दुराराधा भवन्तीति विषये रामसम्बन्धः ॥३६४॥

[365] अथ विशिष्टशाकुनिकनरज्ञातृसम्बन्धः ।

युगान्धरीदण्डिकोपविष्टां दुर्गां शब्दयन्तीं दृष्ट्वा शाकुनिकः पुमान् प्राह—यस्याः परिणेतृहेतोः शकुना विलोक्यन्ते सा कन्या मासत्रयोत्पन्नगर्भा विद्यते तृतीयपर्वसमुत्पन्नकीटकत्वात् । तथैव दृष्ट्वा शकुनविद् प्रशंसितः । इति विशिष्टशाकुनिकनरज्ञातृसम्बन्धः ॥३६५॥

[366] अथ असारपुत्रादिसम्बन्धे श्रेष्ठिकथा ।

एकस्य धनिनः पार्श्वे केनचित् प्राघूर्णकेनोक्त—भवतः कियन्त. पुत्रा सन्ति ? धनिनोक्तं—नव । क्षणात्प्राघूर्णकोऽवग्—कियन्तो जीवन्तः ? श्रेष्ठ्यवग्—पञ्च । पुन. पृष्ठे-त्रय । पुनः पृष्ठेऽतिथिना श्रेष्ठी—एकमाह ।

अतिथिः प्राह—श्रेष्ठिन् ! कथमेव त्वयोच्यते ? श्रेष्ठ्याह—

नव स्युः शयने पुत्राः, कलौ पञ्चादने त्रयः ।
सत्तायामेक एव स्यात्, कार्येऽप्येको न मे सुतः ॥१॥

इति असारपुत्रादिसम्बन्धे श्रेष्ठिकथा ॥३६६॥

[367] अथ प्रत्युत्पन्नमतौ माणिक्यसूरिसम्बन्धः ।

एकदा मुहडासके पुरे केनचिद्राज्ञा पथि त्रि. प्रदक्षिणीकृत्य गौर्वन्दिता तथा माणिक्य-सूरिणा प्रदक्षिणीकृत्य खर प्रणत । तदनु राज्ञोक्त—खरो भवता कथ नतः ? सूरिणोक्त—पूजितत्वात्, खरेण जातमात्रेण त्रयो देवा प्राकम्पिता । राज्ञोक्त—कथमेतद् ज्ञायते ?

ब्रह्मणा स्वशिरो दत्तं, ईश्वरेण विलेपनम् ।
विष्णुना भयभीतेन, गदाशंखौ समर्पितौ ॥१॥

ब्रह्मणा स्वपरीक्षायां पञ्चम गर्दभमस्तक कृतम् । भवेन विलेपन-स्वा विभूतिः रक्षा दत्ता कोटनाय । विष्णुना—गदा लिङ्गरूपा, शखाकारः श्वेतमुखदानात् गदाशखौ ।

इति प्रत्युत्पन्नमतौ माणिक्यसूरिसम्बन्धः ॥३६७॥

[368] अथ जीवदयायां जितशत्रुभूपसंबंधः ।

जीर्णदुर्गे जितशत्रुर्मृगयायां गतोऽन्यदा जीवहिंसां कुर्वन् चारणश्रमणर्षिणा प्रोक्तं—

जीववधंता नरगगइ, अवधंतां गइ सग्गि ।
हउं जाणउं दोइयघडी, जिणि भावइ तिणि लग्ग ॥१॥

अनया गाथया राजा प्रबुद्धो जीवहिंसामत्याक्षीत् ।

इति जीवदयायां जितशत्रुभूपसंबंधः ॥३६८॥

[369] संसारासारतायां कन्या हडि[हिडि]रेवेति ।

कस्मिंश्चिद् ग्रामे एको मित्रं पाणिग्रहणोत्सुकं दृष्ट्वा प्राह—भवान् हिडौ क्षिप्यमाणोऽसि

तेनोक्त का हिडिः ? यतिनोक्तं—यां कन्यां परिणेष्यसि त्वं सा हिडि. । सोऽवग्—सा वर्या स्त्रीर्विद्यते ।

यतिः प्राह—अस्यां हिडौ प्रविष्टस्य दुःखं स्यात् । स च सुहृन्न मन्यते । ततः स हिडौ प्रविष्टः । कालान्तरे साधुनोक्तं—अस्ति सुखं ? सुहृत्प्राह—हिडिप्रविष्टस्य क्व सुखं, या स्त्री हिडिः प्रोक्ता सा सत्यैव, मोक्तुं न शक्यते लोकापवादात् । पुन. कालान्तरे साधुना पृष्टं सुखमस्ति ते । सोऽवग्—कथं सुखं प्रथमं हिडौ प्रविष्टोऽहमधुना पुत्रपत्न्यादि खिलिकाभिर्दृढं जडितोऽस्मि ? आजीविकाया दुःखं । ततो यतिनोक्तमधुनापि मुञ्च । ततोऽवग्—व्रताद्बिभेमि । पश्चान्मृतः स नरके[कं] गतः । यतिस्तु स्वर्गे सुरोऽभूत् । तत स्वर्गादभ्येत्य नरके सुहृदग्रे प्रोक्तं—त्वं व्रताद्भीतोऽभूत्, अधुनेदृशं दुःखं ते । ततोऽतीव झूरन्नभूत् अत प्रथममेव चिन्त्यम् । इति ससारासारतायां कन्या हडिरेवेति कथा ॥३६९॥

[370] अथ प्रमादिहाडिजल्पकस्त्रीसम्बन्धः ।

एका स्त्री गृहे उन्निद्रा सती स्वगृहकार्यं कुर्वाणा क्षण विश्रामं न लाति । सा च श्रीहेम सूरिसभाया व्याख्यान श्रोतुं गता भित्ताववष्टभ्य निद्रायति [निद्राति] बहूक्ताऽपि न जागर्त्ति, तदाकस्मात् क्षुल्लकस्य हस्तात् त्रिपुणके पतिते खाटूकारशब्दाज्जागरिता 'हाडि हाडि' इति जल्पन्ती उत्थिता तदा सर्वा सभा जहसत् [अहसत्] ।

इति प्रमादिहाडिजल्पनकस्त्रीसंबंधः ॥ ३७० ॥

[371] अथ नाणावालसूरिपूर्णिमापाक्षिकसूरिमिथो वार्त्तासंबंधः ।

एकदा नाणावालराकाचार्यौ मिलितौ, मिथ कुशलपृच्छायां नाणावालाचार्याः प्रोचुः—'खतदूहवइ छइ' ।

राकाचार्यैरुक्तं—खतं किं प्रोच्यते ? नाणाचार्यैरुक्तं—ख:-खरः, तर-तः तया दूहवइ छइ अस्मन्मध्यनिर्गमनत्वात् ।

राकाचार्या जगुर्वयं—आन्त्रिनिर्गते जीवू छु । नाणावाला जगुः—युष्माक का आन्त्रिनिर्गता. । राकाचार्याः प्रोचुः—आं-आंचलीया, त्रि-त्रियोईआ आगमिका अस्मभ्यो निर्गता । अतो वयं आन्त्रिनिर्गते अपि जीवन्तः स्म ।

नाणावालसूरिपूर्णिमापाक्षिकसूरिमिथो वार्त्तासंबंधः ॥३७१॥

[372] अथ भाग्ये जयसिंहकथा ।

कर्णाटकदेशीयकेशिराज्ञः पुत्रीं मणयल्लदेवीं स्वयंवरामायातां गूर्जरनृपो मूलराज पत्तनस्वामी अङ्गीचक्रे । परं तस्य दौर्भाग्यत्वात् नामापि न लाति ।

अन्यदा राजानं कस्यांचिदधमयोषिति साभिलाष ज्ञात्वा मूलराजमन्त्री डुम्बिणीरूप-

धारिणीं मणयल्लदेवीमेव ऋतुस्नाता रहसि प्राहिणोत् । राजा डुम्बिनीबुद्ध्या तां बुभुजे । तस्या आधानं जात । तदा सकेताय राज्ञा स्वनामाङ्का मुद्रिका दत्ता । तस्यै वार्ता कृता । स्वस्थाने गता राज्ञी । राज्ञा प्रातः डूम्बिनीं भुक्तां स्वय स्मृत्वा पश्चात्तापपर काष्ठभिक्षा याचते मन्त्रिभ्य यदा राज्ञस्तप्तपुत्तलिकामालिङ्गनेन मरण कुर्वतो मन्त्रिणा मणयल्लदेव्या भोगसम्बन्ध प्रोक्त. । ततो राजा स्वस्थोऽभूत् । ततः सुलग्ने जातः पुत्र , कृते जन्मोत्सवे जयसिंहनामाऽभूत् । स त्रिवार्षिकः क्रीडया नृपसिंहासनमारूढो यदा तदा राज्ञा वयवेलां ज्ञात्वा राज्याभिषेकश्चक्रे तस्मै सूनवे । स्वय तु आशापल्या वसन्ताद्दम् भिल्ल लक्षस्वामिन जित्वा कर्णावतीनगर निवेश्य तत्र राज्य चक्रे । ततः जयसिंहो महाराजोऽभूत । इति भाग्ये जयसिंहकथा ॥३७२॥

[373] अथ हेमसूरिनामनव्यव्याकरणविषये हेमसूरिसम्बन्धः ।

जयसिंहो यदा धाराधीश यशोवर्मनृपं जित्वा पत्तने समागात्तदा श्रीहेमसूरिरेवमाशीर्वादं ददौ । तथाहि—

भूमिं कामगवि ? स्वगोमयरसैरासिञ्च रत्नाकरा ?
मुक्तास्वस्तिकमातनुध्वमुडुप ! त्वं पूर्णकुम्भी भव ।
धृत्वा कल्पतरोर्दलानि सरलैर्दिग्वारणास्तोरणा-
न्याधत्त स्वकरैर्विजित्य जगतीं नन्वेति सिद्धाधिपः ॥१॥

राजा चमत्कृतः । ततो नृपो द्विजानाहु—श्वेताम्बराणामतीव वैदग्ध्यम् । ततो द्विजैरुक्तम्—अस्मच्छास्त्राण्यधीत्यैते विज्ञा बभूवुः । ततो हेमसूरिरवग्—मिथ्येदं श्रीवीरेणेन्द्राय यत्प्रणीत व्याकरण तदैन्द्र व्याकरण वय भणामोऽन्येषामपि व्याकरणानि विलोकयामः । विप्राः प्रोचु—अस्मदीयं व्याकरण मुक्त्वाऽन्यव्याकरण दर्शय । ततो नृपादेशान्नवीनं जयहेमाख्यं व्याकरणं हेमसूरिश्चक्रे सपादलक्षप्रमाण । ततो राज्ञा पट्टहस्तिनमारूढ कृत्वा महोत्सवपूर्वं व्याकरणयुक्तं राजमार्गे स्वस्थाने प्रेषीत् । व्याकरणप्रतय पण्डितानां सूरिणा ददिरे तदा प्रोक्तं विप्रैर्भूपस्याग्रे—युष्मद्वंशो वर्णितो नात्र व्याकरणे । ततस्तत् ज्ञात्वा हेमसूरिणा ३२ श्लोकान् । चौलुक्यवंशवर्णनगर्भान् ३२ पादप्रान्ते देवतापार्श्वात् स्थापयामास । प्रात सर्वासु प्रतिषु दृष्ट्वा राजा चमत्कृत । विप्राः कृष्णास्या जाता ।

इति हेमसूरि[जयहेम]नामनव्यव्याकरणविषये हेमसूरिसम्बन्धः ॥३७३॥

[374] अथ हकाररुदनवन्ध्यत्वसम्बन्धः ।

एकदा चतुर भट्ट प्रति हेमसूरि प्राह—किं ते हस्ते विद्यते ? भट्टोऽवग्—'हरडइ' । हेम. प्राह—कि 'हरडइ'-शब्दच्छलेन हकारो रडइ—रोदिति । चतुरो भट्टोऽवग्-हो मात्रिकायामन्त्योऽप्याद्योऽभून्मात्राधिकश्च । तव[मम]नास्ति, जगद्वन्द्यो ऽस्ति[असि],साम्प्रतं ततो 'रडइ' श्रुत्वैवसतो गुरवो हृष्टा । इति हकाररुदनवन्ध्यत्वसम्बन्धः ॥३७४॥

[375] अथ पोमदेवसूरि-जयकेसरिसूरिसम्बन्धः ।

एकदा सोमदेवसूरिः पुराद्बहिर्जयकेसरिसूरेर्मिलितः । मिथः प्रीतिवार्त्तायां श्रीसोमदेवसूरिराह तर्क उच्यतां । तदा जयकेसरिर्जगौ—अद्य सोमवारः पूर्णिमाऽस्ति । अतो यूयं बलिनः पूर्णिमा-सोमवारत्वात् । श्रीसोमदेवसूरिर्जगौ-वने तु केसरी अपि बलिष्टः । ततो हृष्टः सूरिः ।

इति सोमदेवसूरि-जयकेसरिसूरिसम्बन्धः ॥

[376] अथ सोदरकथा ।

एकस्मिन् ग्रामे द्वौ सोदरौ कोक-रामाभिधौ वसतः स्म । तयोर्भगिनी धनीकुले परिणीता ।

अन्यदा तौ भगिनीगृहे गतौ । तयोर्दरिद्रता दृष्ट्वा दध्यौ, यदि लोका जानते इयमेतयोर्भगिनी ततस्तया भक्तिर्न कृता । प्रातिवेश्मिकैरुक्त—भवत्या इमौ सोदरौ कथं त्वया भक्तिर्न क्रियते ! ततस्तया प्रोक्त-'गादह बूची' इमौ । तच्छ्रुत्वा तौ दुःखितौ सोदरौ स्वगृहे गतौ, पश्चात्क्रमाद्धनिनौ जातौ । ततोऽन्यदा अलवडीं महिषीं लात्वा भगिनीगृहे गतौ । ततस्तयोर्भक्तौ क्रियमाणाया तावेव प्रोचतुः—

गौरव कीजइ अलवडी, न य को किया न उ राम ।
गरथ विहूणा माणसह, गादह बूची नाम ॥१॥

इति निर्धने गादहबूची स्वकीयौ इति सोदरकथा ॥३७६॥

[377] अथ गर्वे नारीसम्बन्धः ।

कापि स्त्री कस्या अपि गलश्रियं मार्गयित्वा स्वगले क्षिप्त्वा कस्यापि गृहे जेमनायागता । इतो गलश्रीस्वामिनी तत्रागता स्फारान् स्फारान् कवलास्त्वरित मुखे प्रक्षिपन्तीं सखीं दृष्ट्वोवाच लघवः लघवः कवला ध्रियन्ताम्, अतो मम गलश्रीस्त्रुटिष्यति । तयोक्त—यदि ते धनमस्ति तदा छोटव्यता गलश्रीः । तत सा लज्जिता । इति गर्वे नारीसम्बन्धः ॥३७७॥

[378] दण्डालासौवर्णकासम्बन्धः ।

एकस्य भूपस्याग्रे योगी ययौ । तदा राजा नोत्तस्थौ । ततो योगी जगौ—

तांवा तुवा दोही मूचा; राजा योगी दोही कुन्चा ।

ततो राज्ञा सिंहासने दत्ते योग्यवग्—

तांवा तूंवा दोही सूचा; राजा पाहिं जोगी ऊंचा ॥१॥

ततो योगिना कला स्वा दर्शिता अष्टोत्तरशतताम्रभारमध्ये चूर्णं क्षिप्त्वा स्वर्णं योगी चक्रे । ततो हेमविद्या याचिता यदा तदा योगी नाऽदात् । ततो राज्ञा स्वबले दर्शिते योगी जगौ-त्वादृशा मत्फुत्कृतेन उड्डीयन्ते । ततो योगिना नेत्रमेकमञ्जितं ततोऽदृंदृश्योऽभूव । द्वितीय-

नेत्रेऽञ्जिते अदृश्योऽजनि । ततोऽदृश्यरूपो योगी राज्ञो मुकुटं जग्राह । ततो योग्यवदत्—यदि त्वां हत्वा राज्यं लामि तदा त्वया किं स्यात् । ततो विनयेन रोज्ञोक्तं–त्वं कृपापरोऽसि यथा मन्नाम तिष्ठति तथा कुरु । ततः स्वर्णसिद्धिं कृत्वा राजयोगिभ्यां सौवर्णके राज्ञो रूपं योगिनो दण्ड आलेखितस्ततो "दण्डालासौवर्णिका' इति प्रसिद्धिर्जाता ।

इति दण्डालासौवर्णिकासम्बन्धः ॥३७८॥

[379] अथ वप्पभट्टिसूरिप्रोक्तधर्मलाभार्थसम्बन्धः ।

एकदा आमसभाया श्री बप्पभट्टिना धर्माशिषि दत्तायां भट्टः प्राह—

नो वापी नैव कूपी न च रसमरसी नैव तीर्थं न गङ्गा,
न(च)ब्रह्मा नैव विष्णुर्न च दिवसपतिर्नैव शम्भुर्न दुर्गा ।
विप्रेभ्यो नैव दानं न च जपनविधिर्नैव होमं हुताशो,
रे रे पाखण्डमुण्डाः ! कथयत भवतां कीदृशो धर्मलाभः ॥१॥

तदनु सूरयः प्राहुः—

दुर्वारा वारणेन्द्रा जितपवनजवा वाजिनः स्यन्दनौघाः,
लीलावत्यो युवत्यः प्रचलितचमरैर्भूपिता राज्यलक्ष्मीः ।
उच्चैः श्वेतातपत्रं चतुरुदधितटी संकटा मेदिनीयं,
प्राप्यन्ते यत्प्रसादात्त्रिभुवनविजयी सोऽस्तु वो धर्मलाभः ॥२॥

तत सर्वे चमत्कृताः जनाः ।

इति बप्पभट्टिसूरिप्रोक्तधर्मलाभार्थसम्बन्धः ॥ ३७९ ॥

[380] अथ भोगविषये भोगसारकथा ।

अधअ अघंतरवर्षाकाल, स्त्री चरित्र अनइ रोतां बाल ।
ईह एता जे जाणइ भेअ, तेह घरि नीरवहइ सहदेव ॥१॥

अस्या गाथाया कथकस्य लक्षदाने आम्रभूपसम्बन्धः ।

स्त्रीचरित्रे काम्पील्यपुरे भोगसारेभ्येन श्रीशान्तिनाथस्य प्रासादः कारितः । प्रभो कर्पूरागरुचन्दनकेसरादिभिर्भोगस्तथा क्रियते यथा शान्त्यधिष्ठाता सुरः प्रीणितः । कालान्तरे मृतायां पत्न्यामन्यां प्रियामङ्गीचक्रे धनी । सा च पत्नी ग्रन्थिं कुर्वन्ती स्वेच्छया भुङ्क्ते स्म । क्रमात्सर्वं धन क्षीण । स्तोकमेव तिष्ठति । ततो ग्रामान्तरे श्रेष्ठी वासमकार्षीत् । सा च पत्नी प्रच्छन्न कृत धन न दर्शयति स्म । धनाभावात् श्रेष्ठी कृषिकर्म विधत्ते स्म । सा स्त्री पक्वा–

[375] अथ सोमदेवसूरि–जयकेसरिसूरिसम्बन्धः ।

एकदा सोमदेवसूरिः पुराद्बहिर्जयकेसरिसूरेर्मिलितः। मिथः प्रीतिवार्त्तायां श्रीसोमदेवसूरिराह तर्कं उच्यतां । तदा जयकेसरिर्जगौ—अद्य सोमवारः पूर्णिमाऽस्ति । अतो यूयं बलिनः पूर्णिमा–सोमवारत्वात् । श्रीसोमदेवसूरिर्जगौ–वने तु केसरी अपि बलिष्टः । ततो हृष्टः सूरिः ।

इति सोमदेवसूरि–जयकेसरिसूरिसम्बन्धः ॥

[376] अथ सोदरकथा ।

एकस्मिन् ग्रामे द्वौ सोदरौ कोक–रामाभिधौ वसतः स्म। तयोर्भगिनी धनीकुले परिणीता ।

अन्यदा तौ भगिनीगृहे गतौ । तयोर्दरिद्रता दृष्ट्वा दध्यौ, यदि लोका जानते इयमेतयोर्भगिनी ततस्तया भक्तिर्न कृता । प्रातिवेश्मिकैरुक्त—भवत्या इमौ सोदरौ कथं त्वया भक्तिर्न क्रियते ? ततस्तया प्रोक्तं–'गादह बूचो' इमौ । तच्छ्रुत्वा तौ दुःखितौ सोदरौ स्वगृहे गतौ, पश्चात्क्रमाद्धनिनौ जातौ । ततोऽन्यदा अलवडीं महिषीं लात्वा भगिनीगृहे गतौ । ततस्तयोर्भक्तौ क्रियमाणायां तावेव प्रोचतुः—

गौरव कीजइ अलवडी, न य को किया न उ राम ।
गरथ विहूणा माणसह, गादह बूची नाम ॥१॥

इति निर्धने गादहबूची स्वकीयौ इति सोदरकथा ॥३७६॥

[377] अथ गर्वे नारीसम्बन्धः ।

कापि स्त्री कस्या अपि गलश्रियं मार्गयित्वा स्वगले क्षिप्त्वा कस्यापि गृहे जेमनायागता । इतो गलश्रीस्वामिनी तत्रागता स्फारान् स्फारान् कवलास्त्वरित मुखे प्रक्षिपन्तीं सखीं दृष्ट्वोवाच लघवः लघवः कवला ध्रियन्ताम्, अतो मम गलश्रीस्त्रुटिष्यति । तयोक्त—यदि ते धनमस्ति तदा छोटव्यतां गलश्रीः । तत. सा लज्जिता । इति गर्वे नारीसम्बन्धः ॥३७७॥

[378] दण्डालासौवर्णकासम्बन्धः ।

एकस्य भूपस्याग्रे योगी ययौ । तदा राजा नोत्तस्थौ। ततो योगी जगौ—

तांबा तुंबा दोही मूचा; राजा योगी दोही कुन्चा ।

ततो राज्ञा सिंहासने दत्ते योग्यवग्—

तांबा तूंबा दोही सूचा; राजा पाहिं जोगी ऊंचा ॥१॥

ततो योगिना कला स्वा दर्शिता अष्टोत्तरशतताम्रभारमध्ये चूर्णं क्षिप्त्वा स्वर्णं योगी चक्रे । ततो हेमवि याचिता यदा तदा योगी नाऽदात् । ततो राज्ञा स्वबले दर्शिते योगी जगौ–त्वादृशा मत्फुत्कृतेन उड्डीयन्ते । ततो योगिना नेत्रमेकमञ्जित ततोऽदृश्योऽभूत् । द्वितीय–

नेत्रेऽञ्जिते अदृश्योऽजनि । ततोऽदृश्यरूपो योगी राज्ञो मुकुटं जग्राह । ततो योग्यवदत्—यदि त्वां हत्वा राज्य लामि तदा त्वया किं स्यात् । ततो विनयेन रोज्ञोक्तं–त्वं कृपापरोऽसि यथा मन्नाम तिष्ठति तथा कुरु । ततः स्वर्णसिद्धिं कृत्वा राजयोगिभ्यां सौवर्णके राज्ञो रूपं योगिनो दण्ड आलेखितस्ततो "दण्डालासौवर्णिका' इति प्रसिद्धिर्जाता ।

इति दण्डालासौवर्णिकासम्बन्धः ॥३७८॥

[379] अथ बप्पभट्टिसूरिप्रोक्तधर्मलाभार्थसम्बन्धः ।

एकदा आमसभायां श्री बप्पभट्टिना धर्माशिषि दत्तायां भट्टः प्राह—

नो वापी नैव कूपी न च रसमरसी नैव तीर्थं न गङ्गा,
न(च)ब्रह्मा नैव विष्णुर्न च दिवसपतिर्नैव शम्भुर्न दुर्गा ।
विप्रेभ्यो नैव दानं न च जपनविधिर्नैव होमं हुताशो,
रे रे पाखण्डमुण्डाः ! कथयत भवतां कीदृशो धर्मलाभः ॥१॥

तदनु सूरयः प्राहुः—

दुर्वारा वारणेन्द्रा जितपवनजवा वाजिनः स्यन्दनौघाः,
लीलावत्यो युवत्यः प्रचलितचमरैर्भूषिता राज्यलक्ष्मीः ।
उच्चैः श्वेतातपत्रं चतुरुदधितटी संकटा मेदिनीयं,
प्राप्यन्ते यत्प्रसादात्त्रिभुवनविजयी सोऽस्तु वो धर्मलाभः ॥२॥

तत सर्वे चमत्कृताः जनाः ।

इति बप्पभट्टिसूरिप्रोक्तधर्मलाभार्थसम्बन्धः ॥ ३७९ ॥

[380] अथ भोगविषये भोगसारकथा ।

अघअ अघंतरवर्षाकाल, स्त्री चरित्र अनड रोतां बाल ।
ईह एता जे जाणइ भेअ, तेह घरि नीरवहइ सहदेव ॥१॥

अस्या गाथाया कथकस्य लक्षदाने आम्रभूपसम्बन्धः ।

स्त्रीचरित्रे काम्पील्यपुरे भोगसारेभ्येन श्रीशान्तिनाथस्य प्रासादः कारितः । प्रभो कर्पूरागरुचन्दनकेसरादिभिर्भोगस्तथा क्रियते यथा शान्त्यधिष्ठाता सुरः प्रीणितः । कालान्तरे मृतायां पत्न्यामन्यां प्रियामङ्गीचक्रे धनी । सा च पत्नी ग्रन्थिं कुर्वन्ती स्वेच्छया भुङ्क्ते स्म । क्रमात्सर्वं धन क्षीणं । स्तोकमेव तिष्ठति । ततो ग्रामान्तरे श्रेष्ठी वासमकार्षीत् । सा च पत्नी प्रच्छन्नं कृत धन न दर्शयति स्म । धनाभावात् श्रेष्ठी कृषिकर्म विधत्ते स्म । सा स्त्री पक्वा-

आदि भक्षयन्ती भर्तुश्चवलादि कदन्नं दत्ते । श्रेष्ठी नाम्नैव भोगसारोऽभूत् । पत्नी तु भोगवती, जाता क्रमात्कुटिलाशया परनरेण सह भोगान् भुङ्क्ते स्म ।

एकदा शान्तिजिनस्याधिष्ठाता सुरो दध्यौ–प्रभो–कथमधुना भोगो न भवति ? ततोऽवधिना भोगसारदारिद्र्योत्पत्ति तत्पत्न्या कुशीलत्वस्थापनिकाकरणादि जज्ञौ । अयं जिनेन्द्रभक्त' श्रेष्ठी चवलक्षेत्र लुनानोऽभूत् । भार्या तु कुटिला पत्यभक्ता इति मया भोगसारस्य सान्निध्य कार्यं ततो भोगसारभागिनेयरूपं कृत्वा मामकगृहे गत्वा च माम्या जोत्कार कृत पृष्ट च क्व मे मातुलोऽस्ति ? माम्योक्तं–क्षेत्रे ते मातुल. क्षेत्रं खेटयन्नस्ति । ततः क्षेत्रे गत्वा मातुलस्यांह्री प्रणम्य स्थितो यदा तदा मामकोऽवग्—किमर्थमागा भागिनेय ? भागिनेयो जगौ–तव साहाय्यकृते । ततो मातुलोऽवग् - गृहे भुङ्क्ष्व गत्वा, पश्चात्त्वयाऽपि लाव्य क्षेत्र । भागिनेयोऽवग्–आवाभ्यां सार्द्धमेव जिमिष्यते, सम्प्रति मम वेला नास्ति क्षेत्रमलून विनक्ष्यति । भागिनेयो जगौ क्षेत्र लूनमेवज्ञेयमिति प्रोच्य दैवतशक्त्यैकत्र स्थापितं सर्वम् । मातुलोऽवग्—कथं चवला' कथं गृहे लास्यन्ते । तत. सर्वं चवलक्षेत्रसत्कं चवलादि उत्पाट्य गृहं प्रति चचाल भागिनेयः ।

इतस्तया स्त्रिया स्वपतिभागिनेयावागच्छन्तौ ज्ञात्वा स्वपार्श्वस्थ जार गोमाणिमध्ये छन्नं चक्रे । लप्पनश्र्यादि रसवती कोष्ठिकायां प्राक्षेपि तदा भागिनेयोऽभ्येत्य मामिकाया जोत्कारं कृत्वाऽऽह–मामक समायात आगतस्वागतादि क्रियताम् । तत. सद्यो गोमाणिकाया ऊर्ध्वं चवलकभर मुक्त्वा कणीकर्त्तुं चवलान् कुट्टयितु लग्नो भागिनेय तदा जारो जर्जरीभूतः स्वं मृतप्राय मेने तदा भोगवती स्वस्योपपतिं मृतप्रायं ज्ञात्वा प्राह–अधुना जिम्यता । त्वं श्रान्तोऽभूः । ततो द्वावपि जेमितुमुपविष्टौ तदा चवलादि कदन्नं परिवेशयितुमारेभे तया । ततो भागिनेयो जगौ–अह कदन्न न भोक्ष्ये । तयोक्त–वयमन्न कुतो दीयते । भागिनेयोऽवग्–कोष्ठिकामध्यस्थां लपनश्रिय परिवेषय । ततस्तया परिवेषिता लपनश्रियं भुक्त्वा द्वावपि पल्यङ्के सुप्तौ यदा तदा छन्नं स जारः—परपुमान् बहिर्निष्कर्षितस्तया । स च गतो निजालये । सा तु तयोः पार्श्वे स्थिता दध्यौ–अहो अस्य डाकिनत्व विद्यते नो चेल्लपनश्रियं कोष्ठिकास्थां कथ जानाति ।

इतो भागिनेयो मामकपार्श्वे प्राह–कथ सामलस्य सूनोर्विवाहो न क्रियते ? मातुलो जगौ धनं विना कथ पुत्रस्योद्वाह क्रियते ? धनेनैव मनोरथा पूर्यन्ते । ततो भागिनेयोऽवग्—मामक ! त्वमुत्तिष्ठ, अत्रस्थ धनं बहु गृहाण । ततो विवाहो विस्तरात्क्रियतां । तस्या पश्यन्त्या स्व धनं श्रेष्ठी भूमेश्चकर्ष । ततो धनयोगाद् विवाहो मेलितो, लग्नमपि गृहीत, विवाहावसरे भोजनदिने तया स्त्रियाऽध्यायि, तमुपपतिं विना किं सर्वजनजेमनेन ? ततो स्वस्या अभिष्टस्य प्रच्छन्नं निमन्त्रणं कृतमिति उक्तं च त्वया स्त्रीवेषधारिणीस्त्रीमध्ये भूत्वा गन्तव्यं भोजनाय । यदि त्वमागास्तदा मम सुखं स्यात्ततो विवाहदिने भोजनावसरे स्त्रीवेषभृत् स उपपतिर्जेमितुमागात् । ततः स्त्रीमध्ये जेमितुमुपविष्टः स भागिनेयो जगौ–मयाऽद्य परिवेषण करिष्यते । मामकोऽवग् त्वमेव कुरु । ततो भागिनेये परिवेषयति सति सा स्त्री विलोकयति यदा भागिनेयः परिवेषयन् तस्य स्त्रीरूपधारिणो भाजने परिवेषयितुं याति तदा छन्नं वक्ति–त्व गोमाणिमध्ये जर्जराङ्गोऽभूः । स तिराचष्ट–नाह, स एवं द्वित्रिर्वारे प्रोक्ते भागिनेयो जगौ–एषा स्त्री सर्वस्य पक्वन्नादेर्निषेधं करोति, अहो बालेनेव जिमसि तर्हि जेमनाय स्त्रीमध्ये कथमायासि । एव प्रोच प्रोच यदा तस्याः किमपि न परिवेषित तदा भोगवत्या उचाटोऽभूत् । ततो मिष कृत्वा मोदकानानीय

छन्नमुपपतेर्भोजने मोदकाः परिवेषितास्तया तदा तया स्त्रिया कियन्तो भक्षयित्वा चत्वार कुक्षौ क्षिप्ताः । सर्वासु स्त्रीषु उत्थितासु भागिनेयोऽवग्-प्रत्येकं मम मातुलमण्डपमक्षतैर्वर्द्धाप्यतां । सर्वाभिः स्त्रीभि॰ प्रत्येक मगलार्थं [सर्वाभि॰ स्त्रीभि]मण्डपे वर्द्धापिते यदा सा न वर्द्धापयति मण्डप तदा भागिनेयो जगौ-मातः ! त्वं कथ न वर्द्धापयसि । पङ्क्तौ भोक्तुमुपविष्टा, अधुना पङ्क्ते कथं पृथग्भवसि । ततो यदा सा वर्द्धापयितुं लग्ना तदा कुक्षेर्मोदका॰ पेतुः क्षितौ । मातुलेनोक्तं-मोदका कुत आयान्ति । भागिनेयो जगौ-तव पुत्रविवाहोत्सवे मण्डपो मोदकैर्वर्षति साम्प्रत । ततो मातुलो जगौ भागिनेय ! त्वं कथ ज्ञानी जातोऽसि । ततः स स्वरूप प्रकटीकृत्य तस्या स्त्रिया पत्न्या आमूलचूलं देव प्रोच्चावग्---अह शान्तिनाथस्याधिष्ठाता सुरो-अनया भोगवत्या तव सर्वं धन हृत भूमिगत चक्रे । त्व दुःखी जात, देवस्य भोगो न भवति अतो मयैतत्कृत । ततो भोगवत्यो उक्त तेन देवेन, यद्यत पर त्वया भोगसारस्य प्रतिकूलत्व करिष्यते तदा त्वामह हनिष्यामि । तस्य जारस्याप्येव प्रोक्त । द्वावपि अकार्यकरणे नियम ग्राहितौ । भोगसार ! त्व पुण्यवान् स्वगृहे याहि, यदा तव धनेच्छा स्यात् तदा त्वया कायोत्सर्गः कार्यं । अह तव चिन्तितमर्थं दास्ये । एवं प्रोच्य लक्षटङ्ककान् दत्त्वा देवस्तिरोदधे । ततो भोगसारो विशेषत शान्तिनाथस्य पुर॰ कर्पूरागरुकस्तूर्यादिभि सदा भोग कुर्वन् वासुदेवचक्रवर्त्यादिमुक्तिप्रान्तां श्रियं क्रमात्प्राप ।

इति भोगविषये भोगसारकथा ॥३८०॥

[381] अथ वधूविषये कथा ।

चम्पायां पुर्यामरिमर्दनभूपस्य राज्यं कुर्वतः कमलेश्वरो व्यवहार्यभूत् । तस्य सेना पत्नी । तयोश्चत्वारः पुत्रा-श्रीराज-मदनभ्रम-नागेश्वर-धनेश्वराह्वाः क्रीडां कुर्वन्ति गृहाङ्गणे । यत.—

दर्शं दर्शं सदा तेषां, क्रीडनं कुर्वतां मिथः ।
हर्षोत्कर्षं वितन्वाते, जननीजनकौ भृशम् ॥१॥

यतः— स्याच्छैशवे मातृमुखो, यौवने युवतीमुखः ।
वार्धके च पुत्रमुखो, मूढो नात्ममुखः क्वचित् ॥२॥

व्यवहारिणाऽपि पुत्रा बुधान्ते पठितु मुक्ताः, क्रमात्ते विद्वांसो जाता । तेऽपि पुत्रा बहुधनव्यय कृत्वा महेभ्यपुत्रीः परिणायिता । गृहभारः सर्वं पुत्रेष्वारोपित । क्रमाद्वध्वः स्वशुरस्य कथित न कुर्वन्ति । यतः—

हत्थी दम्मइ संवच्छरेण, मासेण दम्मइ तुरओ ।
महिलाए किर पुरिसो, दम्मइ एक्केण दिवसेण ॥३॥

क्रमात्ता वधूट्यः स्वशुरदूषण स्वस्वपत्युः पुर प्राचु । युष्मन्माताऽपि अस्मान् दुःखे पातयत्येवं गालिप्रदानपूर्वं पानीयमानयते रक्षोत्था[च्छा]रण कारयते अस्माभिः । पानीयं

गल्यते । खट्वा प्रस्तार्यते । पादा' प्रक्षाल्यन्ते । छगणस्थापनं क्रियते । खण्डनं क्रियते । प्रेषणं क्रियते । चुल्हीसंधुक्षणं क्रियते । नवग्रहवत् पीडाकारिणी श्वश्रूः अदग्धधान्येऽपि दग्धं, अभग्नेऽपि घटे भग्नं घटं वक्ति श्वश्रूः । एवं कथमस्माभिर्निर्वाहयिष्यते ? ननान्दाऽपि वक्ति नाभ्या घटो भग्नः, अदग्धमपि धान्यं दग्ध । ततस्तेषा भार्यावशीभूताना मातृपितृभगिनीष्वपि द्वेषोऽभूत् । यतः--

रमणीं विहाय न भवति, विसंगतिः स्निग्धबन्धुजनमनसाम् ।
यत्कुञ्चिका सुदृढमपि, तालकबन्धं द्विधा कुरुते ॥ ४ ॥

ततस्ताभिर्वधूभिरुक्त—यदि युष्माभिः पृथग्भूयते तदा यूय सुखिनो भविष्यथ, आत्मनोऽपत्यानि परिणयनयोग्यानि जातानि । एतौ डोलोत्करौ किं कुरुत आत्ममध्ये यतः--

भाऊगुरुगुणघेरडा, भुहिं ऊ घढा भमंति ।
हारत्तं जुव्वणरयण, ते फिरिफिरि जोअंति ॥५॥

ततस्ते पृथग्भूता । ततो मातापितरौ नीरेन्धनधान्यादि स्वयमानयत स्म । गोमहिष्यादीनां हेतोश्चारिः स्वयमानयतश्च । एकदा कमलेश्वरस्य महिष्यादि पाययितु गच्छतोऽध्वनि सुहृद्वसन्तदत्तो मिलितो जगादेति–स्वयं कथं पानीयाद्यानीयते । युष्माकं पुत्राश्चत्वारो विद्यन्ते । ये ते कथं गृहादिकार्यं न कुर्वन्ति ? ततोऽश्रुपातपूर्वं श्रेष्ठी जगौ--अहो मित्र ! त्वया न ज्ञातमस्मद्गृहस्वरूप । गतं सर्वं वस्तुसारं । मित्र जगौ--किं गत ते । कमलेश्वरोऽवग्--खात्र पतित । कस्यचिद् घोटकाः यान्ति । कस्यचिद्बलीवर्दा, कस्यचिद् धान्यं याति, कस्यचिद्वस्त्र, कस्यचिद्भाजनं, मम गृहे तु पुत्रा हृताः । मित्रेणोक्त--केन हृताः ? कमलेश्वरोऽवग्--

वधूचौरैरवलाभिः कृतयो घटकैरिह ।
हृता मे सूनवो मित्र–स्तेनैर्धनिकैरिव ॥६॥

सुहृत्प्राहेति—

वाहरा न कृताः किं भोस्तत्पृष्टौ लघुसायुधैः ।
भटैर्वीर्योत्कटैर्गाढं साकं मित्र त्वया तदा ॥७॥

विषं मुञ्चन्ति सर्पोऽपि, गृहीतं तस्करा अपि ।
कृतयो घटका एते, न मुञ्चन्ति कदाचन ॥८॥

अतोऽन्यद्वस्तु गतं कदाचिद्वलते, पुनर्यद्वधूभिर्गृहीतं तत्प्राणान्तेऽपि न वलते ।

इति वधूविषये कथा ॥३८१॥

[382] अथ बुद्ध्युपरि कोथलकथा ।

एकस्य कस्यचिद्वणिजो गृहे सदा वधू रुतं कर्तयन्ती विश्रामं न लभते । इतोऽन्यदा

पुराद्बहिर्गता रूतकोथलकान् बहून् दृष्ट्वा प्राह सख्यग्रे—'काइं करिसिइ' इति जल्पन्तीं ग्रथिलां ग्रहग्रस्तां ज्ञात्वा श्रेष्ठी ज्योतिष्किकान् पृष्ट्वा पृष्ट्वा धनं भूरि व्ययितवान् । ततश्चैको बुद्धिमांस्तत्रागतः । कृत्रिमतृणसमूहं ज्वालयन् जगौ तां सुग्धां प्रति रूतकोथलका ज्वलन्तः सन्ति ज्वलिता वा । एतत् श्रुत्वा सा निर्ग्रथिला जाता हृष्टा च ।

इति बुध्युपरि रूतकोथलकथा ॥३८२॥

[383] अथ उचितसमस्यापूरणे भोजधनपालसम्बन्धः ।

अन्यदा भोजराजः रात्रौ निर्वस्त्रो लघुनीतिहेतवे गृहाद्बहिर्निर्ययौ, तदा स्व निर्वस्त्रत्व वीक्ष्य एकं समस्यापदं च करोति—'आजविगूता हंति'

ततो गृहमध्ये समेत्य सुप्त । प्रातर्धनपालपण्डितपार्श्वे स्व समस्यापद पप्रच्छ, तदा धनपालपण्डित औत्पत्तिकबुद्धिमान् पदत्रय प्राहेति—

लांबा तांणा नहि तणति, आडी, आडी नली न भरति ।
वणकर वेजा न वणंति, तो आजविगूता हंति ॥१॥

इति श्रुत्वा हृष्टो राजा धनपालाय लक्षत्रय ददौ ।

इति उचितसमस्यापूरणे भोजधनपालसम्बन्धः ॥३८३॥

[384] अथ समस्यापूरणे धनपालपण्डितसम्बन्धः ।

एकदा भोजराजो मार्गे गच्छन् एकां सुरूपां नारीं दृष्ट्वा हस्तस्थित नागवल्लीबीटक तस्याः पार्श्वे चिक्षेप तदा तया तद्बीटकं क्षिप्त दूरत, एतद् दृष्ट्वा राज्ञ समस्यापदं समुत्पन्नम्—

'किणि कारणि ए लखइं लंखइ'

एतत्समस्यापद धनपालपण्डितस्याग्रे राज्ञा पृष्ट । ततः पण्डितेनैव पूरिता समस्या पदत्रयकरणेन—

सकुलीणी नइ शीलवंती, रायदृष्टि पडी भमंती ।
अंगनयणप्रियकारणि राखइं, तिणि कारणि ए लंखइं लंखइ ॥१॥

एतच्छ्रुत्वा राजा पुनर्लक्षत्रय तस्मै ददौ ।

इति समस्यापूरणे धनपालपण्डितसम्बन्धः ॥३८४॥

[385] अथ भोजस्य धनपालपूरितसमस्यासम्बन्धः ।

एकदा भोजराज स्वधवलगृहस्योर्ध्वं स्थितः आसन्नगृहस्योपरि स्थितामेका स्त्रियं, अम्बरं

हस्तेन ऊर्ध्वीकृत्य आतपे शोषयन्तीं दृष्ट्वा समस्यापदं चकारेति—

[रंगि] 'रंग चगि उद्धंगि अभिअंगुलि धज फिरहरइ'

इम समस्यापदं राजा धनपालपण्डितपार्श्वे पप्रच्छ, तदा धनपालः पदत्रयकरणात्पूरयामास पूर्णं समस्यामिति—

एण१ इंदु२ अरविंद३ करणि४ कलकंठि५ तु हेमपयकणि६ नयणि१ चयणि२परिमलि३ चलंति४,
सुसरसद्दि५ कंति६ जिणमठ१ पुन्न२ पुलिअ३ मयंद४ अदट्ठ५ पंचदह६ घलिर ।
'वरि१ सरि२ वणि३ सुहकारि४ अह मेरुपव्वय५ सुरण६ सरइ१ मेहिम२ गमइ३,
पावस४ कुसुमाइ५ लिखिरइ रायरंगि चंगि उद्धंगि अभिअंगुलि धज फिरहरइ ॥१॥

अत्रापि पूर्ववद्दानम् । इति भोजस्य धनपालपूरितसमस्यासम्बन्धः ॥३८५॥

[336] अथ अकृतपुण्यस्य मन्त्रिणः सम्बन्धः ।

पद्मपुराद्वज्रभूपः सिंहवैरिणं जेतुं गत । तत्र महायुद्ध जातं । तदा एकस्य कस्यचित् पुरुषस्य मृतस्य पतितस्य शवं भक्षितुमेकः श्वानो गतो यदा तदा परो जगौ श्वानः—भो भ्रात. ! श्रूयतां मम वच पूर्वं ततो भक्षितव्यमिद । ततः स प्राह—

हस्तौ दानविवर्जितौ श्रुतिपुटौ सारस्वतद्रोहिणौ,
चक्षुः साधुविलोकने न रसिकं पादौ न तीर्थाध्वगौ ।
लुब्धालब्धितद्रव्यपूर्णमुदरं गर्वेण तुङ्गं शिरो,
भ्रातः कुर ! मुञ्च मुञ्च सहसा निन्द्यस्य निन्द्यं वपुः ॥१॥

एष पूर्वं बभूव । अनेन किमपि सुकृत न कृत । लोका दु खिन. कृता. । अतोऽस्य पापिनः शरीरं त्यज । ततस्तावपि श्वानौ तत्त्यक्त्वाऽन्यत्र गतौ ।

इति अकृतपुण्यस्य मन्त्रिणः सम्बन्धः ॥३८६॥

[387] अथ स्त्रीणामग्रे गुह्यं न वक्तव्यमितिविषये नागपुण्डरिककथा ।

एकदा तार्क्ष्याद्दुष्टाद् हननोद्यताननागपुण्डरिको नष्ट । भूतले समागतः दध्यौ च—कमप्याश्रय कृत्वा स्थीयते । अतो विप्ररूप कृत्वा एकां ब्राह्मणीं गृहिणीं चकार । तत स नागो मनोवाञ्छितं पत्न्याः पूरयति । पत्न्या पृष्ट त्व कुत. ईदृशीं श्रियमानयन्नसि ? स्त्रिया कदाग्रहे कृते स्व स्वरूपं पत्न्याः पुरः स जगौ । सा च पत्नी सदा पानीयमानेतुं सरोवरे याति । इतस्तार्क्ष्यः स्वं वैरिणं हन्तुं निर्गतः। स्थाने विलोकयन् दध्यौ "प्रायः पानीयहारिस्त्री-दण्डके बह्वी वार्ता श्रूयन्ते ।" तत. स तस्मिन् ग्रामे पानीयहारिदण्डकेऽभ्येत्य तस्थौ

दैवयोगात् ।

इत सा ब्राह्मणी स्वस्वभर्तृवर्णनं कुर्वाणाभ्य स्त्रीभ्य [प्रति] प्राह—मदीयो भर्त्ता नागपुण्डरिक. स च यद्वाञ्छयते तत्तत्पूरयति । एतत् श्रुत्वा तार्क्ष्यस्तस्याः स्त्रिय पृष्टौ गत्वा नागपुण्डरीक धृतवान् प्राह च--रे दुष्ट ! कुत्र यास्यसि मम पार्श्वात् ? तदा स स्वस्त्रीप्रोक्त ज्ञात्वा नागपुण्डरीको जगौ--

स्त्रीणां गुह्यम् न वक्तव्यं, प्राणैः कण्ठगतैरपि ।
नीयते पक्षिराजेन, नागपुण्डरिको यथा ॥१॥

एतज्जल्पन् स स्वस्थाने नीत्वा तार्क्ष्येण निगृहीतः ।

इति स्त्रीणामग्रे गुह्यम् न वक्तव्यमिति विपये नागपुण्डरीककथासम्बन्धः ॥२८७॥

[388] अथ पश्यतोहरसौवर्णकारसम्बन्धः ।

कस्मिंश्चित्पुरे सौवर्णिको दुर्बलो भूपेन दृष्ट पृष्टश्च तव दुर्बलत्व किं दृश्यते ? सौवर्णिको जगौ--हेम न दृश्यते । राजा जगौ—हेम दर्शयिष्यते तुभ्य, तदा त्वं मत्तो भविष्यसि । स जगौ—हेम दृष्ट यदि तदाऽह मत्त एव ।

ततो राज्ञा हेममयी ५२ पलमयी स्थालिका दर्शिता । तत सौवर्णकारका यत्र सा स्थाली धाव्यते तत्र कर्कशां वालुकां क्षिप्तवान् छन्न । ततः स सुवर्णकारकः ता वालुका लात्वा गालयित्वा सुवर्णसक्कुलं कृतवान्, मत्तोऽभूच्च ।

राज्ञा पृष्टमेतत्कुत प्राभृतीकृत । सोऽवग्—राजा तुष्टः। राजा प्राह–कथमहं तुभ्यं तुष्ट. ! तत स प्राह—स्वामिन् ! या ५२ पलहेमस्थाली विद्यते सा तोल्यता । ततो राज्ञा तोलापिता ४४ पलमयी जाता स्थाली । ततो पारितोपिकदान ददौ तस्मै ।

इति पश्यतोहरसौवर्णकारसम्बन्धः ॥३८८॥

[389] अथ दानपरीक्षायां ईश्वरपार्वतीसम्बन्धो लौकिकः ।

ईश्वरपार्वत्यौ पृथिवीचेष्टित विलोकयितु निर्गतौ । पार्वती जगौ–लोकाः सर्वे दानिनो विद्यन्ते। ईश्वरो जगौ–नैव। ततो लोकपरीक्षार्थं तापसरूप कृत्वा एकस्य कौटुम्बिकस्य गृहे गतौ । प्रात तदा तस्य पत्नी कछडक बन्धयित्वा जानुदघ्नकर्दमे भ्रमन्तीं, छाण क्षेपयन्तीं, गोरसं सर्वबलेन विलोक[ड]यन्तीं, विश्राममगृह्णाना दृष्ट्वा प्रोचतु—भिक्षां देहि । तदा कौटुम्बिका जगौ–किं सिक्ककाया वसितौ, यत· प्रातरेव भिक्षायै आगतौ युवां, नि·कर्माणौ स्थ.। अस्माक कार्याणि विद्यन्ते अधुना, परिवारिता नास्मि ।

ईश्वरो जगौ–तव ईदृश गोमहिषीधन अष्टगुणं भवतु। इति जल्पित्वा ततोऽग्रे गच्छन्ने-

क्षत्रि[ये] गृहे गतौ । तत्र भिक्षा याचिता । तेनोत्थाय भावतो भिक्षा ददे । ततो निर्गच्छन्नीश्वरोऽवग्—अस्य गृहं धक्ष्यतु । ततः सोऽग्रे यदा चचाल तदा स क्षत्रिय पृष्टौ गतः। पृष्टं, भवतैवं कथं जल्पित ? ईश्वरोऽवग्–तं पार्वतीं प्रति अग्रे कथयिष्यते ततः स क्षत्रियः पश्चाद्वलितः । स्वं गृहं दग्धं पुत्रपत्न्यौ च दग्धानि ज्ञात्वाऽकस्मान्मृतः ।

इत ईश्वरपार्वत्यौ स्वर्गे गतौ । पार्वत्या पृष्टं—येनावयोर्भिक्षा दत्ता सोऽत्र कथ सुख न भुङ्क्ते ! तत ईश्वर. क्षत्रियः पुत्रपत्नीयुत देवसुखं भुञ्जानो दर्शितः । दानेन ईदृशं सुखं प्राप्तं । मर्त्यलोके मनसा चिन्तित न सिध्यति । अत्र मनसा चिन्तितं सर्वं सम्पद्यते । पार्वती जगौ तर्हि सा कौटुम्बिका विलोक्यते । ततस्तत्रायातौ तत्र सा अष्टगुणे महिष्यादि धने जाते —गुण रलन्ती दर्शिता । ईश्वरेण प्रोक्तं च—अत्रैवं रुलति परत्र च श्वभ्रं गमिष्यति अतो मयोक्तमष्टगुणं भवतु । पार्वती प्राह—सत्यमुक्तं भवता, दानिनो भावतो ददाना स्तोका एव ।

इति दानपरीक्षायां ईश्वरपार्वतीसम्बन्धो लौकिकः ॥३८९॥

[390] अथ भाग्ये इभ्यपुत्र—निर्धनपुत्रसम्बन्धः ।

एकदा द्वौ पुरुषौ इभ्यनिर्धनपुत्रौ गुरुपार्श्वे श्लोकमेकं शुश्रुवतुश्चेति—

सर्वत्र सुखिनां सौख्यं, दुःखिनां दुःखमेव तु ।
सर्वत्र वायसाः कृष्णा, हंसाः श्वेताश्च सर्वतः ॥१॥

इति श्रुत्वा इभ्यपुत्रेण निर्धनपुत्रस्य श्रीर्दत्ता प्रोक्तं च–विदेशं गच्छ, लक्ष्मीमर्जय, यथेष्टं विलस । स च श्रियं लात्वा निर्ययौ लक्ष्मीकृते इभ्यपुत्रस्तु बाहुसखा निर्गत कस्मिन्पुरे गतस्तत्रोद्याने स्थितः ।

इतो [कश्चिद्] राजा परलोकं गतः । मन्त्रिभिश्चिन्तितं–राज्ञ. पुत्री तिलकसुन्दरी विद्यते । यस्य पञ्चदिव्य राज्य दत्तेऽस्मै साऽपि दीयते । एव कृते तै पञ्चदिव्यैरिभ्यपुत्रस्य राज्यं दत्त । ततः सा कन्याऽपि तस्मै ददे ।

इत स राजा गवाक्षस्थ एक कार्पटिक दृष्ट्वा स्वपार्श्वे नीतवान् । ततो राज्ञा स उपलक्षितः । ततोऽधोमुखो निर्धन पुमानभूत्ततः इभ्यपुत्रो राजा जगौ—गुरूक्त सत्य जात । गुरवः पृष्टाः । प्राग्भवसम्बन्ध प्राह–राजन् ! त्वया प्राग्भवे बह्वी श्रीधर्मे व्ययिता तेन तव राज्यं जातम् । अनेन तु प्राग्भवेऽपि सत्या श्रियि मनागपि धर्मे न व्ययित अतोऽसौ दरिद्री । ततो राजा धर्मं चकार विशेषात्सोऽपि निर्धनो निर्द्रव्यो धर्मं चक्रे । ततो द्वावपि अग्रेतने भवे स्वर्गतौ ।

इति भाग्ये इभ्यपुत्र—निर्धनपुत्रसम्बन्धः ॥३९०॥

[391] अथ परापवादग्रहणे लौकिकपरिव्राजिकासम्बन्धः ।

एकस्मिन् ग्रामे वेश्यापाटकासन्ने एका परिव्राजिका तिष्ठति । सा च स्नानादि कृत्वा भुङ्क्ते । ततः सा आसन्नवेश्यागृहे भोगाय नटविटखण्डकमनुजानागच्छतो दृष्ट्वा ईर्ष्यापरा दध्यावेवं—वेश्या पापिनी सदा पाप बहु कुरुते, ततस्तया तत्रागच्छतां नराणां संख्यां कर्तुमेकं

भाजनं मण्डित । यस्मिन्दिने यावन्तो नरा आगच्छन्ति तस्मिन्दिने तावन्त कर्करास्तया भाजने क्षिप्यन्ते ।

रे प्रव्राजिकाभ्राता समागत, भगिन्या भोजितः, सा च कार्याय वहिर्गता । इतोऽतिथिना भ्रात्रा भाजनमुद्घाटितं, कीटकभृतं दृष्ट्वा भगिन्या अग्रे पृष्टं—भगिनि ! इदं भाजन कीटकै. किं भृत ? साऽवग्—यावन्त पुरुषा अस्या वेश्याया गृहे भोगहेतवे समायान्ति तेषां संख्याकृते कर्करा मया क्षिप्ताः सन्ति । भ्राताऽवग्—त्व तु अस्यामीर्ष्यां दधाना अपवाद जल्पन्त्येवमकार्षीः तेन त्वया वेश्यापापं गृहीत, पापिनः करणवारो न क्रियते, यदि पापिनः क्रियते तदा तस्य लगति । यतः—

अतिथिश्चापवादी च, द्वावेतौ मम वान्धवौ ॥
अपवादी हरेत्पाप---मतिथिः स्वर्गसंक्रमः ॥१॥

यत्त्वया तस्यां वेश्यायामीर्ष्या कृता अत. कर्कराः कीटा जाता. । ततस्तया तद्गृह ऽन्यत्रोषितं । परापवादो मुक्त. । सुखिनी जाता ।

इति परापवादग्रहणे लौकिकप्रव्राजिकासम्बन्धः ॥३९१॥

[392] अथ कल्पितघूकसम्बन्धो दुर्जनोपरि ।

एकदा घूको भुव पाताल च जित्वा स्वर्गे गतः स्वर्गं जेतु । तत्र स्वर्गमुच्चालयितुम् घोरं कर्तुं लग्नः तदा शक्रस्त तादृश शब्द श्रुत्वा पप्रच्छ देवान् । कोऽसौ एवविधः स्वरः त । देवैः प्रोक्त—पाताल पृथ्वीं च जित्वा स्वर्गं जेतुं घूकोऽत्रायातोऽस्ति ।

इन्द्रोऽवग्—धीरां दत्त्वात्राकार्यताम् । तत्रेन्द्रपार्श्वे आनीतः स., इन्द्रेण पृष्टः—ईदृशा भूमण्डले वि : सन्ति ? घूकोऽवग्—

अरघट्टो घरट्टश्च, लम्बकर्णोऽथ वायसः ।
कौशिको रासभश्चैव, षडेते मधुरस्वराः ॥१॥

इन्द्रो —

एकेनोद्वासितः स्वर्गः, किं पुनः पञ्चभिः सह ।
हा हा वज्रमयी पृथ्वी, या न याता रसातलम् ॥२॥

इत्युक्त्वा शक्रोऽवग्—गच्छ, अरघट्टघरट्टादिस्वमित्रपार्श्वे नो चेदनेन तव शीर्षं छेत्स्यते । तत. स नष्टः पुनर्भूमण्डले समागात् ।

इति कल्पितघू न्धो दुर्जनोपरि ॥३९२॥

क्षत्रियस्य गृहे गतौ । तत्र भिक्षा याचिता । तेनोत्थाय भावतो भिक्षा ददे । ततो निर्गच्छन्नीश्वरोऽवग्—अस्य गृहं घक्ष्यतु । ततः सोऽग्रे यदा चचाल तदा स क्षत्रिय पृष्टौ गतः। पृष्टं, भवतैवं कथं जल्पित ? ईश्वरोऽवग्-तं पार्वतीं प्रति अग्रे कथयिष्यते तत स क्षत्रियः पश्चाद्वलितः । स्वं गृहं दग्ध पुत्रपत्न्यौ च दग्धानि ज्ञात्वाऽकस्मान्मृतः ।

इत ईश्वरपार्वत्यौ स्वर्गे गतौ । पार्वत्या पृष्टं—येनावयोर्भिक्षा दत्ता सोऽत्र कथ सुखं न भुङ्क्ते ! तत ईश्वरः क्षत्रियः पुत्रपत्नीयुत देवसुख भुञ्जानो दर्शितः । दानेन ईदृशं सुखं प्राप्त । मर्त्यलोके मनसा चिन्तित न सिध्यति । अत्र मनसा चिन्तितं सर्वं सम्पद्यते । पार्वती जगौ तर्हि सा कौटुम्बिका विलोक्यते । ततस्तत्रायातौ तत्र सा अष्टगुणे महिष्यादि धने जाते -गुण रलन्ती दर्शिता । ईश्वरेण प्रोक्तं च—अत्रैवं रुलति परत्र च श्वभ्रं गमिष्यति अतो मयोक्तमष्टगुणं भवतु । पार्वती प्राह—सत्यमुक्तं भवता, दानिनो भावतो ददाना. स्तोका एव ।

इति दानपरीक्षायां ईश्वरपार्वतीसम्बन्धो लौकिकः ॥३८९॥

[390] अथ भाग्ये इभ्यपुत्र—निर्धनपुत्रसम्बन्धः ।

एकदा द्वौ पुरुषौ इभ्यनिर्धनपुत्रौ गुरुपार्श्वे श्लोकमेकं शुश्रुवतुश्चेति—

सर्वत्र सुखिनां सौख्यं, दुःखिनां दुःखमेव तु ।
सर्वत्र वायसाः कृष्णा, हंसाः श्वेताश्च सर्वतः ॥१॥

इति श्रुत्वा इभ्यपुत्रेण निर्धनपुत्रस्य श्रीर्दत्ता प्रोक्तं च-विदेशं गच्छ, लक्ष्मीमर्जय, यथेष्टं विलस । स च श्रियं लात्वा निर्ययौ लक्ष्मीकृते इभ्यपुत्रस्तु बाहुमस्वा निर्गत कस्मिन्पुरे गतस्तत्रोद्याने स्थितः ।

इतो [कश्चिद्] राजा परलोकं गत. । मन्त्रिभिश्चिन्तितं-राज्ञ. पुत्री तिलकसुन्दरी विद्यते । यस्य पञ्चदिव्य राज्य दत्तेऽस्मै साऽपि दीयते । एव कृते तै पञ्चदिव्यैरिभ्यपुत्रस्य राज्यं दत्त । तत सा कन्याऽपि तस्मै ददे ।

इत. स राजा गवाक्षस्थ एकं कार्पटिक दृष्ट्वा स्वपार्श्वे नीतवान् । ततो राज्ञा स उपलक्षितः । ततोऽधोमुखो निर्धन पुमानभूत्ततः- इभ्यपुत्रो राजा जगौ—गुरूक्तं सत्य जात । गुरवः पृष्टाः । प्राग्भवसम्बन्धः प्राह-राजन् ! त्वया प्राग्भवे बह्वी श्रीर्धर्मे व्ययिता तेन तव राज्यं जातम् । अनेन तु प्राग्भवेऽपि सत्या श्रियि मनागपि धर्मे न व्ययितं अतोऽसौ दरिद्री । ततो राजा धर्मं चकार विशेषात्सोऽपि निर्धनो निर्द्रव्यो धर्मं चक्रे । ततो द्वावपि अग्रेतने भवे स्वर्गतौ ।

इति भाग्ये इभ्यपुत्र—निर्धनपुत्रसम्बन्धः ॥३९०॥

[391] अथ परापवादग्रहणे लौकिकपरिव्राजिकासम्बन्धः ।

एकस्मिन् ग्रामे वेश्यापाटकासन्ने एका परिव्राजिका तिष्ठति । सा च स्नानादि भुङ्क्ते । ततः सा आसन्नवेश्यागृहे भोगाय नटविटखण्डकमनुजान ो दृष्ट्वा ईर्ष्यापरा दध्यावेवं—वेश्या पापिनी सदा पाप बहु कुरुते, ततस्तया तत्रागच्छतां नराणां कर्पुमेकं

भाजनं पृथु मण्डित । यस्मिन्दिने यावन्तो नरा आगच्छन्ति तस्मिन्दिने तावन्त कर्करास्तया भाजने क्षिप्यन्ते ।

अत्रान्तरे प्रव्राजिकाभ्राता समागत, भगिन्या भोजितः, सा च कार्याय वहिर्गता । इतोऽतिथिना भ्रात्रा भाजनमुद्घाटित, कीटकभृतं दृष्ट्वा भगिन्या अग्रे पृष्टं—भगिनि ! इदं भाजन कीटकै. किं भृत ? साऽवग्—यावन्त. पुरुपा अस्या वेश्याया गृहे भोगहेतवे समायान्ति तेषा सख्याकृते कर्करा मया क्षिप्ताः सन्ति । भ्राताऽवग्—त्व तु अस्यामीर्ष्यां दधाना अपवाद जल्पन्त्येवमकार्षीः तेन त्वया वेश्यापाप गृहीत, पापिनः करणवारो न क्रियते, यदि पापिनः क्रियते तदा तस्य लगति । यतः—

अतिथिश्चापवादी च, द्वावेतौ मम वान्धवौ ॥
अपवादी हरेत्पाप—मतिथिः स्वर्गसंक्रमः ॥१॥

यत्त्वया तस्यां वेश्यायामीर्ष्या कृता अत. कर्कराः कीटा जाता. । ततस्तया तद्गृह ऽन्यत्रोषितं । परापवादो मुक्तः । सुखिनी जाता ।

इति परापवादग्रहणे लौकिकप्रव्राजिकासम्बन्धः ॥३९१॥

[392] अथ कल्पितघूकसम्बन्धो दुर्जनोपरि ।

एकदा घूको भुव पाताल च जित्वा स्वर्गे गतः स्वर्गं जेतु । तत्र स्वर्गमुच्चालयितुम् घोरं शब्दं कर्त्तुं लग्न. तदा शक्रस्तं तादृश शब्द श्रुत्वा पप्रच्छ देवान् । कोऽसौ एवविधः स्वरः त' । देवैः प्रोक्त—पाताल पृथ्वीं च जित्वा स्वर्गं जेतुं घूकोऽत्रायातोऽस्ति ।

इन्द्रोऽवग्—धीरां दत्त्वात्राकार्यताम् । तत्रेन्द्रपार्श्वे आनीतः सः, इन्द्रेण पृष्टः—ईदृक्षा भूमण्डले वि ः सन्ति ? घूकोऽवग्—

अरघट्टो घरट्टश्च, लम्बकर्णोऽथ वायसः ।
कौशिको रासभश्चैव, षडेते मधुरस्वराः ॥१॥

इन्द्रोऽवग—

एकेनोद्वासितः स्वर्गः, किं पुनः पञ्चभिः सह ।
हा हा वज्रमयी पृथ्वी, या न याता रसातलम् ॥२॥

इत्युक्त्वा शक्रोऽवग्—गच्छ, अरघट्टघरट्टादिस्वमित्रपार्श्वे नो चेदनेन वज्रेण तव शीर्षं छेत्स्यते । तत. स नष्टः पुनर्भूमण्डले समागात् ।

इति कल्पितघूकसम्बन्धो दुर्जनोपरि ॥३९२॥

[393] अथ असंभाव्या तव्ये भूपमन्त्रिसम्बन्धः ।

कस्मिंश्चित्पुरे भीमो भूपो राज्यं करोति । तस्य चन्द्रो मन्त्री । एकदा मन्त्री अरण्य-मध्ये जलाशये शिलां तरन्तीं दृष्ट्वा पश्चादागतो भूपस्याग्रे प्रोक्त-मया जले शिलां तरन्ती दृष्टा । राजा जगौ-असंभाव्यं न वक्तव्यं, प्रत्यक्षं यदि दृश्यते । एवं प्रोच्य राज्ञा स जल्पन्निषिद्धो दध्यौ मयोक्त यद् भूपस्याग्रे तन्न वरं ततो ऽन्यदा राजाऽश्वापहृतो महाटव्यां गतः तत्र वानर-वानरीणा गीतानि सुश्राव । तत पश्चादागत मन्त्रीपुर पदद्वयं प्राह—

यथा वानरगीतानां, तथा तरति सा शिला। यत् त्वया दृष्टा शिला जले सा सत्या । मया यतोऽद्य वानरगीतं श्रुतं तदपि कोऽपि कथितं न श्रद्दधे कस्याप्यग्रे न प्रोच्यमानमस्ति ।

इत्यसभाव्यावक्तव्ये भूपमन्त्रिसम्बन्धः ॥३९३॥

[394] अथ कुपत्नीदृष्टान्तः ।

एकस्मिन्ग्रामे श्रेष्ठिन् पत्नी अकथितकारिका विद्यते । इतस्तस्यापणे-बहुकालादेकः प्राघू-णकः समागत । तत आगतस्वागतादि मिथः कृतं । श्रेष्ठी गृहे गतः प्राह—पत्नि ! एकः सुहृद् बहुकालादागतोऽस्ति, यदि त्वं प्राध्वरमार्गेण त्व कार्याणि प्रोक्तानि कुरुषे तदा स आकार्यते जेमनाय । पत्नी प्राह—अग्रे तव कथितानि कारं कारं खिन्नास्मि तथापि कार्यसंख्यां यदि कथय तदा कुर्वे । तत पष्टि कार्यसख्या कृता । प्राघूर्णको जेमितुमानीतः । तया आचमनादि प्रारभ्य कार्याणि गणितुं मण्डितानि तावद्यावत्तक्रपरिवेषणवेला समायाता । तक्र-मेकशः परिवेषित । श्रेष्ठिनोक्त-पुनस्तक्रमानय । ततस्तया स तक्रकुण्डकः पत्युर्मस्तके आहतो भग्नः । श्रेष्ठी कृष्णमुख उत्थाय हट्टे गत । सुहृदा पृष्ट किं कृष्णमास्य कृतं । तत श्रेष्ठी गृहिणीस्वरूप प्राह । ततः सुहृत्प्राह—

अनेकानि सहस्राणि, भग्नानि मम मस्तके ।
गुणवतीह ते भार्या, भाण्डमूल्यं न याचते ॥१॥

मम पत्नी तु भग्ने भाजने वस्त्राञ्चल तदा मुञ्चते यदा भाण्डमूल्य दीयते, एव प्रोच्य सोऽपि स्थिरीकृतः । इति कुपत्नीदृष्टान्तः ॥३९४॥

[395] अथ दुर्ग्राह्यस्त्रीविषये सम्बंधः ।

कस्मिंचिद्ग्रामे कौटुम्बिको वसति स्म । तस्य पत्नी अतीव दुर्ग्राह्या । पत्युः[पत्यै] कार्याणि आदिशति पत्यु पार्श्वात्कारयति च । यदा कान्त मनागुत्सूरे करोति तदा तथा कटाक्षाणि मुञ्चते यथा स त्वरित कार्यं करोति । ततोऽन्यदा एकस्मिन् स्थाने घरटिका शब्द कुर्वाणां दृष्ट्वा प्राहाऽऽत्मस्थिरीकरणाय—

रे रे ! यन्त्रक ! मा रोदीः, किं किं न यंत्यमूः ॥
कटाक्षोत्क्षेपमात्रेण, कराकृष्टस्य का कथा ॥१॥

एवं प्रोच्य स्वमात्मानं स स्थिरीचकार ।

इति दुर्ग्राह्यस्त्रीविषये संबंधः ॥३९५॥

[396] अथ बलीवर्दपातितसम्बन्धः

एकस्मिन् ग्रामे एकः कौटुम्बिकः प्रातरुत्थाय ग्रामाग्रस्थस्तम्भे विलगित्वोच्चैः रौति । राज्ञोक्त–भो कौटुम्बिक ! प्रातरमङ्गलं न क्रियते रोदनात् । स प्राह—स्व चरित्रं स्मारंस्मारं रुद्यते मया । राजा जगौ—किं ते चरित्रं ? कौटुम्बिकोऽवग्—गच्छ समुद्रमध्ये कुसद्वीपे स्त्रीराज्ये । तत्र गतः सन् मम चरित्रं ज्ञास्यसि । ततः स कौतुकी तत्र द्वीपे गतः चतुःपथे स्थितः । एका स्त्री दिव्यरूपा तत्रागत्य भूपं स्वस्वामिनीपार्श्वे निनाय । तत्र स पतिः कृत्वा स्थापितः वर्यकर्पूरवासितपयसा स्नापितः । वर्यदिव्याहारैर्भोजितः । हिण्डोलाखट्वायां शायितः । देवसुखमनुभवति स्म । सा च कस्मिंश्चिद् द्वीपे यदा याति जल्पति स्म, त्वया एते १० उपवरका नोद्घाटनीया, सुखेन कर्पूरपानकस्तूरी–भोगसुखमनुभवनीयं । सन्ध्यायामायाति । ततः सा भोगसुखं दत्ते जल्पति च यदि यास्वाऽन्यत्र पुनरागमिष्यसि तदा हतो एव अत्र स्थितश्चिरं मया सह सुखं भोक्तव्यमेव सुखेन तिष्ठन्नन्यदा तस्यां गतायामेकः उपवरकः उद्घाटितस्तस्मिन् घोटको वर्यो हेषारवं चकार । तं घोटकमारुह्य वनादिद्वीपानि विलोक्य तत्कालं पश्चादागत्य स्वस्थाने स्थितः । प्रतिदिनं नवीनवाहनारूढा द्वीपानि विलोकयति ।

एकदा वर्यं बलीवर्दं सुकुमालशरीरमारुह्य निर्गतः स चाटव्यां लासयित्वा बलीवर्दपृष्ठितः पतितः क्षितौ, बलीवर्दो गतोऽदृश्यतां, ततः क्षणादुत्थितो दध्यौ, तत्र गम्यते तदा सा मां हन्ति अतस्तत्रत्यं सुखं स्मरन् स्वपुरे समेत्य स्तम्भे लगित्वा रुदितुं लग्नो यदा, तदा स कौटुम्बिकोऽभ्येत्य प्राह—'किं बलदिईं पाडया' । राजा प्राह—त्वमपि बलीवर्देन पातितः ततो द्वाभ्यां मिथः स्वचरित्रे प्रोक्ते ततस्तत्रत्यं सुखं यावज्जीवं तौ स्मरतः स्म ।

इति बलीवर्दपातितसम्बन्धः ॥३९६॥

[397] अथ वीणाग्रामे श्रीनेमिजिनकल्पः ।

वीणाग्रामे श्रीजिनेन्द्रप्रासादे सदा प्रातरुत्थाय एका श्राविका भक्तिपूर्वं प्रभोः सद्मनि प्रभुं प्रणम्य सर्वत्र देवगृहं प्रमार्जयामास । एवं प्रत्यहं कुर्वतो प्रभुहस्ते एकं विश्वलप्रियं ददर्श । सा तं ललौ यदा तदाऽधिष्ठायकसुरः प्रभोर्मुखोऽवतीर्यावक्—तव भक्त्याऽहं तुष्टोऽस्मि । त्वया प्रत्यहं देवगृहं प्रमार्जनीयमेको विश्वलप्रियो ग्राह्यः परं कस्याग्रे न वक्तव्यमेव सा प्रत्यहं एकं विश्वलप्रियं गृह्णाना ऋद्धिवती जाता ।

एकदा रहसि सख्या पृष्ट—तव कस्तुष्टोऽस्ति, येनेदृशी ऋद्धिर्जाता तव सा चाकस्माद् रभसवृत्या प्रभुतुष्टिसम्बन्धं जगाद । ततोऽग्रेतने दिने देवगृहं प्रमार्ज्य यावद्विश्वलप्रियं गृह्णाति प्रभुस्तान्न विचटति । ततः सा विलक्षाऽभूत् । तताऽधिष्ठायकाऽवग्—अद्यप्रभृति त्वया विश्वलप्रियेच्छा न कार्या ।

इति वीणाग्रामे श्रीनेमिजिनकल्पः ॥३९७॥

[398] अथ व्यापारे सम्बन्धः ।

एकस्मिन्ग्रामे चन्द्रः श्रेष्ठी वसति स्म । स च व्यवसायं चकार । अन्यदा एकं ग्रामकरणवारकारक महान्त दृष्ट्वा स श्रेष्ठी ग्रामकरणवारकासक्तोऽभूत् । क्रमात्तेन राजकुले बहु धनं पूरित स च मार्गयामास पट्टयल्लपार्श्वे । पट्टयल्ला जगौ—अधुना पूरय तवाग्रे सर्वमर्प्पयिष्यते मुनर्लोभेन कियन्तो दिना पूरितं पुनर्मार्गित यदा धन तदा पट्टयल्लो जगौ—अग्रे अर्प्पयिष्यते । राजकुले पूरपूर गृह धनरिक्तं ततो यदा खेदं दधानो बभूव तदा मित्रेणोक्त—

जइ गिलइ गिलइ उदरं, पच्चगिलीए गिलंति नयणाइं ।
केण य विहिवसेणं, अहिणा छुछुन्दरी गहिआ ॥१॥

एव श्रुत्वा स दध्यौ—यद्दीयते तत्प्राप्तमेव दृश्यते साम्प्रतमर्प्यते तदपि गतमेव दृश्यते अतस्त व्यापार त्यक्त्वा श्रेष्ठी पूर्वरीत्या लक्ष्मीमर्जयन् सुखी बभूव ।

इति व्यापारे सम्बन्धः ॥३९८॥

[399] अथ 'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य' इति विषये शशकसम्बन्धः ।

यस्य बुद्धिर्बलं तस्य, निर्बुद्धि[द्धे]स्तु कुतो बलम् ।
वने सिंहो मदोन्मत्तो, शशकेन निपातितः ॥१॥

कस्मिंश्चित्प्रदेशे मन्दमतिनामा सिंहोऽजस्र मृगादिजीववधं करोति । अथ तद्वनजा सर्वे मृगादयः समभूय सविनय सिंह प्रोचुः—देवास्माक मध्ये वारकेणैकैको भवतामाहारार्थं स्वस्थानस्थानस्यैव समेष्यति । इति कृतव्यवस्थायां शशकस्य वारकः समायात । तेन शशकेन बुद्धिमता कूपस्य कण्ठे समागत्य तत्र कूपे प्रतिबिम्बित कृत्वा सिंहं प्रतीदमुक्तं कूपमध्यस्थितस्य शशकस्यात्र वारकोऽस्ति, तेन भवताऽस्य खादनीय. । ततः सिंह कूपमध्ये झम्पामदाद् भक्षयितुं पञ्चत्वं गतश्च । अतो 'यस्य बुद्धि०' ।

इति बुद्धिर्यस्य बलं ....विषये शशकसम्बन्धः ॥३९९॥

[400] अव्यापा० वानरसम्बन्धः ।

अव्यापारेषु व्यापारं, यो नरः कर्त्तुमिच्छति ।
स एव निधनं याति, कीलोत्पाटीव वानरः ॥१॥

कस्यचित् पुरस्यासन्नोद्याने केनचिद्वणिजा प्रासादः कार्यते स्म । तत्र सूत्रधारा अर्धस्फाटितस्तम्भशिलाया अन्तराले ये अनिरवात खादिरकीलकं दत्त्वा अशनाय ग्राम गता । अत्रान्तरे वानरयूथं परिभ्रमन्समायात । तस्य मध्यादेकेन वानरेणान्यवानरनिवारितेनापि

चापल्यादस्थाने कीलिकोत्पाटनमारब्ध । अर्धस्फाटितशिलान्तरालप्रविष्टस्य [शिश्नस्य] कीलके तस्य चलिते वानरस्य मरण जातमतो 'अव्यापा०' ।

इति अव्यापा०......इति वानरसम्बन्धः ॥४००॥

[401] अथ हितवचने व्याघ्रादिसम्बन्धः ।

व्याघ्रवानरसर्प्पाणां, यन्मया न कृतं वचः ।
तेनाहं निर्विनीतेन, मानवेन निपातितः ॥१॥

कस्मिंश्चिद् ग्रामे यज्ञदत्तो ब्राह्मणः । स अतीव दारिद्र्याभिभूतः । एकदा तेन देशान्तरे द्रव्यार्थं गच्छता अटव्या तृषाक्रान्तेन कूपो दृष्ट । तन्मध्याद्व्याघ्रवानरसर्प्पकलादाः कर्षिता । त्रिभिरुपकारः कृतो भूषणफलादानराजपुत्रजीवने । पूर्वमारितराजपुरुपादिभूषणदर्शनेन व्याघ्रेणोपकार कृतः । वने पतितस्य तस्याहाराभावाद् बुभुक्षितस्य फलदानेन वानरेणोपकारः कृत । सर्पेण च राजपुत्र जीवन्तं कृत्वा बहुधनदापनेन तस्योपकार कृत । कलादेन राज्ञो गतसुवर्णसकुलस्य कलङ्को दत्त. तस्मै पुरुषाय च [अतः स आपदि पातित] सांकुलव्यतिरेकेण राज्ञोऽग्रे पैशून्य विधायानर्थे पातित ।

अतो व्याघ्र० ..हितवचने व्याघ्रादिसंबंधः ॥४०१॥

[402] अथ विषमगोष्ठ्यां हंसोलूकसम्बन्धः ।

अकालचर्या विषया च गोष्ठी, कुमित्रसेवा न कदापि कार्या ।
पश्याण्डजं पद्मवने प्रसुप्तं, धनुर्विनिर्मुक्तशरेण ताडितम् ॥१॥

कस्मिंश्चित्सरसि हसस्य वसत उलूक. प्राघूर्णक आगतः । हसेन पृष्ट—कुत. स्थानात्समायात ? सोऽब्रवीत्—तव गुणान् स्मृत्वा अहं मैत्र्यर्थं समागतोऽस्मि । मैत्री जाता ।

अन्यदा उलूकेन पद्मवनात्स्वाश्रये गच्छतो हसो न्यमन्त्रि त्वया मदाश्रये आगन्तव्यमिति कथयित्वा उलूक स्वाश्रये गत । हसोऽप्येकदा मित्रमिलनार्थमतिथिर्जात । तौ परस्पर मिलितौ तेनोलूकेनैकदोक्त—दिवसेऽनवलोकनादिदोषग्रस्तोऽहं त्वया सह गोष्ठीं कर्त्तुं न शक्नोमि तेन रात्रौ गोष्ठी करिष्यते । अथ रात्रौ गोष्ठीं कुर्वतोस्तयोस्तत्र वने साथ कोऽपि आयात ।

अत्रान्तरे उलूको महान्त त्रिस्वर कृत्वा नदीविवरमनुप्रविष्टो । हसस्तु तथैव स्थित. । तत केनचित् शब्दवेधिना विस्वरत्वाद्दुर्निमित्तं विज्ञाय शरेण विद्ध मृतश्च हंस. । अतो अ ० ॥४॥

इति विषमगोष्ठ्यां हंसोलूकसम्बन्धः ॥४०२॥

[398] अथ व्यापारे सम्बन्धः ।

एकस्मिन्ग्रामे चन्द्रः श्रेष्ठी वसति स्म । स च व्यवसायं चकार । अन्यदा एकं ग्रामकरणवारकारकं महान्तं दृष्ट्वा स श्रेष्ठी ग्रामकरणवारकासक्तोऽभूत् । क्रमात्तेन राजकुले बहु धनं पूरितं स च मार्गयामास पट्टयल्लपार्श्वे । पट्टयल्ला जगौ—अधुना पूरय तवाग्रे सर्वमर्प्पयिष्यते मुनर्लोभेन कियन्तो दिना पूरितं पुनर्मार्गितं यदा धनं तदा पट्टयल्लो जगौ—अग्रे अर्प्पयिष्यते । राजकुले पूरपूरं गृहं धनरिक्तं ततो यदा खेदं दधानो बभूव तदा मित्रेणोक्तं—

जइ गिलइ गिलइ उदरं, पच्चगिलीए गिलंति नयणाइं ।
केण य विहिवसेणं, अहिणा छुछुन्दरी गहिआ ॥१॥

एवं श्रुत्वा स दध्यौ—यद्दीयते तदप्राप्तमेव दृश्यते साम्प्रतमर्प्यते तदपि गतमेव दृश्यते अतस्त व्यापारं त्यक्त्वा श्रेष्ठी पूर्वरीत्या लक्ष्मीमर्जयन् सुखी बभूव ।

इति व्यापारे सम्बन्धः ॥३९८॥

[399] अथ 'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य' इति विषये शशकसम्बन्धः ।

यस्य बुद्धिर्बलं तस्य, निर्बुद्धि[द्धे]स्तु कुतो बलम् ।
वने सिंहो मदोन्मत्तो, शशकेन निपातितः ॥१॥

कस्मिंश्चित्प्रदेशे मन्दमतिनामा सिंहोऽजस्रं मृगादिजीववधं करोति । अथ तद्वनजाः सर्वे मृगादयः सभूय सविनयं सिंहं प्रोचुः—देवास्माकं मध्ये वारकेणैकैको भवतामाहारार्थं स्वस्थानस्थानस्यमेव समेष्यति । इति कृतव्यवस्थायां शशकस्य वारकः समायातः । तेन शशकेन बुद्धिमता कूपस्य कण्ठे समागत्य स्वं रूपं कूपे प्रतिबिम्बितं कृत्वा सिंहं प्रतीदमुक्तं अस्य कूपमध्यस्थितस्य शशकस्यात्र वारकोऽस्ति, तेन भवताऽस्य खादनीयः । तत सिंहः कूपमध्ये झम्पासदाद् भक्षयितुं पञ्चत्वं गतश्च । अतो 'यस्य बुद्धि०' ।

इति बुद्धिर्यस्य बलं ········ विषये शशकसम्बन्धः ॥३९९॥

[400] अव्यापा० वानरसम्बन्धः ।

अव्यापारेषु व्यापारं, यो नरः कर्तुमिच्छति ।
स एव निधनं याति, कीलोत्पाटीव वानरः ॥१॥

कस्यचित् पुरस्यासन्नोद्याने केनचिद्वणिजा प्रासादः कार्यते स्म । तत्र सूत्रधारा अर्धस्फाटितस्तम्भशिलाया अन्तराले ये अनिरवातरवादिरकीलकं दत्वा अशनाय ग्रामं गताः । अत्रान्तरे वानरयूथं परिभ्रमन्समायातं । तस्य मध्यादेकेन वानरेणान्यवानरनिवारितेनापि

चापल्यादस्थाने कीलिकोत्पाटनमारब्धं । अर्धस्फाटितशिलान्तरालप्रविष्टस्य [शिश्नस्य] कीलके तस्य चलिते वानरस्य मरण जातमतो 'अव्यापा०' ।

इति अव्यापा०……इति वानरसम्बन्धः ॥४००॥

[401] अथ हितवचने व्याघ्रादिसम्बन्धः ।

व्याघ्रवानरसर्प्पाणां, यन्मया न कृतं वचः ।
तेनाहं निर्विनीतेन, मानवेन निपातितः ॥१॥

कस्मिंश्चिद् ग्रामे यज्ञदत्तो ब्राह्मणः । स अतीव दारिद्र्याभिभूतः । एकदा तेन देशान्तरे द्रव्यार्थं गच्छता अटव्या तृषाक्रान्तेन कूपो दृष्ट । तन्मध्याद्व्याघ्रवानरसर्प्पकलादाः कर्षिता । त्रिभिरुपकारः कृतो भूषणफलादानराजपुत्रजीवनै । पूर्वमारितराजपुरुषादिभूषणदर्शनेन व्याघ्रेणोपकार कृतः । वने पतितस्य तस्याहाराभावाद् बुभुक्षितस्य फलदानेन वानरेणोपकारः कृत । सर्पेण च राजपुत्रं जीवन्तं कृत्वा बहुधनदापनेन तस्योपकार कृत । कलादेन राज्ञो गतसुवर्णसकुलस्य कलङ्को दत्त तस्मै पुरुषाय च [अतः स आपदि पातित] सांकुलव्यतिरेकेण राज्ञोऽग्रे पैशून्य विधायानर्थे पातित. ।

अतो व्याघ्र० ··हितवचने व्याघ्रादिसंबंधः ॥४०१॥

[402] अथ विषमगोष्ठ्यां हंसोलूकसम्बन्धः ।

अकालचर्या विषया च गोष्ठी, कुमित्रसेवा न कदापि कार्या ।
पश्याण्डजं पद्मवने प्रसुप्तं, धनुर्विनिर्मुक्तशरेण ताडितम् ॥१॥

कस्मिंश्चित्सरसि हसस्य वसत उलूक प्राघूर्णक आगतः । हसेन पृष्ठ—कुत स्थानात्समायात ? सोऽब्रवीत्—तव गुणान् स्मृत्वा अहं मैत्र्यर्थं समागतोऽस्मि । मैत्री जाता ।

अन्यदा उलूकेन पद्मवनात्स्वाश्रये गच्छतो हसो न्यमन्त्रि त्वया मदाश्रये आगन्तव्यमिति कथयित्वा उलूक स्वाश्रये गत । हसोऽप्येकदा मित्रमिलनार्थमतिथिर्जातः । तौ परस्पर मिलितौ तेनोलूकेनैकदोक्त—दिवसेऽनवलोकनादिदोषग्रस्तोऽहं त्वया सह गोष्ठीं कर्त्तुं न शक्नोमि तेन रात्रौ गोष्ठी करिष्यते । अथ रात्रौ गोष्ठीं कुर्वतोरनयोस्तत्र वने सार्थ कोऽपि आयात ।

अत्रान्तरे उलूको महान्त विस्वर कृत्वा नदीविवरमनुप्रविष्टो । हसस्तु तथैव स्थितः । तत. केनचित् शब्दवेधिना विस्वरत्वाद्दुर्निमित्तं विज्ञाय शरेण विद्ध मृतश्च हस । अतो अकाल० ॥ ४ ॥

इति विषमगोष्ठ्यां हंसोलूकसम्बन्धः ॥४०२॥

[403] अथ अज्ञातस्थानदाने मत्कुणसम्बन्धः ।

नह्यविज्ञातशीलस्य, प्रदातव्यः प्रतिश्रयः ।
मत्कुणस्य च दोषेण, हता मन्दविसर्प्पिणी ॥१॥

कस्यचिद्राज्ञः सुप्तस्य शय्यायां यूका वसति । तस्याः प्राघूर्णकः मत्कुणः समायातः । तस्य स्थानं तया दत्त । मत्कुणस्तु राज्ञश्चटक दत्त्वा नष्टो राज्ञश्चलनेन यूका मृता । इति नह्य० । अज्ञातस्थानदाने मत्कुणसम्बन्धः ॥४०३॥

[404] अथ वृद्धवाक्याकरणदोषे हंसयूथसंबंधः ।

श्रव्यं वाक्यं हि वृद्धानां, ते वृद्धा ये बहुश्रुताः ।
हंसयूथं वने बद्धं, वृद्धबुद्ध्या विमोचितम् ॥१॥

कस्मिंश्चिद्वने वटवृक्षस्तत्र हंसकुलं शतप्रमाणं वसति । अथास्य वटस्याधः कौशाम्बीं नाम वल्लीं प्रादुर्भूता दृष्ट्वा वृद्धहंसेनोक्त—एषा अनर्थाय वर्धमाना भाविनी, अत उन्मूल्यते, इत्युक्ते प्रमादान्नोन्मूलिता । कालेन या स्थिता, केनचिद्व्याधेन तेषु हंसेषु आहारार्थं गतेषु पाशाः क्षिप्ता । पतितास्ते सर्वे पाशेषु । वृद्धेनोक्त—मया पूर्वमुक्तमियमनर्थाय भाविनी । भवद्भिः प्रमादादुपेक्षिता वल्ली । इदानीमपि यदि मदीयं वचन कुरुथ तदा बुद्धि भवद्भ्यो ददामि । तैरपि तथा प्रतिपन्नं । तेन वृद्धहंसेनोक्तं—मृता इव यूय सर्वे तिष्ठत । अथ यदा व्याधः युष्मान्मृतानवज्ञाय भूमौ क्षिपति तदैककाल सर्वैरुत्पतितव्य । कृते तथैव ते ९९ हंसान् भूमौ चिक्षेप व्याधः, पुनश्चिन्तित पश्चादयं वृद्धः क्षिप्यते इत्येव मत्वा स भूमौ क्षिप्त. । तैर्हंसैः शतथव्वकान् [शतबलान्] मत्वोत्पतितं नवनवतिभिः । वृद्धः स्थित । व्याधस्त मारयितुं लग्नो यावत्तावत्तेन बुद्धिमतोक्तं—अहो व्याध ! मम विष्टया कुष्ट याति तेन कस्यापि भूपस्यार्प्य-यित्वा [मम] स्वं दारिद्रय स्फेटय । ततस्तेन राज्ञोऽर्पितः । राज्ञा राज्ये च याचितश्च । राज्योक्त—पञ्जरे क्षिप्यतेऽय । मन्त्रिभिरुक्त वृद्धोऽय मुत्कलो मुच्यतां, कथ यास्यति अक्षिश-क्त्यभावात् । राज्ञा स्वकुष्ट तद्विष्टया स्फेटित । मुत्कलो मुक्तो हंसो स्यादुड्डीय भित्तावुप-विश्येमं श्लोकमाह—

प्रथमे स्यामहं मूर्खो, द्वितीये पाशबन्धकः ।
तृतीये नृपतिर्मूर्ख,—श्चतुर्थे मन्त्रिमण्डलम् ॥१॥

इति वृद्धवाक्याकरणदोषे हसयूथसम्बन्धः ॥४०४॥

[405] अथ असंहितदोषे भारण्डपक्षिसम्बन्धः ।

एकोदराः पृथग्ग्रीवा, अन्योन्यफलकांक्षिणः ।
असंहता विनश्यन्ति, भारण्डा इव पक्षिणः ॥१॥

क्वापि सरसि भारण्डाः खगा वसन्ति । एषामुदरमेकं, ग्रीवे पृथग्भवत । कस्यापि पक्षिणः स्वेच्छया विचरत एकस्या ग्रीवायाः क्वापि अमृतं प्राप्तं । द्वितीययोक्त—मह्यमर्द्धं देहि । अथ तया न दत्त । तदा द्वितीयया ग्रीवया कोपोत्पत्त्या विषे भक्षिते एकोदरत्वात्तस्य मृत्युरभूत् । अतो एको० ।

इति असंहितदोषे भारण्डपक्षिसंबंधः ॥४०५॥

[406] अथ लोभे शृगालसंबंध ।

अतितृष्णा न कर्त्तव्या, तृष्णां नैव परित्यजेत् ।
अतितृष्णाभिभूतस्य, शिखा भवति मस्तके ॥१॥

कोऽपि पुलिन्द पापर्द्धिं कर्त्तुं प्रस्थित । अथ तेन भ्रमता बाणेन शूकर आहतस्तेनापि दंष्ट्रेण पुलिन्दोदर पाटित, द्वावपि मृतौ । इत. कश्चिच्छृगालस्तत्रायातस्तेन द्वावपि मृतौ दृष्टौ । चिन्तित तेन शृगालेन तथा भक्षयामि यथा बहून्यहानि भक्ष्य भवति इति विचिन्त्य चापघटितकोटिं जीवां मुखमध्ये क्षिप्त्वा स्नायुर्भक्षितुमारब्ध । ततस्त्रुटितपाशे भालदेश विदार्य चापकोटिमस्तकमध्येन तस्य शृगालमस्तके शिखा निष्क्रान्ताऽसावपि मृतः । अतो अतितृष्णा० ।

लोभे शृगालसम्बन्ध ॥ ४०६ ॥

[407] अथ बुद्धौ धूर्त्तरक्षितच्छागसंबंध ।

बहुबुद्धिसमायुक्ता, सुविज्ञानबलोत्कटा ।
शक्ता वञ्चयितु धूर्त्ता, छागकं ब्राह्मणादिव ॥१॥

कोऽपि ब्राह्मणो भ्रमन् यजमानाच्छाग प्राप्य यागार्थं गृहे आगच्छति । छागो मन्दगतिस्तेन ब्राह्मणेन समर्थत्वात् स्कन्धे कृत । अत्रान्तरे त्रयो धूर्त्ता मार्गे मिलिता समुखा बभूवु । तैश्च मिथ उक्त—अहो अस्य पशोश्छागस्य कया बुद्ध्या रक्षा क्रियोयते इति विचिन्त्य एकेन मार्गं परिवर्त्य अग्रे भूत्वोक्त—भो ब्राह्मण ! किमिद विरुद्धमनुष्ठीयते—यदेष सारमेयोऽपवित्र स्कन्धारूढ. कृतः । तेनोक्त—किमन्धोऽसि त्वं पान्थ ? यच्छागस्य सारमेयत्व वक्षि । सोऽवक्—भो ! मा कुरु कोप, मार्गे गच्छ ।

अथ द्वितीयेनाग्रे भूत्वोक्तमिद—भो ! यद्यपि वल्लभाऽय मृत वत्सः तदपि स्कन्धे कर्त्तुं न युक्त । अथासौ ब्राह्मणः सकोपमाह—किमन्धोऽस्ति भवान् यत्पशोर्वत्सत्वं वदसि । भगवन् ! मा कुरु कोप मार्गे गच्छ ।

पुनस्तृतीयेनाप्यग्रे भूत्वोक्तमिद—भो रासभ स्कन्धारूढ कथ नयसि ? अथ ब्राह्मणेन चिन्तित—पशुरूपेण राक्षसोऽय मम यजमानेन दत्तो यत एनं पृथक्पृथग्रूप लोकाः पश्यन्ति,

इति विचार्य तेन छागस्त्यक्त । अतो-बहुबुद्धि० ।

बुद्धौ धूर्त्तरक्षितच्छागसम्बन्धः ॥४०७॥

[408] अथ बहवो न विरोद्धव्या'' पिपीलिकासर्पसंबंधः ।

बहवो न विरोद्धव्या, दुर्जयो हि महाजनः ।
स्फुरन्तमपि नागेन्द्रं, भक्षयन्ति पिपीलिकाः ॥१॥

क्वापि वनमध्ये वल्मीके कृष्णसर्प्पः । कदाचित्स बिलानुसारमार्गमुत्सृज्यान्येन बिलद्वारेण विषमेण निर्गच्छन्देहे व्रणित । अथ गच्छदागच्छता सर्पेण विराधिताभिः कीटिकाभिर्व्रण-शोणितगन्धेन ज्ञात्वा व्रणमवसर च प्राप्य सर्प्पो वृतः । कति त घ्नन्ति । कति ताडयन्ति, कति चालिनीवत् शरीरं सच्छिद्रं कुर्वन्ति । पश्चात्ताभिः कृतबहुव्रणः पञ्चत्वं गतः । अतो बहवो० । इति बहवो न विरोद्धव्याः—पिपीलिका सर्प्पसम्बन्धः ॥४०८॥

[409] अथ लोभोपरि० पश्चात्तापे द्विजसंबंधः ।

चितां पश्यसि पुत्रस्य, पुच्छच्छेदं स्मराम्यहम् ।
आवयोस्तु कुतः प्रीति-र्नागन्तव्यं त्वया द्विज ! ॥१॥

क्वापि ग्रामे द्विजस्य तस्य कृषिं कुर्वतः सदैव निष्फलकालोऽतिवर्त्तते धान्यनिष्पत्तेर-भावात् । अथ ब्राह्मणेन क्षेत्रान्तर्वल्मीके कृष्णं सर्पं दृष्ट्वाऽचिन्ति क्षेत्राधिष्ठाताऽयं सर्पः, एतस्य शक्ति विना कथं धान्यस्य निष्पत्तिर्भवति । अथ शराव दुग्धभृत वल्मीके मुक्त । प्रभाते शरावे दीनारो दृष्टः । एव प्रत्यह क्षीरं दत्ते दीनारमादत्ते च । अथ पुत्रं समादिश्य विप्रो ग्रामं गत । पुत्रेण क्षेत्रलोभाल्लकुटघातो मुक्त । सर्पेण दष्टश्च ग्रामागतेन ब्राह्मणेन ज्ञात्वा स सर्पः प्रसादित सर्पेणोक्त—'चिता पश्यसि० ।

इति लोभोपरि पश्चात्तापे द्विजाहिसम्बन्धः ॥४०९॥

[410] अथ मिथो विवदन्तः शत्रवो विनङ्क्ष्यन्ति—चौरराक्षसाविव ।

शत्रवोऽपि हिताय स्यु-र्विवदतः परस्परम् ।
चौरेण जीवितं दत्तं, राक्षसेन तु गोयुगम् ॥१॥

क्वापि ग्रामेऽतिदरिद्रो विप्रो वसति । तस्य [स्मै] केनापि दयया वृषभयुगलं दत्त । तेन च घृततैलयवसादिना प्रह्वीकृत । तद्दृष्ट्वा कश्चिच्चौरो रात्रौ बन्धनपाश गृहीत्वा हर्तुं यावदायाति तावदर्धमार्गे विकरालमूर्त्ती राक्षसो दृष्टः । तत्र स्तेनेन पृष्टं—को भवानि-

त्युक्ते सत्यवचनोऽहं राक्षसः । भवानपि आत्मानं वदतु । तस्याग्रहे अर्धरात्रौ चौरेणोक्त प्राग्मम हर्त्तु देहि । राक्षसोऽप्याहेत्थं प्राग्मम भक्षयितुं देहि । चौरेणोक्त-प्रतिशब्देन यदि कश्चित् बुध्यति तदा महान् अनर्थो भविष्यति, आरम्भोऽप्यावयोर्निष्फलो भविष्यति । इत्थ तयो[विवदतोः]विप्रः प्रतिबुद्ध. । चौरोऽप्याह—भो ! त्वामयं भक्षयितुमिच्छति राक्षसः । राक्षस आह—चौरोऽय गोयुग ते हर्तुमिच्छति । एवं श्रुत्वा शय्यां मुक्त्वा विप्रोऽवहितो भूत्वा मन्त्र स्मरन् स्थितः । द्वावपि विफलौ गतौ । अत शात्रवोऽपि० ।

इति विवदन्तः शत्रवो मिथो विनङ्क्ष्यन्ति–चौरराक्षसाविव ॥४१०॥

[411] अथ परमर्मदोषे वल्मीकस्थोदरस्थाहिसम्बन्धः ।

परस्परस्य मर्माणि, ये न रक्षन्ति जन्तवः ।
त एव निधन यान्ति, वल्मीकोदरसर्पवत् ॥१॥

क्षोणीमण्डने नगरे देवशक्तिनामा राजा । तस्य पुत्रो जठरस्थवल्मीकाश्रयेण प्रतिदिनं क्षीयते । अथासौ निर्वेदाद्देशान्तर गतः क्वापि नगरे भिक्षया कालं यापयति ।

अथ तत्र नगरे बलिराजस्य द्वे पुत्र्यौ यौवनस्थे स्तः । राज्ञा पृष्ट–कस्य भाग्येन सौख्य ? वृद्धयोक्त—तव । लघ्व्योक्त—स्वकर्मणा । राज्ञा रुष्टेन तस्य राजपुत्रस्य दत्ता, सा त लात्वा देशान्तरे निर्गता क्वापि सरःसमीपे तं मुक्त्वा भोजनाय ग्रामे गता । लात्वाऽन्न यावदायाति तावद्भर्तुः प्रसुप्तस्य मुखात्सर्पो वातपानार्थं निर्गतः । तत्रैव वल्मीकेऽपरसर्पो निष्क्रम्य तथैवासीत् । वल्मीकस्थेन सर्पेणोक्त—भो दुरात्मन् ! कथ सर्वाङ्गसुन्दर राजपुत्र कदर्थयसि । मुखस्थोऽब्रवीत्—भो दुरात्मन् ! कथमिद हाटकपूर्णं कलशयुगल वल्मीकमध्ये क्षिप्त्वा स्थित इत्येव परस्पर मर्माण्युद्घाटितवन्तौ तौ । पुनर्वल्मीकस्थोऽहिरब्रवीत्—भो । किं कोऽपि भेषजमिद न जानाति जिह्वयाञ्जिकोपायेन भवानपि विनाशमुपयाति । अथोदरस्थोऽब्रवीत्-तवापि तप्ततैलप्रयोगेण मरण भवति । सा राजकन्या वृक्षान्तरिता तयोरुक्तीः श्रुत्वा तथैवानुष्ठितवती स्वपतिं नीरोगं विधाय निधिं च लात्वा पितृपुरे गता । पित्रार्चिता च स्वभाग्यात्सुखिताऽभूत् । अतः परस्प० ।

इति परमर्मदोषे वल्मीकस्थोदरस्थाहिसम्बंधः ॥४११॥

[412] अथ स्त्रीवश्यतायां नन्दभूपवररुचिमन्त्रिसंबंधः ।

न किं कुर्यान्न किं दद्यात्, स्त्रीभिरभ्यर्थितो नरः ।
अनश्वा यत्र हेषन्ते, शिरः पर्वणि मुण्डितम् ॥१॥

नन्दो नाम राजा । तस्य सचिवो वररुचि । तयो पत्न्योर्मिथ प्रीति. । समुखगताक्षस्थया मन्त्रिपत्न्योक्त—अह प्रधाना एकपत्नीत्वात् । राजपत्न्योक्त—एव चेत् त्व पतिमश्ववत् हेष-

यन्तं वालय । तस्य च प्रणयकलहेन जाया रुष्टा । भर्त्ताह—भद्र ! येन प्रकारेण त्वं तुष्यसि तं वद । तयोक्त—यदि त्वं शिरो मुण्डयित्वा मेंऽङ्घ्रो पतिष्यसि तदाऽहं तुष्यामि । तथा कृत वररुचिना । प्रसन्नाऽसौ ।

अथ नन्दस्य भार्या तथैव तेनाप्युक्त—प्रिये ! प्रसीद । उपायं न. कथय । साऽवग्—अहं तव पृष्ठेऽधिरुह्य त्वां धावयामि, धावितश्चेदश्ववत् हेषसे तदा प्रसीदामि नान्यथा । तथैव कृतं तेनापि राज्ञा ।

अथ प्रभातसमये वररुचिरायातः तं मुण्डितशिरसं दृष्ट्वा राजा पप्रच्छ—भो वररुचे ! किमयमपर्वणि मुण्डित शिरस्ते । सोऽवक्—न किं कुर्या० ?

इति स्त्रीवश्यतायां नंदभूपवररुचिमंत्रिसंबंधः ॥४१२॥

[413] अथ यथातथोपदेशो न दातव्योऽत्र सुगृहीवानरसम्बन्धः ।

उपदेशो न दातव्यो, यादृशे तादृशे नरे ।
तेन वानरमूर्खेण, सुगृही निगृही कृता ॥१॥

काप्यरण्ये वृक्षशाखायां कृतनीडा सुगृही वसति । एकदा माघे मासि अकालवृष्टौ जातायां कम्पिततनुः कश्चिद्वानरस्तमेव वृक्षमाजगाम । तं तथाविध कम्पितशरीरं दृष्ट्वा सानुकम्पया सुगृह्या प्रोक्तं—

हस्तपादसमायुक्तो, दृश्यसे पुरुषाकृतिः ।
शीतवातपरिभ्रष्टो, गृहं किं न करिष्यसि ? ॥२॥

ता प्रत्याह वानरः—

सूचिमुखि ! दुराचारे ! रण्डे पण्डितमानिनि ।
असमर्थो गृहारम्भे, समर्थो गृहभञ्जने ॥३॥

इत्युक्त्वा उत्पत्य नीड तस्या खण्डशः कृत्वा गतः । अत उपदेशो० ।

इति यथातथोपदेशो न दातव्योऽत्र सुगृहीवानरसम्बन्धः ॥४१३॥

[414] अथ सबलनिर्बलसंबधः ।

उत्तम प्रणिपातेन, शूरं भेदेन योजयेत् ।
नीचमल्पप्रदानेन, समशक्तिं पराक्रमैः ॥१॥

क्वापि वने चतुरको नाम शृगालः । तेनारण्ये स्वय मृतो गजो दृष्टः । कठिनत्वात्तं भेत्तुं न शक्नोति । इतश्च सिंह : सविनय प्राह—स्वामिन् ! त्वत्कृते गजं रक्षामि तदेनं

भक्षयतु स्वामी । सिंह आह—नाहं परहतं भक्षयामि । तवैव प्रसादीकृतः । सिंहे गते व्याघ्र आगत तस्य सम्मुख गत्वाह—मामक मातुल ! कथमत्र भवान् मृत्युमुखे प्रविष्टः येनैष सिंहेन हत । स मां रक्षपाल मुक्त्वा स्नानार्थं नद्यां गत. । मया निर्व्याघ्र वनं कार्यमित्युक्तमपि तेन सिंहेन एतद्वच्छ्रुत्वा भयाद्व्याघ्रो नष्ट. ।

इतश्च चित्रक आयातस्तस्यापि तदेवोक्तम्—अहं सिंहेन तद्रक्षार्थं मुक्तोऽस्मि तथापि त्व किंचि[भ]द्भक्षयित्वा शीघ्र गच्छान्यथा तवप्राण सशयः इत्युक्ते सति चित्रकोऽपि भयभीतः पलायिष्ट।

अथ शृगाल आगतः तस्मात्तुल्यं दृष्ट्वा युद्धेन निराकृत । अत उत्तम प्रणि० ।

इति सबलनिर्बलसम्बन्धः ॥४१४॥

[415] अथ अपरीक्ष्य न कर्त्तव्यं० इति विषये नकुलसंबंध ।

अपरीक्ष्य न कर्त्तव्यं, कर्त्तव्यं सुपरीक्षितम् ।
पश्चाद्भवति संतापो, ब्राह्मण्यां नकुलं [ब्राह्मण्या नकुले] यथा ॥१॥

कस्मिंश्चिन्नगरे देवशर्मा विप्रस्तस्य भार्या रूपिणी दारकद्वयं प्रसूता । एकदारकमपर नकुल च । दारकवन्नकुलमपि स्तन्यादिना पालयति । अथ तदा कदाचिद्ब्राह्मणयादिष्ट त्वया गृहं रक्षणीयमहं जलार्थं यामि इत्युक्त्वा बाल शय्यायां, शाययित्वा जलाय गता ।

अत्रान्तरे स विप्रः कणादानार्थं ग्राममध्ये गतः। अथ यत्रास्ति बालकस्तत्र सर्प्पमायान्त दृष्ट्वा नकुलेन चिन्तितमहो अय सर्पो मदीयमनुज भक्षयिष्यति ततश्चैन निवारयामि इति विचिन्त्य तेन सह युद्ध विधाय सर्पं मारयित्वा हर्षितो रुधिरप्लावितमुखो जननीं निवेदयितुं सम्मुखश्चलितः । ततस्तया त तादृश दृष्ट्वा पुत्रमारकोऽयमिति विचिन्त्य तया स नकुलो हत । पश्चाद्गृहमागतया त पुत्र जीवमान तत्र च सर्पं मारित दृष्ट्वा पश्चाच्छोकाकुला बभूव । अतः 'अपरीक्ष्य न कर्त्तव्यम्०' इति सम्बन्धे—नकुलसंबधः ॥४१५॥

[416] अथ बुद्धिहीनतायां सिंहकारकनृसम्बन्धः ।

वर बुद्धिर्न सा विद्या, विद्यातो बुद्धिरुत्तमा ।
बुद्धिहीना विनश्यन्ति, यथा ते सिंहकारकाः ॥१॥

चत्वारः पुरुषा मार्गे चलिताः । अटवीं गताश्च ते चत्वार परस्पर वि[वाद]कुर्वन्ति स्मेत्थम्-एक आह—विद्याधिका, अपर आह—बुद्धिरधिका विद्यातः । त्रयः शास्त्रज्ञाः । एको मूर्खः परं बुद्धिमान् । तैर्मृतप्रायसिंहो दृष्ट । शास्त्रज्ञा कथयन्ति स्म-अय मासादिना सज्जीक्रियते । बुद्धिमता उक्तं-अस्मिन् सज्जीकृतेऽनर्थो भविष्यति तेन बुद्धिमता बहुशो वारितैरपि त्रिभिरस्थिमासादिना सिंह सज्जीकृतः, तेन च त्रयोऽपि मारिताः 'बुद्धिमान्' पूर्वमेव नष्ट्वा गत. । अतो वरं बुद्धिर्न० । इति बुद्धिहीनतायां सिंहकारकनृसंबंधः ॥४१६॥

[417] अथ मित्रवचनाकरणदोषे कोलिकसम्बन्धः ।

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा, मित्रोक्तं न करोति यः ।
स एष निधनं याति, यथा मन्थरकोलिकः ॥१॥

भग्नतुर्यादिषु वस्त्रवानोपकरणार्थं वृक्षारूढस्य मन्थरकोलिकस्य छेत्तुं प्रवृत्तस्य स्वस्थानकभञ्जनभयात् तस्य सत्त्वात् वृक्षस्थव्यन्तरस्तुष्टोऽवग् 'वरं मार्गये' त्युक्त तस्य तेनोक्तं भार्यामापृच्छ्य याचिष्ये । मार्गे गच्छतो मित्रं मिलितं तेनोक्तं—राज्य याचस्व । तस्याप्यग्रे तेनोक्तं भार्यामनापृच्छ्य न याचिष्ये, गृहे गत', तत्स्वरूपं भार्यायै कथित ।तयोक्तं—द्विवस्त्रवणनशक्तिं याचस्व, याचितायां च व्यन्तरेण द्विशिराश्चतुर्भुज' पुरुषः कृतः । लोकैस्तादृक्षमसमञ्जसं दृष्ट्वा विचिन्त्य च स मारित । अतो यस्य० ।

इति मित्रवचनाकरणदोषे कोलिकसम्बन्धः ॥४१७॥

[418] अथ अतिलोभे वधू ४ श्रेष्ठिसम्बन्धः ।

अतिलोभो न कर्त्तव्यो, लोभमेव परित्यजेत् ।
अतिलोभाच्छृङ्गदत्तो, वधूभिश्चिक्षिपेऽर्णवे ॥१॥

रोहणपुरे नगरे शृङ्गदत्तो वणिक्कृपणः द्वात्रिंशत्कोटिद्रव्यभर्त्ता । चतु'पुत्रः । तद्वधूनामानि लक्ष्मी.१, गौरी२, अप्सरा३, रति'४ तापसीमन्त्रप्रयोगेण न्यग्रोधेन स्वर्णद्वीपे गत्वा नाटकावलोकनं रात्रौ कृत्वा गृहे आगच्छन्ति ।

एकदा कर्मकरो वटकोटरस्थस्तत्र गत' स्वर्णद्वीपे गतेन नाटकादि सर्वमवलोकित । स्वर्णकोटियुग तत्र दाने लब्ध तेन कर्म्मकरेण पश्चादागत स्वर्गकोटियुग श्रेष्ठिनोऽर्पितं कथित तत्स्वरूप । श्रेष्ठी लोभात्तेन सह वटकोटरे स्थितः । अन्यदा ताभिर्मार्गे गच्छन्तीभिरतिभारत्वात् वृक्षोऽम्बुधौ क्षिप्त । श्रेष्ठी पञ्चत्वमाप लोभात् । अतोऽतिलोभो० ॥

इति अतिलोभे वधू ४ श्रेष्ठिसम्बन्धः ॥४१८॥

[419] अथ एकबुद्ध्यादीनां मत्स्यानां संबंधः ।

शतबुद्धिः शिरःस्थोऽयं, सहस्रबुद्धिः प्रलम्बितः ।
एकबुद्धिरहं भद्रे !, क्रीडामि विमले जले ॥१॥

कस्मिंश्चिज्जलाशये शतबुद्धि' सहस्रबुद्धिरेकबुद्धिश्च मत्स्या सन्ति । सन्ध्यायां तत्पार्श्वे गच्छद्भिर्लुब्धकैरुक्तं--अत्र बहवो मत्स्याः सन्ति, प्रातरागन्तव्यम् ।

एकबुद्धिः शतबुद्धिः सहस्रबुद्धिं प्राह-भो दूरे गम्यतेऽत्र भयमस्ति । ताभ्यामुक्तं-आवां छलेन तदा यास्यावः । शतबुद्धिसहस्रबुद्धी बुद्धिमन्तौ [वयं तत] एकबुद्धिस्तदीयं वचनमनादृत्य

स्वपरिवारं परस्मिन् जलाशये गतः । ततः प्रातर्लुब्धका आगत्य सर्वं तत्सर आलोड्य सर्वे गृहीता । ततस्तावपि छल कुर्वाणौ बुद्धया, घृत्वा मारयित्वा च शतबुद्धिं शिरसि सहस्रबुद्धिं न् लुब्धको वलितो यत्र एकबुद्धिरस्ति तत्रागत, त तथा विगच्छमान [ ] एकबुद्धिः प्रियां प्रत्याह—हे प्रिये ! विलोकय—

शतबुद्धिः शिरःस्थोऽयं, सहस्रबुद्धिः प्रलम्बितः ।
एकबुद्धिरहं भद्रे !, क्रीडामि विमले जले ॥

इति एकबुद्धि-शतबुद्धि-सहस्रबुद्धिमत्स्यसम्बन्धो मत्स्यानाम् ॥४१९॥

[420] अथ भवितव्यतायां रावणसम्बन्धः ।

रा णयोर्महायुद्धं बभूव । लक्ष्मणेन रावणो हत । ततो मुहूर्त्तान्तरे अतिबलः केवली षट्पञ्चाशत्सहस्रसाधुपरिवृतो लङ्कापुर्यां समागत । यदि स ऋषीश्वरो रावणे जीवति समागमिष्यत्तदा रामरावणयोर्मिथ प्रीतिरभवत् पर भवितव्यतायोगात्स नागात् । उक्त च—

अह तस्स दिणस्संते, साहू नामेण अमियबलो ।
छप्पनसहस्सजुओ, मुणीण लंकापुरी पत्तो ॥१॥

जइ सो मुणी महप्पा, पत्तो लंकाहिवम्मि जीवंते ।
तो स्स पीई, होंती *सहरक्खसिंदेण* ॥२॥

इति भवितव्यतायां रावणसंबंधः ॥४२०॥

[421] अथ न्यायमार्गे पृथिवीपालने रामशिक्षासम्बन्धः ।

श्रीदशरथराजेन वनवासादेशो दत्त तदा श्रीरामस्तातपादौ प्रणम्य वनवासाय । यतः—

आहूतस्याभिषेकाय, प्रस्थितस्य वनाय च ।
ददृशुर्विस्मितास्तस्य, मुखरंगं समं जनाः ॥१॥

ः श्रीरामपृष्ठौ गत्वा पदयोर्लगित्वा वि मास ।

यत्पापं ब्रह्महत्यायां यत्पापं कपिला वधे ।
तत्पापमेव मे याता, यद्यार्योऽनुमतेर्मम ॥२॥

लक्ष्मणं राज्यरक्षार्थे, प्रहिणु पृथिवीपते !
मया प्रेष्येण गन्तव्यं, त्वया सह वनं ध्रुवम् ॥३॥

श्रीरामोऽवग्— तदन्यथा न भवति, यन्मयोक्तं तथैव तत् ।
हीनप्रतिज्ञः पुरुषो, वर्जनीयः श्मशानवत् ॥४॥

ततः श्रीरामो लक्ष्मणं प्रति राज्यरक्षायै यदाऽवग्—तदा लक्ष्मणो जगौ—

प्रपतेत् द्यौः सनक्षत्रा, पृथिवी शकलीभवेत् ।
शैत्यमग्निरियान्नेह, त्यजेयं रघुनन्दनम् ॥५॥

ततो भरतोऽवग्—अहं पादुके राज्ये न्यस्य सेवकीभूतो राज्यं रक्षयिष्यामि, शिक्षा मह्यं दातव्या । श्रीराम प्राह—

आलस्योपहतः पादः, पादः पाषण्डमाश्रितः ।
राजानं सेवते पाद, एकः पादः कृषीवलः ॥१॥

एकं पाद त्रयः पादा, भक्षयन्ति दिने दिने ।
तथा भरत ! कर्त्तव्यं, यथा पादो न सीदति ॥२॥

एवं शिक्षां लात्वा भरतः पश्चात्समागतो राज्यं न्यायाध्वना पपाल ।

इति न्यायमार्गे पृथिवीपालने रामशिक्षासम्बन्धः ॥४२१॥

[422] अथ सीतापहारे रामविलापसम्बन्धः ।

यदा सीता रावणेनापहृता तदा रामविलापश्चैवम्—अशोकवृक्षं प्रति प्राह—

रक्तस्त्वं नवपल्लवैरहमपि श्लाघ्यैः प्रियाया गुणै—
स्त्वामायान्ति शिलीमुखाः स्मरधनुर्मुक्ताः सखे ! मामपि ।
कान्तापादतलाहतिस्तव मुदे सत्यं ममाप्यावयोः,
सर्वं तुल्यमशोक ! केवलमहं धात्रा सशोकः कृतः ॥१॥

रात्रौ चन्द्रं दृष्ट्वा राम प्राह—

ससहर खीणो कांइ, रोहिणी पासि बइठी अछ ।
अम्ह दुक्खसयाइं, रमणी रावण लेउ गउ ॥२॥

पश्चाल्लक्ष्मणो रामं प्रति प्राहेति—

कांइं झूरइं तू राम सीता गई वलि आविसि ।
सोनइ न लागइ सांभि, माणिकि मइल बइसइ नही ॥३॥

इत्यादि सीतापहारे रामविलापसम्बन्धः ॥४२२॥

[423] अथ शक्तिहते लक्ष्मणे रामविलापसम्बन्धः ।

लक्ष्मणे शक्तिहते सदुःखं रामः प्राह—

भुङ्क्ते स्म भोजनपरे स्वपिति स्म सुप्ते,
जन्मापि मामनु भवानतनोत् किमेतत् ।
त्यक्त्वा क्रमं यदकरोत् सुरलोकयात्रां,
सापत्न्यजः प्रकटितः किमयं विकारः ॥१॥

स्थाने स्थाने कलत्राणि, मित्राणि च पदे पदे ।
तं देशं नैव पश्यामि, यत्र भ्राता सहोदरः ॥२॥

न मे दुःखं हृता सीता, न दुःखं लक्ष्मणे हतः ।
एतदेव महादुःख, यन्न राज्यं विभीषणे ॥३॥

इति शक्तिहते लक्ष्मणे रामविलापसम्बन्धः ॥४२३॥

[424] अथ विनये हनुमद्वचःसम्बन्धः ।

देवाज्ञापय किं करोमि किमहं लङ्कामिहैवानये,
जंबूद्वीपमितो नये किमथवा वारां निधिं शोषये ।
हेलोत्पाटितविन्ध्यमन्दरहिमस्वर्णत्रिकूटाचलैः,
क्षेपक्षोभविवर्धमानसलिलं बध्नामि वारां निधिम् ॥१॥

पातालतः किमु सुधारसमानयामि, निष्पीड्य चन्द्रममृतं किमुतानयामि ।
उद्यन्तमुष्णकिरणं किमु वारयामि, कीनाशमाशु कणशः किमु चूर्णयामि ॥२॥

इति विनये हनुमद्वचःसम्बन्धः ॥४२४॥

[425] अथ ससारासारतायां महेश्वरदत्तमहिषादिसम्बन्धः ।

ताम्रलिप्त्यां पुर्यां समुद्रो वणिक् । बहुला प्रिया । महेश्वरदत्त पुत्रः, तस्य गङ्गिला भार्याऽभूत् । समुद्रो महारम्भपरो मृत्वा तत्रैव पुरे महिषोऽजनि क्रमाद्बहुला मृत्वा तत्रैव गृहे शुनी बभूव । गङ्गिला स्वच्छन्दचारिणी कुशीला । अन्यदा रात्रौ तां भुक्त्वा कश्चिद्विटो गच्छन् महेश्वरदत्तेन हत स च मृत्वा गङ्गिलायाः पुत्रोऽभूत्, जातो वार्षिक ।

अन्यदा पितुः सांवत्सरिकादिने महेश्वरदत्तेन पितृप्रीत्यै पितृजीवो महिषो विनाशितः ।

तं च पितुः प्रकल्प्य भोजनायोपविष्टः । स उत्संगे सुतः स्थापितः । शुनी तद्गृहं न मुञ्चती गृहद्वारे एव तिष्ठति स्म । ततोऽकस्मात्कोऽपि ज्ञानी साधुस्तत्र गृहे भिक्षार्थमागतो महेश्वरदत्तगृहस्वरूपं दृष्ट्वा पश्चाद्वलते । महेश्वरदत्तश्चकितः पृष्टौ गत्वाऽवग्—भो साधो ! भिक्षां गृहाण । स साधुः प्राह—तव गृहे असमञ्जस दृश्यमानमस्ति । श्रेष्ठी प्राह—किमसमञ्जसम् ? स बोधिं ज्ञात्वा साधु प्राह—पितुर्मांसं त्वया तु भक्ष्यते । माता शुनी पतिमांसं भक्षयन्त्यस्ति गेहे । तव उत्संगे तु त्वया वैरी उपवेशितोऽस्ति । वणिक् प्राह—कथमेवं ज्ञायते ? ज्ञानी प्राह्—यो महिषो मारित. स ते पिता । या शुनी सा ते माता । यस्ते सुतः स तव पत्न्या उपपतिस्त्वयैव हतो मृत्वा सुतोऽयभूत्तव । एवं ससारस्वरूपं दीक्षां लात्वा स वणिग् स्वर्गं गत. । इति संसारासारतायां महेश्वरदत्तमहिषादिसम्बन्धः ॥४२५॥

[426] अथ चारित्रविराधनदोषे क्षुल्लकसम्बन्धः ।

वसन्तपुरे देवप्रियः श्रेष्ठी । यौवने भार्या मृता । पुत्रेणाष्टवार्षिकेण सम प्रव्रजितः । स क्षुल्लकः परिषहमसहमानो वक्ति—तात ! न शक्नोमि उपानहौ विना हिण्डितुं । मोहेन पिता पुत्रस्योपानहौ कारयामास । ततोऽवग्—पुत्र—आतपे शीर्षं तपति तेन हिण्डितुं न शक्यते ततः पिता छत्रिकामातपवारणायानुजानाति स्म । ततः क्षुल्लकोऽवग्—तात ! भिक्षाटनं न शक्नोमि । ततः पिता समानीय भिक्षां सूनवे दत्ते । एवं भूमौ संस्तारयितुमशक्ते काष्ठफलक पिताऽनुजानाति स्म । एवं लोचस्थाने क्षौरं कारयति । अङ्गप्रक्षालनाऽशक्ते पुत्रे प्रासुकपयोऽनुजानाति स्म । पुनर्वक्ति सः तात ! ब्रह्मव्रत पालयितुं न शक्नोमि । एतत् श्रुत्वा पित्रा ध्यातमयमयोग्यः । एतानि मया मोहात् कारितानि परमेवं कारयन् पुत्रेण सममहमपि नरकेऽपतिष्यं । संसारे जीवानामसंख्या. पुत्रा जाता । अस्य को मोह' ततो निष्कासितो गणात् मृत्वा स सुतो महिषोऽभूत् । पिता तु स्वर्गे देवोऽजनि । अवधिज्ञानेन पुत्र जात ज्ञात्वा सार्थवाहरूपं विधाय तमेव महिष पानीयानयनाय ललौ । तस्य महिषस्य पृष्ठे बहु नीर स्थापयित्वा चालयन् सार्थवाहो जल्पति—तात ! न शक्नोमि इत्यादि पूर्वभवोक्तानि वचांसि । ततस्तानि वचांसि शृण्वन् महिषः प्राप जातिस्मृतिं पश्चाद्भवं स्मृत्वा पुनः पुनरश्रुप्रवाहं मुञ्चन् दध्यौ मया तु पित्रोक्तं चारित्र न पालितं तेन मृत्वाऽहं महिषो जातः । ततो देवेनोक्त—अहं तव पिता त्वां पश्चाद्भवं स्मारयितुमागां यद्यग्रे शुभगतिस्पृहाऽस्ति तदानशनं लाहि । ततो महिषोऽनशन गृहीत्वा वैमानिको देवो बभूव । अतः शुद्धं व्रत पालनीयम् । इति चारित्रविराधनदोषे क्षुल्लकसम्बन्धः ॥४२६॥

इति श्रीतपागच्छेश *श्रीरत्नशेखरसूरि*—पट्टालङ्करण—श्रीलक्ष्मीसागरसूरिशिष्य

प० शुभशीलविहित—पञ्चशतीकथाप्रस्तावकोशे

द्वितीयोऽधिकारः समाप्तः ।

॥ अथ तृतीयोऽधिकारः ॥

[427] अथ पुष्पचूलासाध्वीसम्बन्धः ।

जङ्घाबलक्षीणा आचार्या एकस्मिन् पुरे तिष्ठन्ति स्म । नवकल्पविहारं कर्तुमशक्ताः धर्ममूर्त्तयः शालामध्ये नव स्थानानि विभज्य मासे गते द्वितीयस्थाने मासमुपविशन्ति स्म । ऋतुकाले सैरष्टस्थानेषु स्थित्वा नवमस्थाने चातुर्मासीं तिष्ठन्ति स्म । पुष्पचूला साध्वी भिक्षां शुद्धामानीय तेभ्यो दत्ते ।

एकदा मेघे वर्षति उत्पन्नके भिक्षां लात्वा गुरुपार्श्वे समागमत्साध्वी । ततो गुरुभिः प्रोक्तं—पुण्यवति ! त्वया वर्षति मेघे आहारः किमानीत. सदोषत्वात् । साध्वी प्राह—मया अचित्तप्रदेशे स्थित्वा अत्रागतं तेन दोषो न लग्नः । गुरुणोक्तं—त्वमचित्तप्रदेशं कथं वेत्सि ? साऽवग्—गु दात् । गुरु प्राह—किं प्रतिपात्यप्रतिपाति वा तवोत्पन्नं ततस्तयोक्तमप्रतिपाति ? एव ज्ञात्वा आचार्या जगुस्तव केवलज्ञान जातं मम केवलज्ञानं कुत्र भविष्यति । केवली प्राह—गङ्गामुत्तरतां ! केवलज्ञान भविष्यति । ततस्ते सूरयो गङ्गायां गताः नावमारूढा यस्मिन्पार्श्वे गुरव उपविशन्ति तस्मिन्पार्श्वे नौर्निमज्जति ततो नौवाहकेन आचार्या गङ्गामध्ये क्षिप्ता । जलजीवानुकम्पाध्यानात्केवलज्ञानमुत्पन्नं, आयुरपि प्राप्तमन्त अन्तकृत्केवली जात । ततोदेवै केवलिमह. कृत. । ततो गङ्गातीर्थं जातं पुष्पचूलाऽपि भव्यान्प्रबोध्य मुक्तिं गता ।

इति क्षीणजङ्घाऽन्निकापुत्रसूरि—पुष्पचूलासाध्वीसम्बन्धः ॥४२७॥

[428] अथ वैराग्ये मोहे च वसुदत्तसंबंधः ।

काञ्चनपुरे वसुदत्त सार्थवाहो वसति स्म । ज्ञानी समागात्तत्र । सार्थपो वन्दित्वा गुरु पप्रच्छ शुको मम गृहेऽभूत्, स च मार्जार्या मारितो भक्षितः, स शुको ममातीव वल्लभोऽभूत्, तस्मिन्मृते ममातीवोच्चाटो विद्यते ।

ज्ञानी प्राह—तव वसुमती पत्नी बभूव । वरुण पुत्रश्च, स च तव त्वत्पत्न्या अतीव वल्लभोऽभूत् । अन्यदा वरुणो देशान्तरे गत्वा धनमर्जयित्वा मार्गे पश्चादागच्छन् शूलरोगान्मृतस्तत्राटव्यां शुकोऽजनि, तद्धन ते कियद्घटित कियद्गत, पुत्रमृतिस्मृते तव पत्नी, वरुणमाता मृता वसुमती, तव गृहे मार्जारी जाता ।

अन्यदा त्व देशान्तरे त्राटव्यां पुत्रजीवशुक धृत्वा स्वगेहेऽनैषीः, पञ्जरेऽक्षिपद ।

तं च पितुः प्रकल्प्य भोजनायोपविष्टः । स उत्संगे सुतः स्थापितः । शुनी तद्गृहं न मुञ्चती गृहद्वारे एव तिष्ठति स्म । ततोऽकस्मात्कोऽपि ज्ञानी साधुस्तत्र गृहे भिक्षार्थमागतो महेश्वर-द पं दृष्ट्वा पश्चाद्वलते । महेश्वरदत्तश्चकितः पृष्टौ गत्वाऽवग्—भो साधो ! भिक्षां गृहाण । स साधुः प्राह—तव गृहे असमञ्जसं दृश्यमानमस्ति । श्रेष्ठी प्राह—किमसमञ्जसम् ? त स्म बोधिं ज्ञात्वा साधुः प्राह—पितुर्मांसं त्वया तु भक्ष्यते । माता शुनी पतिमांसं भक्षयन्त्यस्ति गेहे । तव उत्संगे तु त्वया वैरी उपवेशितोऽस्ति । वणिक् प्राह—कथमेवं ज्ञायते ? ज्ञानी प्राह—यो महिषो मारितः स ते पिता । या शुनी सा ते माता । यस्ते सुतः स तव पत्न्या उपपतिस्त्वयैव हतो मृत्वा सुतोऽयभूत्तव । एवं ससारस्वरूपं ज्ञात्वा दीक्षां लात्वा स वणिग् स्वर्गं गत. । इति संसारासारतायां महेश्वरदत्तमहिषादिसम्बन्धः ॥४२५॥

[426] अथ चारित्रविराधनदोषे क्षुल्लकसम्बन्धः ।

वसन्तपुरे देवप्रियः श्रेष्ठी । यौवने भार्या मृता । पुत्रेणाष्टवार्षिकेण समं प्रव्रजितः । स क्षुल्लकः परिषहमसहमानो वक्ति—तात ! न शक्नोमि उपानहौ विना हिण्डितुं । मोहेन पिता पुत्रस्योपानहौ कारयामास । ततोऽवग्—पुत्र—आतपे शीर्षं तपति तेन हिण्डितुं न शक्यते ततः पिता छत्रिकामातपवारणायानुजानाति स्म । ततः क्षुल्लकोऽवग्—तात ! भिक्षाटनं न शक्नोमि । ततः पिता समानीय भिक्षां सूनवे दत्ते । एवं भूमौ संस्तारयितुमशक्ते पिताऽनुजानाति स्म । एवं लोचस्थाने क्षौरं कारयति । अङ्गप्रक्षालनाऽशक्ते पुत्रे प्रासुकपयोऽनुजानाति स्म । पुनर्वक्ति सः तात ! ब्रह्मव्रतं पालयितुं न शक्नोमि । एतत् श्रुत्वा पित्रा ध्यातमयमयोग्यः । एतानि मया मोहात् कारितानि परमेवं कारयन् पुत्रेण सममहमपि नरकेऽपतिष्य । संसारे जीवानामसंख्याः पुत्रा जाता ।अस्य को मोह' ततो निष्कासितो गणात् मृत्वा स सुतो महिषोऽभूत् । पिता तु स्वर्गे देवोऽजनि । अवधिज्ञानेन पुत्रं जात ज्ञात्वा सार्थवाहरूपं विधाय तमेव महिषं पानीयानयनाय ललौ । तस्य महिषस्य पृष्ठे बहु नीरं स्थापयित्वा चालयन् सार्थवाहो जल्पति—तात् ! न शक्नोमि इत्यादि पूर्वभवोक्तानि वचांसि । ततस्तानि वचांसि शृण्वन् महिषः प्राप जातिस्मृतिं पश्चाद्भव स्मृत्वा पुनः पुनरश्रुप्रवाह मुञ्चन् दध्यौ मया तु पित्रोक्त चारित्र न पालितं तेन मृत्वाऽह महिषो जातः । ततो देवेनोक्त—अहं तव पिता त्वां पश्चाद्भव स्मारयितुमागां यद्यग्रे शुभगतिस्पृहास्ति तदानशन लाहि । ततो महिषोऽनशनं गृहीत्वा वैमानिको देवो बभूव । अतः शुद्धं व्रतं पालनीयम् । इति चारित्रविराधनदोषे क्षुल्लकसम्बन्धः ॥४२६॥

इति श्रीतपागच्छेश *श्रीरत्नशेखरसूरि*—पट्टालङ्करण—श्रीलक्ष्मीसागरसूरिशिष्य
प० *शुभशीलविहित*—पञ्चशतीकथाप्रस्तावकोशे

द्वितीयोऽधिकारः समाप्तः ।

॥ अथ तृतीयोऽधिकारः ॥

[427] अथ पुष्पचूलासाध्वीसम्बन्धः ।

अङ्घाबलक्षीणा आचार्या एकस्मिन् पुरे तिष्ठन्ति स्म । नवकल्पविहारं कर्त्तुमशक्ताः धर्ममूर्त्तयः शालामध्ये नव स्थानानि विभज्य मासे गते द्वितीयस्थाने मासमुपविशन्ति स्म । ऋतुकाले सैरष्टस्थानेषु स्थित्वा नवमस्थाने चातुर्मासीं तिष्ठन्ति स्म । पुष्पचूला साध्वी भिक्षां शुद्धामानीय तेभ्यो दत्ते ।

एकदा मेघे वर्षति उत्पन्नके भिक्षा गुरुपार्श्वे समागमत्साध्वी । ततो गुरुभिः प्रोक्तं—पुण्यवति ! त्वया वर्षति मेघे आहारः किमानीतः सदोषत्वात् । साध्वी प्राह—मया अचित्तप्रदेशे स्थित्वा अत्रागतं तेन दोषो न लग्नः । गुरुणोक्त—त्वमचित्तप्रदेशं कथं वेत्सि ? साऽवग्—गुरुप्रसादात् । गुरु प्राह—किं प्रतिपात्यप्रतिपाति वा तवोत्पन्नं ततस्तयोक्तमप्रतिपाति ? एव ज्ञात्वा आचार्या जगुस्तव केवलज्ञानं जातं मम केवलज्ञानं कुत्र भविष्यति । केवली प्राह—गङ्गामुत्तरतां ! केवलज्ञान भविष्यति । ततस्ते सूरयो गङ्गायां गताः नावमारूढा यस्मिन्पार्श्वे गुरव उपविशन्ति तस्मिन्पार्श्वे नौर्निमज्जति ततो नौवाहकेन आचार्या गङ्गामध्ये क्षिप्ताः । जलजीवानुकम्पाध्यानात्केवलज्ञानमुत्पन्न, आयुरपि प्राप्तमन्त अन्तकृत्केवली जात । ततोदेवै केवलिमह. कृत । ततो गङ्गातीर्थं जातं पुष्पचूलाऽपि भव्यान्प्रबोध्य मुक्तिं गता ।

इति क्षीणजङ्घाऽन्निकापुत्रसूरि—पुष्पचूलासाध्वीसम्बन्धः ॥४२७॥

[428] अथ वैराग्ये मोहे च वसुदत्तसंबंधः ।

काञ्चनपुरे वसुदत्त सार्थवाहो वसति स्म । ज्ञानी समागात्तत्र । सार्थपो वन्दित्वा गुरु पप्रच्छ शुको मम गृहेऽभूत्, स च मार्जार्या मारितो भक्षितः, स शुको ममातीव वल्लभोऽभूत्, तस्मिन्मृते ममातीवोच्चाटो विद्यते ।

ज्ञानी प्राह—तव वसुमती पत्नी बभूव । वरुण पुत्रश्च, स च तव त्वत्पत्न्या अतीव वल्लभोऽभूत् । अन्यदा वरुणो देशान्तरे गत्वा धनमर्जयित्वा मार्गे पश्चादागच्छन् शूलरोगान्मृतस्तत्राटव्यां शुकोऽजनि, तद्धल ते कियद्घटित कियद्गतं, पुत्रमृतिस्मृते तव पत्नी, वरुणमाता मृता वसुमती, तव गृहे मार्जारी जाता ।

अन्यदा त्व देशान्तरे गतस्तत्राटव्यां पुत्रजीवशुकं धृत्वा स्वगेहेऽनैषीः, पञ्जरेऽक्षिपव ।

वर्याहारैस्त्वया स पोषितः स्नेहेन लालित पालितः पाठितश्च ।

अन्यदोद्घटिते पञ्जरे शुकं मार्जारी हत्वा भक्षितवती । सा च वसुमती माता, तं शुकं पुत्रमाह । एतच्छ्रुत्वा प्राप्तवैराग्यो व्रत लात्वा कर्म क्षिप्त्वा मुक्तिं ययौ ।

इति वैराग्ये मोहे च वसुदत्तसंबंधः ॥४२८॥

[429] अथ कुटुम्ब विघटनादौ जिनदत्तकथा ।

श्रीपुरे जिनदत्त श्राद्ध । पत्नी जिनदत्ता । पुत्राः चत्वार परिणायिताः । पत्नी जिनदत्ता मृता । श्रेष्ठिनो मित्रं विमलः ।

एकदा जिनदत्तेन मित्रवारितेनापि पुत्रेभ्यः सर्वा श्रीर्दत्ता । क्रमाद्वध्व श्वशुरस्य शुश्रूषा न कुर्वते । श्रेष्ठी दुःखी जात । पुत्राणामग्रे स्वदुःख श्रेष्ठी प्राह । पुत्रै स्वपत्नीनां प्रोक्त—युष्माभिः ऽस्मत् पितुः शुश्रूषा किं न क्रियते ? तदा सर्वा अपि वध्वो जगु—असौ न वयं मन्यते, तेनास्माभिर्गृहेऽपि स्थातु न शक्यते, यदि असौ वाटके तिष्ठति तत्रस्थस्यास्माभिर्भुक्तिः करिष्यते, तदा वयं स्थास्यामो नोचेत् पितुर्गृहे यास्याम' । ततस्तैः पुत्रैः पिता वाटककुटीरके स्थापित । उत्सूरे यत्तदन्न ददते । दुःखी जात । मित्रेणोक्तं मत्कथितं न प्रोक्त [कृतं] तेन दुःखी जातोऽसि त्वं, लक्ष्मीरेव [मान्यमे] न पितृमात्रादि. । तत सुहृत्तस्य [सौ] कृत्रिमान् स्वर्णिकान् दत्वाजगु—इय वासनिका खट्वायाः पादस्याधः स्थाप्या, यदा वृद्धा वधूरायाति तदा मुखमस्या छोटयित्वा स्वर्णिकान् हस्ते गृहीत्वा त्वरितं मध्ये क्षिप्त्वा वासनिका बन्धनीया, यदा वधूर्वदति "तात ! किमस्ति ते पार्श्वे" तदा वाच्यं "वृद्धत्वहेतवे सौवर्णिका रक्षिता ? अहं दुःखी जातः, तेन एते व्ययन्ते"। वधूः प्राहाहं तव भक्तिं करिष्यामि । ततस्तया भक्तौ क्रियमाणाया श्रेष्ठी जगौ—यदाऽह म्रिये तदा त्वया ग्राह्या, [एवं तिसृणां पुरो वक्तव्यं] । ततो विमलमित्रोक्ते विहिते श्रेष्ठी पत्नीरचया गृहमध्ये आनीतः । वारकेण सर्वा वध्वो भक्ति कुर्वते । श्रेष्ठिनि मृते वृद्धा वधूर्मिषं कृत्वा वासनिका यावद् गृह्णाति तावदन्या जगुर्ममार्पिता श्वशुरेण । एव विवाद कुर्वतीनां त्रुटिता वासनिका । ठीकरीर्दृष्ट्वा पश्चादुक्तं ताभिर्यादृशी भक्तिरात्मना कृता तादृशी श्वशुरेणापि ।

इति कुटुम्बविघटनादौ जिनदत्तकथा ॥४२९॥

[430] अथ पुत्रभक्तौ वज्रसिंहभूपसम्बन्धः ।

कुसुमपुरे धनसुनन्दौ गृहस्थौ वसत स्म । सरलौ दानिनौ दयापरौ । एकदा तौ साधुमुपद्रूयमाण भिल्लैर्मोचयामासतु, तेन पुण्येन वीरपुरे वज्रसिंहभूपस्य रुक्मिण्याः पट्टराज्याः कुक्षौ अवतीर्णौ । तस्या रुधिरपूर्णकुण्डस्नानदोहदो जातः । अलक्तरसपूरितवाप्यां दोहद. पूरित । तरसक्लिन्नवस्त्रशरीरा सा भारण्डपक्षिणा मांसबुद्ध्याऽकस्मादुत्पाटिता व्योम्नि

अरण्ये नीता, तत्र तापसोटजे तया पुत्रयुग्म जनितं सिंहसिन्धुरौ नाम्ना कृतौ क्रमात् प्रौढौ जातौ हस्तिव्याघ्रादिभि समं क्रीडत स्म ।

अन्यदा वशीकृतश्वेतगजस्कन्धारूढौ पल्लीपतिनाऽवरुद्ध सार्थवाह विमोच्य पल्लीश हत्वा तत्र राजानौ जातौ मातुःसेवां कुर्वाते स्म । अन्यदा वज्रसिंहभूपस्तयो. पार्श्वं त गजं श्रुत्वा दूत प्रेष्य याचते स्म । तौ श्वेत गज नार्पयत स्म । वज्रसिंह संनह्य तत्र गत. । तत्र युद्धं मण्डित ताभ्या । क्रमाज्जीवसंहार ज्ञात्वा स्व पतिं च रुक्मिणीमाता पुत्रौ प्रति जगौ युवयो एषः पिता । सर्वं दोहदस्वरूप कथितवती च, ततस्तु तौ पितुः पार्श्वे गत्वा प्रणेमतु । रुक्मिण्यपि तत्रागता । ज्ञापितः पुत्रसम्बन्ध पत्यु । ततो हृष्टस्तयो राज्य दत्त्वा दीक्षां जग्राह तावेकछत्र राज्य प्रपाल्य क्रमात्प्राप्तव्रतौ सिद्धौ ।

इति पुत्रभक्तौ वज्रसिंहभूपसंबधः ॥४३०॥

[431] अथ नमस्कारगणनफले कदम्बद्विजसम्बन्धः ।

काकन्द्या पुर्यां सोमशर्मा विप्र । तस्य पुत्रः कदम्ब अतिशौचवादी छायामात्रान्यस्पर्शे सचेलस्नान करोति, पानीयपिशाच इति प्रसिद्धोऽभूत् । वस्त्राञ्चलस्थगितवदननासिकः सर्वत्र हु हु कुर्वन् भ्रमति, यदा कस्यापि वस्त्राञ्चलो लगति तदा तस्मिन्क्षेप चकार । ततो गलत्कुष्ट-प्रभृतिरोगैर्ग्रस्तः । ततस्तस्य कोऽपि स्पर्शं न करोति । वैद्योऽपि नाडिं न विलोकते संक्रमणभयात् । यत —

ज्वरो भगन्दरः कुष्टं, क्षय चैव चतुर्थकः ।
एते सस्पर्शतो रोगा, सक्रमन्ति नरान्नरम् ॥१॥

ततो नष्टशौचपाशोऽजनि शरीरे वेदना जाता । अन्यदा यतिपार्श्वे गत । यतिना धर्मोपदेशो ददे । तत पृष्ट तेन युष्माभि स्नान न क्रियते, कुतः शुद्धिर्भवति । यतिना प्रोक्त— शरीरमिदमशुचि विद्यते । तस्य स्नानेन किम् भवति । मन शुद्धिरेव वीक्ष्यते । यत —

रसासृग्मांसमेदोस्थि—मज्जशुक्रान्तवर्चसाम् ।
अशुचीना पदं कायः, शुचित्वं तस्य तत्कुतः ॥२॥
नवः श्रोतः श्रवद्विस्र—रसानिःस्यन्दपिच्छिले ।
देहेऽपि शौचसंकल्पो, महन्मोहविजृम्भितम् ॥३॥

श्रुत्वैतद्दध्यौ द्विज –अह मुधा शुचिवाद करोमि, अहो एते एव शुचय ब्रह्मचारी सदाशुचिः यदि ममापि रोगोपशान्तिर्भवति तदाहमपीदृशो भवामि । साधुभिरुक्तं–सर्वमौषध मुक्त्वा एक नमस्कार गणय, षण्मासीं यावदपर ध्यानं न कार्यं । ततस्तस्य नमस्कारान्गणयन्कुष्ट गतं सुश्रावको जात. । मत्रंयन व्ययित्वा चारित्र गृहीत्वा स्वर्गं गत कदम्ब ।

इति नमस्कारगणनफले कदम्बद्विजसम्बधः ॥४३१॥

[432] अथ क्षमायां कीर्त्तिवर–सुकोशलमुनिसंबंधः ।

अयोध्यायां कीर्तिधरो राजा । सहदेवीपत्नीयुक्तो राज्यं चक्रे । सुकोशले पुत्रे जाते दीक्षां राजा ललौ । सुकोशलो राज्यं चक्रे । अन्यदा कीर्त्तिधरमुनिर्मध्याह्ने भिक्षार्थमयोध्यानगरमध्ये प्रविशन् सहदेव्या दृष्टो, दध्यौ च सा–यदि कदाचित्कीर्त्तिधरं पितरं सुकोशलो द्रक्ष्यति तदा दीक्षां ग्रहीष्यत्येव, एवं ध्यात्वा सा तं सेवकपार्श्वात्पुराद्बहिर्निष्काशयामास । सुकोशलधात्री रोदिति । सुकोशलोऽवादीत्—मातः ! किं रुद्यते त्वया ? साऽवग्—तव पिता मुनिस्तव मात्रा पुराद्बहिः कर्षितः । ततः पिता प्रतिलाभितः, धर्मं श्रुत्वा सुकोशलो व्रतं ललौ, सहदेवी पुत्रवियोगपतिद्वेषाभ्यां मृता वने व्याघ्री जाता । कीर्त्तिधरसुकोशलमुनी तत्रागतौ चतुर्मासीं तपश्चक्रतुः । पारणकदिने यातौ तौ व्याघ्रया दृष्टौ । प्रथमं सुकोशले पतिता, मुनी प्राणान्तमुपसर्गं ज्ञात्वा कायोत्सर्गं चक्रतु । सुकोशलऋषिर्व्याघ्रया भक्ष्यमाण क्षपकश्रेणिरूढः केवलज्ञानमवाप्य मुक्तिं सद्यो ययौ, कीर्त्तिधरं ऋषिं भक्ष्यमाणा व्याघ्री तन्मुखे स्वर्णमढितदन्तान् दृष्ट्वा प्राप्तजातिस्मृतिः स्वं पतिं विज्ञाय प्राप्तपश्चात्तापा समादायानशनं सहस्रारं स्वर्गं गता ।

इति क्षमायां कीर्त्तिधर–सुकोशलमुनिसम्बन्धः ॥४३२॥

[433] अथ अहंकारे उज्झितकुमारसम्बन्धः ।

नन्दिपुरे [illegible] रराजस्य [illegible] मत्यावाः पत्न्योऽभूवन् । अपत्यानि न जीवन्ति तदोपयातैरन्यदा पुत्रो जातः सोऽपि मृत इति कृत्वा उत्करटिकायामुज्झितः, दैववशान्न मृतः, पुनः पश्चाद्गृहीतः, तस्य उज्झितकुमार इति नाम दत्तं । यौवनं प्राप्तः परमत्यन्ताहङ्कारवान् जगत्तृणं मन्यते, स्तम्भ इव मातापित्रोरपि न नमति स्म ।

अन्यदा लेखशालायां पठन् गुरुं प्रत्यवग्—रे ! त्वं उच्चासने उपविष्टः, अहं नीचासने उपविशामीति हक्कयन् चपेटयाहत्य गुरुमपिभूमौ पातयामास । ततः कुपुत्र इति कृत्वा राज्ञा निष्काशितो देशात्तापसाश्रमेगतः । पर्यस्तिकां बध्वा मुनीनामग्रे आसीनं तापसैरुक्तं—महानुभाग ! विनय [illegible] ? ततो रुष्टो निर्गतो मुनीननत्वैव । मार्गे सिंहं संमुखमागच्छन्तं दृष्ट्वाऽपि दर्पान्न [illegible] सन्मुख एव गतः, सिंहेन भक्षितः, खरो जातः, ततः करभः, ततः पुनरपि नन्दिपुरे पुरोहितस्यैव सुतोऽभूत् । शैशवेऽपि १४ विद्यापारगः महाहंकारवशान्मृत्वा पुरे गायनोडुम्बो जातः पुरोधसस्तं दृष्ट्वा महास्नेहः ।

इतश्च केवलज्ञानी [illegible] तः केवली पृष्टः पुरोधसा, ममाय डुम्बः अतीववल्लभः कथं ? केवलिनोक्तं—एष डुम्बजीवः तवेतो नवमेभवे भ्राताऽभूत् । अतस्तव स्नेहोऽनेन समं, इति श्रुत्वा संसारासारतां [illegible] द्वावपि धर्मं कृत्वा स्वर्गं गतौ ततो मुक्तिं यास्यतः क्रमात् ।

इति अहंकारे उज्झितकुमारसम्बन्धः ॥४३३॥

[344] अथ जीवरक्षणारक्षणयोर्बलभद्रकृष्णसंबंध ।

धान्यसंचयपुरे द्वौ सोदरौ वनात्काष्टभृतं शकट कृत्वा स्वगृहं प्रति चलितौ । लघुः शकट खेटयामास । वृद्धोऽग्रेसरोऽभूत् । मार्गे चुक्कलण्डां दृष्ट्वा वृद्ध उवाच शकटं टालय । अग्रे चुक्कलण्डा मार्गे स्थिता मरिष्यति । एतत् श्रुत्वा चुक्कलण्डा सा [तत्रैव स्थिता], तेनापि ईर्ष्यया तदुपरि शकट खेटित चुक्कलण्डा मृता वसन्तपुरे धनश्रेष्ठिसुता जाता. यौवने परिणीता । अन्यदा ज्येष्ठबन्धुर्मृत्वा तस्याश्चुक्कलण्डाजीवस्य सुनो जातः, ललिताङ्ग इति नाम ।

कालान्तरे द्वितीयोऽपि सुतो दुष्टशातनपातनौषधैः पात्यमानोऽपि [नावन्नेव] बभूव । [तत्र] तया मात्रा दासहस्तेन बहिरुज्झितः । पिता स्वपुत्र मात्रोज्झितं ज्ञात्वा ऽन्यत्र रह स्थापयामास । गंगदत्त इति नामाभवत् । अन्यदोत्सवाहनि भोजनवेलायां पिता द्वौ पुत्रौ स्वोत्संगे निवेशयामास । गगदत्तस्तु पृष्ठौ रह' स्थापित । तस्यापि [तस्मै अपि] छन्न पक्वान्नानि दत्ते । तदा सा तं दृष्ट्वोत्पन्नरुट् सचारके चिक्षेप पितृ पुत्रौ तमशुचे कर्षयित्वा वारिणा प्रक्षाल्य वनान्तर्ज्ञानिनोऽन्ते गतौ । ज्ञानी पृष्टः अस्य माता हन्तुमिच्छति । ततो ज्ञानी जगौ—यदा इय चुक्कलण्डाऽभूत् तदा अनेन लघुभ्रात्रा चुक्कलण्डा हता । अतो हन्तुमिच्छत्यस्य माता । अनेन सूनुना वयं वच प्रोक्त । अतोऽस्मिन् हृष्टाऽभून् ततस्त्रयोऽपि व्रत ललु', जनकः सिद्ध' । गगदत्तः सर्वस्य वल्लभो भूयासमिति निदानं कृत्वा । ललिताङ्गस्तु तप कृत्वा, महाशुक्रे स्वर्गे सुरौ जातौ ततश्च्युतौ बलभद्रकृष्णौ जातौ ।

इति जीवरक्षणारक्षणयोर्बलभद्रकृष्णसम्बन्ध. ॥४३४॥

[435] अथ अतिमुक्तर्षिसम्बन्ध ।

पोलासपुरे विजयो राजा । श्री पत्नी । अतिमुक्तक पुत्रोऽजनि अष्टवार्षिकोऽभूत् । पुरमार्गे कनककन्दुकेन बालकैः सम रमते स्म । इत श्रीवीर तत्र समवसरत् । गौतम' ारणके भिक्षायै पुरमध्ये भ्रमति । गौतमं दृष्ट्वा सोऽतिमुक्तको हृष्टोऽभाणीत्—के यूय, किमर्थमटत । गौतमो जगौ—वय साधवो भिक्षार्थमटामः । स प्राह—तर्हि मम गृहे आगच्छत, भिक्षा दास्यामि तुभ्यं । ततोऽग्रे भूत्वा गौतम स स्वगृहेऽनैषीत्, शुद्धान्नपानोयैर्गौतमस्तेन प्रतिलाभित । सोऽतिमुक्तकोऽवग्—यूयं क्व यास्यथ ? गौतमोऽवग्—अस्माकं धर्मगुरुर्वीरो विद्यते तस्य पार्श्वं, अतिमुक्तकोऽपि तत्र गतः वीरपार्श्वे धर्मं श्रुत्वा प्रबुद्धः । ततो गृहागतः—

"जं चेव जाणामि तं चेव न जाणामीति"

यन्मरणं भावि जानामि तदपि न जानामि कदा भविष्यतीत्यादि प्रोच्य मातापितरौ प्रबोध्य प्रवव्राज । अन्यदा वर्षासु जलप्रवाहे वहति तनुगमनिकायां गत्वा स्वां दुपरिकां जले मुक्त्वा क्रीडया तारयति । मम बेडो तरति, स्थविरैर्वारितः । तत स्थविरा वीरं पप्रच्छुः—

अतिमुक्तो बालर्षिराराधकोऽथवाऽनाराधकोऽस्ति । श्रीवीरः प्राह—अत्रैव भवे गुणरत्नतपसा केवलीभूत्वा सेत्स्यति । ततो हृष्टाः स्थविरास्तं पालयन्ति श्लाघयन्ति च । क्रमाद्वृद्धो भूत्वा १२ गुणरत्नतप. कृत्वा सिद्ध.। तच्चेदं तपः १ उपवासपारणं—२ उपवासपारणं, एवं शत-उपवासपारण, पारणे तु आचाम्लम् । इति अतिमुक्तर्षिसम्बन्धः ॥४३५॥

[द्वितीयस्तु अतिमुक्तकः कसचातो [कस लघु भ्राता] श्री नेमिनाथवारके केवली बभूव। तृतीयस्तु मेघे वर्षति जलविराधन कृत्वा गुरुणा वारितः सन् धर्मस्थानके समेत्य इर्यापथिकीं प्रतिक्रामत् दगमट्टी रइति पुन पुनः ममेमा [भणित्वा] शुक्लध्यानारूढ. केवलज्ञानं प्राप क्रमाजिइश्च ,क्रमाज्जिनश्च] ॥४३५]

[436] अथ वस्तुपालकुटुम्बप्रतिबोधिसम्बन्ध. ।

एकदा धवलक्कपुरे श्रीहेम भसूरयश्चतुर्मासीं स्थिताः । तत्र व्याख्याया ठक्कुरश्री आभूमन्त्रिनन्दिनी कुमारदेवी मात्रा सहायाति । परं सा कुमारदेवी विधवा । आसराजोऽपि व्याख्यायामागतः । व्याख्यानप्रान्ते सर्वेषु साधुषु स्वस्वगृहे गतेषु गुरुं पप्रच्छ—भगवन् ! युष्माक दृष्टिर्नीरागाऽपि कुमारदेव्यां कथं पुन पुनर्गता ? गुरवो जगु —कुमारदेव्याः कुक्षौ—एकादशरत्नानि सन्ति, ४ पुत्रा. सप्त पुत्र्यः सन्ति । तेषु पुत्रद्वयं लोकोत्तर श्रुत्वेति आसराजः आभूमन्त्रिसेवा करोति स्म । तत्र गृहलेख करोति स्म । क्रमेण कुमारदेव्या सह प्रीतिर्जाता । गुरूक्तं कथितं, ततस्तस्या मातुरपि प्रोच्य छन्नं वाहनिकायामुपवेश्य कुमारदेवीं आसराजो मण्डलीनगर्यां गतः । तत्र वसतस्तस्य लूणिग१–मल्लदेव२–वस्तुपाल३–तेजपालाह्वा४ चत्वारः पुत्रा बभूवु । साकु१–माकु२–भाकु३–धनदेवी४–सोहग५–तेजुका६–वइज७ काख्याः सप्त पुत्र्योऽभूवन् । मल्लदेवलूणिगौ अल्पायुषौ जातौ ।

एकदा आसराजो धवलक्कके वास चकार । वस्तुपालस्य ललितादेवी पत्न्यभूत् । द्वितीया सोषुश्च[सौपूश्च] ललितादेवीपुत्रो जयन्तसिंहस्तस्य पत्नो सूहवदे । तेज पालस्य तु अनुपमादेवी पत्न्यभूत् । आसराजसुतौ व्यवसायं चक्रतु । इतो व्याघ्रपल्लीयो राणक. आनाको भीमेन भूपेनापमानितोऽन्यत्र गत । परिग्रहेणाऽऽकारितोऽपि नायात् । ज्ञापित च राज्य विनष्ट च किमागम्यते मया ? परं पदातिमात्रः सन् ओलगां करिष्यामीत्युक्त्वा पत्तने समागात् । तत्सुतो ᳚ नामा भञ्जकधरोऽस्ति तस्य वीरधवलपुत्रोऽभूत् । स च राज्ञा भीमेन प्रधानः कृत. । राणिमा दत्ता तस्मै, राज्य चिन्तां चक्रे च भीमभूपोविकलोऽभूत् ।

अथ लवणप्रासादेन राज्यमात्मायत्तं [आत्मीयं] कृतं, भीमे मृते स एव लवणप्रसादो राजाऽभूत् वीरधवलस्य 'कुमारभक्तो धवलक्कक दत्त लवणप्रसादो धन धवलक्कके वीरधवलस्नेहेन तस्थौ । पत्तने अमात्याश्चिन्ता कुर्वन्ति यथा क्रमात्तस्य वस्तुपालतेजपालौ मन्त्रीश्वरौ जातौ तथा ग्रन्थान्तराद् ज्ञेयौ । क्रमाद्वस्तुपालमन्त्रो ब्राह्मणैर्वेष्टितोऽनन्तं बबन्ध हस्ते, मिथ्यात्वे पतितः ।

अत्रान्तरे कुलगुरवः श्रीदे सेनसूरयो वन्दापयितुमागतास्तत्र कुमारदेव्या नमस्कृता ।

उक्त च गुरुभि —मन्त्री वस्तुपालो नायाति । कुमारदेवी जगौ—भगवन् ! गृहे पादावधारयिष्व वन्दापनार्थं गुरवो प्राप्ता । मन्त्री तूपरि गृहस्य तस्थौ । तदा गुरवो गृहस्योर्ध्वभूमौगताः । वस्तुपालस्तु विप्रैर्वेष्टितः सन्मुखं न पश्यति गुरो । ततो गुरवः पश्चाद्वलिताः । कुमारदेवी जगौ—भगवन् ! त्वरितं कथ पश्चाद्वलिताः ? गुरुभिरुक्त—अवसरो नास्ति । कुमारदेवी प्राह—भगवन् ! क्षण प्रतीक्षध्व, मन्त्री आगमिष्यति । ततः कुमारदेवी पुत्रपार्श्वे गत्वाऽवग्—पुत्र ! गुरव आगता अपि त्वया न नता । आत्मन कुले ये गुरवः सन्ति ते तु मान्यन्त एव । वस्तुपालो मातुर्वचसा विप्रान् विसर्ज्य गुरुपार्श्वे समागात् । गुरवो वन्दिता', पृष्ट च—भगवन् ! कथं पश्चात्त्वरित वलिताः ? गुरुभिः प्रोक्त—त्व सुश्राद्धमन्त्रिआसराजकुलचूडामणिरसि । आत्मनः कुलाचार मा मुञ्च । पुन पुनरुपदेश ददानैर्गुरुभिरुक्त—यो देव पूज्यते स जिमद्भिर्द्दन कुर्वद्भिर्न विराध्यते । [आभछिस्यादिना] अयमनन्तो देवः स च जिमद्भिः कथं बाध्यते इत्यादि प्रोच्य छोटापित. ? ये गृहकार्यं कुर्वन्ति भार्यामङ्गीकुर्वन्ति ते तु न धर्मगुरवः किन्तु कर्मगुरव । एव ज्ञात्वा त्वया विज्ञेन परीक्ष्य धर्मगुरवोऽङ्गीकार्या इति श्रुत्वा गुरुपार्श्वे वस्तुपालः सकुटुम्ब' सम्यक्त्व लात्वा जैन धर्मं चक्रे ।

इति वस्तुपालकुटुम्बप्रतिबोधसम्बन्धः ॥४३६॥

[437] अथ वस्तुपालमन्त्रिसंघवात्सल्यादिनियमः ।

एकदा द्वौ वस्तुपाल-तेजपालौ गुरुपार्श्वे धर्मं श्रोतु गतौ । गुरुभि प्रोक्त—

धनदो धनमिच्छूनां कामदः काममिच्छताम् ।
धर्म एवापवर्गस्य पारम्पर्येण साधकः ॥१॥

कोशं विकासय सदा श्रय धर्ममार्यं, प्रीतिं कुरुष्व यदयं दिवसस्तवास्ति ।
दोषोदये निबिडराजकरप्रताप–ध्वान्ते ममेष्यति पुनस्तव कः समीपम् ॥२॥

तदनु स्वगृहे समायातौ विमृशत स्मेति तौ गुरुभिर्हितोपदेशो ददे । उत्तरकालस्तु न ज्ञायते कीदृशो भविष्यति । अतोऽधुना धन धर्मस्थाने व्ययते ततस्तौ स्थले स्थले प्रासादान् धर्मशालाः सत्रागारान् मण्डयामासतुः । प्रतिदिन उभयकाल प्रतिक्रान्तिमेकवार देवार्चा प्रतिवर्षं महती संघार्चाः साधर्मिकवात्सल्यत्रयं च १५०० तपोधनविहारणम् ।

इति वस्तुपालमन्त्रिसंघवात्सल्यादिनियमः ॥४३७॥

[438] अथ वस्तुपालमन्त्रियात्रासम्बन्धः ।

एकदा श्रीवस्तुपालो गुरुपार्श्वे श्रीशत्रुञ्जयतीर्थयात्राफल शुश्रावेति—

पल्योपमसहस्रं तु, ध्यानाल्लक्षमभिग्रहात् ।
दुःकर्म क्षीयते मार्गे, सागरोपमसञ्चितम् ॥१॥

स्पृष्ट्वा शत्रुञ्जयं तीर्थं, नत्वा रैवतकं गिरिम् ।
स्नात्वा गजपदे कुण्डे, पुनर्जन्म न विद्यते ॥२॥

कृत्वा यूपसहस्राणि, हन्वा जन्तुशतानि च ।
इद तीर्थं समाराध्य, तिर्यंचोऽपि दिवं गताः ॥३॥

इत्यादि तीर्थमाहात्म्यं श्रुत्वा मपत्रिका बहुषु देशेषु प्रेष्य बहुं श्रीसंघमाकारयामास मन्त्री, जगौ च—

वाहनौषधपाथेयं, सहायवृषभादिकम् ।
यद्यस्य नास्ति तत्तस्मै, देयं मया मुदा ॥४॥

प्रस्थानावसरे कवि॰ प्राह—वस्तुपालो मन्त्री भरतचक्रीव यात्रामधुना कुर्वाणोऽस्ति । प्रथम देवगृहे स्नात्रं विस्तरान्मन्त्री चक्रे, पश्चात्संघार्चां । ततो मन्त्रपूर्वं देवालयानां रथे स्थापनं । तत्र चामरादिधरणढालनादि अविधवास्त्रीतिलककरणगीतगानादि, वृषभाणां - लाबन्धनं । कौसुम्भिकाया वृषशृङ्गेषु धारण । प्रथमयात्राया विस्तरः ४००० सेजवालाः, ७०० सुखासनानि, १४०० श्रीकर्याः, ३३३ सूरयः, २२०० यतयः, ११०० क्षपणकाः, ३३०० भट्टाः, ६४ देवालया, १८० हेमजटितवाहिन्यः, ४५० जैनयाचकाः, ४००० तुरं , ७००००० मनुष्या, मार्गे समकरणाय ५००० कुद्दाडिका, ५०० महिषाः, पानीयानयनाय ५०० कुद्दाली, एवमपरमपि स्वयं ज्ञेय प्रतिदिन १०० मनुष्याः जिमन्ति मन्त्रिगृहे । एवंविधेन श्रीसघेन सह वस्तुपालमन्त्री द्वयोस्तीर्थयोर्यात्रां चकार ।

इति वस्तुपालमन्त्रियात्रासम्बन्धः ॥ ४३८ ॥

[439] अथ यात्रायामाग्ये वस्तुपालहडालाग्रामप्राप्तिसम्बन्धः ।

अन्यदा बहुश्रीसघ मेलयित्वा वस्तुपालो मन्त्री श्रीशत्रुञ्जयदेवनमनार्थं चलितो ला-ग्रामे गत॰ । तदा द्वाभ्या भ्रातृभ्या गृहसत्कलक्ष्मीर्विलोकिता, लेखके लक्षत्रयं । ततः प्रोक्तं मन्त्रिणा सुराष्ट्रासु [अथास्वास्थ्य] अस्वस्थ विद्यते । तेन लक्षमेकमत्रावनौ क्षिप्यते । लक्षद्वय धर्मे व्ययनार्थं सार्थे नीयते । एवं विमृश्य यावल्लक्षस्य धनस्याधःक्षेपाय भूमिं खनयति मन्त्री तावत्तत्र भूमौ कस्यापि धनिन पूर्वस्थापितः वस्र पूर्णः शौल्ककलशो निर्ययौ । ततो मन्त्री अनुपमादेवीं पप्रच्छ—क्वैतन्निधीयते धनं ? तयोक्तं तीर्थे व्ययते स्थाप्यते । ततो मन्त्री तद्धन सार्थे नीत्वा शत्रुञ्जयगिरिनारतीर्थयोर्व्ययत् । कृत्वा यात्रां संघ परिधाप्य गुरूश्च सोत्सव धवलक्कके समागात् मन्त्री ।

इति यात्रायामाग्ये वस्तुपालहडालाग्रामप्राप्तिसम्बन्धः ॥४३९॥

[440] अथ वस्तुपालतेजपालयोर्मुद्राप्राप्तिसम्बन्धः ।

एकदा रात्रौ गौर्जरी[त्रा]अधिष्ठायिका सुरी धवलक्कपुरे वीरधवलभूपस्य पुरोऽभ्येत्यावग्— इय गूर्जरा बहुभिर्भूपैर्भुक्ता । अधुना त्वमवतीर्णो भोक्तु यदि तव राज्यवर्धनेच्छा विद्यते तदा वस्तुपालतेजपालौ मन्त्रिणौ कुरु । एव प्रोच्य देवो विद्युदिव तिरोदधे । राज्ञा दध्यौ— कोऽपि दिव्योपदेश, कर्त्तव्य एव । यत —

दृप्यद्भुजाः क्षितिभुजः श्रियमर्जयन्ति,
नीत्या समुन्नयति मन्त्रि ः पुनस्ताम् ।
रत्नावलीं जलधयो जनयन्ति किन्तु,
संस्कारमत्र मणिकारगणः करोति ॥ १ ॥

इतो रात्रौ देवी सैव लवणप्रसादस्याग्रेऽप्यवदत् वस्तुपालतेजपालौ मन्त्रीश्वरौ कार्यौ, पितापुत्रौ मिलित्वा मिथः स्वस्वं रात्रिवृत्तान्तं जजल्पतुः । ततस्ताभ्यां वीरधवललवणप्रसादाभ्यां सोमेश्वरदेवगुरोरग्रे प्रोक्त । गुरुर्द्विजः प्राह—युवां भाग्येन देव्या ज्ञापितमेतत् । ममकल्ये वस्तुपालतेजपालौ मिलितौ । साक्षात्पुरुषोत्तमप्रायौ विज्ञौ, सदाकारौ, विनीतौ, सर्वकलाकुशलौ, धीमन्तौ, शूरौ, दानिनौ, धर्मवन्तौ । तदा मया ध्यातं ौ मन्त्रिणौ भवतस्तदा राज्यवृद्धि-र्भवति । ततस्तौ सोदरौ राज्ञा तत्राकारितौ, आसनदानादिना सन्मानितौ । ततो भूपो जगौ युवयोर्मन्त्रीश्वरपद दातुकामोऽस्मि उक्त च—

आवयोश्च पितृपुत्रयो-र्महानाहितः क्षितिभरः परद्रुहा ।
तद्युवां सचिवपुङ्गवावहं, योक्तुमत्र पत्समुत्सहे ॥१॥

अथ वस्तुपालो जगौ—

देव ! सेवकजनः स गण्यते, पुण्यवत्सु गुणवत्सु चाग्रणीः ।
यः प्रसन्नवदनाम्बुजन्मना, स्वामिना मधुरमेवमुच्यते ॥२॥

नास्ति तीर्थमिह पार्थिवात्परं, यन् ाम्बुजविलोकनादपि ।
नश्यति द्रुतमपायपातकं, सम्पदेति च समीहिता सताम् ॥३॥

किन्तु किमपि विज्ञाप्यते स्वामी,
आवाभ्यां सागता मयी जगत्त्रयी ।
देव ! संप्रति यु [गः] कलिः पुनः सेवकेषु,
न कृत [ता] कृतज्ञता नापि भूपति यत्र दृश्यते ॥४॥

दृष्टिर्नष्टा भूपतीनां तमोभिः[1] लोभस्तु सर्वेषां विद्यते[2] राजानस्तु आत्मीयाः न भवन्ति केषामपि, तेनास्मन्मनो मन्त्रीश्वरपदग्रहणे दोलायते। यदा श्रीर्भवति तदा तु धर्मस्थानादौ व्ययितुमिच्छा भवति। तदा राज्ञो दृष्टिर्यदाक्रूरा भवति। तदा सर्वं राजा गृह्णाति। राजाऽवग्—यत्र भवतो[ति] रोचते तत्र तत्र श्रीर्व्ययनीया। मन्त्री जगौ—अस्मद् गृहे साम्प्रत लक्षत्रयी द्रव्यस्य विद्यते कदाचित् पिशुनप्रवेशाद्राज्ञो मनश्चलति। तदा लक्षत्रय मोचनीयमधिकं ग्राह्य[3]। राजा जगौ—अह यदि भवता श्रिय गृह्णामि। तदा मम भवतोरीश्वरोऽन्तरा क्रियमाणोऽस्ति। ततो राज्ञा दत्ता मुद्रा द्वाभ्या भ्रातृभ्यां गृहीता। ततः स्तम्भतीर्थदेशव्यापारो दत्तस्तेजपालस्य धवलक्कदेशव्यापारो, वस्तुपालमन्त्रिणा ददे भूपेन, ततस्ताभ्या तथा कृतं यथाऽनेके देशाः साधिता.[4]। दिने दिने राज्ञः कोशो ववृधे मन्त्रीश्वरगृहमपि श्रिया भृतं राजा हृष्टः सन्मानं दत्ते तयोः।

इति वस्तुपालतेजपालयोर्मुद्राप्राप्तिसम्बन्धः ॥ ४४ ॥

[441] अथाऽनित्यतास्मरणे वस्तुपालसंबंधः।

अन्यदा श्रीवस्तुपालो मन्त्री मस्तकादागतमेकं पलित दृष्ट्वा पपाठ।

अधीता न कला काचित्, न च किञ्चित्कृतं तपः।
दत्तं न किञ्चित्पात्रेभ्यो, गतं च मधुर वयः ॥१॥

आयुर्यौवनवित्तेषु, स्मृतशेषेषु या मतिः।
सैव चेज्जायते पूर्वं, न दूरे परमं पदम् ॥२॥

आरोहन्ती शिरःस्वान्ता–दौन्नत्यं तनुते जरा।
शिरसः स्वान्तमायान्ती, दिश्यते[दिशति] नीचतां पुनः ॥३॥

लोकः पृच्छति मे वार्त्ता, शरीरे कुशलं तव।
कुतः कुशलमस्माक–मायुर्याति दिनेदिने ॥४॥

एवं ध्यात्वा विशेषतोऽनेके प्रसादान् साधर्मिकवात्सल्यगुरुपरिधापनशुद्धभक्तप्रदाना-दिधर्मकृत्यानि च मन्त्री चकार।

इति अनित्यतास्मरणे वस्तुपालसम्बन्धः ॥४४१॥

(१) नष्टं सत्त्वं सात्विकानां। (२) लोभो जातः सर्वलोभिनां, सम्प्रति शपथमाहात्म्यं विद्याविकलेषु, लोभस्तु सर्वेषां विद्यते। (३) अस्मभ्यां [आवाभ्या] धर्मे सप्तक्षेत्र्यां स्वदर्शने शिवदर्शने श्रीर्व्ययिष्यते यदिस्वामिः एव वीक्ष्यते। (४) वैरीगणोपद्रवः श्रीग्रहणमोचने स्वामिन आज्ञा ग्राहितः।
[प्रतौ एतदधिकमुपलभ्यते]

[442] अथ वस्तुपालयात्रासम्बन्धः ।

अन्येद्युर्वस्तुपालो ब्राह्मे मुहूर्त्ते उत्थाय दध्यौ, यदि विस्तरेण तीर्थयात्रा क्रियते तदा वर । यत'—

वञ्चयित्वा जनानेतान् ; सुकृतं गृह्यते श्रिया ।
तत्ततो गृह्यते येन, स तु धूर्त्तधुरन्धरः ॥१॥
नृपव्यापारपापेभ्यः, सुकृतं स्वीकृतं न यैः ।
तान्धूलिधावकेभ्योऽपि, मन्ये मूढतरान्नरान् ॥२॥

एव स्मृत्वा श्रीमलधारि श्रीनरचन्द्रसूरिपादाः पृष्ठाः—भगवन् ! या मे चिन्ताऽधुना सा निःप्रत्यूह सेत्स्यति न वा ? प्रभुभिः प्रोक्तं—या चिन्ता तव विद्यते सा सेत्स्यत्येव । वस्तुपाल प्राह—तर्हि देवालये वासक्षेपः क्रियतां । ततः शुभमुहूर्त्ते गुरुभिर्देवालये वासक्षेपः कृतः । साधर्मि- ˙ च । ततः श्रीसंघ. स्थाने स्थाने मार्गे देवालये स्नात्रमहोत्सवं कुर्वाणः श्रीशत्रुंजये गतः । तत्र स्नात्रपूजाध्वजारात्रिकमंगलदीपकादीनि प्रभोः पुरश्चक्रे । तत उत्तीर्णो वस्तुपालो गिरिनारतीर्थे गत्वा नेमिं प्रणम्य मार्गे श्रीसघ मिष्टाहारादिभिः प्रप्रीण्य परिधाप्य गुरून् प्रतिलाभयामास सूत्सवं स्वपुरमागात् ।

इति वस्तुपालयात्रासम्बन्धः ॥४४२॥

[443] अथ समुद्रवीक्षानिर्गतमरुस्थलीपुरुषसम्बन्धः ।

एकदा कोऽपि रत्नाकरोपान्तवासी पुमान् मरुस्थल्यां गत । एकस्मिन् ग्रामे तत्रत्यालये ग्राम्या. स्थूलबहुललोमशा कम्बलपरिधाना मलक्लिन्नगात्रा. अनन्तरमागतं वीक्ष्य मिथः प्रोचु' । नवीन' द्रुतगामी बक इव श्वेतवस्त्रधारी क एकः[एष] कु[कुतः]त्रागात् ? ततस्तैराकारित पृष्ट च-कस्त्व कुत. किमर्थमत्रागा । तेनोक्तमह दूरात्समुद्रतटादागा । तै' पृष्ट-समुद्र कीदृशोऽस्ति पान्थः प्राह—महान् । तै पृष्ट-केन खनितः ? सोऽवग्—स्वयमुत्था । तैः प्रोक्त—स कियान् । सोऽवग्—तस्य पारो न प्राप्यते, तैरुक्त—तत्र किं प्राप्यते ? सोऽवग्—

ग्रावाणो मणयो हरिर्जलचराः लक्ष्मीः पयो मानुषी,
मुक्तौघाः सिकताः प्रवाललतिकाः सेवालमन्तः सुधा ।
तीरे कल्पमहीरुहः किमपरं नाम्नाऽपि रत्नाकरो,
... ... ॥

एव पदत्रय व्याख्याय सोऽग्रतो गत । ततस्तेषु ग्रामेषु एक कौतुकी ततो निर्गत समुद्र-वीक्षार्थं । ततः क्रमाद् पृच्छन् समुद्रतट गत दृष्ट समुद्रः, कल्लोलमालाभिः पूरितस्तेन । ततो

दृष्टिर्नष्टा भूपतीनां तमोभिः[1] लोभस्तु सर्वेषा विद्यते[2] राजानस्तु आत्मोयाः न भवन्ति केषामपि, तेनास्मन्मनो मन्त्रीश्वरपदग्रहणे दोलायते । यदा श्रीर्भवति तदा तु धर्मस्थानादौ व्ययितुमिच्छा भवति । तदा राज्ञो दृष्टिर्यदाकूरा भवति । तदा सर्वं राजा गृह्णाति । राजाऽवग्—यत्र भवतो[ति] रोचते तत्र तत्र श्रीर्व्ययनीया । मन्त्री जगौ—अस्मद् गृहे साम्प्रत लक्षत्रयी द्रव्यस्य विद्यते कदाचित् पिशुनप्रवेशाद्राज्ञो मनश्चलति । तदा लक्षत्रय मोचनीयमधिकं ग्राह्य[3] । राजा जगौ—अह यदि भवता श्रिय गृह्णामि । तदा मम भवतोरीश्वरोऽन्तरा क्रियमाणोऽस्ति । ततो राज्ञा दत्ता मुद्रा द्वाभ्या भ्रातृभ्यां गृहीता । ततः स्तम्भतीर्थदेशव्यापारो दत्तस्तेजःपालस्य धवलक्कदेशव्यापारो, वस्तुपालमन्त्रिणो ददे भूपेन, ततस्ताभ्या तथा कृत यथाऽनेके देशाः साधिता[4] । दिने दिने राज्ञः कोशो ववृधे मन्त्रीश्वरगृहमपि श्रिया भृतं राजा हृष्टः सन्मान दत्ते तयोः ।

इति वस्तुपालतेजपालयोर्मुद्राप्राप्तिसम्बन्धः ॥ ४४ ॥

[441] अथाऽनित्यतास्मरणे वस्तुपालसंबंधः ।

अन्यदा श्रीवस्तुपालो मन्त्री मस्तकादागतमेक पलित दृष्ट्वा पपाठ ।

अधीता न कला काचित्, न च किञ्चित्कृतं तपः ।
दत्तं न किञ्चित्पात्रेभ्यो, गतं च मधुर वयः ॥१॥

आयुर्यौवनवित्तेषु, स्मृतशेषेषु या मतिः ।
सैव चेज्जायते पूर्वं, न दूरे परमं पदम् ॥२॥

आरोहन्ती शिरःस्वान्ता—दौन्नत्यं तनुते जरा ।
शिरसः स्वान्तमायान्ती, दिश्यते[दिशति] नीचतां पुनः ॥३॥

लोकः पृच्छति मे वार्ता, शरीरे कुशलं तव ।
कुतः कुशलमस्माक—मायुर्याति दिनेदिने ॥४॥

एवं ध्यात्वा विशेषतोऽनेके प्रसादान् साधर्मिकवात्सल्यगुरुपरिधापनशुद्ध प्रदाना-दिधर्मकृत्यानि च मन्त्री चकार ।

इति अनित्यतास्मरणे वस्तुपालसम्बन्धः ॥४४१॥

---

(१) नष्ट सत्व सात्विकानां । (२) लोभो जातः सर्वलोभिना, सम्प्रति शपथमाहात्म्यंविद्याविकलेषु, लोभस्तु सर्वेषां विद्यते । (३) अस्मभ्यां [आवाभ्या] धर्मे सप्तक्षेत्र्यां स्वदर्शने शिवदर्शने श्रीर्व्ययिष्यते यदिस्वामि एव वीक्ष्यते । (४) वैरीगणोपद्रवः श्रीग्रहणमोचने स्वामिन आज्ञा ग्राहित. ।
[प्रतौ एतदधिकमुपलभ्यते]

[442] अथ वस्तुपालयात्रासम्बन्धः ।

अन्येद्युर्वस्तुपालो ब्राह्मे मुहूर्त्ते उत्थाय दध्यौ, यदि विस्तरेण तीर्थयात्रा क्रियते तदा वर । यतः—

वञ्चयित्वा जनानेतान्, सुकृतं गृह्यते श्रिया ।
तत्ततो गृह्यते येन, स तु धूर्त्तधुरन्धरः ॥१॥
नृपव्यापारपापेभ्यः, सुकृतं स्वीकृतं न यैः ।
तान्धूलिधावकेभ्योऽपि, मन्ये मूढतरान्नरान् ॥२॥

एवं स्मृत्वा श्रीमलधारि श्रीनरचन्द्रसूरिपादाः पृष्टाः—भगवन् ! या मे चिन्ताऽधुना सा निःप्रत्यूहं सेत्स्यति न वा ? प्रभुभि' प्रोक्तं—या चिन्ता तव विद्यते सा सेत्स्यत्येव । वस्तुपाल प्राह—तर्हि देवालये वासक्षेपः क्रियतां । ततः शुभमुहूर्त्ते गुरुभिर्देवालये वासक्षेपः कृतः । सार्धर्मि- च । ततः श्रीसंघ. स्थाने स्थाने मार्गे देवालये स्नात्रमहोत्सवं कुर्वाणः श्रीशत्रुंजये गत. । तत्र स्नात्रपूजाध्वजारात्रिकमंगलदीपकादीनि प्रभोः पुरश्चक्रे । तत उत्तीर्णो वस्तुपालो गिरिनारतीर्थे गत्वा नेमिं प्रणम्य मार्गे श्रीसंघ मिष्टाहारादिभिः प्रप्रीण्य परिधाप्य गुरून् प्रतिलाभयामास सूत्सवं स्वपुरमागात् ।

इति वस्तुपालयात्रासम्बन्धः ॥४४२॥

[443] अथ समुद्रवीक्षानिर्गतमरुस्थलीपुरुषसम्बन्धः ।

एकदा कोऽपि रत्नाकरोपान्तवासी पुमान् मरुस्थल्यां गत । एकस्मिन् ग्रामे तत्रत्यालये ग्राम्या स्थूलबहुललोमशा कम्बलपरिधाना मलक्लिन्नगात्रा अनन्तरमागतं वीक्ष्य मिथः प्रोचु' । नवीन द्रुतगामी बक इव श्वेतवस्त्रधारी क एकः[एष] कु[कुतः]त्रागात् ? ततस्तैराकारितः पृष्ट च-कस्त्व कुत किमर्थमत्रागा । तेनोक्तमह दूरात्समुद्रतटादागा । तै' पृष्ट—समुद्र कीदृशोऽस्ति पान्थः प्राह—महान् । तै पृष्ट—केन खनितः ? सोऽवग्—स्वयमुत्था । तैः प्रोक्त—स कियान् । सोऽवग्—तस्य पारो न प्राप्यते, तैरुक्त—तत्र किं प्राप्यते ? सोऽवग्—

ग्रावाणो मणयो हरिर्जलचराः लक्ष्मीः पयो मानुषी,
मुक्तौघाः सिकताः प्रवाललतिकाः सेवालमन्तः सुधा ।
तीरे कल्पमहीरुहः किमपरं नाम्नाऽपि रत्नाकरो,
... ... ॥

एव पदत्रय व्याख्याय सोऽग्रतो गत । ततस्तेषु ग्रामेषु एक कौतुकी ततो निर्गत समुद्र-वीक्षार्थं । ततः क्रमात् पृच्छन् समुद्रतट गत दृष्ट समुद्रः, कल्लोलमालाभिः पूरितस्तेन । ततो

ध्यातं—वर्योऽयं देशः यत्र बहुनीरं विद्यते । अस्मद्देशे तु *अगाधाम्बु तदपि स्तोकं । अतोऽधुना तृषितोऽहं जलं पिबामि । ततः पयः पातुं लग्नः । यावज्जलं पीतं तावन्मुखं क्षारमभूत् । कोष्ठो दग्धः ततोऽपाठीत्स —

चिरिवियराजलपिहिं जल, पियइ घुट्टघुट्ट चुलुएहिं ।
सायर अत्थि बहुत जल खिकारा किं तेण ? ॥१॥

ततः समुद्रतटे उपविष्टो रत्नानि विलोकयति तदा कल्लोला एवायान्ति । यान्ति च न रत्नानि । वृक्षा विलोकिता ये ते क्षारा एव, धूलिस्तु क्षारा एव मुखे पतिता । ततो नष्टो निजदेशे समागात् समुद्रस्वरूपं प्रोच्यावग्—लोकाना पुर आत्मीय एव देशो वर्यः ।

इति समुद्रवीक्षानिर्गतमरुस्थलीपुरुषसम्बन्धः ॥४४३॥

[444] अथ लूणिगमंत्रिधर्मवाञ्छासम्बन्धः ।

पूर्वं धवलक्कके लूणिगदेव–मालदेव–वस्तुपाल–तेजःपालसोदरा निर्द्रव्या वसन्ति स्म । अन्यदा लूणिगस्यान्त्यावस्थायां पुण्ये मानिते लक्षत्रयप्रमाणे । लूणिगः प्राह—ममार्थमर्बुदगिरौ विमलवसतिकायां प्रासादो देवकुलिका वा कार्या । ततो वस्तुपालेनोक्त—करिष्यते त्वया पुण्य श्रद्धेयं तत्पुण्य श्रद्धानो लूणिग स्वर्गं गतः ।

इति लूणिगमन्त्रिधर्मवाञ्छासम्बन्धः ॥ ४४४ ॥

[445] अथार्बुदलूणिगवसतिनिर्माणसम्बन्धः ।

एकदा वस्तुपालमन्त्री अर्बुदतीर्थे गतः । तत्र विमलमन्त्रिवसहिकायां श्रीवृषभदेवं पूजयित्वा प्रासादस्य कोरणिकां वर्यां वीक्ष्य दध्यौ—वयं चत्वारो भ्रातरो जाताः, परं मालदेवभ्रातुर्नाम्ना प्रासादा कारिता । अत्र लूणिगभ्रातुर्नाम्ना लूणिगाह्वां वसतिं कारयामि । ततस्तेजःपाल पृष्टः सन् वसतिकरणे ऽनुमतिं ददौ ।

ततश्चन्द्रावत्यां पुर्यां गत्वा धारावर्षभूपस्य मिलितः तस्याग्रे प्रोक्तमहमर्बुदशैले प्रासादं कारयितुमिच्छामि । तेनोक्तं—यद्विलोक्यते [यदपेक्षसे] तदहं करिष्ये । ततः सुमुहूर्त्ते सूत्रधारानाकार्य भूमिर्दर्शिता यदा, तदा तत्रत्याः पतीयानका न मन्यन्ते । ततो धर्मनिमित्त स्पर्द्धकैस्तोरयित्वा भूमिर्गृहीता, चतुःस्पर्धकस्योपरि पञ्चकं स्पर्द्धक मण्डित च वस्तुपालमन्त्री स्पर्धकैर्भूमिं तोरयित्वा गृह्णानः ३६ स्वर्णकमूटकैर्भूमिं गृह्णा जगाद । तदा पतीयानकैरुक्तं असौ मन्त्री सर्वं गिरिं ग्रहीष्यति तदा मेले[मेल]न समेष्यति । ततो मन्त्री निषिद्धस्तैः । ततो मन्त्री आरासणतः पाषाणाना [आनाय्य] प्रासादं कर्तुमारब्धः । अर्द्धार्द्धकोशे ग्रामा वासिताः आरासणमार्गे तत्र सत्रागाराः, मुख्यः शोभन सूत्रधारः । अपरेषां सप्तशतानि सूत्रधारागा

* उद्धं ।

बहु द्रव्य प्रतिदीयते। सप्तसहस्र मनुष्याः अर्बुदगिरिआरासणादिग्रामेषु देवगृहार्थं मुक्ता कर्म कर्तुम्।

एकदा वस्तुपाल सकुटुम्बस्तत्रागात्। तदा स्तोक कर्वाटक [कार्यं] निष्पद्यमान दृष्ट्वा मन्त्री शोभन प्रति प्राह—स्तोक कर्वाटक चलति एव कथ प्रासादो निष्पत्स्यते ? शोभनोऽवग्— अत्र गिरौ शीते पतति तेन प्रातर्घटन न भवति। मध्याह्ने जेमितु गम्यते रात्रौ तु विश्रामो गृह्यते। ततोऽनुपमा श्रुत्वैतत् दिवसघटका सूत्रधारका एके कृता। रात्रिकर्म[स्थाप्य]कारकाः पृथक् स्थापयामास मन्त्रिपार्श्वात् यत—कालस्य विश्वासो न क्रियते—

श्रियो वा स्वस्य वा नाशो, येनावश्यं विनश्यति।
श्रीसम्बन्धे बुधः स्थैर्य—बुद्धिं बध्नाति तत्र किम् ? ॥१॥

वृद्धानाराधयन्तोऽपि, तर्प्पयन्तोऽपि पूर्वजान्।
पश्यन्तोऽपि गतश्रीकान्, अहो मुह्यन्ति जन्तवः ॥२॥

तत्र स्तोकैरेव वर्षैं प्रासादो निष्पन्नः। तत्र बिम्बस्थापना कृता प्रतिष्ठा कारिता १२ कोटि॰ साधिका लग्ना "यत्र यत्र बुद्धिर्नोत्पद्यते तत्र तत्र बुद्धिमनुपमादेवी दत्ते।" यतः—
स्त्री सती यद्वक्ति तत्प्रायस्तथा भवति शीलमाहात्म्याद्—

गृहचिन्ताभरणहरणं, मतिवितरणमखिलपात्रसत्करणम्।
किं किं न फलति कारि ं, गृहिणी गृहकल्पवल्लीव ? ॥३॥

सम्वत् १२८३ प्रासादप्रारम्भ। १२९२ प्रासादः सम्पूर्णोऽजनि। १२ कोडि ५३ लक्षद्रव्याणि तत्र प्रासादे लूणिगवसत्याह्वे लग्नानि।

इति अर्बुदलूणिगवसतिनिर्माणसम्बन्धः ॥४४५॥

[446] अथ भक्तिदाने अनुपमादेवीसंबंधः।

अन्यदा वस्तुपालमन्त्रिणा अनुपमादेव्या॰ पुरः प्रोक्त—त्वया साधवो विहार्या साधिका साधर्मिक्यो भोजयितव्याः। ततः प्रतिदिनमनुपमादेवी हृष्टा, यथेष्ट अन्नपानघृतादिसाधुभ्यो दत्त्वा साधिकान् साधर्मिकांश्च यथायोग्य भोजयित्वा गुरोः पदोर्वन्दनकानि दत्त्वा देवं प्रपूज्य जिमति सदा एव गच्छति समये। अन्यदा साधुभ्योऽन्नपान दत्त्वा घृतकटाहकेन बहु घृत ददानायास्तस्याः क्षौमाण्यभ्यक्तानि घृतेन। तदा महत् घृतकटाहक साधोर्दृष्ट्वा एकेन प्रतीहारेण भग्न ततस्तया स निष्काशित। अन्यस्तत्र स्थापित। अत्रान्तरे स प्रतीहारो वस्तुपालमन्त्रीशस्य पुरो जगौ। अनुपमादेवी बहु घृत साधुभ्यो दत्ते। यदा तदा साटिका घृतेनाभ्यक्ता भवति मलिनाम्बरा स्त्री तु न शोभते। ततो मन्त्रिणा साऽनुपमादेवी निषिद्धा। तदा अनुपमादेवी मन्त्रीशस्य पुरः प्राह—अनेकेषु भवेषु तैलिकपत्नी अभूव, कान्दविकपत्नी च, तत्र

बहुशोघृतेन शाटिकाऽभ्यक्ताऽभूत्, परमधुना धर्महेतोः साधुभ्यो घृतं ददानाया मम शाटिका घृताभ्यक्ता, भवति मम भाग्यं भवे भवे कथमीदृशो योग तव सदृक्षो ज्येष्ठः धनी धर्मी दयावान् इत्यादिगुणवान् ईदृक्षी देवगुरुसामग्री मनुष्ययोग, वासना च पापदानानि भूरिशो दत्तानि, धर्मदानानि साम्प्रतमेव लब्धानि सन्ति । एव तयोक्ते वस्तुपालमन्त्री हृष्टस्तां प्रशंसयामास । तत आह च—अद्यप्रभृति त्वया विचारो न कार्य.। यथारुचि त्वया दानं दातव्यम् । इति भक्तिदाने अनुपमादेवीसम्बन्धः ॥४४६॥

[447] अथ वस्तुपालमन्त्रिकुटुम्बपरलोकगतिसंबंधः ।

सम्वत् १२९८ (वर्षे) अङ्कवालीयाग्रामे वस्तुपालमन्त्री स्वर्गं गतः । तत्र सरः, प्रभुप्रासादो, धर्मशाला, सत्रागाराश्च तेजःपालेन कारिता १८ वर्ष व्यापारः, तेजःपालो मन्त्री १३०२ चन्द्रोमाणाग्रामे स्वर्गं गतः। तत्रापि सर प्रासादसत्रागाराश्च जयंतसिंहेन कारिताः । अनुपमादेवी अनशनं लात्वा स्वर्गं गता । सुललितादेव्यपि ।

इतश्चैकदा वर्द्धमानसूरय आचाम्लवर्द्धमानतप. कर्त्तुं लग्नाः अभिग्रहं लुलुश्च । यदा तपः-पूर्णं भविष्यति तदा मया शंखेश्वरपार्श्वं वन्दित्वैव पारणकं कार्यं, सम्पूर्णे तपसि देव मनसि कृत्वा सूरयो दध्युर्मया वस्तुपालादीनां गति प्रभोः पार्श्वस्य पुरः प्रष्टव्या एवं ध्यात्वा मार्गे चेलुः । तत्र मार्गे एकस्य तरोस्तलेऽनशन लात्वा प्रभोर्ध्यानात् मृतः, [स च] शंखेश्वरपार्श्वनाथस्याधि-ष्टायकोऽभूत्, ज्ञानेन मन्त्रिणो गतिं ज्ञातुं महाविदेहक्षेत्रे श्रीसीमन्धरजिनं नन्तु गत. । प्रभु नत्वा स पप्रच्छ—भगवन् ! वस्तुपालमन्त्री महापुण्यकारकः क्व गतो मृत्वा ? स्वाम्याह—विदेहे पुष्कलावतीविजये पुण्डरिकिण्या पुर्यां कुरुचन्द्रो नृपोऽभूत् वस्तुपालजीव., स च तृतीयभवे सेत्स्यति । अनुपमादेवीजीवस्तु अत्र विजये श्रेष्ठिसुता जाताऽस्ति, दीक्षां लात्वा सेत्स्यत्य-स्मिन्नेव भवे । तत स देवः श्रीशंखेश्वरपार्श्वनाथमुखेऽवतीर्य स्वसम्बन्धकथनपूर्वं वस्तुपाला-नुपमादेव्योर्गतिं प्रकाशयामास लोकाग्रे। इति श्रीवस्तुपालानुपमादेवीगतिः । तेजःपालस्तु धरापुरे भूपपुत्रोभूत्तत्रैव ललितादेव्यपि सोमभूपपत्नी जाताऽस्ति एते सर्वे स्तोकैर्भवैर्मुक्तिं यास्यन्ति ।

इति वस्तुपालमन्त्रिकुटुम्बपरलोकगतिसंबंधः ॥४४७॥

[448] अथ द्वितीय आभडमन्त्रिसम्बन्धः ।

पत्तने श्रीमाल्ज्ञातीयनागश्रेष्ठिसुन्दरीपत्नीभव–आभडो वणिग्बभूव । तस्मिन् दशवार्षिके मातापितरौ मृतौ श्रीर्नष्टा। आभडस्तु व्यवसाय चक्रे। वृद्धत्वे परिणीत. मणिकारकला शिक्षितवान् दिनं प्रति पञ्च लोष्टिकानुपार्जयति । तत्रैकं धर्मे व्ययति, द्वौ कुटुम्बकार्ये, द्वौ सञ्चये । चतुर्दशेऽब्दे पुत्रो जातः। पत्न्या. स्तन्यं न, तेन पुत्रः सीदति स्म । ततः पुत्रस्य दुग्धाय छागीं लातुमाभडो ग्रामबहिर्गत. । तत्र अवाहे छागयूथ पानीयं पातुमागात् । अवाहे छाग्यः सर्वा पानीयं पातुं लग्ना यदा तदा डो नीलं पयो ददर्श । ततश्चिन्तितं तेन कस्या अपि गले रत्नं

विद्यते। ततश्छागीषु पय पीत्वा वलितासु एकस्या गले कण्डकं दृष्ट तस्यां निवृत्ताया पयोधवलं जात ततश्छागीयपार्श्वेऽभ्येत्यावग्—मम पुत्रस्यार्थे दुग्ध विलोक्यते तेनैका छागी देहि मूल्यं मार्गय। तेनोक्त—विलोकय या ते रोचते सा गृह्यतां तत आभडोऽवग्—इय सकण्डका देहि तेनोक्त—गृहाण ततो मार्गित मूल्य वितीर्य छागीं स्वगृहेऽनैषीत्स तस्या दुग्धेन पुत्र जीवयति, कण्डकरत्न समाकर्ष्य लक्षेण विचिक्राय अनो व्यवहारी जात'। तत आभडेन वहिकास्तिस्र कृता। एका रोक्यवहिका, द्वितीया विलम्बवहिका, तृतीया परलोकवहिका, कां भावोऽत्र ? धरण बन्धन याचना न कस्यापि करोति उद्धाराद्यनर्प्पणात् कृपाम्भोधि क्रमाद्धने वर्द्धिते ३६ वेलातटे धनर्द्धि पूगहट्टिका निजसदन श्रीहेमसूरिपौषधशालाश्च मापपिष्टेष्टकचिताः कारितास्तेन। क्रमाच्छ्रीकुमारपाले राज्योपविष्टे महाव्यापारोऽभूत्। श्रीहेमसूरिपार्श्वे साधर्मिकगोपणफल मुक्तिरिति श्रुत्वा त्रुटितधनान् श्राद्धान् दीनारसहस्रदानादुद्दधार राजाऽपि सहस्र सहस्र दीनाराणां भग्नसाधर्मिकेभ्यो दापयति आभडपार्श्वात्, वर्षान्ते एका कोटिर्धर्मे जाता।

आभडोऽवग् भूपोपान्ते—राज्ञो द्विधा कोशः स्थावरो हेमादि॰ जङ्गमो वणिज यन्मम धन तत्तवैव श्रुत्वा राजा हृष्टः आभड प्रशशस आभडः प्रभुप्रासादान् भूरिश कारयामास धर्मशालाश्च शत्रुञ्जयादिषु तीर्थेषु यात्राः साधर्मिकवात्सल्यानि पुस्तकभाण्डागारभरणं चकार च।

इति द्वितीय आभडमन्त्रिसम्बन्ध. ॥४४८॥

[449] अथ मूमाणीखानिसमानीतप्रतिमापञ्चकस्वरूपम्।

अन्येद्युः सुरत्राणमोजदीनमाता हजयात्रार्थिनी स्तम्भ[न]पुरमागता, नौवित्तगृहेऽतिथित्वेन स्थिता। सा चागता मन्त्रिणा ज्ञाता। सेवकानां प्रोक्त यदेयं जलपथे याति तदा ज्ञाप्या मे।

अन्यदा तै सा चलनावसरे मन्त्रिणो ज्ञापिता। ततो वर्याऽन्नपानाम्बरप्रदानात् पूर्वमतीव गौरविता। ततोऽब्धिमार्गे तस्याश्चलन्त्या मन्त्रिणा निजकोलिकसेवकान् प्रेष्य धनं सर्वं लुण्टयित्वा समानायित, सुष्ठु स्थाने रक्षितं च। तदा नौवित्तै' ज्ञापित मन्त्रिणोऽग्रे तस्या लुण्टनस्वरूप। मन्त्री प्राह—कोऽस्ति एव वर्त्मभङ्ग करोति ? आदेशो दत्त. स्वसेवकानां पूर्वं छन्न शिक्षयित्वा गच्छत। यूय यान पूरयित्वा यत्र येन ग्रहीत तत आनेयं, ततस्ते सप्ताष्ट दिनानि भ्रान्त्वाऽऽगता प्रोक्त च तै—अमुकैर्गृहीत। ततो बलात्तत आनायित कूटं प्रकृत कृत्वा तस्यास्तत्सर्वं दत्त। मातर्यदन्यद्विलोक्यते तद्ग्राह्य मम पार्श्वात्, जेमिता वराहारै। ततो लक्षत्रयद्रव्यनिष्पन्न आरासणाश्ममय तोरण रुतेन वेष्टित कृत्वा ददौ, मन्त्री प्राह च—इद हजे बन्धनीय। ततो याने स्थापित ततश्चलन्त्या. तस्या प्रोक्त मन्त्रिणां त्वया पश्चादत्रागन्तव्य। तत सा हजे तीर्थे गता। तत्र हजे तोरण बद्ध्वा हजसेवा कृत्वा पश्चात्स्तम्भतीर्थे समागता। वस्तुपालेन मानितां भोजनवस्त्रादिदानात्। ततस्तयोक्तं—मम पुत्रद्वय-एकस्त्व अपरो मोजदीनसुरत्राण., यत्तव विलोक्यते तन्मार्गय। मन्त्री प्राह—त्वत्पुत्रदेशे मूमाणीपाषाणखानिरस्ति। तत प्रौढप्रस्तरपञ्चक मम विलोक्यते तयोक्तमेतत्सुकर-

मेवास्ति । अहं तत्र गता सती द्वितीयवारं तदा जिमिष्यामि, यदा प्रस्तरपञ्चकं भवदुक्तं ततश्चालयिष्यामि । एवं प्रोच्य यदा चचाल सा तदा वस्तुपालो वहुवर्त्मनि संप्रेषयितुं गत । सा च स्वपुरे गता सूनोर्मिलिता पुत्रस्याग्रे प्रोक्त यात्रासम्बन्ध सर्वः । प्रोक्तमेकस्त्वं पुत्र अपरो गूर्जरमन्त्री वस्तुपाल । तस्य मूमाणीप्रस्तरपञ्चकं यदा प्रेषयिष्यते तदा मया द्विर्वारं भोक्तव्यं । ततो राज्ञा प्रस्तरपञ्चक प्रेषित । तत एकेन शत्रुंजये श्रीऋषभप्रतिमा कारिता, द्वितीयेन पुण्डरिकप्रतिमा, तृतीयेन कपर्दिकयक्षप्रतिमा, चतुर्थेन चक्रेश्वर्याः प्रतिमा, पञ्चमेन तेजलपुरे पार्श्वनाथप्रतिमा । केचित् वृद्धाः कथयंति—गौमेत मठादग्रतो वामपार्श्वे चतुष्किका वर्तते तदधोभूमिगृहे वस्तुपालमन्त्रिणा एवं आदिष्टं—इमं पञ्चकं स्थापितमस्ति । इति मूंमाणीखानिसमानीतप्रतिमापञ्चकस्वरूपम् ॥४४९॥

[450] अथ रत्नश्राद्धसम्बन्धः ।

काश्मीरदेशभूषणनव कपुरात् रत्नश्रावको निर्गतः । श्रीरैवतगिरौ नेमिनमस्करणाय, वर्त्मनि स्थाने स्थाने देवतया विघ्नं कृत पुनर्न चचाल । तीर्थमारूढः रत्नः श्रीसंघयुक्तः प्रभोः स्नात्रं कर्तुं लग्नः श्रीपञ्चपाण्डवकारित लेप्यमयं बिम्ब गलितं श्रीसंघयुग्रत्नोऽतीव खिन्नोऽजनि अचिन्तयच्च, धिग्मां यन्मम स्नात्रं कुर्वतः प्रभोर्बिम्बं गलित, मया तदा भोक्तव्यं यदा श्रीअम्बिकादेवी नेमिप्रतिमां दास्यति । अम्बिकादेव्याः पुर उपविष्टो ध्यानेन षष्ठ्योपवासान्ते अम्बिका प्रत्यक्षीभूयावग्—त्वत्साहसेनाहं तुष्टास्मि । ततः सा काञ्चनवलानकेतमनैषीत् । तत्र च तस्मै द्वासप्ततिजिनबिम्बान्यदीदृशत् । तेषु १८ हैमानि, १८ रात्नानि, १८ राजतानि, १८ वज्रमयानि एव ७२ । स विमृश्यावग्—वज्ररत्नमयं बिम्बमर्प्पय मह्यं । ततो देवी ककच[कच्च] सूत्रतन्तुभिर्वद्ध्वा तस्य पृष्ठौ मुमोच, पश्चान्न विलोक्यं । यत्र त्व पश्चाद्विलोकयिष्यसि तत्रैव स्थास्यति । ततो बिम्ब स्कन्धे कृत्वा निर्गतः । स तदा द्वारि समागात्, तदा [स्ते] ध्यातं तेन भारस्तु न ज्ञायते । कदाचिद् देव्या वाहितोऽहमेव कपटेन, एव ध्यात्वा यावत् पश्चाद्विलोकित तावद्बिम्ब तत्रैवाम्बरे स्थितं । ततस्तस्य बिम्बस्य तत्र पूजा कृता, द्वारं प्रासादस्य ततोऽस्तमनाभिमुखं कृत, स्तुतिरेव कृता—

न खानिमध्यादुदखानि, सूत्रैर्नात्रुटि टङ्करुडिखंजिनेन्द्र ।
अद्योति न द्योतमकैर्न बाहैरवाहि, यो मन्त्रि न सिद्धमन्त्रैः ॥१॥

अनादिरव्यक्ततनूरमेयः, प्रभामयोऽनन्तबलः स्वसिद्धः ।
तरीस्तरीतुं भविना भवाब्धिं, स नेमिनाथः कृपयाविरामीत् ॥२॥

इति रत्नश्राद्धसम्बन्धः ॥४५०॥

[451] अथ बुद्धौ हरिदत्तदूतसंबंधः ।

कच्छदेशेशश्चन्द्रः सभायामुपविष्टो यदा तदा प्रातरेको वैदेशिकः समागात् । स च

पृष्ट त्व कुत आगात् ? किमाश्चर्यं दृष्ट त्वया ? तेनोक्त—बेन्नातटपुरे भीमसेनराजेन सभा वर्या कारिताऽस्ति, यादृशी अन्यत्र न दृश्यते । राज्ञोक्तं हरिदत्तस्य दूतस्याग्रे । गच्छ तत्र पुरे सभा विलोक्यागच्छ । यादृशी तत्र सभास्ति तादृशी कार्यते । तत. स दूतः किञ्चित् प्रीतिप्राभृतहस्तश्चचाल राज्ञो मिलित. स, प्रोक्त च—अह चित्रसभा द्रष्टु चन्द्रेण भूपेन प्रेषितोऽस्मि । भीमसेनोऽवग्—कल्ये प्रातर्दर्शयिष्यते । ततो द्वितीयदिने प्रातर्दूत आकारितः । तत्र गतः चित्रशालां विचित्ररत्नखचिता जलस्थलभ्रान्तिकारिणीं दृष्ट्वा प्रथम निश्चेतुमक्षम' स कथ प्रविष्ट. ? तत. बुद्धिमान् मुद्रामग्रे मोच मोचं जलस्थले ज्ञात्वा मध्ये प्रविष्टः । ततः स चन्द्रभूपानुगः पश्चादेत्य यदा भीमसेनभूपसभावर्णन चकार ।

इति बुद्धौ हरिदत्तदूतसम्बन्धः ॥४५१॥

[452] अथ बुद्धौ क्षत्रियपत्नी नीड्णीसम्बन्धः ।

घूरडग्रामे सूरपाल. क्षत्रियः पत्नी नीड्णी । सा च पतिपार्श्वे नित्य पट्टसूत्रज कञ्चुक याचते । स च न दत्ते वक्ति च तां प्रति नाह–पट्टकूलवणिग् कार्पासवणिग् वाऽभवं । ततो मम पार्श्वे पट्टसूत्रज कञ्चुक नास्ति । तयोक्त—द्रव्येन किं न भवति ? स वक्ति—द्रव्य कस्य पार्श्वे समस्ति ? सा वक्ति—अहिफीणादि समानयति कुतो निःसरति । एवं प्रोक्ते पत्न्या सदा नोत्तरं दत्ते ।

ततोऽन्यदा यदा सूरपाल सभायामुपाविशत् । तदा दासी तया शिक्षयित्वा प्रेषिता जगौ—त्वरित गृहे आगम्यतां त्वया नीड्ण्या ज्ञापितमस्ति इति "रब्बा" उत्तरिताऽस्ति शीता भविष्यति । तत सभाजनैरुक्त किं तव गृहे धनं नास्ति [यद्] रब्बा पीयते ? तत' स लज्जितो गृहे आगतः प्राह—पत्नि ! अह कथमेव विगोपितो रब्बाजल्पनेन ? सावग्—यदि पट्टसूत्र-कञ्चुक नार्पयिष्यसि तदैव भविष्यति । स प्राह—पट्टसूत्रकञ्चुकं गृहाण । अथ कलको यथोत्तरति तथा कुरु । ततस्तयोक्तं—सेतिकाद्वय गोधूमानां प्रेषय, घृत गुड इत्यादिकं वितर । यदा तदा तव कलक उत्तरति । ततः प्रियामार्गित दत्त्वा सभायां गतः । प्रिया तु वर्यां रसवतीं निष्पाद्य सभायामागता गृहे आगच्छ रसवती निष्पन्नाऽस्ति । तन सर्वपरिषज्जन-सहितः गृहे आगात्, पत्न्या रसवत्या सर्वपरिषत्सहित जेमयितः प्रीणितो वर्यरसवतीदानात् । ततः सर्वपरिषत्प्राह—अय धनी पुण्यवान्, एतस्य पत्नी धन्या, एतयोः सयोगो वर्योऽस्ति ।

एवं बुद्धौ क्षत्रियपत्नी नीड्णीसम्बन्धः ॥४५२॥

[453] अथ बुद्धौ सुबुद्धिसम्बन्धः ।

एकस्मिन् पुरे कुबुद्धिसुबुद्धिमित्रद्वय विद्यते स्म । सुबुद्धि देशान्तरं गत । कुबुद्धिस्तस्य प्रियायां रक्तोऽभूत् । सुबुद्धिर्धनमुपार्ज्य आगात् । कुबुद्धिस्तु कृत्रिमं स्नेहवचो जल्पति सुबुद्धिस्तदजानन् मानयति त, द्धिः सुबुद्धिं प्रति उवाच । भवता कापि कौतुक दृष्ट, सुबुद्धिः

प्राह—सरस्वती नदी कमलह्रदोपान्तस्थे कूपमध्ये अकालजमाम्रफलं दृष्टं । कुबुद्धिः प्राह—कूटं किं प्रोच्यते ? सुबुद्धि—सत्यमेतत् । तत कुबुद्धि तस्य पत्नीमगीचिकीः [तच्चिकी] प्राह—यदि तत्राम्रं भवति तदा मम गृहस्थाऽपि श्रीस्तव, यदि न भवति तदाहं द्वाभ्यां हस्ताभ्यां यद्गृह्णामि तन्मामकं । एवं पणबन्धं कृत्वा कुबुद्धिस्तत्फलमानीतवान् छन्नं स्वगृहे, प्रातर्द्वावपि गतौ फलमदृष्ट्वा कुबुद्धिरुवाच चल चेद्गृहे यद् द्वाभ्यां हस्ताभ्यामहं गृह्णामि । तन्मे भवतु । एवं जल्पन्तं कुबुद्धिं सुबुद्धि भार्यां गृहीतकामं ज्ञातवान् । ततोऽवग्—कल्ये त्वयाऽगम्यं द्वाभ्यां हस्ताभ्यां वस्तु ग्राह्यं । ततो द्वितीयदिने सर्वं वयं वस्तु पत्नीयुतं मालकस्योपरि मुमोच । कुबुद्धिरागात् स्व लहनं ममार्ग सुबुद्धिर्नि श्रेणीं तत्र मुक्त्वा प्राह गृहाण वस्तु । ततः स यावन्मालकस्योपरि चटितुं निःसरणीं द्वाभ्यां हस्ताभ्यां जग्राह । तदा सुबुद्धिः प्राह—इमां निःसरणीं लात्वा गच्छ । अद्य प्रभृति मम गृहे त्वया नाऽगम्यं तव मनो ज्ञातं । ततः पत्न्यपि हक्किता सन्मार्गे स्थापिता ।

एवं बुद्धौ सुबुद्धिसम्बन्धः ॥४५३॥

[454] अथ बुद्धौ व्याघ्रमारिकासम्बन्ध. ।

उत्त्वेलिके ग्रामे राजसिंहः क्षत्रिय तद्भार्या कलहप्रिया रुष्टान्यदा पुत्रद्वयं नीत्वा निःससार पितृगृहं प्रति, गता मलयपर्वते चन्दनद्रुमादिवृक्षसकुले एकं व्याघ्रं संमुखमागच्छन्तं दृष्ट्वा दध्यौ, कथमस्माच्छुटिष्यते ? तत उत्पन्नधी पुत्रौ चपेटया आहत्य प्राह—कथं युवां व्याघ्रं भक्षितुं कलहं कुरुथः ? भवद्भिस्तु अग्रे बहवो भक्षिता अहं तु बुभुक्षिताऽस्मि, वयं त्रयः असौ तु एकः कथमात्मन उदरपुष्टिर्भविष्यति । एवं जल्पन्तीं श्रुत्वा व्याघ्रो दध्यौ एषा व्याघ्रमारी नारी, अहं मुधा धावितोऽत्रैवाहन्तुं । एते सर्वे व्याघ्रभक्षकाः एवं ध्यात्वा व्याघ्रो नष्टः सा चोद्वलिता तस्माद्भयात् ।

इति बुद्धौ व्याघ्रमारिकासम्बन्धः ॥ ४५४ ॥

[455] अथ बुद्धौ शकटालमंत्रिसंबंधः ।

पाटलीपुरपत्तने नन्दो राजा तस्य शकटालो मन्त्री मन्त्रिधिया सर्वे भूपाला अपि करदायका जाताः उक्तं च—

अप्राज्ञेन च कातरेण च गुणः स्यात्सानुरागेण कः,
प्रज्ञाविक्रमशालिनोऽपि हि भवेत् किं भक्तिहीनात्फलम् ?
प्रज्ञाविक्रमभक्तयः समुचिता येषां गुणा भूतये,
भृत्यौ वात्तृपतेः कलत्रमितरे संपत्सु चापत्सु च ॥१॥

प्रज्ञागुप्तशरीरस्य, किं करिष्यन्ति संहिताः ?
हस्तोपधृतच्छत्रस्य, वारिधारा इवारयः ॥२॥

स च चर्मनाणकं कारयन् निर्द्रव्यां भुवं कुर्वाणो निषिद्धो मन्त्रिणा । ततः स भूपो रुष्टो मन्त्रिणं सपुत्रमवटे चिक्षेप । तत्रस्थो रहः अपुष्यत स्वजनैः । ततो महामात्यै. शकटालो मृतो मृत इति घोषित । ततो वङ्गालनाथस्तत् परीक्षायै घोटिकाद्वय प्रेषयामास सेवकपार्श्वा-दुपदादम्भात् स च तत्र गत्वा प्राह अनयोर्मध्ये का माता का पुत्री इति, भूपेन पृष्टमपि तदा न केनापि विज्ञेनापि द्वयोः सम्यग्निर्णय कृतः । ततो नन्दो दध्यौ—यदि शकटालः कूपे नाक्षेपिष्यत तदा स निर्णयं कुर्यात् । राज्यमहत्वं यास्यति यत —

भूमेश्च देशस्य गुणान्वितस्य, भृत्यस्य वा बुद्धिमतः प्रणाशे ।
भृत्यप्रणाशे मरणं नृपाणां, नष्टाऽपि भूमिः सुलभा न भृत्याः ॥३.॥

ततो दण्डपाशक भूपोऽप्राक्षीत् शकटालकुले कोऽप्यस्ति योऽनयोर्घोटिकयोर्मातृसुतयो-र्विभाग करोति, तेनोक्त विलोक्य कथयिष्यते । तत. स भूप. पृच्छन् कूपान्तस्थं शकटाल ज्ञातवान् । तत कूपात् कर्षितः, उक्त च तेन--

मेदिनीशेन मान्यस्त्वं, गुरुः स्वामी नियोजिकः ।
आश्रयश्च तथा दाता, कि किं न त्वं सदा न च ? ॥४॥

स्वामी दुर्णयवारण व्यतिकरे शास्त्रोपदेशे गुरु—
विष्टम्भे हृदयं नियोगसमये दासो भये चाश्रयः ।
दाता सप्तसमुद्रसीमरसनादामांतिकायां क्षितौ,
सर्वाकारमभूत्स्वयंवरसुहृत् को वान वर्ण्यो मम ॥५॥

मन्त्री प्राह--किं विधेय ? राज्ञोक्त--अनयोर्वडवयोर्मातापुत्रिकयोर्निर्णय कुरु ? ततो मन्त्रिणा वडवायुग सपर्याण कारयित्वा बाह्याल्यामतिवाह्य पर्याणरहितं विधाय श्रान्त सन्मोचितं । यया जिह्वया ऽन्यालीढा सा माता, पुत्री तु या मातुरधोमुख चकार । ततो राजा हृष्टो मन्त्रिण मानयामास ।

इति बुद्धौ शकटालमन्त्रिसम्बन्धः ॥ ४५५ ॥

[456] अथ बुद्धौ शकटालमन्त्रिसम्बन्ध ।

एकदा कोऽपि भूपो विचक्षणो नन्दपार्श्वे यष्टिकां पदकवृत्तां विचणोमयां सर्वत्र समां प्रपयामास ज्ञापयामास च । अस्या यष्टिकाया वज्रखचिताया आदि अन्त ज्ञात्वा ज्ञापनीय यदा केनापि न ज्ञातमादि अन्त च । ततो राज्ञा शकटालस्याग्रे प्रोक्त—त्वां विना न कोऽप्य-नयोर्निर्णय करोति । ततो मन्त्री यष्टिकां जलेऽमुञ्चत् यतो मूल तत् 'ईषज्जले' मग्न भारात् । ततो राजा हृष्टस्तं मानयामास । इति बुद्धौ शकटालमन्त्रिसम्बन्धः ॥४५६॥

[457] अथ बुद्धौ मन्त्रिपार्श्वभस्मप्रेषणसंबंध ।

इलावत्यां पुरि धम्मिलो राजा वरममात्यं नवीनं सुशीलं चकार । केनचिदुक्तं । अयं मन्त्रीकृतोऽस्ति पर न ज्ञायतेऽस्य कीदृशी बुद्धिरस्ति । ततो राज्ञा मुद्रया मुद्रित प्राभृतं भस्मच्छन्नं मन्त्रिणो ददे प्रोक्तं च—इदं प्रीतिप्राभृत शत्रुमर्दनभूपाय देहि । ततः स तत्प्राभृतं लात्वा विदिशायां पुरि जगाम । राज्ञोऽग्रे प्राभृत मुक्त राजा तु उत्खिल्य भस्म दृष्ट्वा कालमुखो भूत्वा रुष्टः प्राह—रे मन्त्रिन् ! तव स्वामी ममेदृक्प्राभृत प्रेषयति ? तव शिक्षा दास्यते । मन्त्री प्राह—स्वामिन् ! मम स्वामिनाऽश्वमेधो यज्ञः कारितो मङ्गलहेतुः, तद्भस्म सर्वेषां सज्जनाना अभीष्टानां नृपाणामपि प्रेषयामास । तत एतद्भस्म मुद्रित कृत्वा स्वामिनः प्रेषितं उक्त च—

गजाः सन्ति हयाः सन्ति, विचित्राः सन्ति सम्पदः ।
तवाप्यस्ति ममाप्यस्ति, दुर्लभं भस्म यज्ञजम् ॥१॥

तत स राजा तुष्टस्तं मन्त्रिणं तोषयामास, राज्ञा समं प्रीतिं चक्रे च ।

इति बुद्धौ मन्त्रिपार्श्वभस्मप्रेषणसम्बन्धः ॥४५७॥

[458] अथ बुद्धौ धूर्तद्विजसम्बन्धः ।

एकस्मिन् ग्रामे द्विजः श्रीधर । तत्र चन्दनाह्वश्चर्मकारश्च तस्य पार्श्वे श्रीधरः उपानद्युगं कारया । चर्मकारोऽनिश मूल्यं याचते । सदा विप्रो वदति त्वां हृष्टं करिष्यामि एवं वदति तस्मिन् बहुः कालो गतः । स विप्रोऽन्यदा धनार्थं चर्मकृता धृत. धनं विना न मुञ्चति सः ।

ततोऽन्यदा तत्रैव ग्रामपतेः सुतो : ततस्तं द्विजो भूपपार्श्वेऽनैषीत् प्राह च—मया पूर्वमुपानद्ग्रहणावसरे प्रोक्तं त्वां हृष्टं करिष्यामि । अद्य : सुतो जातोऽस्ति त्वं 'रुलीयाइत' अथवा न, एतच्छ्रुत्वा चर्मकृदध्यौ यदि ब्रुवे अह न 'रुलीयाइत' तदा राजा रुष्टो मां दण्डयति, तत उक्त 'रुलीयाइत हू हुओ' किं जल्प्यते अधिकं ? यदा पृष्टः ततोऽधिकजल्पने कोऽपि लाभो न, ततश्चर्मकृत्स्वगृहे गत ।

इति बुद्धौ धूर्तद्विजसम्बन्धः ॥४५८॥

[459] अथ बुद्धौ भूपसम्बन्धः ।

विशालापुर्यां वणिग्भीमः तस्य पत्नीद्वय तच्च वयं दृष्ट्वा एको धूर्तो देवीमाराध्य भीमरूपधरो भीमे ग्रामान्तरगते समेत्य तद्गृहमधिष्ठाय चावग् पत्न्यादीनां पुरः । अद्य मम स्वप्ने देवी प्राह—त्वं यदि जीवितमिच्छसि चिर तर्हि धनं वितर । एवं प्रोच्य प्रथमं द्वयोः पत्न्यो-र्भूषणादिवस्त्रादि ददौ । ततः परिजनो वस्त्रादिदानाद्वीरवितः, सर्वोऽपि परिच्छदो हृष्ट । इतो भीमो गृहे आगच्छन् शुश्राव, "भीमो दानी जात सर्वं धनं धर्मादौ व्ययन् धनद इव

ख्यातोऽजनि सत्यभीमो दध्यौ केनचिदहं वञ्चितो मम रूपकरणात्। ततो यदा हट्टे आगतस्तदा तेन हक्कितो रे दुष्ट धूर्त ! अत्र यद्यागमिष्यसि तदा हत एव, गृहे प्रवेष्टुं न लभते। ततो दुःखी रुदन् वक्ति । अहं मुषितोऽस्मि। अनेन लोकास्तु सर्वे तेन भक्तितता धूर्तस्य पार्श्वे जाता । ततो द्वावपि विवदमानौ भूपपार्श्वे गत्वा स्वं स्वं सम्बन्ध प्रोचतु । द्वावपि सदृशौ सदृशजल्पकौ तेन यदा केनापि निर्णीतिर्न कृता तदा राज्ञा दध्यौ, शिष्टपरिपालन दुष्टनिग्रह इति राज्ञो धर्म । यत —

प्रजापीडनसन्तापात्, समुद्भूतो हुताशनः ।
राज्ञः कुलं श्रियं प्राणान्, नादग्ध्वा विनिवर्त्तते ॥१॥

एव ध्यात्वा भूपस्तस्य पत्नीद्वयमेकत्र स्थापयित्वा पप्रच्छ, किं युवयो पाणिग्रहे भर्त्रा किं जल्पित ? किं दत्त ? प्रथम सगमे च । कस्मिन् स्थाने किं मुक्त ? ततो राज्ञा द्वावपि पृष्टौ । यस्य प्रोक्त विघटित स गृहस्वामी जात ।

एवं बुद्धौ भूपसम्बन्धः ॥ ४५९ ॥

[460] अथ आर्यनन्दिलसूरिसम्बन्धः ।

पद्मिनीखण्डपुरे वरदत्तेन वैरोट्या नाम्नी पुत्री पद्मयशस पद्मपुत्राय दत्ता । वरदत्तो व्यवसायार्थं देशान्तरे गच्छन् दवेन दग्ध । ततो वैरोट्यां श्वश्रूरपमानयति पितृमरणात् । यत'—

रूपं रहो धनं तेजः, सौभाग्यं प्रभविष्णुता ।
प्रभावात्पैतृकादेव, नारीणां जायते ध्रुवम् ॥१॥

वैरोट्या चिन्तयति—स्व कर्मणा एव फलं भवति । यतः—

सव्वो पुव्वकयाण, कम्माणं पावए फलविवाग ।
अवराहेसु गुणेसु अ, निमित्तं (च) परो होइ ॥२॥

वैरोट्याऽन्यदा योगीन्द्रस्वप्नसूचितं गर्भं बभार, पायसदोहदो जात । श्वश्रूर्वक्ति सुता भविष्यति । वैरोट्या श्रीआर्यरक्षित सूरिं वन्दितु गता । सहविरोध. प्रोक्त', गुरुणोक्तं पूर्वभवकर्मणा पायसदोहदात्पुत्रो भावी, श्वश्रा पुण्डरीकतप कृत । तस्योद्यापने पायसं कृत, वध्वै न दत्त, वधूस्तु अन्यत्र पायस निष्पाद्य घटे क्षिप्त्वा कुम्भ मुक्त्वा जलाशये गता ।

अत्रान्तरे अलिञ्जरनागः स्वपत्नीदोहदपूरणाय क्षीरान्नं लात्वा गत । इतो वैरोट्या तत्रागता क्षीरान्नमदृष्ट्वा न चुकोप बभाषे च—येनेदं भक्षित मे भक्ष्य तस्य मनोरथाः पूर्यन्तां एतद्वचोऽलिञ्जरपत्न्या ज्ञात । ततो हृष्टाऽवग्—अस्या मनोरथ पूर्यते तदा वर, ततस्तस्या

दोहदः पूर्णीचक्रे प्रातिवेश्मिकस्य स्त्रीपार्श्वात् । वैरोट्यानागपत्नीभ्यां पुत्रो जनितः । जन्मोत्सवोऽभूत् वैरोट्यापुत्रस्य नागदत्त इति नामाभूत् । वैरोट्यासुतस्य रक्षार्थं अलिञ्जरनागपत्नी सर्पान्मुमोच वैरोट्यायाः सदा सान्निध्यं चक्रे । अद्यप्रभृति यो वैरोट्यास्तुतिं करिष्यति कोऽपि सर्पादिजातिर्न दङ्क्ष्यति । ततो वैरोट्यास्तव जानन् पद्मः प्रियापुत्रसहितो व्रतं जग्राह वैरोट्या मृता धरणेन्द्रपत्नी जाता । तत्रापि वैरोट्या नाम । ततः स्वस्मरण[पूर्वक]पार्श्वनाथभक्तस्य रक्षां चकार । नागदत्तस्य आर्यनन्दिलनामाभूत् सूरिश्च इति ।

इति आर्यनन्दिलसूरिसम्बन्धः ॥४६०॥

[461] अथ वायडग्रामजीवदेवसूरिलल्लश्राद्धदृष्टान्तः ।

जीवदेवसूरयो विहारं कुर्वाणा वायडपुरे समायाताः । इतः पूर्वं वायडपुरे लल्लश्रेष्ठी मिथ्यात्वी यज्ञं मण्डयामास । तत्र लक्षप्रमाणं व्ययितु कल्पितमस्ति तेन ।

एकदा तस्मिन् यज्ञे कुण्डपार्श्वे महान्सर्पः पपात । द्विजाः प्रोचुरनेनापि आहुतिः क्रियते । स सर्पो नश्यन्नपि तैर्यष्टयोत्पाट्याग्निकुण्डे क्षिप्त. ज्वलितश्च, तदा लल्लेन ध्यात दया चास्मिन् धर्मे नास्ति । ततो दयाधर्मं विलोकयन् तत्रागत श्रीजीवदेवसूरिपार्श्वे ययौ, गुरुं वन्दित्वा धर्मोपदेश शुश्राव—

रागी देवो दोसी देवो मामसुन्नपि [पाणिसूदन्नपि] देवो,
मंसे धम्मो मज्जे धम्मो जीवहिंसाय धम्मो ।
रत्ता मत्ता कंता सत्ता जे गुरू तेवि पुज्जा,
हा हा कट्ठं पुट्ठो [पत्तो] लोओ अट्टं कुणंतो ॥१॥

ततो विप्रान् गुरूंस्त्यक्त्वा जीवदेवसूरिर्गुरोश्चारित्र शुद्धं वीक्ष्य च हृष्टोऽभूल्लल्ल सम्यक्त्वमूलं धर्मं च जग्राह—भगवन् ! मया यज्ञे अर्धलक्ष व्ययित, अर्धलक्ष तिष्ठति तत् क्व व्ययिष्यते ? गुरुभिजिनप्रासादः कार्यते । ततो निर्लोभतां गुरोर्दृष्ट्वा स प्राह—क्व प्रासाद कार्यते ? गुरुभि. प्रोक्तं अद्य द्वौ वृषौ प्राभृते आगमिष्यतस्तव, तौ तु स्वेच्छया मुच्येता, यत्र तिष्ठतः तत्र प्रासाद कार्यं । तत्र भूमौ गुरुभिर्विलोक्योक्तं अत्राधो भूरिधन विद्यते । ततस्तत्र भूमौ कान्यकुब्जभूपसुताया मृताया बहुधनं निर्गतं । ततस्तत्र महान् जिनप्रासादो द्वासप्ततिदेवकुलिकायुत कारितः । द्विष्टैर्द्विजैरन्येद्युर्मुमूर्षुर्गौश्चैत्ये प्रभो पुरः गर्भागारे रात्रौ क्षिप्ता, सा च मृता, श्राद्धैः सद्यो गुरोरग्रे विज्ञप्त, गुरुभिः परकायप्रवेशविद्यया गौर्ब्रह्मभवने क्षिप्ता । यत्परस्य चिन्त्यते तत्स्वस्यायाति ब्राह्मणैर्जीवदेवसूरिचेष्टितं ज्ञात । ततः सूरिपार्श्वे विज्ञप्तं गौर्यदि ढेढै कर्ष्यते तन्नोद्वाहो भवति । वत. श्रीप्रभुभिस्तथा कार्यं यथा वहिर्निर्गच्छति । गुरुभिः प्रोक्तं—यद्यतो लल्लचैत्ये अस्मत्साधु श्राद्धेषु भक्तिः श्रावकैरिव क्रियते । तदा वो वच क्रियते । सूरिपदप्रस्तावे हेमयज्ञोपवीतं यदि दत्थ सूरेश्च तत्सुखासन च वहथ तदा गौ. कृष्यते । ततस्तैस्तथा मानिते गौ कर्षिता ।

ततो वायडब्राह्मणा श्राद्धा इव गुरौ भक्ता अभूवन् तत्सन्तानेऽपि च ।

इति वायडग्रामजीवदेवसूरिलल्लश्राद्धदृष्टान्तः ॥४६१॥

[452] अथ चमत्कारे जीवदेवसूरिसम्बन्धः ।

एकदा धर्मदेशनायां जीवदेवस्य सूरेर्दुष्टो योगी समागत्य स्वजिह्वया पर्यस्तिकां बध्वोपविष्ट सभ्यलोको भीत । प्रभुभि' सः कीलितस्तथा यथाऽतीव वेदनाऽभूत् । तत स वक्तुमशक्तस्तेन खटिकया भूमौ लिखित—

उवयारहउवयारडो, सव्वो लोअ करेइ ।
अवगुण किद्धइ गुणकरइ, विरलओ जणणि जणेइ ॥१॥

अहं तव छलनायागा त्वयाऽहं ज्ञात स्तम्भितश्च प्रसीद मयि, मां मुञ्च बन्धनात् । ततो गुरुभि कृपया मुक्त स च पुराद्बहिः मठिं कृत्वा योगी स्थितो दुष्ट । ततो गुरुभिरुक्त साधुसाध्वीना पुर, यस्मिन् दिग्भागे योग्यस्ति तस्मिन्न गम्य । तस्मिन् दिग्भागे कदाचित् साधवो गता तेन छलिता । ततो गुरुभिर्निविड स्तम्भितस्तत्रस्थो यथा स्थानाच्चलितु न शेके साधव स्वस्थिता कृता, योगिनो दिनाष्टक तत्र जात बुभुक्षातृट्पीडितो गुरून् ज्ञापयामास मयातः पर भवदीयशिष्याणा श्राद्धाना किमपि अवयं न कार्यं, मां मुञ्च दृढवच कृत्वा मुक्त पादयोर्गुरो पपात गुरूणां नवः शिष्य इवाभवत् ।

इति चमत्कारे जीवदेवसूरिसंबंध. ॥४६२॥

[634] अथ प्रासादपुण्ये विक्रमार्कनिम्बमन्त्रिसंबंधः ।

ई दित्येन पृथिवीमनृणां कुर्वता निम्बश्रेष्ठी गूर्जरधरित्र्यां प्रेषितः, स च ग्रामे पुरे लोकाननृणीकुर्वन् धनदानाद्वायडग्रामे समागात् । श्रीजीवदेवसूरयो वन्दिताः उपदेश श्रुतः, स च लल्लश्रेष्ठिकारित महान्त प्रासाद दृष्ट्वा दध्यौ—असौ श्रेष्ठी धन्यो येनाय प्रासाद' कारित एवं ध्यात्वा तेन वायडे श्रीजिनप्रासादो महान् कारितः । तत्र श्रीवीरप्रतिमायाः प्रतिष्ठां श्रीजीवसूरयश्चक्रु ।

इत स निम्ब स्व पुण्य श्लाघमानः स्वपुरे ययौ ।

इति प्रासादपुण्ये विक्रमार्कनिम्बमन्त्रिसम्बन्ध ॥४६३॥

[464] अथ श्रीजिनोन्नतिकारकश्रीआर्यखपटसंबधः ।

आर्यखपटाचार्यशिष्यो महेन्द्र वादे वृद्धकर बौद्ध जिगाय । सर्वलोकैरुपहसितो [बौद्धः] मृत्वा गुडशस्त्रपुरे यक्ष उत्पन्न, तेन प्रासादः कारितः, स्वप्रतिमा स्थापिता च । स च यक्ष

प्राग्वैरात् जैनानुपद्रवति व्याधिवर्धनभयेन, धनहरणादिप्रकारैः । ततः श्राद्धैर्गुरवो विज्ञप्ताः, यक्षः श्रीसंघस्य पीडा करोति गुरवो यक्षायतने गताः । यक्षस्य कर्णयोरुपानहौ बबन्धुः । वक्षसि पादौ ददुः, लोका मिलिता., राजाप्यागात्, राज्ञोक्त—श्वेतवस्त्र ! उत्तिष्ठ यक्षस्याशातना न क्रियते स्तुतिरेव क्रियते भस्मीकरिष्यति त्वा, गुरुवस्तु शरीरमाच्छाद्य सुप्ताः राजा यत्र यत्रोद्घाटयति तत्र स्फुलिङ्गा निस्सरन्ति । ततो घातान् दापयति । यदा तदान्तःपुरेषु लगन्ति पत्नीना । ततोऽन्तःपुरे कोलाहलो जात, 'मृता वयमिति' कोऽप्यदृश्यो मारयति । ततो राजा सूरीणां पदोः पतित्वाऽवग्—प्रसन्नो भव ममापराधः क्षम्यता, कृपा कुरु लोकेषु । ततोऽन्त-पुरेषु वेदना गता । गुरुभिः प्रोक्तं—यक्ष अत्रागच्छ । ततो यक्ष उत्थितः गुरुपादौ ननाम पादसवाहना करोति च जगौ—मयि कीटकोपरि क कटकारम्भः ? गुरुभिः प्रोक्त—अद्यप्रभृति जैनेषु द्वेषो न कार्यः । यक्षः प्राह—यथा हनूमति रक्षति शाकिन्यः पात्राणि न पराभवन्ति तथा त्वयि रक्षति जैन कः पराभवति । तव भृत्योऽहं मुञ्च मां राजादयश्चमत्कृताः सूरिभक्ता जाता. सूरयः प्रासादान्निर्गता यक्षोऽपि पाषाणमूर्त्ति. गुरुपृष्ठौ चचाल, द्वे दृषत्कुण्डिके सार्धं चलिते सूक्ष्मपदाश्चेलुश्च नगरद्वारे सर्वे विसर्जिता यक्षादय स्वस्थाने ययुः जिनधर्मप्रभावनाख्यात्यर्थं कुण्डिके पुरद्वारे पतेते [स्थापिते] अधुनापि तथास्थिते स्त ।

इति श्रीजिनोन्नतिकारकश्रीआर्यखपटसम्बन्धः ॥४६४॥

465] अथ श्रीजिनशासनोन्नतौ आर्यखपटाचार्यसम्बन्धः ।

एकदा गुडशस्त्रपुरात् श्रीसूरयो यावच्चेलुस्तावत्तत्र साधुद्वयं भृगुकच्छादागत, गुरवो वन्दिताः । साधुद्वय प्राह-भगवन् ! श्रीपूज्यैर्युष्माभिर्भृगुपुराच्चलद्भियो कपरिका मुक्ताऽभूत् सा चन्द्रक्षुल्लकेन छोटयित्वा वाचिता आकृष्टिर्लब्धिस्तेन शिक्षिता, स च तया विद्यया इभ्यानां गृहात्सारा रसवतीमानीय भुङ्क्ते, तथाकुर्वन् श्रीसंघेन गच्छेन वारितोऽपि न तस्थौ, रसनेन्द्रियलोलुपो जातः । श्रीसघेन घनं हक्कितो बौद्धानां मिलितः । स च दुष्ट बौद्धानां पात्राणि मठात् खेन इभ्यानां श्राद्धाना गृहेषु प्रेषयति तानि भक्तभरितानि खे न आनयति । बौद्धान् भोजयामास सुखेन, तेन क्षुल्लः अतीव-मानितो, गौरव वहन्ति बौद्धास्तस्मिन् । तस्य शिक्षा यदि दीयते तदा वर । ततो गुरवो भृगुपर जग्मुः, प्रच्छन्न स्थिताः यत्र बौद्धाना पात्राणि अन्नपूर्णानि आगच्छन्ति, शिलाकर्कराक्षेपात् आचार्य बभञ्ज, तदा शीलिमण्डकादि[दयः] राजमार्गादौ पतन्ति । तदा लोकाः कलकल कुर्वन्ति बौद्धा बुभुक्षापीडिताः जगु. कोऽस्मदीयानि पात्राणि भनक्ति । तत. क्षुल्लको गुर्वागमन ज्ञात्वा भीतो नष्टः सन्नन्यदा गुरुगुणैरावर्जित सः क्षुल्लकोऽभ्येत्य गुरून् वदित्वा क्षमयामास, आचष्ट चाद्य प्रभृति मया गुरूणा वचो माननीय सूरय. ससंघाः बौद्धाना प्रासादमागमन् बुद्धस्य उपलमूर्त्ति समुखमुपस्थिता "जयजय महर्षि-कुलशेखर" इत्यादि स्तुतिं चक्रे गुरोः । ततो बौद्धा अपि प्रबुद्धाः ।

इति जिनशासनोन्नतौ आर्य टाचार्यसम्बन्धः ॥४६५॥

[466] अथ जिनोन्नतिचमत्कारे महेन्द्रोपाध्यायसम्बन्धः ।

पाटलीपुरपत्तने दाहडो भूपो विप्रभक्तो यतीनाकार्याचष्ट विप्रान्नमत । यतयः प्रोचुः—एते तु गृहस्थाः वय तु निर्ग्रन्था तेनास्माभिर्गृहस्था न वन्द्यन्ते । राज्ञोक्त—यदि न नमस्यन्ते विप्राः तदा मद्देशे न स्थेयं । यदि स्थास्यते तदा शिरांसि च छेत्स्यन्ते । ततो जैनयतिभिः सप्तदिना याचिता अत्रान्तरे तत्र श्रीआर्यखपटसूरिशिष्य' उपाध्यायो महेन्द्रनामा भृगुपुराद्दाययौ । स च यतिभिर्वन्दित स्व दु ख प्रकाशित यतिभि , उपाध्यायेन सधीरिता',

प्रात श्रीउपाध्यायो दाहडराजस्य सभाया गत । राज्ञोक्त—प्रणमत ब्राह्मणानां नो चेद्भवता शिर्षाणि छेत्स्यन्ते । उपाध्यायोऽवग्–राजन् ! एते गृहस्था सपरिग्रहा वय निष्परिग्रहा. अत एव न प्रोच्यते जिह्वा त्रुटति । तदा राज्ञोक्त—भो सेवकाः ! अस्य निग्रह कार्यते । तत उपाध्यायो हस्ते रक्तकणवीरकबा लात्योच्चै कृत्वा सभायां फेरिता प्रोक्त च केषां नमस्कार करिष्यते ? ततो राजान विना सर्वेषां विप्रादीना मस्तकानि भूमौ पेतु उपाध्यायेनोक्त—यदेतेषां कृतं तत्तवापि करोमि नवा ? ततो राजोत्थायोपाध्यायपादयो पतित्वा भीतः प्राह—भगवन् ! प्रसन्नो भवतु परमेवमपराधं न करिष्यामि । ततो महेन्द्र उवाच—

कः कण्ठीरवकण्ठकेसरमटाभार स्पृशत्यंह्रिणा,
कः कुन्तेन शितेन नेत्रकुहरे कण्डूयनं काङ्क्षति ।
कः सन्नह्यति पन्नगेश्वरशिरोरत्नावतंसं श्रिये,
य श्वेताम्बरशासनस्य कुरुते वन्द्यस्य निन्दामिमाम् ॥१॥

श्रुत्वैतद्राजाऽवग्—अहमतस्ते सेवकोऽस्मि मम चैतेषां जीवित देहि । एते विप्रादय सर्वे भवन्त नमस्यन्ति । ततो महेन्द्रोपाध्यायेन धवलकणवीरकम्बा तेषामुपरि वाहिता, सर्वे समस्तका उत्थिता ततो राज्ञोक्ता विप्रादयः सर्वं [सर्वान्] यतीन्नमन्ति स्म राजा श्राद्धोऽभूत् ।

इति जिनोन्नतिचमत्कारे महेन्द्रोपाध्यायसम्बन्धः ॥४६६॥

[467] अथ अतिशये श्रीपादलिप्तसूरिसंबंध ।

गुरुदत्तविद्यया प्राप्तसूरिपदः पादलिप्तसूरिर्दशवर्षीय शत्रुञ्जयोज्जयन्तार्बुदतीर्थसमेतशिखराष्टापदतीर्थेषु देवान्नत्वा जिमति स्म ।

एकदा सूरिः पाटलिपुरे गत । तत्र गरुडो (मरुडो) नाम राजा षण्मासीं यावच्छिरोर्त्या पीडित । ततः प्राणास्त्यक्तुमिच्छति एकैर्मन्त्रतन्त्रयन्त्रैरनेकै. पुरुषै कृतेऽप्युपचारे न निवर्त्तिता शिरोर्त्तिः । ततो मन्त्रिणः प्रेष्य सूरीनागतान् श्रुत्वाऽकारयामास [ततः सूरीन् आह्वनाय राजामन्त्रिण प्रेष्य, आगताश्च तान् श्रुत्वाप्रवेश कारयामास] राजा प्राह—भगवन् ! प्रसन्नीभूय दुःसाध्या शिरोर्त्ति निर्वर्त्यतां, कीर्त्ति–धर्मौ सचयेता । तत. सूरि कृपासागर शिरोर्त्ति भूपस्येत्यपाचकारा—

जह जह पएसिणिं जाणुअंमि[सि], पालित्तउ भमाडेइ ।
तह तह से सिरवेअणा, पणस्सइ मरुण्डरायस्स ॥१॥

प्रीतो राजा स वृत्तोत्सवः पादलिप्तसूरिं गुरुं चक्रे ।

इति अतिशये श्रीपादलिप्तसूरिसम्बन्धः ॥४६७॥

[468] अथ विनये पादलिप्तसूरिसाधुसम्बन्धः ।

एकदा श्रीगुरुभिः प्रोक्तं विनीता साधवो यदुच्यते तत्कुर्वन्त्येव, राजा प्राह—राजकुले हि विनयो विद्यते । ततः सूरयो जगुः—यस्तव परमभक्तोऽस्ति स आकार्यतां । इदं च तस्मै कथ्यतां गत्वा विलोकय "गङ्गा किं पूर्ववाहिनी पश्चिमवाहिनी वा ?" ततो राज्ञा भक्तो राजपुरुषो गङ्गाप्रवाहवहनदिग्विलोकनाय प्रेषितः । स च यत्र तत्र भ्रमित्वा पश्चादागतः भूपेनोक्तः गङ्गा पूर्ववाहिनी वा पश्चिमवाहिनी वा, स प्राह—आबालगोपाला जानन्ति गङ्गा पूर्ववाहिनी । गुरुभिः प्रोक्तं—राजन् ! राजकुले ईदृग्विनयो विद्यते, गुरुप्रेषिताः साधवः गङ्गातटे गत्वा काष्ठप्रान्ते ध्वजं बन्धयित्वा सम्यग्गङ्गाप्रवाहवहनं विलोकयामासुः । ततः पश्चादागताः साधवः प्रोचुः—भगवन् ! अस्माभिर्गङ्गायां गत्वा प्रवाहो विलोकितः पूर्ववाहिनी गङ्गा ज्ञाता । ततो राजोत्थाय साधून्नत्वा प्राह—धन्यं मतं यत्रेदृक्षा गुरुभक्ताः साधवो भवन्ति उक्तं च—

निवपुच्छीएण गुरुणा, भणिओ गंगा कओ मुही वहइ ।
संपाइयं च सीसो जह, तह सव्वत्थ कायव्वं ॥१॥

इति विनये पादलिप्तसूरिसाधुसम्बन्धः ॥४६८॥

[469] अथ उचितजल्पने श्रीपादलिप्तसूरिसम्बन्धः ।

एकदा गुरौ अन्यत्र गते लघ्ववस्थायां पादलिप्तसूरिः साधुषु गोचरचर्यायां गतेषु बालैः सह क्रीडति, द्रुतं श्राद्धानागताञ्ज्ञात्वा आकारं संवृत्योपविष्टः उपदेशो दत्तः । ततस्तेषु श्राद्धेषु गतेषु पुनरवरकमध्ये खेलति यावता तावता केऽपि वादिनो विज्ञं ज्ञात्वा वादं कर्त्तुं समाययुः तैर्विजनं मत्वा "कुकुडुकूकू" इति शब्दः कृतः सूरिणा तु वादिनश्चागतान् ज्ञात्वा "म्याऊ म्याऊ" विडालशब्दः कृतः । ततस्तैर्वादिभिस्तस्य विद्वत्त्वं ज्ञात्वाऽवसरज्ञत्वं च, पदयोस्तस्य पेतुः प्रोचुश्च चिरंजीव बालभारति ! ततो गोष्ठी मण्डिता तैः—

पालित्तय ! कहसु फुडं सयलं मंडलं भमतेण ।
दिट्ठं सुयं च कत्थय ! चंदणरससीयलो अग्गी ॥१॥

प्रभुणोक्तं— अयसाभियोगसंदूमियस्स पुरिसस्स मुद्धहिअस्स ।
होइ वहंतस्स दुह, चंदणरससीयलो अग्गी ॥२॥

ततस्ते प्रोचुः त्व साक्षाद्देवामरगुरुः ब्राह्मी ।

इत्युचितजल्पने श्रीपादलिप्तसूरिसंबंधः ॥४६९॥

[470] अथ प्रगल्भतायां पादलिप्तसूरिसम्बन्धः ।

एकदा श्रीपादलिप्तसूरयः कुर्चोलसरस्वत्यादिविरुदधारिण प्रतिष्ठानपुर्यां महोत्सवपूर्वं समागच्छन्ति ।

इतः सर्वैः पण्डितैः सम्भूयैकत्र स्त्यानघृतभृत कच्चोलकमाचार्याणां सन्मुखं प्रेषित आचार्यैस्तु घृतमध्ये सूचिका क्षिप्ता तथैव पश्चात्प्रेषित । तत राज्ञोक्तं गुरुभिरिद कृतं, को भाव', पडितैरुक्तं—गुरुभिर्ज्ञापितं पण्डितैर्भृत पुरं विद्यते तथापि यथा सूचिर्घृतमध्ये प्रविष्टा तथाहमपि प्रवेक्ष्यामि पुर्यां । ततो राजादयो विप्राश्च समुख गताः सूत्सवे जायमाने गुरवो धर्मशालायामागता उपदेशो दत्त श्रीपादलिप्ताचार्यैर्निर्वाणकलिकप्रश्नप्रकाशादिशास्त्राणि निर्मितानि राजा रञ्जितः । इति प्रगल्भतायां पादलिप्तसूरिसम्बन्धः ॥४७०॥

[471] अथ वृद्धवादिसूरिपदसम्बन्धः ।

स्कन्दिलाचार्योपान्ते वृद्धत्वेऽपि चारित्र जग्राह मुकुन्दद्विज , स च गुरुभिः सह भृगुपुरे गत उच्चैः स्वर दढस्वर [दृढतरस्वरेण] भणति राज्ञा साधुभिश्चोक्त—किं मुशलं पुष्पयिष्यति स चावग्—यदि विद्याः समेष्यन्ति तदा [पुष्पयिष्यते] पुष्पते । ततः खिन्नो विद्यार्थी ब्राह्मीदेव्या अग्रे एकविंशतिमुपवासांश्चक्रे सा प्रसन्ना प्राह—सर्वविद्यासिद्धो भव तपसाऽह तुष्टा तुभ्य, सर्वविद्यापारग स राजादीनां पुरो जगौ–यन्ममोपहास कृत 'मुशल पुष्पयिष्यसो'[ती]त्यादिना । ततो राजादिबहुषु लोकेषु मिलितेषु मुशलमानाय्य चतुष्पथे स्थित्वा विद्यया मुशल पुष्पयामास । तस्य पृष्टौ स्थित्वा प्रोवाचेति—

[प्र[तप्त]कम्पो [पत्तमवलंविअ] मुद्गो मृङ्गं शक्रयष्टिप्रमाणं ।]

अप्रतिमल्लोवादीह जो जंपइ फुल्लमुसलमिह ।
तमह निराकरिचा फुल्लइ, मुसलं ति ठावेमि ॥२॥

तथा च— शीतो वह्निर्मारुतो निष्प्रकम्पो, मुद्गो शृङ्गं शक्रमुष्टि[यष्टि]प्रमाणम् ।
यस्मै यद्वा रोचते तन्न किंचित्, वृद्धो वादी भाषते कः किमाह ? ॥३॥

अप्रतिमल्लो वादी जातो मुकुन्दमुनिः । ततः सूरिभिः स्वपद दत्तं वृद्धवादीति नाम जातम । इति वृद्धवादिसूरिसम्बन्धः ॥४७१॥

[472] अथ सिद्धसेनसूरिवाददीक्षासूरिपदसम्बन्धः ।

एकदा देवर्षिद्विजपुत्रो देविकामातृभव सिद्धसेनो विप्रो महाविद्यापारगो विजितानेकवादी वृद्धवादिसूरिस्फुर्त्ति श्रुत्वा सुखासनारूढोऽनेकच्छात्रपरिवृतो गुरुं जेतुं भृगुपुरं प्रति चचाल मार्गे गुरवो मिलिताः परस्परमालाप. सिद्धसेनोऽवग्--त्व वाद देहि सूरिः प्राह—ददामि शीघ्रं परमत्र के सभ्या वादे जिताजितादिविषये को निर्णय करिष्यति ? सिद्धसेनोऽवग्—एते गोपाः सभ्या वृद्धवादिनोक्त—तर्हि ब्रूहि । तत सिद्धसेन सस्कृततर्कच्छन्दोलङ्कारादि जल्पितु लग्नः यदा जल्पं जल्प स्थितस्तदा गोपैरुक्तमस्य प्रोक्तं किमपि न ज्ञायते । तेनासौ किमपि न वेत्ति उच्चैर्जल्पता कर्णौ स्फोटितौ । ततो वृद्धवादी कच्छडक बन्धयित्वा घींघणीछन्दसा कोडति, तथाहि—

नवि मारीइ नवि चोरीइ परदारह गमण निवारीइ ।
थोवा थोवउं दाईइ डुगडुगि सरगिहिं जाईइ ॥१॥

पुनरपि प्रोच्यैव नृत्यति पठति च—

[तू]कालु कंबल अनइनीवडु छासिहि भरीओ दुईओ निप्पडु ।
अइवडपडिओ नीकलइ[सा]डाडि, अवरकिसर[सग]गह सिंगनिलाडि ॥२॥

ततो गोपा प्रोचु—अय वयः सर्वज्ञ अहो कीदृक्कर्णसुखकारि वच. । ततः सिद्धसेनः स्वं हारित मत्वा प्राह—भगवन् ! प्रव्राजय मां तव शिष्योऽह त्वया अवसरो ज्ञातो मया तु न । अथ वादी आह—भृगुपुरे गम्यते तत्र भूपाग्रे वादः करिष्यते । तत्र ज्ञास्यते को विज्ञ इति ततस्तत्र गतौ । तत्रापि सूरिणा जित. सिद्धसेनो दीक्षा जग्राह-यत्र वादो जातः तत्र तालरसग्रामो राज्ञा वासित सिद्धसेनस्य कुमुदचन्द्र इति गुरुभिर्नाम दद्दे दत्त सूरिपदं क्रमात् सिद्धसेनदिवाकर इत्यपि नाम जातम् ।

इति सिद्धसेनसूरिवाददीक्षासूरिपदसम्बन्धः ॥४७२॥

[473] अथ प्राप्तसर्पपविद्याश्रीसिद्धसेनदिवाकरसम्बन्धः ।

एकदा सिद्धसेनसूरिश्चित्रकूटे प्राप्त । तत्र चिरन्तनचैत्ये स्तम्भमेक महान्त दृष्ट्वा कंचित् पुरुषं प्रपच्छ कोऽयं स्तम्भो महान् किमत्रास्ति ? तेनोक्तं—पूर्वाचार्यैरस्य स्तम्भस्य मध्ये पुस्तकानि न्यस्तानि सन्ति स्तम्भस्तु तत्तदौषधमयो जलादिभिरभेद्योऽस्ति । ततः सूरिस्तस्य स्तम्भस्य गन्धं गृहीत्वा प्रत्यौषधरसै स्तम्भमाच्छोटयामास। तत. प्रातरम्बुजवद्विकसितः मध्ये पुस्तकाः[नि] दृष्टाः[नि] । तत्रैकं छोटयित्वा वाचयन्नाद्ये पत्रे द्वे विद्ये दृष्टे एका सर्षपविद्या यया अभिमन्त्रिताः

सषपा यावन्तो जले क्षिप्यन्ते तावन्तो अश्ववारावर्यपल्ययन[मल]रुवि, कजरह्गुडि[ह्ाग]र-क्षिकाटोपखड्गासिपुत्रीप्रमुखद्विचत्वारिंशदुपकरणसहिता निस्सरन्ति। ततः परबल जेष्यते सुभटाः सिद्धे कार्ये अदृश्यीभवन्ति। द्वितीया हेमविद्या यया क्लेशं विना शुद्धहेमकोटी निष्पाद्यते येन तेन धातुना ततस्ते द्वे विद्ये गृहीते सूरिणा ततो यावदग्रे पाचयति तावत्स्तभो मिलितः खे वागभूत् पुस्तकमपि मध्ये स्थितं "अयोग्योऽसि ईदृशोनां विद्यानां प्रयास. पुनर्न कार्यः" तत सिद्धसेनसूरिर्विद्याद्वय प्राप्य सन्तोषं चकार।

इति प्राप्तसर्षपविद्याहेमविद्याश्रीसिद्धसेनदिवाकरसम्बन्धः ॥४७३॥

[474] अथ नवीनकटकनिर्माणविद्यासम्बन्धगर्भा सिद्धसेनसूरिसम्बन्धः।

एकदा कुर्मारपुरे श्रीसिद्धसेनसूरिर्ययौ। तत्र देवपालराजो गुरु वन्दितुमाययौ धर्मोपदेश शुश्राव। तत्र परस्पर गोष्ठी सदा गुरुभूपयो प्रवर्त्तते।

एकदा गुरुर्विज्ञप्तो रहसि राज्ञा—भगवन्! वय सङ्कटे पतिताःस्म। गुरु. पप्रच्छ किं सकट तवास्ति? राजा जगौ सीमालभूपा' मम राज्य जिघृक्षया आगच्छन्त. श्रुताः, श्रीप्रभुपार्श्वे विद्या श्रूयते यदि यूयं कृपा मयि कुरुथ? तदा राज्य तिष्ठते। सूरिराचष्ट—चिन्ता न कार्या, तव यद्यह गुरुरभूव, राजा हृष्टः क्रमात्परचक्र समायात। विद्यया प्रथमया सेना रचिता, द्वतीयया हेम च, ततो युद्धे जायमाने वैरिबल भग्न। ततो जयजयारावोऽजनि। ततो राजा भक्तोऽभूत् ततो गुरुणा जैन' कृत. ततस्तेन राज्ञाऽनेके जिनागाराः कारिता.।

इति नवीनकटकनिर्माणविद्यासम्बन्धगर्भा सिद्धसेनसूरिसम्बन्धः ॥४७४॥

[475] अथ प्रमादत्यागे सिद्धसेनसूरिसम्बन्धः।

क्रमात्सिद्धसेनसूरि सयमशिथिलोऽजनि, वेलाया प्रतिक्रमणादिक्रियां न करोति, अनेके राजानः एवायान्ति श्रावका श्राविका धर्मशालायां प्रवेशमपि न लभन्ते वेषमात्रधारी जात। यत —

दगपाणं पुप्फफलं, अणेसणिज्जंति गिहत्थकिच्चाइं।
अजया पडिसेवंती, जइ वेसविडंबगा नवरं ॥१॥

सत सिद्धसेनसूरि. सुखासनारूढश्चलति। इतो गुरुणा सिद्धसेनप्रमादस्वरूप ज्ञात। ततो गुरुर्वेषान्तर कृत्वा सिद्धसेनसुखासन स्कन्धे चकार वर्त्मनि सिद्धसेनो बभाषे—

"भूरिभारभराक्रान्तः, स्कन्धः किं तव बाधति!"

वृद्धवादी जगौ—

"न तथा बाधते स्कन्धो, यथा बाधति बाधते" ॥२॥

ततो ज्ञात तेन मम गुरु विना ममोक्तौ कोऽपि कूटं न कर्षति। एवं ध्यात्वा आसनादुत्तीर्य गुरुमुखमुपलक्ष्य पादौ पपात क्षमयामासापराध। ततो गुरुभि प्रोक्त—

चउदसपुव्वी आहारगा, विमलनाणी विअरागावि ।
हुंति पमायपरवसा, तयणंतरमेव चउगईआ ॥३॥

प्रमादः परमद्वेषी, प्रमादः परमं विषम् ।
प्रमादो मुक्तिपूर्दस्युः, प्रमादो नरकायनम् ॥४॥

ततः प्रमादं मुक्त्वा गुरुपार्श्वे आलोचना लात्वा शुद्धचारित्रपालनपरोऽभूत् ।

इति प्रमादत्यागे सिद्धसेनसूरिसम्बन्धः ॥४७५॥

[476] अथ अवन्तिसुकुमालस्वरूपम् ।

अवन्त्यां भद्रश्रेष्ठी भद्रापत्नीभवोऽवन्तीसुकुमालः पुत्रो द्वात्रिंशदिभ्यपुत्रीः परिणिन्ये महासौख्यात् शालिभद्रावतारः । एकदा तत्र आर्यसुहस्तिसूरिर्दशपूर्वधरः आगत्य भद्रश्रेष्ठिगृहे स्थित. । अनेकश्राद्धा धर्मं श्रुत्वा पुण्यं कुर्वन्ति स्म । रात्रौ मधुरस्वरं नलिनीगुल्मविमानाख्यमध्ययन गुरुभिर्गण्यमानं श्रुत्वोहापोहपरः प्राप्तजातिस्मृतिरवन्तिसुकुमालो दध्यौ । तत्र विमाने यत्सुखं विद्यते । ततोऽत्र कोटिभागेऽपि नास्ति ततस्तत्र गम्यते तदा वरं । ततो गुरुपार्श्वे गतः पृष्टं भगवन् ! किं यूयं नलिनीगुल्मविमानादत्रायातः यतस्तत्स्वरूपमुच्यमानमस्ति । गुरुः प्राह–सिद्धांतं गण्यमानमस्ति । स प्राह–तत्र त्वरित कथं गम्यते ! गुरुणोक्तं—चारित्रात् ! स प्राह—चारित्रं प्राह्य । गुरुः प्राह—तव मात्राद्यनुमत्या दीक्षा भवति । ततः स्वयं चारित्र गृहीत्वा श्मशानभूमौ कार्योत्सर्गे स्थितः । तदा पश्चाद्भवसम्बन्धिपत्नीशिवाया उपसर्गं सहमानो मृत्वा तत्र विमाने देवोऽभूत्, प्रातर्मात्राद्याः पुत्रस्वरूपं ज्ञात्वा दुःखिनो जाताः । ततो गुरुभिर्नलिनीगुल्मविमानस्वरूपं प्रोक्तं । ततस्तस्य मृत्युस्थाने महाकालाभिध श्रीपार्श्वनाथप्रासाद कारितः प्रभोः प्रतिमा स्थापिता । इति अवन्तीसुकुमालस्वरूपम् ॥४७६॥

इति श्रीतपागच्छाधीश *श्रीमुनिसुन्दरसूरिशिष्य–श्रीरत्नशेखरसूरिपट्टलक्ष्मीसागरसूरिशिष्य*
पं० *शुभशीलगणिविरचितपञ्चशतीकथाप्रस्तावकोशे*–

॥ तृतीयोऽधिकारः समाप्तः ॥

चतुर्थोऽधिकारः

[477] अथ ॐकारनगरप्रासादनिष्पत्तिसम्बन्धः ।

अन्येद्यु सिद्धसेनदिवाकरः ॐकारनगरप्राप्तः गुरुभिर्धर्मोपदेशो ददे श्राद्धानां। श्राद्धैर्विज्ञप्त—भगवन् ! मरटका राजप्रासादमदमत्ता जैन प्रासाद कारयितु न ददते, तथा क्रियताम् यथात्र जैनप्रासादो भवति । तत श्रीसिद्धसेनो हस्तन्यस्तचतुःश्लोको विक्रमादित्यभूपगृहस्य प्रतोल्यां गतः । ततो द्वारपालो भूपपार्श्वे गत्वा प्राह—

भिक्षुर्दिदृक्षुरायात—स्तिष्ठति द्वारि वारितः ।
हस्तन्यस्तचतुःश्लोकः, किंवागच्छतु गच्छतु ? ॥१॥

ततो राज्ञा प्रतिश्लोक प्रेषितश्चमत्कृतेन—

दीयता दशलक्षाणि, शासनानि चतुर्दश ।
हस्तन्यस्तचतुःश्लोकः, किंवागच्छतु गच्छतु ॥२॥

ततो मध्ये गत सूरि श्लोकचतुष्टय यदा चतुर्षु दिक्षु पपाठ । तदा राजा तुष्टः ते चैते श्लोका.—

अपूर्वेयं धनुर्विद्या, भवता शिक्षिता कुतः ।
मार्गणौघः समभ्येति, गुणो याति दिगन्तरम् ॥३॥

सरस्वती स्थिता चक्रे [वक्त्रे] लक्ष्मीः करसरोरुहे ।
कीर्त्तिः किं कुपिता राजन् ! येन देशान्तरे गता ? ॥४॥

कीर्त्तिस्ते जातजाड्येव, चतुरम्भोधिमज्जनात् ।
आतपाय धरानाथ, गता मार्त्तण्डमण्डलम् ॥५॥

सर्वदा सर्वदोऽसीति, मिथ्या संस्तूयसे बुधैः ।
नारयो लेभिरे पृष्टं, न वक्षः परयोषितः ॥६॥

श्रुत्वा राजा तुष्टो जगौ—चतुर्दिग्राज्य गृहाण । गुरुः प्राह—अस्माक निर्ग्रन्थानां राज्येन किं कार्यं ? ततो भूपोऽवग्—यदन्यद्विलोक्यते तन्मार्गय । गुरु प्राह—

"ॐकारनगरे चतुर्द्वारं जिनप्रासादं शिवप्रासादादुच्चं कारय, तत्र पार्श्वप्रतिमां प्रतिष्ठापय" ततो राजा सिद्धसेनप्रोक्तमचीकरत् ।

इति ॐकारनगरप्रासादनिष्पत्तिसम्बन्धः ॥ ४७७ ॥

[478] अथ नवीनसंवत्सरप्रवर्त्तने विक्रमार्कसम्बन्धः ।

एकदा सिद्धसेनदिवाकरः श्रीविक्रमादित्यभूपस्याग्रे दानधर्मोपदेशं ददावेवं—

श्रीनाभेयजिनेश्वरो धनभवे श्रेयःश्रियामाश्रयः,
श्रेयांसः स च मूलदेवनृपतिः सा नन्दना चन्दना ।
धन्योऽयं कृतपुण्यकः शुभमनाः श्रीशालिभद्रादयः,
सर्वेऽप्युत्तमदानदानविधिना जाता जगद्विश्रुताः ॥१॥

कर्णस्त्वचं शिविर्मांसं, जीवं जीमूतवाहनः ।
ददौ दधीचिरस्थीनि, किमदेयं महात्मनाम् ॥२॥

न कय दीणुद्धरणं, न कयं साहम्मिआण वच्छलं ।
हिययम्मि वीयरायो, न धारिओ हारिओ जम्मो ॥३॥

तीर्थङ्कराः पृथिवीमनृणीं कृत्वा दीक्षां गृह्णन्ति, तथाहि—

एगा हिरण्णकोडि, अट्ठेवय अणूणगा सयसहसा ।
सूरोदयमाईअं, दिज्जइ जापाउरासाओ ॥ ४ ॥

तिन्नेव य कोडिसया, अट्ठासीअं च हुंति कोडीओ ।
असीइं सयसहस्सा, एयं, सवच्छरे दिन्नं ॥५॥

अधः क्षिपन्ति कृपणा, वित्तं तत्र यियामवः ।
सन्तस्तु गुरुचैत्यादौ, तदुच्चैः फलकांक्षिणः ॥६॥

इत्यादि व्याख्यानं श्रुत्वा विक्रमादित्यराजा जगौ—भगवन् । मम गृहे स्वर्णपुरुषद्वयं विद्यते । ततो दिने दिने बहु हेम लभ्यते । तेन मम पृथिवीमनृणीकर्त्तुमिच्छाऽस्ति । गुरुभि' प्रोक्तं—न भाग्यं विना धर्मं कर्त्तुं मनोरथो भवति सम्पूर्णो भवति च । यतः—

भवन्ति भूरिभिर्भाग्ये–र्धर्मकर्ममनोरथाः ।
यत्पुनस्ते फलन्त्येव, तत्सुवर्णस्य सौरभम् ॥७॥

श्रुत्वेति राजा ग्रामे पुरे स्वसेवकान् प्रेष्य मुखमार्गितं धनं दायं दायं पृथिवीमनृणीं चकार । त संवत्सरो टिप्पणके शास्त्रेषु लिखितो बुधैः ।

इति नवीनसंवत्सरप्रवर्त्तने विक्रमार्कसम्बन्धः ॥४७८॥

[479] अथ शत्रुञ्जयतीर्थवालने मल्लवादिसम्बन्धः ।

खेटपुरे देवादित्यद्विजस्य सुभगा पुत्री विधवाऽभूत् कस्मादपि गुरो सौरं मन्त्रं प्राप तदा सौरो मन्त्रो ध्यातः । ततः सूर्योऽभेत्य भुक्तवान्, सगर्भाऽभूत् तां तादृशीं दृष्ट्वा मातृपितृभिर्हविकता । सा च सूर्यागमन प्राह—तथापि मात्रादिभिर्न मानित कपिता । सा च वलभीं पुरीं गता काले तया पुत्रपुत्र्यौ जनिते, क्रमाद्ववधते लेखशालिकैरपुत्रक इति प्रोक्ते मातर स पप्रच्छ मम क' पिता माताऽवग्—सूर्यस्ते पिता ध्यातस्तेन सोऽभेत्य तस्मै पुत्राय कर्कर ददौ प्राह च यस्ते पराभव करोति सोऽनेन कर्करेण हतो मर्त्ता, स च कर्कर पश्चात्त-वान्तिक समेष्यति । तत स पराभवकर्त्तार तेन हन्ति । ततः स बालवधकारक श्रुतो वलभीशेन । तत स भूपेन पराभूत' । ततस्त स हत्वा राजाऽभूत् तस्य शिलादित्यनामाऽभूत् । तत. शिलादित्य स्वा भगिनीं भृगुपुरे भूपाय ददौ, तया च सुतोऽसावि सुदिने इत शिलादित्यो बोद्धैः स्वधर्म' ग्राहित, श्रीशत्रुंजय तीर्थं बौद्धा आत्मीय चक्रे । इत शिलादित्य-भगिनी भर्त्तरि मृते सपुत्रा सुहस्तिसूरिपार्श्वे चारित्र जग्राह । स च बालकोऽष्टवर्षीय सामाचारी कुशलो विनीतोऽभूत् प्राज्ञश्चाभवत् । एकदा मातर पप्रच्छ अल्प श्रीसघः कथ ? माताऽवग्—श्वेताम्बरा देशात्कपिता शिलादित्यभूपो वलभीपुरीस्वामी बौद्ध कृत शत्रुंजय-तीथमपि गृहीत तै', पूर्वं सघो बहुरभूत् स च शिलादित्यभूपस्तव मातुलोऽस्ति इति श्रुत्वा बाल कुपितोऽम्बादेवीमाराध्य बहुविद्यावान् मल्लगिरौ तपश्चक्रे कतिपयदिनै शासनदेवी प्रसन्नाऽभूत् प्राह च के मिष्टा, सोऽवग् मम बल्ला. ततस्तया ध्यातमय तपस्वी नीरसाहार पाचनात् । ततः पुस्तक दत्त्वा देव्योचे अमु पुस्तक वाचय सर्वान्वैरिणो जेष्यसि । ततो मल्लवादीति त्व नाम्नाऽस्याः । तत. स प्राप्तविद्यो वल्लभ्या समेत्य बौद्धान् विजित्य शिलादित्यं भूप प्रबोध्य श्रीशत्रुंजय तीर्थं वालयामास बौद्धा देशान्निष्काशिता । ततो गुरुभिः सूरिपद ददे तस्य [तस्मै] । इति शत्रुञ्जयतीर्थवालने मल्लवादिसम्बंधः ॥४७९॥

[480] अथ हरिभद्रसूरिदीक्षासूरिपदसम्बन्धः ।

चित्रकूटे हरिभद्रो विप्रश्चतुर्दशविद्याविशारद सर्वशास्त्रार्थं विन्दते । तत प्रतिज्ञा चक्रे—यस्योक्तस्यार्थं न जाने तस्याह शिष्यो भवामि । एकदा स रात्रौ पुरमध्ये व्रजन् साध्व्युपाश्रयान्ते गत । तदा साध्वी श्रीआवश्यकगाथां जगौ—

चक्किदुगं हरिपणगं पणग चक्कीण केसवो चक्की ।
केसव चक्की केसव दुचक्की केसिअचक्की अ ॥१॥

अस्या अर्थमजानन् विप्रः प्राह—महासति ! 'चक्कि-चक्कि' इति किं प्रोच्यते ? तयोक्तं नवीनं लिप्तं चिक्कचिक्कायते ततो ध्यातं तेनाहमनया जितः गाथार्थाज्ञानादस्याः शिष्योऽस्मि । ततः पृष्टं कोऽर्थोऽस्या. साऽवग्—अस्माकं गृहस्थस्याग्रे रात्रावर्थो न प्रोच्यते गुरवः कथयिष्यन्ति तेनोक्तं क्व सन्ति ? गुरव , तयोक्तं उपाश्रये सन्ति जिनागारोपान्ते । ततो देवगृहे गतः देव दृष्ट्वा नमस्कारान् प्राह—

वपुरेव तवाचष्टे, भगवन् ! वीतरागताम् ।
नहि कोटरसंस्थेऽग्नौ, तरुर्भवति शाद्वलः ॥१॥

जं दिट्ठि करुणातरंगिय पुडा एयस्स सोमं मुहं,
आयारो पसमायरो परियरो संतो पसन्नातणू ।
[तं मन्ने] तन्नूणं जरजम्ममच्चुहरणो देवाहिदेवो [जिणो] इमो,
देवाणं अवराण दीसइ जओ नेयं सरूवं इमं ॥२॥

ततो देवान्नमस्कृत्य सूरिपार्श्वे गत गुरुं नत्वा गाथाया अर्थं पप्रच्छ। गुरुणा गाथार्थो व्याख्यातः इति—

अस्यां चतुर्विंशतौ प्रथमं भरतसगरौ जातौ चक्किदुग२ । हरिपणगं—तिविट्ठू१ द्विविट्ठू२ सयंभु३ पुरुषोत्तम४ पुरुषसिंह.५। पणग चक्कीण—मघवा१ सनत्कुमार२ शान्तिनाथ३ कुंथुनाथ४ अरनाथ५ । केशवो—पुरुषपुण्डरीकः२ । चक्की—*सुभौमः१ । केशव' दत्तः१ । चक्की—महापद्म.१ । केसव—नारायणः लक्ष्मणाह्व १ । दुचक्की—हरिषेणः१ जयः२ । केसव—कृष्णः१ । चक्की—ब्रह्मदत्त. । एवं १२ चक्रिण' ९ वासुदेवा उक्ता अनुक्रमेण । उक्तं च—

उसभे भरहो अजिए सगरो मघवं सणकुमारो अ ।
धम्मस्स संतिस्स य, जिणंतरे चक्कवट्टिदुगं ॥३॥
संती कुन्थू अ अरो, अरहंता चेव चक्कवट्टी अ ।
अरमल्लीअंतरे पुण, हवइ सुभूमो अ कोरव्वो ॥४॥
मुणिसुव्वए नमिम्मि अ, हुंति दुवे पउमनाहहरिसेणा ।
नमिनेमिसु जयनामा, अरिट्ठपासंतरे बंभो ॥५॥
पंच अरहते वंदंते केसवा पंच आणुपुव्वीए ।
सिज्जंस तिविट्ठाई, धम्मपुरिससीहपेरंता ॥६॥
अरमल्लिअंतरे दुन्नि, केसवा पुरिसपुण्डरिअदत्ता ।
मुणिसुव्वय नमिअतरि नारायणकन्हनेमिम्मि ॥७॥

* सुभूम ।

ततः पूर्वप्रतिज्ञाबद्ध उत्पन्नवैराग्यो दीक्षा ललौ । ततो जैनग्रन्थात् सिद्धान्त तेन पठितः निर्विशेषतोऽतीवविज्ञोऽभूत् गुरुभि सूरिपदं ददे ।

इति हरिभद्रसूरिदीक्षासूरिपदसम्बन्धः ॥४८०।

[418] अथ हरिभद्रसूरिक्रोधोपशमसम्बन्धः ।

श्रीहरिभद्रस्य हंसपरमहंसौ क्षुल्लौ प्रज्ञालौ गुरुभिः पाठितौ । तत एकदा प्रोचतु.—भगवन्! बौद्धशास्त्रमर्म गृहीत्वा बौद्धा जेष्यन्ते तत्रावा स्याव । गुरुभि प्रोक्त—ते निर्दया यदि युवां जैनौ ज्ञास्यन्ति तदा हनिष्यन्ति । ततस्तौ गुरुं पर्यवसाय्य वेपान्तर ग्राह्य बौद्धाचार्योपान्ते गत्वा छात्रमध्ये शास्त्राणि पठत तेषां शास्त्राणा मर्म पृथग्लिखित. [लिखन्तौ स्त]।

एकदा पत्रदत्तखटया बौद्धाचार्येण जैनछात्रपठनं ज्ञात, परमुपलक्षति न। ततो जैनछात्रज्ञानाय द्वितीयभूमौ पाठयितुमुपविष्ट छात्रेपु पठत्सु निश्रेण्या जिनप्रतिमा मण्डिता, यदा छात्रा विसर्जितास्तदा सर्वे प्रभोः प्रतिमाया उपरि पादौ वस्त्वोत्तीर्णा, हंसपरमहंसौ प्रतिमायाः कण्ठे रेखा कृत्वोत्तीर्णौ। ततस्तौ शङ्कितौ पुस्तक लात्वा नष्टौ। ततो बुद्धाचार्येण राज्ञः शिविर तत्पृष्टौ प्रेषित तयोर्हननाय, हंसेन युद्धकृत वहुसैन्य हत, ततो बहुसैन्य समागत, ततो हंसो हतः, ततो बहु शिबिर समागत परमहंसोऽपि हतः। क्रमाद्गुरुभि शिष्यहननसम्बन्धो ज्ञातः । ततो रुष्टैस्तप्ततैलकटाह मण्डित मन्त्रबलेन १४४० [१४४४] बौद्धाः[बौद्धान्] कटाहेषु जुह्वन् [जुह्वन्] वारितो हरिभद्रो, न पापान्निवृत्तस्तदा एक श्राद्धोऽभ्येत्य जगौ—

जइ जलइ जलओ लोए, कुसत्थपवणाहओ कमायग्गी ।
तं जुज्ज जं जिणवयणा, वारिसित्तो वि पज्जलई ॥१॥

इत्यादि श्रुत्वा हरिभद्रसूरि पापान्निवृत्त पश्चादालोचनां लात्वा १४४० [१४४४] प्रकरणानि चक्रे ।

इति हरिभद्रसूरिक्रोधोपशमसम्बन्धः ॥४८१॥

[482] अथ बप्पभट्टीदीक्षासम्बन्धः

पाञ्चालदेशे डूबाउधिग्रामे बप्पक्षत्रियस्य भट्टि पत्नी, सूरपाल. पुत्रोऽभूत् । तस्य क्षत्रियस्य बहवो रिपवः तान् हन्तु स पुत्र पित्रा निषिद्धः स्थित । कस्मिंश्चिदपमाने सूरपालो निर्ययौ सिद्धसेनसूरेर्मोढेरग्रामे मिलितः गुरवः प्रोचुः कस्त्व कुत आगाः। ततस्तेन स्वमातापित्रादिसम्बन्ध प्रोक्त । गुरुणोक्त—वत्स! अस्मत्पार्श्वे तिष्ठ सुखी भवसि पाठयित्वा विलोकितो गुरुणा स च दिन प्रति सहस्र श्लोकानां पठति तीक्ष्णबुद्धिः। ततो गुरवो जगुश्चारित्रं गृहाण त्वमस्मत्तुल्यो भविष्यसि । तेनोक्त—अहं दीक्षा जिघृक्षुरस्मि । ततो गुरवस्त चारित्रग्रहणे दृढ कृत्वा डूंबाउधीग्रामे गताः । तस्य शिशोर्मातापितरावालापितौ उक्तं च पुत्रा भवन्ति भूयांसः किन्तैर्यैः संसारसागरात्

मातापितरौ उद्वियन्ते न । यद्यसौ दीक्षां गृह्णाति तदा वरं । माता प्राह—यदि मम नाम दीयते पुत्रस्य तदा दीयतां दीक्षां । ततो गुरुभिर्दीक्षित वप्पभट्टिर्नाम ददे तस्य, स्तोकैरेव दिनैर्बहूनि शास्त्राणि पपाठ । इति वप्पभट्टिदीक्षासंबंधः ॥४८२॥

[483] अथ आमराज्यप्राप्तिसंबंधः ।

गोपालनगरे यशोधर्मनृपतेर्यशोदेवी पत्नी पुत्रआम । स चान्यदा पित्रा हक्कितो निर्ययौ गृहात् भ्रमन्स मोढेरकग्रामे बहिर्देवकुले समागात् । इतस्तत्र वप्पभट्टिसाधुस्तत्र गुरुणा सार्द्धं समागात् । स च आमस्तत्र देवकुले काव्यानि वप्पभट्टिपार्श्वाद्वाचयामास । ततो गुरुणा सम स शिशुरुपाश्रये आगतः गुरुणा पृष्ट कुतस्त्वं पुरादिहागा स चात्मनो मातापितृपुरादिसम्बन्ध जगौ गुरुणोक्त-कि तव नाम ? ततस्तेन बालेन खटिकया लिखित्वा ज्ञापित स्वं नाम आम इति । ततो गुरुणा ज्ञात—महानेष ततो गुरुणा ध्यातं च य' पुरा रामसैन्यग्रामे राज्ञा निष्कासिता स्त्री समागता । तया च पिचुवृक्षे वस्त्रान्दोलके मुक्तो बालकः । तस्य वृक्षस्य छाया न नमिता स एव बालक. एष महान् भूपो भविष्यति । ततो गुरुणा श्राद्धानां भलायितः श्राद्धा वयं भोजन ददन्ते वप्पभट्टिना समं आमः पठति बहुशास्त्राणि पपाठ, लक्षणादिसर्वशास्त्रावित्तेत्ताऽभूत् । वप्पभट्टिरामेन गुरु कृतः, महान्प्रेम तयोरभूत् । एकः एकेन विना न तिष्ठति । यत '—

आपातगुर्वी[1] क्षयिणी क्रमेण, ह्रस्वा पुरा वृद्धिमती च पश्चात् ।
दिनस्य पूर्वार्द्धपरार्द्धभिन्ना, छायेव मैत्री खलसज्जनानाम् ॥१॥

इतस्तत्रस्थ पुत्र ज्ञात्वा पिता स्वपार्श्वे नेतु जनमप्रेषयन् । तत आम. प्राह—अहं पित्राऽकारितस्तत्र गच्छन्नस्मि कदाचिद्राज्य भविष्यति तदा त्वमेव गुरु वप्पभट्टिश्चापि । ततो यशोधर्मभूपपते पितुर्मिलितः पित्रा राज्य दत्त, राजा तु आराधना कृत्वा स्वर्ग [स्वर्गं] गत आम' पितु. परलोककार्यं कृत्वा गोपगिरिपुरे राज्य प्राप्तमपि पलालपूलप्राय मन्यते । ततः आमेन वप्पभट्टिस्तत्राकारितः आसन मण्डित, यदा वप्पभट्टिर्जगौ—आसने तु गुरव एवोपविशन्ति । ततः आमेन गुरुपार्श्वात् वप्पभट्टे सूरिपद दापितम् ।

इति आमराज्यप्राप्तिसम्बन्धः ॥४८३॥

[484] अथ गोपगिरौ १८ भारस्वर्णप्रतिमानिर्मापनसम्बन्धः ।

एकदा श्रीवप्पभट्टिसूरिभि. प्रासादकारणपुण्ये उपदेशो दत्तः ।

प्रासादप्रतिमा यात्रा—प्रतिष्ठादिप्रभावना ।
अमार्युद्घोपणादीनि महापुण्यानि गेहिनां ॥१॥

काष्ठादीनां जिनागारे, यावन्तः परमाणवः ।
तावन्ति पल्यलक्षाणि, तत्कर्त्ता स्वर्गभाग्भवेत् ॥२॥

---

१ आरभगुर्वी ।

इत्याद्युपदेशं श्रुत्वा एकोत्तरहस्तशतप्रमाण प्रासादः कारयामास । भूरं गोप गिरौ तत्राष्टादशभारप्रमाणां श्रीवीरप्रतिमा न्यवीविशत् श्रीबप्पभट्टिभि प्रतिष्ठिता । तत्र चैत्ये मूलमण्डपः सपादलक्षसौवर्णटङ्कैर्निष्पन्न इति वृद्धा प्राहुः । सदा भूपो गजारूढो देव वन्दितु याति देवगृहे सदा नृत्यनादपूजामहापुण्य पूजादि महोत्सव राजा कारयति । दिन प्रति देवगृहे मूढकद्वयमक्षता आयान्ति, गोणीद्वयं पूगीफलानि, अपरवस्तूनां सख्या न ज्ञायते । उभयकालमारात्रिकमहोत्सवो भवति । विशेषतः कार्त्तिकपूजा कार्त्तिकमासे दीपशतसहस्रे कार्यते नृपेण । इति गोपगिरौ १८ भारस्वर्णप्रतिमानिर्मापनसम्बन्धः ।।४८४।।

[485] अथ श्रीबप्पभट्टिसूरिर्लक्षणापुरीगमनधर्मराजप्रतिबोधसम्बन्धः ।

एकदाऽन्तःपुरे वल्लभां प्रम्लानमुखीं दृष्ट्वा श्रीबप्पभट्टिपार्श्वे गाथार्द्धं राजाऽवग्—

"अज्जवि सा परितप्पइ, कमलमुही अत्तणोपमाएणं" ।

गुरु प्राह—

"पढमविबुद्धेण तए, जीसे पच्छाईअं अंग" ।।१।।

राजा दध्यावय सर्वज्ञ एव ।

अन्यदा राजा पत्नीं पदे पदे मन्द मन्द सचरन्तीं दृष्ट्वा गाथार्द्धं प्राह—

"बाला चंकमंती पए पए, कीस कुणइ मुहभंगं" ।

सूरि प्राह—

"नूण रमणपएसे मेहलया छिप्पए नहपती" ।।१।।

इव श्रुत्वा राजा दध्यौ—एष सूरिरन्तःपुरे किं प्रविष्ट ? अहो विद्यागुणोऽपि दोषाय गतः । राज्ञो मनो ज्ञात्वा श्रीसूरि सघमनापृच्छय पुरद्वारे काव्य लिखितवानेव—

यामः स्वस्ति तवास्तु [1]रोहणगिरौ मत्तः स्थितिप्रच्युता,
वर्त्तिष्यन्त इमे कथं कथमिति स्वप्नेऽपि मैव कृथाः ।
[2]श्रीमांस्ते मणयो वयं यदि भवल्लब्धप्रतिष्ठास्तदा,
ते शृङ्गारपरायणाः चितिभुजो मौलौ करिष्यन्ति नः ।।१।।

अस्मान विचित्रवपुपश्चिरपृष्ठलग्नान्, किं वा विमुञ्चसि विभो ? यदि वा विमुञ्च !
हा हन्त केकिवर हानिरियं तवैव, [3]भूपालमौलिषु पुनर्भविता स्थितिर्नः ।।२।।

एव लिखित्वा गुरवोर्लक्षणवत्या पुर्यां धर्मराजपालितायां गता. सूरत्सव । तत्र नित्यं धर्मराजा गुरुं वन्दते उपदेश शृणोति ।

इति श्रीबप्पभट्टिसूरिर्लक्षणापुरीगमनधर्मराजप्रतिबोधसम्बन्धः ।।४८५।।

१ रोहणगिरे । २. श्रीमस्ते । ३. भूपालमूर्धनि ।

[486] अथ लक्षणापुरीस्थितेन गुरुणा समस्यापूरणसम्बन्धः ।

आमभूपः श्रीवप्पभट्टिगुरुं "याम स्वस्तीति" काव्यवाचनात् ज्ञातवान् । मम मनो ज्ञात्वा गुरवो गता । गुरवो ज्ञानिनः मया मुधा दुश्चिन्तितं राजा वप्पभट्टिं स्मार स्मारं दुःख्यभूत् ।

अन्यदा वहिर्गतेन राज्ञा सर्प्पं मुखे धृत्वा वाससाछाद्य गृहमानीतवान् सभायां कवीनां पुरः श्लोकार्द्धं प्राह—

"शस्त्रं शास्त्रं कृषिर्विद्या अन्यो यो येन जीवति" ।

यदा न केनापि पदद्वयमग्रेतनं पूरितं । तदा राजा जगौ—य समस्यां पूरयति तस्मै हेमटङ्ककलक्ष दास्ये बहुषु दिनेषु गतेषु एकः पुरुष समस्यां पूर्णां चकार—

"सुगृहीतं च कर्त्तव्यं, कृष्णसर्प्पमुखं यथा" ॥१॥

ततो राज्ञोक्त—भो पुरुष ! सत्य ब्रूहि मया मानितं तुभ्यं दास्यते, केनेयं समस्या पूरिता । ततस्तेनोक्त लक्षणावत्या गतस्तत्र मया श्रीवप्पभट्टिपार्श्वे समस्यार्द्धं पृष्टं गुरुणाऽग्रत पदद्वय प्रोक्त । ततो राजा दध्यौ स गुरु कथमत्रायास्यति । एकदा आमः पुराद्बहिः न्यग्रोध-द्रोरधः पान्थ मृत ददर्श । तस्य तरो शाखाया-करपत्रकं गलद्बिन्दुव्यूहं लम्बमानं च दृष्ट्वा गाथार्धं ग्रावणिलिखितं दृष्टवानिति—

"तईया महनिग्गमणे पियाइ घोरं सुएहिं जं रुण्णं ।"

तदपि गाथार्द्धं भूरि कवीना पुर प्रोक्तं ततो न केनापि पूरितं । जनं प्रेष्य सूरिपार्श्वात् समस्यां पूर्णां ज्ञातवान्—

करवत्तयविंदुय निवडणेण तं मज्झ संभरिय ॥२॥

एवं श्रुत्वा राजा नित्यं सूरीन् सस्मार ।

इति लक्षणापुरीस्थितेन गुरुणा समस्यापूरणसम्बन्धः ॥४८६॥

[487] अथ आमभूपलक्षणापुरीगमनधर्मभूपमिलनसम्बन्ध. ।

एकदा श्रीआमराजेन गुरुमाकारयितुं मन्त्रिणः प्रपिता । गुरवो यदा चलितु लग्नास्तदा धर्मराजावष्ट—यदा आमभूपः भगवत आकारयितुमायात्यत्र तदा गन्तव्य ममापि तस्य नृपतेर्दर्श-नेच्छा विद्यते । ततो गुरुणोक्त—राजा नायास्याति अत्र, तथापि ज्ञापयिष्यते । ततो मन्त्रिण आकार्य रह प्रोक्त—आमकेन स्थगीयरूपभृता प्रातः सभायामागम्यते, मन्त्रिण पश्चादुगताः आमस्य वप्पभट्टेरनागमनादिकारण प्रोचुः । ततोऽन्यदा प्रभाते श्रीधर्मभूपादिश्राद्धसकुलायां सभायां स्थगीरूपधर आमो भूरिनरैर्युक्त आगच्छन् दृष्टो यदा तदा गुरुणोक्त—पुनरामनरा आगच्छन्त सन्ति मदाकारणाय, यदा सभायामागतस्तदा । गुरुभि प्रोक्त—"आम ! आवओ"

तस्मिन्नुपविष्टे अपरनरपार्श्वं पृष्टं स्थगीहस्ते किं बीजोरा ? ततो धर्मभूपेन पृष्टं—राजा कथं कथयात्र नागादाकारयितुं गुरो ? ततस्तेनोक्तं—आगत एवाज्ञेयं राज्ञा पृष्टं कीदृशः आमास्ति गुरुणोक्तं—स्थगीसदृशोऽस्ति । ततो धर्मेण यूयं [उक्तं] पश्चाद्यात राजानं अत्र प्रेषयत ततस्ते सर्वे गुरून् वन्दित्वा जगु —भगवन् ! भवद्भिः शीघ्रं गोपगिरौ आगम्यते । गुरुभिः प्रोक्तं—'वर्त्तमानयोगिइ" । ततस्ते गता घटिकायाजनोष्ट्रीमारूढो राजा स्वपुरं प्रति चचाल ।

इतो गुरवो धर्मभूपते' पुरः प्रोचु —वयं चलिता गोपगिरिं प्रति राजाऽवग्—यथाम-भूपागमनं विना गमिष्यते तदा प्रतिज्ञाभंगो भविष्यति । गुरुणोक्त—यः स्थगीरूपभृत् । स आगतः मयोक्तं—'आवउ' एकेन नरेण प्रोक्तं मयापि च बीजोरा स्थगीतुल्य प्रोक्त । ततो धर्मः प्राह—अहं वाहितो वचश्छलात्—आमो विद्वान् गुरवो विज्ञा' अहं मुग्धः । गुरुणोक्तं—आमो दर्शितो भवतः । ततस्तं भूपं मुत्कलाप्य बप्पभट्टिगुरु सूत्सवं गोपगिरौ गतं ।

इति आमभूपलक्षणापुरीगमनं धर्मभूपमिलनसंबन्धः । ४८७॥

[488] अथ आमकुमार्गगमननिवृत्तिसम्बन्धः ।

अन्यदा राजसभायामामस्य गाथकवृन्दं समायातं तच्च गातुं मधुरध्वनिप्रवृत्तं आमभूपतिरेकां बालिकां मृगाक्षमुखीं स्वर्नारीरूपां गायन्तीं दृष्ट्वा मदनज्वरपीडितोऽभूत् । ततो राजा पद्यद्वयमपाठीत्—

वक्त्रं पूर्णशशी सुधाधरलता दन्ता मणिश्रेणयः,
कान्ति श्रीर्गमनं गजः परिमलस्ते [१]पारिजातद्रुमः ।
वाणी कामदुधा कटाक्षलहरी सा कालकूटच्छटा,
तत्किं चन्द्रमुखि ! त्वदर्थममरैरामन्थि दुग्धोदधिः ॥१॥

जन्मस्थानं न खलु विमलं वर्णनीयो न वर्णो,
दूरे शोभा वपुषि निहिता पङ्कशंकां तनोति ।
विश्वप्रार्थ्यः सकलसुरभिद्रव्यदर्प्पापहारी,
नो जानीमः परिमलगुणः कस्तु कस्तूरिकायाः ॥२॥

सूरिभिर्ध्यातं महतामपि मनःपरिवृत्तिर्भवति । यतः—

अक्खाण रसणी कम्माण, मोहणी तह वयाण बंभवयं ।
गुत्तीण य मणगुत्ती, चउरो दुक्खेण जिप्पंते ॥१॥

उत्थिता सा सभा, राज्ञा नर्या सभा त्रिभिर्दिनैः कारापिता गृहरूपामातङ्ग्या सममिह वत्स्यामीति ध्यायति स्म—

---

१ पारिजातद्रुमाः ।

[486] अथ लक्षणापुरीस्थितेन गुरुणा समस्यापूरणसम्बन्धः ।

आमभूपः श्रीवप्पभट्टिगुरुं "याम स्वस्तीति" काव्यवाचनात् ज्ञातवान् । मम मनो ज्ञात्वा गुरवो गता. । गुरवो. ज्ञानिन· मया मुधा दुश्चिन्तितं राजा वप्पभट्टि स्मारं स्मारं दुःख्यभूत्।

अन्यदा बहिर्गतेन राज्ञा सर्प्पं मुखे धृत्वा वाससाछाद्य गृहमानीतवान् सभायां कवीनां पुरः श्लोकार्द्धं प्राह—

"शस्त्रं शास्त्रं कृषिर्विद्या अन्यो यो येन जीवति" ।

यदा न केनापि पदद्वयमग्रेतनं पूरितं । तदा राजा जगौ—य समस्यां पूरयति तस्मै हेमटङ्ककलक्ष दास्ये बहुषु दिनेषु गतेषु एकः पुरुष· समस्यां पूर्णां चकार—

"सुगृहीतं च कर्त्तव्यं, कृष्णसर्प्पमुखं यथा" ॥१॥

ततो राज्ञोक्त—भो पुरुष ! सत्य ब्रूहि मया मानितं तुभ्यं दास्यते, केनेयं समस्या पूरिता । ततस्तेनोक्त लक्षणावत्या गतस्तत्र मया श्रीवप्पभट्टिपार्श्वे समस्यार्द्धं पृष्टं गुरुणाऽमत· पदद्वय प्रोक्त । ततो राजा दध्यौ स गुरु कथमत्रायास्यति । एकदा आमः पुराद्बहिः न्यग्रोध-द्रोरधः पान्थ मृत ददर्श । तस्य तरो शाखाया-करपत्रकं गलद्बिन्दुव्यूहं लम्बमानं च दृष्ट्वा गाथार्थं ग्रावणिलिखितं दृष्टवानिति—

"तईया महनिग्गमणे पियाइ थोरं सुएहिं जं रुण्णं ।"

तदपि गाथार्द्धं भूरि कवीना पुर. प्रोक्तं ततो न केनापि पूरितं । जन प्रेष्य सूरिपार्श्वात् समस्यां पूर्णां ज्ञातवान्—

करवत्तयबिंदुय निवडणेण तं मज्झ संभरियं ॥२॥

एवं श्रुत्वा राजा नित्यं सूरीन् सस्मार ।

इति लक्षणापुरीस्थितेन गुरुणा समस्यापूरणसम्बन्धः ॥४८६॥

[487] अथ आमभूपलक्षणापुरीगमनधर्मभूपमिलनसम्बन्धः ।

एकदा श्रीआमराजेन गुरुमाकारयितुं मन्त्रिणः प्रषिता । गुरवो यदा वलितुं लग्नास्तदा धर्मराजाचष्ट—यदा आमभूपः भगवत आकारयितुमायात्यत्र तदा गन्तव्य ममापि तस्य नृपतेर्दर्श-नेच्छा विद्यते । ततो गुरुणोक्त—राजा नायास्यति अत्र, तथापि ज्ञापयिष्यते । ततो मन्त्रिण आकार्य रह प्रोक्त—आमकेन स्थगीयरूपभृता प्रातः सभायामागम्यते, मन्त्रिणः पश्चादुगताः आमस्य बप्पभट्टेरनागमनादिकारण प्रोचुः । ततोऽन्यदा प्रभाते श्रीधर्मभूपादिश्राद्धसंकुलायां सभायां स्थगीरूपधर आमो भूरिनरैर्युक्त आगच्छन् दृष्टो यदा तदा गुरुणोक्त—पुनरामनरा आगच्छन्त सन्ति मदाकारणाय, यदा सभायामागतस्तदा । गुरुभि· प्रोक्त—"आम ! आवओ"

तस्मिन्नुपविष्टे अपरनरपार्श्वे पृष्ट स्थगीहस्ते किं बीजोरा ? ततो धर्मभूपेन पृष्ट—राजा कथ कथयात्र नागादाकारयितु गुरो ? ततस्तेनोक्त—आगत एवाज्ञेय राज्ञा पृष्ट कीदृशः आमास्ति गुरुणोक्त—स्थगीसदृशोऽस्ति । ततो धर्मेण यूय [उक्तं] पश्चाद्यात राजानं अत्र प्रेषयत ततस्ते सर्वे गुरून् वन्दित्वा जगु —भगवन् ! भवद्भि शीघ्र गोपगिरौ आगम्यते । गुरुभिः प्रोक्त—'वर्त्तमानयोगिइ" । ततस्ते गता घटिकायोजनोष्ट्रीमारूढो राजा स्वपुरं प्रति चचाल ।

इतो गुरवो धर्मभूपतेः पुरः प्रोचु.—वय चलिता गोपगिरिं प्रति राजाऽवग्—यथाम-भूपागमन विना गमिष्यते तदा प्रतिज्ञाभगो भविष्यति । गुरुणोक्त—य स्थगीरूपभृत् । स आगतः मयोक्त—'आवउ' एकेन नरेण प्रोक्त मयापि च बीजोरा स्थगीतुल्य प्रोक्त । ततो धर्मः प्राह—अह वाहितो वचश्छलात्—आमो विद्वान् गुरवो विज्ञाः अह मुग्धः । गुरुणोक्त—आमो दर्शितो भवतः । ततस्त भूप मुत्कलाप्य बप्पभट्टिगुरु सूत्सव गोपगिरौ गत ।

इति आमभूपलक्षणापुरीगमन धर्मभूपमिलनसंबन्धः । ४८७॥

[488] अथ आमकुमार्गगमननिवृत्तिसम्बन्धः ।

अन्यदा राजसभायामामस्य गाथकवृन्दं समायात तच्च गातु मधुरध्वनिप्रवृत्तं आमभूपतिरेकां बालिकां मृगाकमुखीं स्वर्नारीरूपां गायन्तीं दृष्ट्वा मदनज्वरपीडितोऽभूत् । ततो राजा पद्यद्वयमपाठीत्—

वक्त्रं पूर्णशशी सुधाधरलता दन्ता मणिश्रेणयः,
कान्ति· श्रीर्गमनं गजः परिमलस्ते [१]पारिजातद्रुमः ।
वाणी कामदुधा कटाक्षलहरी सा कालकूटच्छटा,
तत्किं चन्द्रमुखि ! त्वदर्थममरैरामन्थि दुग्धोदधिः ॥१॥

जन्मस्थानं न खलु विमलं वर्णनीयो न वर्णो,
दूरे शोभा वपुषि निहिता पकशका तनोति ।
विश्वप्रार्थ्यः सकलसुरभिद्रव्यदर्पापहारी,
नो जानीमः परिमलगुणः कस्तु कस्तूरिकायाः ॥२॥

सूरिभिर्ध्यात महतामपि मनःपरिवृत्तिर्भवति । यतः—

अक्खाण रसणी कम्माण, मोहणी तह वयाण बंभवयं ।
गुत्तीण य मणगुत्ती, चउरो दुक्खेण जिप्पंते ॥१॥

उत्थिता सा सभा, राज्ञा वर्या सभा त्रिभिर्दिनैः कारापिता गृहरूपामातग्या सममिह वत्स्यामीति ध्यायति स्म—

---

१ पारिजातद्रुमाः ।

इङ्गिताकारज्ञाः श्रीबप्पभट्टिसूरयो राज्ञो मनो जज्ञौ दध्यौ—असौ भूपः ⠀ र्गसेवनान्नरकं यास्यति। अतस्तथा कुर्वे यथा राजा कुमार्गं न सेवते। ततस्तस्मिन्नेव चित्रशालाभारपट्टे सूरिः पद्यानि लिखितवानिति—

शैत्यं नाम गुणस्तवैव भवतु स्वाभाविकी स्वच्छता,
किं ब्रूमः शुचितां [1]भवन्ति शुचयस्त्वत्संगताऽन्ये यतः ?
[2]किं वातः परमस्ति ते स्तुतिपदं त्वं जीवितं देहिनां,
त्वं चेन्नीचपथेन गच्छसि पयः कस्त्वां निरोद्धुं क्षमः ? ॥१॥

सद्वृत्तसद्गुणमहार्हमनर्घ्यमूल्य-कान्ताघनस्तनतटोचितचारुमूर्ते,
आः पामरीकठिनकण्ठविलग्नभग्न-हा हार हारितमहो भवता गुणित्वम् ॥२॥

जीअं जलविंदुसमं, संपत्तीओ तरंगलोलाओ ।
सुमिणय समं च पिम्मं, जं जाणसि तं करिज्जासि ॥३॥

लज्जिज्जइ जेण जणो, मइलज्जइ निअकुलकमो[3] जेण ।
कंठठिएवि जीए तं, न कुलीणेहि कायव्वं ॥४॥

प्रातरमूनि पद्यानि दृष्ट्वाऽऽमभूपोऽक्षराण्युपलक्षयामास दध्यौ च अहो गुरूणां मयि कृपालुता मया मातंगीसंगश्चिन्तितः तस्मात्पापात्कथं छुटिष्यामि क्व यामि कथं ? गुरोर्मुखं दर्शयिष्ये किं च तपः करोमि वह्नौ प्रविशामि भूमिमध्ये वा भृगुपातं करोमि वा। ततो राजा चितां रचयित्वा यावदग्नौ प्रविशति तावद्गुरुणा हस्ते धृत्वोक्तं—त्वया मनसा पापं बद्धं मनसा च मुक्तं । यतः—

मनसा मानसं कर्म, वचसा वाचिकं तथा ।
कायेन कायिकं कर्म, निस्तरन्ति मनीषिणः ॥१॥

ततो राजा गुरुवचसा निवृत्तो गृहे समागत आलोचना लात्वा तत्तपश्चक्रे च ।

इति आमकुमार्गगमननिवृत्तिसम्बन्धः ॥४८८॥

[489] अथ आमसमस्यासम्बन्धः ।

अन्येद्युरामो राजपथे गच्छन् हालिकप्रिया एरंडबृहत्पत्रसंवृतस्तनविस्तरां एरण्डपत्राणि विचिन्वाना गृहपाश्चात्यमागे दृष्ट्वा गाथार्द्धं बबन्ध वक्ति—

---

१. व्रजन्त्यशुचयः स्पर्शात्तवैवापरे । २. किंचातः । ३. कमो ।

"वइविवरनिग्गयदलो एरंडो साहइव्व तरुणाणं"

सूरिपार्श्वे पृष्टं, सूरिणा चापूरि—

इत्थ घरे हालिअवहू इद्दहमित्तत्थणी वसइ ॥१॥

श्रुत्वैतद्राजा चमत्कृतः । अन्यदा प्रोषितभर्तृकां वासगृहं यान्तीं वक्रग्रीवां दीपकरां ददर्श गाथार्द्धं चक्रे नृप —

"दिज्जइ [1]वंकगीवइ [2]दीवउ पहिअजायाए" ।

सूर्यग्रेऽपाठीत्, सूरिणापूरि—

पियसंभरणपलुट्टन्त अंसुधारानिवायभीयाए ॥१॥

राजा चमत्कृतः । अन्यदा सौधोपरिस्थेनामेन एकस्मिन् गृहे प्रविष्टो यतिर्दृष्टः तद्गृहस्था स्त्री कामार्त्ता यतिरिरंसयिषुः कपाटं ददौ मुनिस्तां न वाञ्छति । ततस्तया मुनिः पदतलेनाहत. तस्या नेपुरं मुनिचरणे प्रविष्टं काकतालीयन्यायाद्राजा स चकार—

"कवाडमासज्ज वरंगणाए, अब्भत्थिओ जुव्वणगव्वियाए" ।

सूरिः प्राह—

"न मन्निअ तेण जिइंदिएणं, सनेउरो पव्वइअस्स पाओ" ॥१॥

अन्यदा प्रोषितभर्तृकाया गृहे भिक्षुर्भिक्षार्थी प्रविष्टः तया भिक्षुवशीकरणाय वरान्नमानीतं उपरि कौकैर्भक्षितं मुनिर्दृष्टिस्तदा तस्या नाभौ पपात तस्या दृष्टिर्मुनेर्मुखे । आम एतद्दृष्ट्वा समस्यां चकार—

"भिक्खायरो पिच्छइ नाभिमंडलं, सा पिच्छइ तस्स य आणणं चुअं" ।

सूरि प्राह—

"आणाय भिक्खोपरि काकघातया, विड्डालिय तेहिं न जाणिअं तु" ॥१॥

राजा रञ्जितः ततो राज्ञा धनं दत्तं गुरुणा न गृहीतं । ततस्तेन द्रव्येण लेप्यमया प्रतिमा एका मथुरायाम्१ । एका मोढेरकवसहिकायाम्२ । एका अणहिल्लपुरस्थितायाम्३ । एका गोपगिरौ४ । एका [3]सामारकपुरे५ कारिता प्रतिष्ठा प्रभावनादिरपि कारिता ।

इति आमसमस्यासम्बन्धः ॥४८९॥

[490] अथ आमाभिग्रहसम्बन्धः ।

एकदा आमभूपस्य पुरः सूरिरुपदेशं ददौ—

१. गीवाइ । २. दीवओ । ३ सातारकपुरे ।

लावण्यामृतसारसारणिसमा सा [1]भोजभूः स्नेहला,
सा लक्ष्मीः स नवोद्गमस्तरुणिमा सा द्वारिका तद्बलम् ।
ते गोविन्दशिवासमुद्रविजयप्रायाः [2]प्रियाः प्रेरकाः,
या जीवेषु कृपानिधिर्व्यधित नोद्वाहं स नेमिः श्रिये ॥१॥

मग्नैः कुटुम्बजम्बाले यैर्महाकामजर्जरैः ।
नोज्जयन्ते नतो नेमि-स्ते जीवन्तो मृताः स्मृताः ॥२॥

श्रुत्वैतद्राजा जगौ रैवतके नेमिं नत्वैव भोक्तव्य गुरुभि प्रोक्तं—रैवतको दूरे, मृदवो भवादृशाः । राजाऽवग्—मम प्रतिज्ञा मेरुचूलेव ज्ञेया । तत शीघ्रं रैवतकं प्रति सारपरिवारश्चचाल राजा स्तम्भतीर्थोपान्ते समागात् । राजा खिन्नः प्राणसन्देशं प्राप परमभिग्रहं न मुञ्चते ततः सूरिणा ध्याता कूष्मांडी देवी समागता। तदग्रे प्रोक्त तथा कुरु यथा राजा पारणकं करोति।, ततस्तया देव्या रैवतशिखरस्थमेक बिम्बं नेमिनाथस्य तत्रानीतं प्रोक्तं चेद श्रीनेमिबिम्बं तव साहसेन समुखमागत वन्दस्व पारणकं कुरु। तत. सूर्यादिभिरपि तथा प्रोक्त । ततस्तद्बिम्बं वन्दित्वा राजा पारणक चकार ।अद्यापि तद्बिम्बं स्तम्भतीर्थे पूज्यमानमस्ति तत.। शत्रुञ्जयगिरिनारयो र्देवान् वन्दित्वा स्वपुरमागात् ।

इति आमाभिग्रहसम्बन्धः ॥४९०॥

[491] अथ श्रीगिरिनारतीर्थवालनसम्बन्धः ।

एकदा ससघ. श्रीआम शत्रुञ्जये वृषभ नत्वा रैवतके गतः । तदा तत्तीर्थं दिगम्बरै रुद्ध, श्वेताम्बरसघश्चटितुं न शक्नोति आमो यदा युद्ध कर्त्तु लग्नः । तदा दिगम्बरभक्ता ११ राजानः समागतास्तेऽपि युद्धाय सज्जा अभूवन् । ततो बप्पभट्टिनोक्तं—द्वयोरग्रे युद्धे मनुष्यसंहारो भवति । इदं तीर्थं यस्याम्बिका दत्ते तस्यैव ज्ञेय । ततोऽम्बिका द्वाभ्या संघेशाभ्यामाराधिता सती व्योम्नि समेत्य प्राहेति गाथा—

"उज्जिंतसेलसिहरे, दिक्खानाण निसिहिया जस्स ।
त धम्मचक्कवट्टिं, अरिट्ठनेमिं नमंसामि ॥१॥

इक्को वि नमुक्कारो, जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स ।
संसारसागराओ, तारेइ नरं व नारिं वा ॥२॥

तत श्वेताम्बरैर्जितं दिगम्बरैर्हारित स्त्रीणा मुक्त्यभावजल्पनात् ।

इति गिरिनारतीर्थवालनसम्बन्धः ॥४९१॥

---

१. सा भोजसूः २. प्रिया प्रेरक. ।

[492] अथ श्रीहेमसूरिदीक्षासम्बन्ध ।

वटपद्रपुरे श्रीयशोभद्रसूरिपार्श्वे धर्मं श्रुत्वा राणक क्षत्रियो जिनधर्मं प्रपेदे । एकदा जिनधर्मं कुर्वन् चरिक्षेत्राणि द्रष्टु गतो राण. तावता ग्रुण्टानि ज्वालयन्ति भृत्या तेपु एका सगर्भा दद्ह्यमाना तडफडायमाना सिमिसिमायमाना राणोऽद्राक्षीत् । नतो दध्यौ अहो एकस्योदरस्य हेनवे सर्पिणी कियत्पाप क्रियते, धिग्गृहवास यत्र सदा पापमेव, धन्याः साधवः यैः ससारसुख त्यक्त । ततोऽहं सर्वसगत्याग करिष्ये । ततः श्राद्धाः पृष्टा प्रातः श्रीदत्तसूरय क्व सन्ति ? श्राद्धैरुक्त डींडूआणकग्रामे सन्ति । तत सारपरिवारस्तत्र गतो राण । गुरवो वन्दिता स्व पापं प्रकाशयामास व्रत विना तस्माच्छुद्धिर्न दृश्यते । तेन दीक्षां दत्त्व । गुरुभिर्मानिते लक्षमूल्यहारेण डींडूआणके प्रभोर्महान्प्रासाद कारितो । राणरेन पुत्रस्य गृहभार दत्वा राणको दीक्षा जग्राह । यावज्जीव विकृतिस्त्यक्ता एकान्तरोपवासान् चक्रे । त विद्यां पठन्त वमिष्ठ गीतार्थं विनीतं मत्वा सूरिपद गुरुभिर्ददे [सूरिपद गुरवस्तस्मै ददौ] 'यशोभद्रसूरि''रिति नाम तस्याभूत् । [१]तत्पट्टे गुणसेनसूरिरभवत् तत्पट्टे देवचन्द्रसूरि स्थानाङ्गवृत्तिकर्त्ता । देवचन्द्रसूरयो धुधुक्कक पुर प्राप्ताः । एकदा गुरवो देवगृहे गताः । यदा मोढज्ञातीयचाचिगपत्नी पाहिणीगर्भजातश्चगदेव सुत बाल्यत्वात् गुरूणामासने उपविष्टः, तदा गुरुः प्राह—महाभागे पाहिणि ! तवाय पुत्रो यदि दीक्षा गृह्णाति तदा महाविद्यापारग सूरिर्भवति । मात्रा प्रोक्त—यद्यय वर्धमानो दीक्षां मानयिष्यति तदा न मया वारयितव्यः । ततो वर्द्धमानश्चगदेवो मातृपित्रनुज्ञाता दीक्षां ललौ । गुरुदत्तविद्या पपाठ विद्वानभूत् । स च प्राप्तविद्यो हेमसूरिर्नामाऽभूत् ।

इति श्रीहेमसूरिदीक्षासम्बन्धः ॥४९२॥

[493] अथ श्रीहेमसूरिनामसम्बन्धः ।

स च हेमसूरिः क्षुल्लकावस्थायामेकस्मिन्ग्रामे गत । स च वृद्धसाधुना सह प्रातराशं विहरणाय श्राद्धस्य गृहे गत । तस्य गृहे बालका रब्बा पिबन्ति, वृद्धसाधोरग्रे चेल्लक प्राह—गणीश ! अस्य श्रेष्ठिनो गेहे ! एवंविधा भूतिर्दृश्यते बाला रब्बा कथ पिबन्ति ? वृद्धः साधु प्राह मौन कुरु ? तदा गृहस्वामी क्षुल्लकवचः श्रुत्वोत्थाय पप्रच्छ—अय क्षुल्लक किं वक्ति ? साधु प्राह—न किंचित् । ततो बलात्पृष्टे विभूतिसम्बन्ध क्षुल्लकः प्राह गृहमध्ये सौवर्णिकराशिर्दृश्यते । तत श्रेष्ठी जगौ अस्माक हेमनिधि [२][थिराहलिको] खिराहिलिको जात । तेनाय मध्ये क्षिप्तोऽस्ति यदा क्षुल्लकेन तस्योपरि हस्तो वाहित । तदा हेममयो जातः तदा क्षुल्लकस्य हेमक्षुल्लकनाम जात । तत श्रेष्ठिना ततो हेमविहारः कारितः पुनर्महेभ्यो जात ।

इति हेमसूरिनामसम्बन्धः ॥४९३॥

[494] अथ जीवदयाया कुमारपालसम्बन्धः ।

श्रीहेमसूरिपार्श्वे जैनं धर्मं लात्वा सर्वत्रामारिं कारयित्वा कुमारपालभूपो राज्यं चक्रे ।

---

१ तदीयपट्टे प्रद्युम्नसूरिर्ग्रन्थकार । २ कोलसा ।

अन्यदा आश्विनमासे समागते अबोटिकाः [आच्छोटिका] पतीआनका अभ्येत्य । भूपस्याग्रे प्रोचु—पर्व समायातं महिषिकाहं । तत्र सप्तम्या सप्तशतो महिषाणां हन्यते, अष्टम्यां अष्टशती, नवम्यां नवशता । ततो दीयन्ता, देवीभ्या दास्यन्ते । ततो राजोत्थाय गुरुपार्श्वे गतः कथिता सा वार्ता गुरुभि प्रोक्तं—कथयिष्यते युक्ति । ततो ऽग्रेतने दिने प्रोक्त गुरुभि.—

"यस्मिन् दिने यावन्तो हन्यन्ते तावन्तो देवीना पुरत' स्थाप्या।" प्रोच्य च, भो देवि ! तव बलिः कृतोऽस्ति त्व भक्षयित्वा तृप्ता भव । गुरूक्त राज्ञा कृत. देवीभिरेकोऽपि न भक्षितः । दशमोदिने पतीआनकेभ्यो भूरि धनं दत्त्वा । राज्ञा प्रोक्त—अद्यप्रभृति यद्भवता विलोक्यते तन्मार्गणीयं न जीवो हिंस्य' । ते तु पशवो देवी[सत्का] कृत्वा स्वेच्छया चरितुं मुक्ता' ।

इति जीवदयायां कुमारपालसम्बन्धः ॥४९४॥

[495] अथ धर्मदृढतायां कुमारपालसम्बन्धः ।

एकदा कण्टेश्वरी देवी रात्रावभ्येत्य । भूपस्याग्रे प्राह—अह तव कुलदेवी त्वया अस्मदर्थं किमपि न कृत ? राजा जगौ मया जीवहिंसाविषये नियमो गृहीतः जीवन्नह पिपीलिकामपि न हन्मि पञ्चेन्द्रियाणां का कथा । ततो रुष्टा त्रिशूलेन भूप हत्वा गता राजा कुष्ठी जातः । ततो भूप उदयिन मन्त्रिणमाकार्य प्राह देव्योक्तं स्वं वपुर्दर्शयामास च । मन्त्री प्राह स्वस्थीभूय तं गुरव. पृच्छयन्ते प्रातः यदि लोका पश्यन्ति भवद्वपुस्तदोड्डाहो भविष्यति जिनमतावहीलना च । ततो मन्त्रिणा गत्वा भूपस्वरूप श्रीहेमसूरिपार्श्वे प्रोक्तं, गुरुभि सद्यो जलमभिमन्त्र्य दत्त प्रोक्तं अनेन भूपदेहमाच्छोट्य सिञ्चनेन । ततो मन्त्रिणा तेन जलेन भूपवपुराच्छोटित राजा दोगुन्दकदेवशरीरोभूत् प्रातर्गुरुं वन्दितुं ययौ गुरुभिः प्रोक्तं—

शूराः सन्ति सहस्रशः प्रतिपदं विद्याविदोऽनेकशः,
सन्ति श्रीपतयो निरस्तधनदास्तेऽपि क्षितौ लक्षशः[1] ।
किन्त्वाकर्ण्य निरीक्ष्य वाऽन्यमनुजं दुःखार्दितं यन्मन-
स्ताद्रूप्यं प्रतिपद्यते जगति ते सत्पूरुपाः पञ्चपाः ॥१॥

ततो राजा विशेषतो जिनधर्मे दृढता दधार ।

इति धर्मदृढतायां कुमारपालसम्बन्धः ॥४९५॥

[496] अथ कुमारपालभूपालयात्रासम्बन्धः ।

एकदा श्रीहेमसूरिः प्राह—भो कुमारपाल ! शृणु-पुरा भरतचक्री शकटलक्षमनुष्यकोटिभूपशतसहस्रयुत स्थाने स्थाने उत्सवं कुर्वन् शत्रुञ्जये श्रीऋषभ ननाम तथाऽन्येऽपि आदित्यादयो भूपाः कोटिश. सङ्घपतयो जाता., सङ्घपतिसमं पदं न स्यात् । यतोऽन्यत्पदं पापनिबन्धनं

१. भूरिशः । २ तद्रूप ।

संवेगपदं तु मुक्तिदायि निगद्यते, शत्रुंजययात्राफल श्रुत्वा राजा भूरिसघयुतः प्रौढदेवालयारूढजिनप्रतिमापूर्वं शत्रुञ्जययात्रायै चचाल चतुर्विंशतिप्रासादान् कारयन् मन्त्रिपुत्रवाग्भट्टमन्त्रिनागश्रेष्ठिपुत्र आभड षड्भाषाचक्रवर्तिश्रीपालसिद्धपालानेकप्रह्लादनपुरस्वामिभूपालादयोऽपि चेलुर्यात्रायै। श्रीहेमसूरिदेवसूरिप्रभृतयोऽनेके सूरयः साधवश्च। महादानानि दीयन्ते, ग्रामे पुरे जिनेन्द्रपूजा क्रियते, श्रीशत्रुञ्जये सघ. प्राप्त, मरुदेव्या दर्शने नालिकेरादिस्फोटनपूजाकरण। नत्र ददति धन कुमारपाले मार्गणेभ्यः, कवयश्च प्रोचुः—

क्षिप्त्वा वारिनिधिस्तले मणिगणं [1]रत्नाकरारोहणो-
रेण्वावृत्य सुवर्णमात्मनि दृढं बद्ध्वा सुवर्णाचलः।
क्ष्मामध्ये च धनं निधाय धनदो विस्म्यत्परेभ्यः स्थितः,
किं स्यात्तैः कृपणैः [2]स सोऽयमखिलार्थिभ्यः स्नमर्थं ददन् ॥१॥

"श्रीवीरे परमेश्वरेऽपि भगवत्याख्याति धर्मं स्वयं,
प्रज्ञावत्यभयेऽपि मन्त्रिणि न यां कर्तुं क्षमः श्रेणिकः।
अक्लेशेन कुमारपालनृपतिस्तां जीवरक्षां व्यधात्
[3]यस्यासौ सुवचः सुधां स परम श्रीहेमचन्द्रो गुरुः ॥२॥

लक्षदान सर्वत्र देवगृहेषु चैत्यपरिपाटी कुर्वाणो भूपो देवपूजास्नात्रमहोत्सवारात्रिकमगलप्रदीपादि चक्रे तत स्थाने स्थाने स्नात्रमह कुर्वन् देवपत्तने चन्द्रप्रभस्वामिन प्रपूज्य गिरिनारे श्रीनेमिं पूजयामास। तत उत्तीर्णो मार्गे मार्गे श्रीसघं जेमयित्वा दिव्यवस्त्रैः परिधापयन् गुरून् परिधापयामास। तत सघ विसर्ज्य सोत्सव राजा पत्तने समागात्।

इति कुमारपालभूपालयात्रासम्बन्धः ॥४९६॥

[497] अथ भाग्ये कुमारपालसम्बन्धः।

एकदा शाकम्भरीपतिभूप आनाक कुमारपालभगिनीपतिर्द्यूत रममाण पत्न्या सह हास्येन प्राह–हेमसूर्यादिमुण्डकान्मारय। तदा पत्न्योक्तमेव न प्रोच्यते, ते तु मम भ्रातुर्गुरवो जीवदयापालकाः। यदा पुन पुनरेव वक्ति तदा पत्न्योक्त–जिह्वा सभालय। तदा रुष्ट आनाक पत्नीं पार्ष्णिना हतवान् पत्न्योक्तं–विलोकय तव जिह्वा मम भ्राता अवटो कर्पयिष्यति। ततः सा रुष्टा पत्तने गता पतिस्वरूप प्राह। ततो राज्ञा आश्वासिता भगिनी, प्रथमं तत्र स्वमन्त्रिन तस्य स्वरूप ज्ञातुं प्रेषित। स च तत्र गतो दास्या लुब्धोऽन्यदा दासी उत्सूरेण समागात् तदा तेनोत्सूरागमने हक्किता प्राह–"अद्य मयाऽधुना (आनो) राजा मन्त्रिणा विचार्य कुमारपाल हन्तुं जन प्रेष्यमाणोऽस्ति तस्याग्रे प्रोक्त–त्रिभुवनविहारमध्ये त्वया रविवारे स्थेय, तत्र यदा याति तदा त्वया हननीयो राजा। ततो मन्त्री सद्यस्तत्क्षण आकर्ण्य राजसूत्रित कुमारपालाय

१ रत्नोत्कर रोहणो। २ समोऽयमखिलार्थिभ्यः स्वमर्थं ददत्। ३ यस्यास्वाद्य वचः सुधां।

ज्ञापयामास । राजा तस्मिन् सावधानीभूय देवगृहे प्रविष्टस्तं धृतवान् कंकलोहपत्र्यपि दृष्टा ततो राजा सनह्य शाकम्भरीं गत युद्ध मण्डित स्वभगिन्या प्रतिज्ञापूरणाय महती सेना दृष्ट्वा आनाको धन दत्त्वा कुमारपालसैन्यं त्रिभेद । यदा संग्रामे जायमाने सर्वे स्ववसेका न युध्यन्ति तदा हस्तिपक प्रति राजाऽवग्—किं न युध्यति सैन्य, सोऽवग्—तव सैन्यं धनदानाद्वशीकृत चानाकेन राजाऽवग्—त्व कीदृशोऽसि ? स प्राहाह हस्ती च तवैव स्तः ततः सचिन्तो राजा युद्ध कर्त्तुमुत्थितः, तदा चारण. प्राह—

कुमारपाल नवि चित करि चिंतिउं किंपि न होइ ।
जिणि तुह रज्ज समप्पिउं, चिंतं करेसिइ सोइ ॥१॥

ततो युध्यता कुमारपालेन आनाको हस्तिन' स्कन्धे चटित्वा गले (आनाको) धृतः प्रोक्त च—भगिनीप्रतिज्ञा पूरयामि ततो भगिन्याभ्येत्य पतिभिक्षा मार्गिता पादशीर्षिकाच्छीत्कारयित्वा पुनरानकस्य राज्य दत्त्वा स्वाज्ञा धारयित्वा पत्तने समागात् ये ये विघटिता. सेवकास्तेषां शिक्षा दत्ता इति सर्वत्र ततो मारिरित्यक्षरेन न कोऽपि जल्पति स्म ।

इति भाग्ये कुमारपालसम्बन्धः ॥४९७॥

[498] अथ बुद्धौ शातवाहनभूपसम्बन्धः ।

उज्जयिन्यामेको विप्रश्चत्वार. पुत्रास्तेषा शिक्षां (दातु) वृद्धत्वे मरणावस्थश्चतुरः पुत्रानाकार्य प्राह—वत्सा ! अहं परलोक प्रति प्रस्थितोऽस्मि । मयि मृते मदीयाया शय्यायाश्चतुर्णां पादानामधः चत्वारो वर्याः कुम्भा. सन्ति, ते तु वस्तुभिर्भृता सन्ति ततः कर्षणीया भवद्भिर्यथाजेष्ठ ग्राह्या वस्त्वनुसारतः भवता निर्वाहस्तैर्भविष्यति विवादो न कार्यः ततः पिता मृतः तस्यौर्ध्वदेहिक कृत त्रयोदशे दिने चत्वारः कलशा कर्षिता. यावदुद्घाटयन्ति तावत्प्रथमे कुम्भे कनकम्[1] । द्वितीये मृत्स्ना[2] । तृतीये[3] बुस । चतुर्थेऽस्थीनि[4] दृष्टानि तै., ज्यायसा साकं सर्वे विवदन्तस्ततः कनकलोभात् । ते भूपस्याग्रे गता. स्वं स्वं सम्बन्ध प्रोचु', केनापि विवादो न भग्न । ततस्ते ग्रामे पुरे पृच्छन्त प्रतिष्ठानपुरे गता' । तत्रापि यदा भूपादिभिर्न केनापि तेषा विवादो भग्न । तदा बाल्यावस्थाया शातवाहनबालकस्तेषा विवाद बभञ्जेति—यस्मै पित्रा कनककलशो ददे । स कनकस्वामी भवतु ।१। यस्मै मृत्स्नाकलशो ददे पित्रा, स क्षेत्रकेदारान् गृह्णातु ।२। यस्मै बुस स कणस्वामी ।३। यस्मै अस्थीनि स पशून् गृह्णातु ।४। ततः सर्वे स्वपुरे गता' पितृदत्तविभवेन सुखिनो जाता ।

इति बुद्धौ शातवाहनभूपसम्बन्धः ॥४९८॥

[499] अथ भोजजन्मपत्रिकासम्बन्धः ।

सिन्धुलभूपस्य यदा पुत्रोऽभूत् तदा जन्मपत्री वर्त्तिता, एवं—

पभणइ मुञ्ज मृणालवइ जुव्वण गयूं मझूरिजइ ।
जइ सकरसयखंडि [वातोइ] कियतोइ जि मिट्ठीभूरि [चूरि] ॥२॥

एव प्रोक्ते मुंज चलन तया ज्ञातं तया च भ्रातुः पार्श्वे प्रोक्तं । तैलपदेवस्ततो रुष्टो मुंजं शूलायां क्षेपयितुं पुरमध्ये भ्रामयामास गृहे गृहे भिक्षा याचते मुंजः कौटुम्बिकगृहे नीतः । कौटुम्बिक प्रियया प्रोक्तं भिक्षाऽधुना कुतो दीयते । ततो मुजः प्राह—

धणवंती मम गव्वकरि [परकरिय रुआइं] पिख्क विपदू दुरुआइं ।
चउदसइं छहुत्तारां मुञ्जह गयागयाइं ॥ ३ ॥

तयोक्तं—

च्यारि वइल्ला धेनु दोइ मिठाबोली नारि ।
काहुं मुञ्ज कुटुम्बीह, गयवर बाऊइं बारि ॥४॥

ततो मुंजो[ऽ]वग्—

गयगयरहगयतुरयगय [मेय] पायकडानि भिच ।
सग्गाट्ठियकरि [१]भामणउं महंता रुद्दा इव ॥५॥

यतो रुद्रादित्येन वारितोऽहं तैलपं जेतुं चलितः । तत्कथितमपि न कृतं । ततो मुंजः प्राह स्त्रियां विश्वासो न कार्यः ।

सउ चित्तह सट्ठी मणह पंचासडाहि आइं ।
[२]अम्मीतेन रटद्सीजे वीससी आती असती आह ॥६॥

झोली त्रुटिवि किं न मूंउ किं नवि [हणउ ठार] हूउ वारह पुंज !
घरि घरि मुञ्ज भमाडीइ जिम—मंकडा—तिम—मुञ्ज ॥७॥

शूलाक्षिपावसरे प्राह—

लक्ष्मीर्यास्यति गोविंदे वीरश्रीर्वीरवेश्मनि।
गते मुञ्जे यशःपुञ्जे [३]निराधारा सरस्वती ॥८॥

इतरजनवाक्यानि—

छंडिवि पिम्म गहिल्लपिअ जे दास हि रच्चंति ।
ते मुंजाल नरिंद जिम परभव घणा सहंति ॥९॥

चित्त विसाय न आणीइ रयणायर गुणमुञ्ज ।
जिम जिम वायइ [चपऽइ] विविहि पडह तिम तिम [निमंचिइ] नचइ मुञ्ज ॥१०॥

१. भंतणओ । २. अम्हे वे नरढाढसीये, वीससिया त्रियाहं । ३ निरालम्बा ।

मुञ्जः प्राह—

अट्ठोत्तर सुबुद्धिडी रावण तणइ कपालि ।
एकबुद्धि न सांपडी लंका भंजणकालि ॥११॥

इत्यादि पराभवपूर्वं मुञ्ज' शूलायां क्षिप्त । ततो भोजो मुञ्ज मारित श्रुत्वा अतीव दुःखी जात । ततो मंत्रिभिः शोक उत्तारित । ततो राज्ये नोपविशति भोज । ततो मन्त्रिभिर्बलात्मुञ्जपदे भोज उपवेशित. ।

इति मुञ्जमरणस्वरूपभोजराज्यप्राप्तिसम्बन्धः ॥५००॥

[501] अथ पद्यद्वयपठन भोजसम्बन्धः ।

एकदा एको विप्रः पुराद्बहिर्देहवि[चिं]तायै, गतः । तदा एको वृषः शंडो वृक्ष स्कन्धेन घर्षयति । पुन कर्णौ उत्पाट्य विलोकयति च तदा विप्रेणोक्तम् घसइ घसावइ किं रे मारिसि, कान टहरी टहरी जोइ छइ किं नासिसिरे । एतच्छ्रुत्वा शंडो नष्ट । तत स विप्र स्वकृत पद्-द्वयं भूपाग्रे प्राह शंडागमन च । ततो राज्ञा सहस्र द्रम्माणां दत्वा तस्मै तस्मात् पदद्वयं गृहीतं अत्रान्तरे वैरिणा भूपेन नापितः कलावान् सुकुमालहस्तोऽङ्गमर्दनकुशलो भोजमारणाय प्रहितः स च भूपस्य मिलितः वयं तं मत्वा भूपेन रक्षित. भूपस्य शरीरे संवाहना करोति । एकदा राजा सुप्तस्तदा स मुहूर्तमेकं राज्ञ पदयो. सवाहनां कृत्वा भूप हन्तुं क्षुरक तेजयति पुनर्भूपस्य सम्मुखो भूत्वा कर्णौ दत्वा विलोकयति सचिन्तः । राजा त तथाविध कर्मकुर्वाण दृष्ट्वा प्राह—

"घसइ घसावइ किं मारिसि रे कान, टहरी टहरी जोइ छइ किं नासिसिरे ?"-एतदुक्तं भूपस्य श्रुत्वा स नापितश्चकित आत्मकृत्य ज्ञात विदन् भूपस्य पदोः पतित्वा प्राह-अहमभाग्यवान् यत्त्व हन्तु वांछितो मया, राज्ञोक्त किं त्वया हन्तुं वांछित अभय दत्त ? तत स नापितः प्राह अह चद्रभूपेन, त्वां हन्तु प्रेषित त्वयाह ज्ञातः । ततो राजा त विसर्ज्य तं वैरिण जिगाय ।

इति पद्यद्वयपठनभोजसम्बन्धः ॥५०१॥

[502] अथ स्त्रीचरित्रे भोजमोदकपरिवेषणसम्बन्धः ।

भोजस्य भूपस्य शतपत्नीषु एका पत्नी भोजाभीष्टापि गोविंदविप्रे लुब्धाऽभूत् । राज्ञान्यदा रात्रौ नक्तचर्यायां भ्रमता सा पत्नी अन्यपुरुषपार्श्वे सुप्ता दृष्टा । तदा अभिज्ञापनाय पडितस्य विप्रस्य वेणी छिन्ना शनैः, यतो अवध्यः । उन्निद्रः पण्डितो वेणीं छिन्ना वीक्ष्याचिन्तयत् राज्ञाहं ज्ञातः परमभिज्ञानायेद कृत । ततः स तत्क्षणादुत्थाय सर्वेषां पण्डितानां वेणीं छिन्नवान् प्रातर्भूभुज सभायां सर्वे पण्डिताच्छिन्नवेणीका स्थगितशीर्षा राज्ञः पार्श्वेऽभ्येत्याशीर्वाद ददुः । राजा तु सर्वेषां वेणींच्छिन्ना वीक्ष्य सम्यग् निश्चय न चक्रे । ततः कौतुकीनृपः सर्वान् पण्डितान् न्यमन्त्रयत्

सर्वे जेमितुमुपविष्टा । राज्ञीं प्रति प्राह मोदकाम् परिवेपय पच पंच । ततः सा मोदकान् परिवेषयन्ती स्वाभीष्ट पण्डितभाजने दश मोदकान् मुमोच । ततो बुधोऽवग्—

पंच पंच प्रदीयन्ते किमत्र दश मोदकाः ।
भोजराजो न जानासि स्त्रीचरित्रं न विश्वसेत् ॥१॥

ततो राजा ता पत्नीं तत्याज, पण्डितस्त्ववध्यो निजदेशात् कर्षितः ।

इति स्त्रीचरित्रे भोजमोदकपरिवेपणसम्बन्धः ॥५०२॥

[503] अथ मुग्धविप्रतारणे द्विजसम्बन्धः ।

मरुस्थल्यां एकस्मिन् ग्रामे उद्वाहे चतुरिकास्थाने कर्प्पासग्रहणाय कृतकोत्थलकचतुष्कं मंडापितं द्विजेन । वरकन्ये तत्रायाते यदा तयो परिणायितुं द्विज उपविष्टो गूर्ज्जरस्तदान्यस्तत्रागत । कौतुक तान्‍क्ष दृष्ट्वा प्रोवाच "आश्चय दृष्ट्वा [दृष्ट] क र्पासेवेत्रा" तदा तत्रस्थो द्विजो जगौ—"मौनं कर्त्तव्य अर्द्धो अर्द्ध स्वाहा" एवं प्रोच्य [प्रोक्त्वा] तयोर्वरकन्ययोः पाणिग्रहणं कारितं । ततो द्वाभ्या कृतं विसुभज्य गृहीतं ।

इति मुग्धविप्रतारणे द्विजसम्बन्धः ॥५०३॥

[504] अथ मालतीकुसुमं भातीत्यादि अधपदद्वयकरणसम्बन्धः ।

एकदा भोजराजा सपरिच्छदो बहिरुद्याने गतः । रसत मालतीपुष्पस्थितं शिलीमुखं वीक्ष्य भोजः प्राह—

[१]मालतीकुसुमं भाति मञ्जुगुंजन्मधुव्रतम् ।

भूपोक्त श्रुत्वा एको वृक्षान्तरस्थ पुमान् विज्ञः प्राह—

[२]पृथिव्यां पंच बाणस्य शंखमापूरयन्निव ॥१॥

प्रत्युत्तरपदद्वय श्रुत्वा राजा चमत्कृतः मेदिनीशः स्वावासं समागत । प्रभाते श्लोके सभाया कथिते सति पण्डितैः सर्वैं व्याख्यातः । तत सीता पडिता जगौ अग्रेतनपदद्वयमन्धेन कृत । राजा प्राह-हे पडिते ! त्वयैव कथ ज्ञायते ? सा प्राह-शङ्खस्य पूरण वक्त्राज्जायते गुंजारवस्तु पक्षिभ्यो जायते, द्विरेफाणां विज्ञोप्यधो नर एवं न वेत्ति यत ततस्तत्र गत्वा तस्य विज्ञस्यान्धस्य पार्श्वे प्राह राजा, "त्वया कृत पदद्वय दूषितं विद्यते' [विज्ञ प्राह] मत्कृत काव्यं रंडया विना कोऽपि न दूषयति । ततो विशेषतो राजा चमत्कृतो द्वयोरपि भूरिधन ददौ ।

इति मालतीकुसुमं भातीत्यादि अंधपदद्वयकरणसम्बन्धः ॥५०४॥

---

१ मालतीमुकुले भाति । २. प्रयाणे ।

[505] अथ दाने आपदर्थे धनं रक्षेदित्यादि सम्बन्ध ।

भोजभूप श्रियाश्चचलत्व वीक्ष्य यदा बहुदान ददन्नभूत् तदा रोहितो मन्त्री दध्यौ । राजा कोश धनरिक्त स्तोकदिनैः करिष्यति अत उपायेन वार्यते । ततश्चित्रशाला भारपट्टे रहः पद लिलेख—

"आपदर्थे धन रक्षेत्"—प्रभाते भूपः पद दृष्ट्वा मन्त्रिलिखित ज्ञात्वा तत्रैव लिलि[ले]ख—"भाग्यभाज क्व आपदा[द]" राज्ञा द्वितीयं पद लिखित ज्ञात्वा तृतीयपद तत्रैव पुनर्मन्त्रिणालिखित—"दैव हि कुप्यति क्वापि"–राजा तत्पदमपसार्य लिलेख—"सचितोऽपि विनश्यति" ।

ततो राज्ञो मनो दाने ससक्त ज्ञात्वा मन्त्री क्षमयामास [उक्तं च] त्व भाग्यवानसि यत एवं विध दाने मनस्तव । ततो राजा[हृ]ष्टो दानं दत्ते ।

इति दाने आपदर्थे धनं रक्षेदित्यादिसम्बन्धः ॥५०५॥

[506] अथ नष्टं नष्टं नष्टं नष्टमिति सम्बन्धः ।

एकदा भोजभूपसभाया समीपस्थवटशाखायामुपविश्य शुक प्राह—"नष्ट नष्ट नष्ट नष्ट" अस्य पदस्यार्थः सर्वेषां पण्डिताना पार्श्वे भूपेन पृष्ट. केनापि न ज्ञातो विलोकितोऽपि भृश । तच विद्वत् कुटुंबेनार्थः प्रोक्त इति । प्रथम द्विज. प्राह "(१) कुभोजनात् दिन नष्ट" । पत्नी प्राह "(२) भार्या नष्टा कुशीलिनी" । पुत्र प्राह "(३) कुपुत्रेण कुल नष्ट" । पुत्रपत्नी प्राह "(४) तन्नष्ट यन्न दीयते ।" ततो राजा विद्वद् कुटुम्बाय लक्ष ददौ ।

इति नष्टं नष्टं नष्टं नष्टमितिसम्बन्ध ॥५०५॥

[507] अथ भोजकृतदानार्थसम्बन्धः ।

दानेन सर्वं वशीभवति इति-ज्ञापनाय भोजनरेन्द्रोऽन्यदा आर्याचतुष्क रचयामास।

इदमंतरमुपकृतये, प्रकृतिचला यावदस्ति संपदियं ।
विपदि [१]नियतोदितायां, पुनरुपकर्तुं कुतोऽवसर ॥१॥

निजकरनिकरसमृद्ध्या धवलय भुवनानि पार्वणशशाङ्क ।
सुचिर हंत न सहते हतविधिरिह सुस्थितं कमपि ॥२॥

अयमवसरः सरस्ते सलिलैरुपकर्तुमर्थिनामनिश ।
इदमपि सुलभमंभो भवति पुरा जलधराभ्युदये ॥३॥

१. नियतोदयायां ।

कतिपयदिवसस्थायी पूरो दूरोन्नतोऽपि भविता ते ।
[1]तटिनी तटद्रुपातिनी–पातकमेकं चिरस्थायि ॥४॥

इति आर्याचतुष्टयं कंकणे लेखयित्वा सर्वे पण्डितानां हस्ते बंधयामास ।

यदनस्तमिते सूर्ये न दत्तं धनमर्थिनां ।
[ते] तद्धनं नैव जानामि, प्रातः कस्य भविष्यति ॥५॥

इति भोजकृतदानार्थसम्बन्धः ॥५०७॥

[508] अथ जानुदघ्नं श्रुतिदानसम्बन्धः ।

एकदा भोजराजा राजपाटिकायां वहिः क्रीडा कृत्वा नदी तीरे समागत. । उत्तीर्णं नदी–जल विप्र मस्तकदत्त काष्टभार वीक्ष्य प्राहेति—

—कियन्मात्र जल ? विप्र !

द्विज. प्राह प्रत्युत्तर––जानुदघ्नं नराधिप ।

राजाऽवग्—ईदृशी किमवस्था ते ? [कथं सेयमवस्था ते ?]

द्विजः प्राह—न सर्वत्र भवादृशा ।

तस्य चातुर्यं अवस्थां च दृष्ट्वा चमत्कृतो भूपो तस्मे धन दापयामास ।

लक्षं लक्षं पुनर्लक्ष, मत्ताश्च दश दंतिनः ।
दत्तं [श्री भोजराजेन] भोजेन तुष्टेन, जानुदघ्नप्रभाषिणे ॥२॥

इति जानुदघ्नं श्रुतिदानसम्बन्धः ॥५०८॥

[509] अथ "यदेतत् चन्द्रान्तर" इति काव्यसम्बन्धः ।

एकदा रात्रौ भोजराजा चन्द्रं दृष्ट्वा पपाठ—

यदेतत् चन्द्रान्तर्जलदलवलीलां प्रकुरुते ।
तदाचष्टे लोकः शशक इति नो मां प्रति तथा ॥१॥

तदा भूपगेह [अधोभूमौ] क्वनीवाला स्थितश्चौरो विज्ञो भूपोक्तपदद्वयं । श्रुत्वा प्राह:—

अहंत्विन्दु मन्ये, त्वदरिविरहाक्रान्ततरुणी—
कटाक्षोल्कापातव्रणशतकलंकाङ्कितततनुम् ? ॥२॥

श्रुत्वैतद् राजा चमत्कृतस्त स्तेनं धृत्वा चाभयदान दत्त्वा पप्रच्छ । कोऽसि त्वं किं स्तैन्यं कर्तुमायातः ? ततः स स्तेनो जगौ—अस्मिन् पुरे कृष्णविप्रपुत्रोऽहं चंद्राह्वः पित्रा सर्वाणि शास्त्राणि पाठित. परं गेहे तन्नास्ति यत् भुज्यते । तत सर्वं कुटुम्बं दु.खितं जातं ।

---

[1] तटद्रुम पातन पातकमेक ।

पञ्च नश्यन्ति पद्माक्षि ! क्षुधार्तस्य न संशयः ।
तेजो लज्जा मतिर्ज्ञानं मदनश्चापि पञ्चमः ॥३॥

तेन मयोदरपूर्तिहेतोश्चौर्यं कर्तुमारब्धं । राज्ञोक्तं त्वयातः परं स्तैन्य न कार्यं नरकहेतुम् । सोऽवग्—कुटुम्ब मरिष्यति मम । ततो नृपस्तस्मै दानं दापयामासेति ।

अमुष्मै चोराय प्रतिनिहितमृत्यै [१]प्रतिभिये,
प्रभुः प्रीतः प्रादादुपरितनपादद्वयकृते ।
सुवर्णानां कोटीर्दशदशनकोटिक्षतगिरीन्,
करीन्द्रानप्यष्टौ मदमुदितगुञ्जन् मधुलिहः ॥४॥

ततस्तेन स्तेनेन चौर्यकरणे नियमो गृहीतः । ततो राजा दानगर्वं दधानं ज्ञात्वा विक्रमार्कदानवहिकां दर्शयामास—

वक्त्राम्भोजे सरस्वत्यधिवसति सदा शोण एवाधरस्ते,
बाहुः काकुत्स्थवीर्यः स्मृतिकरणपटुर्दक्षिणस्ते समुद्रः ।
वाहिन्यः पार्श्वमेताः [२]क्वचिदपि भवतो नैव मुञ्चंत्यजस्र[३],
[४]स्वच्छान्तर्मानसं ते कथमवनिपते काम्बुपानाभिलापः ॥५॥

एतत् काव्यं कविपार्श्वे श्रुत्वा दानं ददौ तस्मै ।

श्रुत्वेतद् विक्रमादित्यस्तस्मै पंडितमौलये ।
माघायाष्टौ सुवर्णानां कोटिर्दापितवान् मुदा ॥६॥

एतत् दृष्ट्वा राजा गर्वं तत्याज ।

इति यदेतच्चंद्रांतरितिकाव्यदानसम्बन्धः ॥५०९॥

[510] अथ पुनर्हेमलक्षदानं शीतोद्धुषितदानसम्बन्धः ।

अन्यदा राजा रात्रौ शीतकपित नरं दृष्ट्वा प्रपच्छ किं कंपो विधीयते, स चाह—

शीतेनोद्धुषितस्य माषफलवच्चिंतार्णवे मज्जतः ।
[५]शीतोऽग्निः [६]स्फुटिताधरस्य धमतः क्षुत्क्षामकुक्षेर्मम ॥

१. मृत्युप्रतिभये । २ क्षणमपि । ३. अभीक्ष्णं । ४. स्वच्छेऽन्तर्मानसेऽस्मिन् कथमवनिपते तेऽम्बुपानाभिलाष । ५ शान्तोऽग्नि । ६ स्फुरिताधरस्य ।

निद्रा क्वाप्यपमानितेव दयिता सतज्य दूरंगता,
सत्पात्रप्रतिपादितेव कमला न[1] चीयते शर्वरी ॥१॥

श्रुत्वैतत्तस्मै हेमकोटीर्दश दापयामास राजा, स च प्राह—

धारयित्वा त्वयात्मानमहो त्यागधनाऽधुना ।
मोचिता बलिकर्णाद्याः सच्चेतो गुप्तिवेश्मनः ॥२॥

पुनर्हेमलक्षदानं शीतोद्धुपितदानसम्बन्धः ॥५१०॥

[511] अथ लक्षदाने रौरः सम्बन्धः ।

राजा राजमार्गे रौर कणान् विचिन्वन्तं वीक्ष्य भोजस्त प्रति प्राह—

नियं उअर पूरणंमि असमत्था किंपि तेहिं जाएहिं ।
[रौरोऽवग्—] सुसमत्था विहु, जे नय उवयारिणो तेहिं विन किंपि ॥१॥

भोजोऽवग्—

पर[प]त्थणा पवण्णं मा जणणि जणेसु एरिसं पुरिसं [पुत्तं] ।
[रौरः प्राह-] मा ऊअरेसु धरिज्जसु[व] पत्थिअणं भंगो कओ जेहिं ॥२॥

[ततः प्रसन्नीभूतेन भोजेन तस्मै लक्षदानं ददौ ।]

इति लक्षदाने रौरसम्बन्धः ॥५११॥

[512] अथ अंबा तुष्यति श्लोकसम्बन्धः ।

एकदा भूपः गृहे कुटुम्बं कलहं कुर्वाणं दृष्ट्वा पप्रच्छ-किमेवं कलिः क्रियते । तदा स प्राह—

अंबा तुष्यति न मया न स्नुषया साऽपि नांबया न मया ।
अहमपि न न वद राजन् कस्य दोषोऽयं ॥१॥

ततो र कलिस्वरूपं पृष्ट, सो —भीमो विप्रः भीमा पत्नी तयोरहं : : । पत्नी पद्मा, परं गृहे दारिद्रं, तेन धनाभावात् सदा कलहो भवति अतो न तुष्यति न इत्यादि । ततो राजा "अंबा तुष्यति" श्लोककथकाय लक्षदानं [ददौ] ।

इति तुष्यति श्लोकसम्बन्धः ॥५१२॥

---

१. नो ।

[513] अथ माणुसडां दस दस हवइ सम्बन्धः ।

एकदा राजा एका स्त्रिय दु खिनीं दु:स्थौ दृष्ट्वा प्राह—किमीदृशी अवस्था ? लक्ष्मीर्न ते ? सा प्राह—

१माणुसडां दस दस हवइ देवेहिं निम्मिवी [दी] आइ ।
मज्झकं तेह एकहि दसा, नव चोरे हरी आइं ॥१॥

ततो राजा बीजपूरमध्ये लक्ष्यमूल्यरत्नद्वय क्षिप्त्वा तस्यै दापयामास । तया ध्यातमनेन भक्षितेन किं, विक्रीय धान्यमानीयते । ततो वणिजे ददे, तेन च सार्थवाहाय, सोऽपि प्राभृतीचकार भूपाय । भूपो बीजपूरमुपलक्ष्य प्राह—

हेला महल्ल कल्लोल पिल्लिअं जइवि गिरिनई पत्तं ।
अणुसरइ मग्गलग्गं पुणोवि रयणायरे लग्गं ॥२॥

ततो राजा तां स्त्रियमाकार्य रत्नव्यतिकर कथयित्वा प्राह—

यच्च त्वयोक्त 'मम भर्त्तुरेकैव दशा' सत्या बीजपूरमध्ये रत्नादर्शनात् । ततो राज्ञा बहुधनं कृपया दापितं ।

इति माणुसडां दस दस हवइ इति संबंध ॥५१३॥

[514] अथ क्रीडाचंद्रछान्दसब्राह्मणागमनसम्बन्धः ।

एकदा परदेशात् क्रीडाचन्द्रकविर्भोजस्य मिलनायागात् । राजा सभायामुपविष्ट. । पण्डिताः सर्वे मिलिताः । क्रीडाचन्द्रकविस्तत्रागतः । आशीर्वाद ददौ—

बल्यरिक्रत्वरी पातां सांबु व्यम्बु घनोपमौ ।
सदृशौ काकपकाभ्यां तवैहतु तवैह तु ॥१॥

बले अरिः कृष्णः इति बल्यरि । क्रतोः अरिः इति क्रत्वरि (शकरः) । बल्यरिश्च क्रत्वरिश्च इति बल्यरिक्रत्वरी (कृष्णशकरौ) अम्बुना सहितः सदृशो वा इति साम्बु । विगतं अम्बुः इति व्यम्बुः । सांबुव्यम्बुश्चासौ घनश्च इति साम्बुव्यम्बुघन., तदिव उपमा ययोस्तौ तवैहतु (तवेप्सितं) । ततो मुख्यपण्डितोऽवग् वर्षाकालो वर्ण्यताम्—

वर्षाकाले प्रणाले खलह [ख] लमुदकं याति खाले विशाले ।
चिक्खिल्ले लिप्सयित्वा खडहडपडीओ लंच२ गुड्डो मणुस्सो ॥
चुल्लीं गेहस्स३ मज्झे खर खर खनते कुर्कुरो घुघुरंतो ।
सुन्नागारस्स मज्झे टहरित करणो रासभो रारटीति ॥२॥

---

१ माणुसडां दस दस दसा सुणियइ, लोयपसिद्ध, मह कन्तह इक्क ज दसा अवरि ते चोरहिं लिद्ध।
२ लवगुडो मनुष्य । ३ गेहस्य मध्ये ।

ततस्तै पंडितैरुक्तं सीता पंडिता वर्ण्यतां, ततः क्रीडाचंद्रेण वर्णितेति। सीता पंडिता—

सीता सुरूपा तरुणी–रुणी–रुणी,
मुखं च चंद्र–प्रतिमं–˜ ˙–तिमं ।
स्तनौ च पीनौ कठिनौ–ठिनौ–ठिनौ,
कटिर्विशाला–रभसा– – ॥३॥

ततो हसितं सर्वैरहो कवित्वमस्य.। ततः पुनः क्रीडाचंद्रस्तेषां मदोत्तारणाय आशीर्वादं ।

च्युतां चान्द्रीं ले ˙ रतिकलहभग्नं च वलयं,
द्वयं चन्द्रीकृत्य प्रहसितमुखी शैलतनया ।
अवोचद्यं पश्येत्यवतु स शिवः सा च गिरिजा,
स च क्रीडाचन्द्रो दशनकिरणापूरिततनुः ॥४॥

ततो नृपेण दत्ते सिंहासने क्रीडाचन्द्रोपवेशाय, पडिताः प्रोचुरस्य भूमिरेव दीयतामुपवेशाय। ततः क्रीडाचन्द्रोऽवग्—

इह निवसति मेरुः शेखरो भूधराणा—
मिह [हि निहितभारा] निवसति लोकः सागराः सप्त चैते,
इदमतुलमनंतं भूतलं भूरि भूभृत् ।
भर भरण थं स्थानमस्मद्विधानाम् ॥५॥

ततः सर्वे चमत्कृताः । तत. पुनरपि वर्षावर्णनं दत्त, स चाह—

नृत्यद्बर्हिषि दुर्दरारवपुषि प्रक्षीणपांथायुषि,
चंचद्विप्रुषि [च्योतद्विप्रुषि] चन्द्ररुग्मुषि सखे हंसद्विपि प्रावृषि ।
मा मा मुंच कुचाग्रसन्ततपतद् बाष्पाकुलां१ [विगलद्बाष्पाकुला] व कां,
काले कालकरालनीलजलदव्याप्तसूर्यत्विषि भास्वत्त्विषि] ॥६॥

तदा पण्डितैरुत्तरार्द्धं दूषितं । ततस्तेनार्थः सम्यग् व्याख्यातः । पुनः वर्षा वर्णिताः—

दिशां हाराकाराः शमितशमभारा [श्र शमिना] इव मुने,—
रशुची संचारा कृतमदविकाराश्च शिखिनां ।

---

१ विगलद्बाष्पाकुला । २ भास्वत्त्विषि ।

हृताध्वव्यापारास्तुहिनकणसारा विरहिणी,

मनः कीर्णांगाराः किरति रा जलधरः ॥७॥

ततः क्रीडाचन्द्रः सर्वाणि काव्यानि व्याख्यायामास। राजा चमत्कृतः भूरि दानं ददौ। क्रीडाचन्द्रं कवि मान्यमानं दृष्ट्वा वेदविदो विप्रा ईर्ष्यापराः क्रीडाचन्द्र जेतुं रे ः। यतः—

ा ग वेश्याः, सारमेयास्तपोधनाः।

परस्परं विरुद्धयन्ति, न जाने तत्र कारणं ॥८॥

ततः प्रतीहारो द्विजानामागमनं भूपपार्श्वे प्राहेति—

राजमाषनिभैर्दन्तैः कटिविन्यस्तपाणयः।

तिष्ठन्ति द्वारि राजेन्द्र छांदसा श्लोकशत्रवः ॥९॥

राज्ञाकारिताः सभामध्ये समागताः। भूपोऽवग्–वर्ण्यतां चन्द्रोदयः। ते जगुश्चिरं विमृश्येति—

चन्द्रोदयस्य माहात्म्यं, वर्ण्यते किमतः परं।

श्रोत्रियोऽपि दिवा भ्रान्त्या, मूत्रयत्युत्तरामुखं ॥१०॥

ततो द्वितीयेन्दुर्वर्णितुमर्पितः ततस्ते चिरं परस्परं कर्णयोर्लगित्वा लगित्वा प्रोचुः—

अयं चंदो वट्टुलउ मंडकाकारसुन्दर.।

सोहेइ मणं मोहइ अम्हं तुम्हं न संदेहो ॥११॥

सभा हसिता। ततो राजाऽवग् यूयं मुधा विज्ञानामुपरि गर्वं तनुतां, भवतां वेदभणनेऽधिकारः, ततः कृपया दानं दत्त तदा क्रीडाचन्द्रो भूपोक्तमश्वं वर्णयामास।

पादाः कन्दुकवत् स्थितिश्च गिरिवत्, संस्फालनं सिंहवत्।

नेत्रे नीरजवत्, जवः पवनवत्, हेषारवो मेघवत् ॥

विन्यासस्तटवत् मुख कुलवधूवक्त्रेंदुवत् वाजिनः।

क्षोणीशस्य यशस्त्वमेव नृपते, साम्राज्यमुर्वीपतेः ॥१२॥

इति क्रीडाचंद्रछांदस ब्राह्मणागमनसम्बन्धः ॥५१४॥

[515] अथ विद्वत्कुटुम्बसम्बन्धः।

विद्वत्कुटुम्बक स्वस्थानात् भोजपार्श्वे गन्तु मार्गे चचाल यदा तदैको बुध. प्राह मिथ।

विद्वन् वद क्व चलितोऽसि समग्रविद्या,
पारंगमं कलयितुं किल भोजराजं ।
वेत्त्यक्षराणि न हि वाचयितुं स राजा,
मह्यं ललाटलिखितादधिकं ददौ यः

ततो हृष्टं अवन्तीसमीपे गत। तत्र कुटुंबं मुक्त्वा पुरीमध्ये गन्तु विद्वान् चचाल। रजकं वस्त्र क्षालयन्तं प्रति प्राह स.—अस्मिन् पुरे का का वार्ता, कीदृक् पुरं विद्यते, स रजको जगौ।

अश्वा वहन्ति भवनानि सतोरणानि, गावश्चरन्ति कमलानि सकेसराणि ।
पीतं[1] दधिर्नास्ति तिलेषु तैलं, प्रासादशृंगेषु[2] मृगाश्चरन्ति ॥१॥

विद्वान् दध्यौ रजकोऽपि विज्ञ ततोऽग्रे पुरद्वारे बालिका पृष्टा तेन, त्वं कस्य पुत्री ? साऽवग्—

मृतका यत्र जीवंति निःश्वसंति गतायुषः ।
स्वगोत्रे कलहो यत्र तस्याहं कुलबालिका ॥२॥

(लोहकार-पुत्री)

ततो दक्षिणद्वारे बालिकैका मिलिता पृष्टा तेन, त्वं कस्य पुत्री, सा प्राह—

पर्वताग्रे रथो याति भूमौ तिष्ठति सारथिः ।
चलते वायुवेगेन तस्याहं कुलबालिका ॥३॥

(कुम्भकार-पुत्री)

स चमत्कृतः पश्चिमद्वारे पूर्ववद् बालिका पृष्टाऽवग्—

सस्नेहा यत्र निस्नेहा भ्रमंति भ्रमवर्जिताः ।
त एव स्नेहदा लोके तस्याहं कुलबालिका ॥४॥

(चाक्रिकस्य—रथकारस्य पुत्री)

उत्तरदिक् बालिका पृष्टा घटे किमस्ति—

मदः प्रमादः कलहोऽतिनिद्रा, विवेकविज्ञानकलाक्षयश्च ।
महत्त्वकीर्तिच्युतिरर्थनाशो, ऽसत्यं दोषगणो घटेऽस्मिन् ॥५॥

(मदिरा[3])

१. पीतं च यत्र दधि, (२) प्रासादवारशिखरेषु ।

३ विहिता निर्विषा नागा, देवा शक्तिविवर्जिता । द्रुमाच्छायाविहीनाश्च, तस्याहं कुलबालिका । (असि-पुत्री) ग्रीवा नास्ति, शिरो नास्ति, हस्तौ कार्यविवर्जितौ । स जीवो मानुषं खादेत्, तस्याहं कुलबालिका (किंपाक-फलम्) इत्यपि क्वचित् ।

एवं स्थाने स्थाने बुधान् जनान् वीक्ष्य सायं बुधः स्वकुटुम्बपार्श्वे समागात्, रात्रौ वाटिकायां स्थितो, वाटिकां पल्लविता दृष्ट्वा मालिको हृष्टो भूपपार्श्वे विद्वत् कुटुम्बागमनं प्राह। ततो राज्ञा स्व पंडित विद्वत्कुटुम्बपरीक्षार्थं प्रेषयामास। स च भिक्षुर्भूत्वा तत्र गत्वा प्राह—

भिक्षां मे पथिकाय देहि सुभगे [पुत्रपत्नी प्राह] हा हा गिरो निष्फलाः।
[भिक्षुः प्राह] कस्माद् ब्रूहि सखे [विप्रपत्नी प्राह] प्रसूतकमभूत् [भिक्षुःजगौ] कालः कियान् वर्तते॥
[पुत्रोऽवग्] मासः, [भिक्षुः प्राह] शुद्धिरभूत [पत्न्योक्त] न शुद्धयति विभो प्रोद्भूतमृत्यु विना।
[भिक्षुः प्राह] को जातो [तयोक्त] मम सर्ववित्तहरणो दारिद्रनामा सुतः ॥६॥

भिक्षुश्चमत्कृतोऽवग् भो पण्डित! तव कुटुम्ब विद्वत्, शेषाः परपरिग्रहा गोशतादपि गौक्षीरं, मानं मूढशतादपि मन्दिरे मचकस्थान शेषा [पण]।

ततः स भूपपंडित. प्रकटीभूय प्रशशंस। अहं युष्माकं परीक्षा कर्तुमागां ततो विद्वत्कुटुंब भूपतेर्मेलित भूपतिस्तेषां वचनाद् हृष्ट प्राह अस्य वासाय गृहं दाप्यतां। तव स भूपभृत्यो विद्वत् कुटुम्बवसनाय प्रथम लुब्धकगृहे गत्वा लुब्धकपत्न्या अग्रे प्राह—यूयमन्यत्र वसथ, अत्र विद्वत् कुटुम्ब स्थास्यति। लुब्धकपत्नी-एतदेव विद्वत् कुटुंब विद्यते? अहमपि वक्तु जानामि। ततः सा मांसपिण्ड हस्ते लात्वा भूपपार्श्वे गता। प्रत्युत्तररूप काव्य जिजल्पिषुरवादीत्—

देव! त्वं जय कासि लुब्धकवधूर्हस्ते किमास्ते[1] पलं।
क्षामं किं सहजं ब्रवीमि नृपते यद्यस्ति ते कौतुकं॥
गायंति त्वदरिप्रियाश्रुतटिनी-तीरेषु सिद्धांगना।
गीतान्धा न चरंति भोजहरिणास्तेनामिषं दुर्वलं ॥७॥

ततस्तंतुवायगृहदापित तंतुवायोऽपि—

काव्यं करोमि न च चारुतरं करोमि,
यत्नत्करोमि न च[2] शुध्यति किं करोमि, ।
भूपालमौलिमणि[3]चुम्बितपादपीठ,
[4]श्रीभोजराज मि मि यामि ॥८॥

ततो राज्ञोक्तमन्यद् गृहं दीयतां पण्डितोऽवग् पुरमध्ये सर्वे विद्वास एव विद्यन्ते। अत्रान्तरे एको विप्रः प्राह—एतद् विद्वत्कुटुम्बकं न वेत्ति किमपि, यतः—

---

१. किमेतत् । २. सिर्म्यति, ३. लालित, ४ श्री साहसाङ्क,

ब्राह्मणजातिरनीर्ष्यालुर्वणिग्जातिरवंचकः ।
प्रियाजातिरनीर्ष्यालुः शरीरी च निरामयः ॥९॥

ततः "स्त्रीपुंवच" प्रभवतीत्यादिजल्पकदेवताधिष्ठितं गृहं शून्यं तस्य वा दत्तं । यदा स तत्र गत्वा रात्रौ स्थितो बुधः यक्षः प्रत्युत्तरप्रदानाय काव्यस्य आद्य प्राह—

स्त्री पुंवच ! प्रभवति यदा [1]तस्य गेहं विनष्टं ।
वृद्धो यूना ! सह परिचयात् त्यज्यते कामिनीभिः ॥
सर्वस्य द्वे ! सुमतिकुमती[2] पूर्वकर्मानुचीर्ण्णे ।
एको गोत्रे ! स भवतु पुमान् यः कुटुम्बं बिभर्ति ॥१०॥

चतुर्षु प्रहरेषु काव्यं निष्पन्नं । यक्षो हृष्टस्तद्गृहं तत्याज । विद्वत्कुटुम्बं तत्रो इत्यादि विद्वत्कुटुम्बसम्बन्धः ॥५१५॥

[516] अथ नवीनधारा स्थापनसम्बन्धः ।

एकदा भोजो नवीन पुर स्थापयितुं वर्यां भूमिं ज्ञातुं पटह वादयामास । एका धारावेश्या पटहं स्पृष्ट्वा यानमारुह्य लंकायां गत्वा लकास्थितिं विलोक्य पश्चादागत्य प्राह—यदि मन्नाम दीयते तदाहं शूरा भूमिं दर्शयामि । ततो राज्ञा मानिते तया भूमि दर्शिता । तत्र वेश्या नाम्ना नवीन धारा स्थापिता वासिता भूपेन । इति नवीनधारास्थापनसम्बन्धः ॥५१६॥

[517] अथ एकेन बुडतीति सम्बन्धः ।

एकदा भोजसभायां एकः पुमान् आयात । स पृष्टः किं त्वय दृष्टं ? स प्राह कांतीपुर्यां एकेन महेभ्येन महत्सरः कारितं, वारिणा भृतं, एकं मस्तकं जलान्निर्गच्छति वक्ति च एकेन ब्रूडति । ततो राज्ञा पृष्टाः पंडिताः अर्थं न जानन्ति । ततो दूरे भ्रमन्नेकः पण्डितो मरुस्थल्यां गतः । तत्रैकस्मिन् ग्रामे वृद्ध पु[सो]मिलितस्तस्याग्रे वार्त्ता कथिता । स प्राह एष श्वानो गृह्यतां तव लक्षद्रम्मान् दापयामि । तत. स द्विजोऽनिश स्नानकारी त श्वानं स्कन्धे वहति तत्र पुरे समायात । ततो भूपेन स (पण्डितः) पृष्ट. वृद्ध. प्राह—लोभेनैकेन ब्रूडति । राज्ञोक्तं कथं सोऽवग धनलोभेनानेन ः स्कन्धे व्यूढ. । ततो मस्तकं गतं राज्ञ समीपात् लक्षं दापितं वृद्धेन तस्मै ।इति एकेन ब्रूडतीत सम्बन्धः ॥५१७॥

[518] अथ माघसम्बन्धः ।

श्रीमाघपुरे मुकुन्दपण्डितस्य पुत्रोऽभूत् । जन्मोत्सवं कृत्वा वर्षशतमायुर्ज्ञात्वा षट्त्रिंशति सहस्राणि दिनानि ज्ञात्वा तावत्संख्यानि नाणकहारकानि पुत्रस्यार्थे कृतानि दिनं प्रत्येक हारं

१ वद्धि २ सपदा पत्तिहेतू ।

व्ययिष्यति । ततः पितरि मृते स सशिख द्वार व्ययन् वृद्धत्वे दरिद्रयभूत् स माघपण्डितः एकं काव्यं भोजराजपार्श्वेऽप्रैषीत्—

कुमुद्वनमपश्रि श्रीमदंभोजखण्डं, त्यजति [1]मदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः ।
उदयमहिमरश्मिर्याति शीतांशुरस्तं, हतविधिललितानां ही विचित्रो विपाकः ॥६॥

अस्य काव्यश्रुतेर्भोजो नवनवतिलक्षान् ददौ । तदपि माघऔदार्यत्वाद् ददौ ।

इति माघसम्बन्धः ॥५१८॥

[519] अथ धनपालश्राद्धभवनसम्बन्धः ।

अवन्त्यां लक्ष्मीधरविप्रस्य द्वौ पुत्रौ जातौ । एको धनपालो द्वितीयः शोभनः । एकदा तस्य गृहे न्यस्तो निधिर्बहुविलोकितो न लभते, तदा गुरुपार्श्वे निध्यप्राप्तिस्वरूप कथित लक्ष्मीधरेण । यदि मे निधिर्लभ्यते तदाहमेकस्य पुत्रस्य दीक्षां दापयामि । ततो गुरुणा दर्शितो निधिः । ततः शोभनस्य दीक्षा दापिता । शोभनो विद्वान् जातः क्रमात् पितरि मृते धनपालः पचशतपडित-मध्ये मुख्योऽजनि । स्व भ्रातर गुरुणा दीक्षित श्रुत्वा मिथ्यात्वग्रसितः साधून् पराभवति । ततः साधवस्तत्र अवत्यां पुरि न यान्ति ।

इतः एकस्मिन् पुरे गुरव आगतास्तदा गुरवः साधून् तीर्थं च स्मारयन्ति । अवती नाम न गृह्णन्ति । तदा शोभनोऽवग् अवन्त्या कथ नागतं ? गुरुभिः प्रोक्त-तव भ्राता दुष्टः साधूना पराभव करोति । ततः शोभनो गुरूनापृच्छ्य अवन्त्या स्वभ्रातुः प्रबोधायाचालीत् ।

ततोऽवन्त्या द्वारे यावन्गतः तावद् धनपालः सम्मुखो मिलितः । धनपालो हास्यात्प्राह, "गर्दभदत भदत नमस्ते ।" साधु प्राह-मर्कटकास्यवयस्य ? सुख ते । ततश्चातुरीं ज्ञात्वा धनपालोऽवग्, कस्य प्राघूर्णिकः ? साधु प्राह, तवैव । ततः स्वगृहे उत्तारित धनपालेन गोष्ठि कृता । शोभनवचसा प्रीणितोऽवग्—तव काप्यस्ति सांसारिक वर्गः । साधु प्राहात्रैव । ततो धनपालेनोपलक्षितो भ्राता गृहे विहर्तुमाकारयन् मोदका आनीता यदा तदा साधुना कस्मान्मक्षिका मृता दृष्टा, ततः प्रोक्त, न कल्पन्तेऽमी । धनपालोऽवग् विषमस्ति ? साधुनोक्त विषमत्र विद्यते । ततो ज्ञात परपरया वेरि-क्षिप्तं विष, दधि आनीत । साधु प्राह कियद्दिनीय । पडितोऽवग्, त्रिदिनीय ? इदमपि न कल्पते बुधोऽवग् अत्र किं जीवाः सन्ति ? ततः साधुना आलक्तकं प्रदानात् श्वेताः सूक्ष्मजीवा दर्शिता । ततोऽन्यद् प्रासुक आहार ददौ । बुधो दध्यौ मया ग्रन्था बहवो भणिताः पर न ज्ञाता जीवाः कुत्रोत्पद्यन्ते । स धनपाल श्राद्धोऽभूत्सम्यक्त्वं जग्राह । तदा शोभनभ्रातुः पार्श्वे शोभनपण्डित-कृताः शोभनस्तुत्यादिग्रन्थाबहवोऽन्ये च सिद्धान्ताद्याश्रिता ग्रन्था धनपालेन पेठे । ततो जैनधर्म-स्वरूपमवगत्य जय जंतुकप्पपायवेत्यादि बहवो ग्रन्था धनपालेन चक्रिरे ।

इति धनपालश्राद्धभवनसम्बन्धः ॥५१९॥

---

१ मुद

[520] अथ धनपालपंचाशिकादिग्रन्थान् बबन्ध इति सम्बन्धः ।

क्रमाद् राज्ञा धनपाल श्रावको जातो ज्ञातस्तत्परीक्षणार्थं पुष्पभृतां छब्वा ददौ धनपालहस्ते, प्राह च देवान् सर्वान् पूजय। स च सर्वान् प्रपूज्य समागत. । राज्ञा पृष्टं, देवाः पूजिताः। धनपाल प्राह, यत्रावसरोऽभूत् तत्र देवाः पूजिताः । राजावग् अवसर' कुत्राऽभूत् कुत्र न ? ततः स प्राह कृष्णपार्श्वे पत्नीं दृष्ट्वा शंभोः पार्श्वे पार्वतीं, सूर्यपार्श्वे सावित्रीं, ब्रह्महस्ते जपमालां दृष्ट्वा ऋषभदेवं तु स्त्र्यादिरहित दृष्ट्वाहमपूजयम्, ततो राज्ञा ज्ञात धनपालः श्राद्धोऽभूत् । ततः प्रभुं पूजयित्वा धनपालः पठति ।

कतिपयपुरस्वामी कायव्ययैरपि दुर्ग्रहो, मतिवितरता मोहेनासौ मयानुसृतः पुरा ।
[१]त्रिभुवनगुरुर्बुद्ध्याराध्योऽधुना स्वपदप्रदः प्रभुरधिगतस्तत्प्राचीनो दुनोति दिनव्ययः ॥१॥

सव्वत्थ अत्थि धम्मो [२]जाव न पत्तं जिणिंदसासणं ।
कणगाउराण कणगं व ससियपयं अलभमाणाणं ॥२॥

ततो धनपालः सर्वमिथ्यात्वं त्यक्त्वा जिनधर्मं चक्रे ।

इति धनपालपंचाशिकादिग्रन्थान् बबन्ध ॥५२०॥

[521] अथ हरिणवध–सरोवरवर्णन–यज्ञछागवर्णन धनपालसम्बन्धः ।

अन्यदा भोजभूप पचशतीपण्डितयुत पापर्द्धिगत. तत्र एकं हरिणं एकेन बाणेन हतवान् राजा । तत. पण्डितै. सर्वै राजा वर्णित । धनपालस्तदा प्राह—

रसातलं यातु यदत्र पौरुषं, कुनीतिरेषाऽशरणो ह्यदोषवान् ।
निहन्यते यद् बलिनापि [ति] दुर्बलो, हहा महाकष्टमराजकं जगत् ॥१॥

राजा रुष्टः पण्डितस्य दृष्टौ दृष्टिं ददौ । ततो राजा तटाके गतस्तत्रापि तटाके वर्णितेऽन्य-पण्डितैः, धनपालः प्राह—

एषा तटाकमिषतो वत[वर]दानशाला, मत्स्यादयो रसवती प्रगुणा सदैव ।
पात्राणि यत्र बक–सारस–चक्रवाकाः, पुण्यं कियद्भवति तत्र वयं न विद्मः ॥२॥

तत्रापि द्वितीयदृष्टौ दृष्टिं ददौ । ततो यज्ञे एकश्छागो हन्तुमानीतोऽस्ति । स च ब्बू ब्बू करोति स्म । तदा सर्वैः पण्डितैः स वर्णितः । ततो राजाऽवग् पण्डितं । अयं किं कथयन्नस्ति ?
: प्राह—

---

(१) त्रिभुवनपतिः (२) जा मुणियं जिण न सासण तुम्ह ।

नाहं स्वर्गफलोपभोगरसिको नाभ्यर्थितस्त्वं मया,
संतुष्टस्तृणभक्षणेन सततं, साधो ! न युक्तं तव ।
स्वर्गे[र्गं] यान्ति यदि त्वया विनिहता यज्ञे ध्रुवं प्राणिनो,
यज्ञं किं न करोषि मातृपितृभिः पुत्रैस्तथा बान्धवैः ॥३॥

राजा विशेषतो रुष्टः धनपालस्य चक्षुषी कर्षयितु ध्यातवान् । धनपालः राज्ञः मनो जज्ञौ । राजा यावत्पुरद्वारे समागच्छति तावदेका वृद्धा नारी अथवा बालिकाहस्तविलग्ना- कम्पमाना सम्मुखी आगता । तदा राज्ञोक्तं भो पण्डिता ! इयं जरती वर्ण्यताम् । ततः स्वस्वबुद्धया पण्डितै- रन्यैर्वर्णितायां तस्यां भोजोक्तः धनपालः प्राह—

एषा अन्धा स्त्री तु पृच्छति, बालिका प्रत्युत्तरं दत्ते । राज्ञोक्तं किं पृच्छति स्त्री, बालिका किं वक्ति च, धनपालोऽपाठीत्—

किं नन्दी किं मुरारिः किमु रतिरमणः किं नलः किं कुवेरः,
किं वा विद्याधरोऽसौ किमुत सुरपतिः किं विधुः किं विधाता ।
नायं नायं न चायं न खलु न हि नवा नापि नाऽसौ न चैषः,
क्रीडां कर्तुं प्रवृत्तः स्वयमपि च हले भूपतिर्भोजदेवः

अमुं काव्यं श्रुत्वा भोजः प्रसन्नः प्राह, मार्गय । पण्डितः धनपालोऽवग्, दृष्टी देहि मामकीने मह्य । राजाऽवग् तव दृष्टी तव पार्श्वे स्तः । धनपालोऽवग् स्वामिंस्त्वया तु हरिणीवधे सरो- वरवर्णने च मम दृष्टी कर्षितु वाञ्छिते स्तः । ततो राजा हृष्टो दृष्टी दत्वा कोटिदानं ददौ, प्राह च न्यायेन त्वं सर्वज्ञपुत्रो जातः श्राद्धभवनात् ।

इति हरिणवध–सरोवरवर्णन–यज्ञछागवर्णन–धनपालसम्बन्धः ॥५२१॥

[522] अथ धनपालविरचिततिलकमंजरीसम्बन्धः ।

एकदा भोजभूपेन धनपालः पृष्टः तवाधुना किं वैयग्र्यं विद्यते ? पण्डित आचष्टे अधुना मया श्रीऋषभदेवचरित्रं वच्यते । तेन मम परिवारो [व्यग्रं] विद्यते ततो यदा क्रमात् पूर्णं चरित्रं जातं ततो राज्ञोक्तं वाचय ममाग्रे । ततो धनपालः प्रथमं प्रति भोजभूपाग्रे वाचयितुमुपविष्टः । तत्र चरित्रस्यार्थं शृण्वन्भोजोऽमृतमिव श्रुतपुटैः पिबन् दध्यौ—अस्य चरित्रस्यार्थरसो मा भूमौ पततु एवं ध्यात्वा पुस्तकस्याधः स्वर्णकच्चोलकं मडयामास राजा । चरित्रार्थरसं भूयः पिबन् दिनं निशामपि व्यतीतान् नैव जानाति, प्रीणितः सुधयेव तु संपूर्णं चरित्रं श्रुत्वा राजा जगौ— यदि अयोध्यानगरीस्थाने अवन्ती स्थाप्यते भरतचक्रिस्थाने मां स्थापय । शक्रावतारतीर्थस्थाने महाकालप्रासादं स्थापय, आदिदेवस्थाने ईश्वरं स्थापय तदायं ग्रन्थो वर्यो भवति स्वर्णं सुरभिवत् एवं चेत्त्वं कुरु तदा तुभ्यं कोटिस्वर्णस्य दीयते । श्रुत्वैतद् वचनं वज्राहत इव क्षणं भूत्वा जगौ धनपालः—

मेरुसर्षपयोः हंसकाकयो खरताक्ष्यर्योः । अस्त्यन्तरमवन्त्यादेरयोध्यादेश्च भूपतेः ॥१॥

एवं वदतस्तव जिह्वा त्रुटिता न ततो रोषेण प्राह पण्डितः—

दोमुहय निरक्खर लोहमईय नाराय तुज्झ किं भणिमो ।
गुञ्जाहि समं कणयं, तोलंतो किं न गओसि पायालं ॥२॥

इत्याद्युक्त्वोता प्रतिं वह्नौ चिक्षेप। ततो दूनेन नृपेणोक्तं भो पण्डित किमिदक्षमविमृश्य त्वया कृतं एवंविधं चरित्रमिदानीं कोपि कर्तुं न शक्नोति । मया तु शिवभक्तेनैवं जल्पितं दृष्टिरागत्वात्, यत —

"दृष्टिरागस्तु पापीयान् दुरुच्छेदःसतामपि ।" त्व तु जैनधर्मज्ञोऽसि, तेन तव जैनमत रोचते पुनर्मयाऽऽसरो न ज्ञातोऽधुना कस्य किं रोचते । धनपालोऽवग् मया ध्यातं राजा तु सर्वतत्त्वज्ञो विद्यते । कथमेवं वक्ति अतो मम रोपो जातः । तेन रोषेणैव कृत मया रोष-चाण्डालः किं किं न करोति, यतः—

कोहो पीइं पणासेइ माणो विणय नासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ लोभो सव्वविणासणो ॥३॥

तत उत्थाय कृष्णमुखः स्वगृहे समागतः पण्डितः । पुत्र्या तिलकमंजर्या पृष्ट तात [1] किं दुःख, पित्रा प्रोक्तं स्वचेष्टितं मया तु रभसा प्रथमप्रतिर्वह्नौ क्षिप्ता रुपा, सहसा न विमृष्ट। पुत्री प्राह लिख्यता ग्रन्थः मम मुखे समेति । मया पूर्वमेकशो वाचितोऽभूत् । ततो हृष्टः पण्डितः पुत्रीमुखात्पुन. प्रतिलिखित्वा तस्य चरित्रस्य तिलकमंजरीति नाम दत्तं । ततः क्रमात् तिलकमंजर्या पडितपुत्र्या एकसंधिकया ग्रन्थः कथितः। पितुः पुरः एवं ज्ञात्वा भूपोऽपि जगौ साक्षात्सरस्वती सा या एव वेत्ति ततो राज्ञा द्वितीयनाम सरस्वतीति दत्तम् ।

इति धनपालविरचिततिलकमंजरीसम्बन्धः ॥५२२॥

[523] अथ "धर्मो जयति नाधर्म" इत्यादिसम्बन्धः ।

ततोऽन्यदा हृष्टो धनपालोऽन्यत्र ग्रामे गतः । अन्यदा भोजसभायां धर्मनामा पण्डितो विद्वान् विदेशात् वादं कर्तुं समागत. । स च पञ्चवर्गेण वादं कर्तुं प्रतिज्ञां चक्रे । य. सभायां विज्ञो भवति स मया सम वादं करोतु । यदा कोऽपि तेन सम वाद कर्तुं न शक्नोति तदा धनपालः स्मृतः । ततः स्वमुख्यमन्त्रिणं धनपालमाकारयितुं प्रेषित. । धनपालः सन्मान्य समानीतो भोजपार्श्वे । भोजेन मानितो बहुमानदानात्, प्रोक्त च यन्मया अवन्तीस्थाने अयोध्या स्थापयेत्यादि जल्पित तत् क्षम्यताम् । ततो मिथो द्वाभ्या क्षमित । सभायां धनपालधर्मपण्डितौ समागतौ, मिथः प्रथम कुशलालापादि कृतम् । ततो धनपालः प्राह आवाभ्या वादः करिष्यते, केन संस्कृतेन प्राकृतेन वा पचवर्गपरिहारेण पंचवर्गेण वा ? ततो धर्मो दध्यौ अधुना वक्तुं न युक्त, ततः प्राह कल्ये आवाभ्यां वाद. पंचवर्गेण करिष्यते । ततः स्वस्वस्थाने गतौ, रात्रौ धर्मो दध्यौ–धनपालस्य भारती तुष्टास्ति जैनग्रन्थस्यापि पठने अभ्यासोऽस्ति । तेन यदि वादे हारयिष्यते मया तदा

१ रुषेति ।

मम का गतिः। ततो रात्रावेव नष्टो धर्म्मः। प्रातः राजा सभायां वादं श्रोतुमागतः। धर्मं पण्डितं नष्टं श्रुत्वा धनपालोऽप्यागतः। यदा राज्ञा धर्ममाकारयितुं जनः प्रेषितः धर्म्मो न लब्धः, नष्टो ज्ञातः तदा धनपालः प्राह—

धर्मो जयति नाधर्म्म इत्यलीकं कृतं वचः।
इदं च सत्यतां नीतं धर्म्मस्य त्वरिता गतिः ॥१॥

ततो जयजयारावो जातः। धनपालागमनादेव धर्मपण्डितो नष्टः।

इति "धर्मो जयति नाधर्म" इत्यादिसम्बन्धः ॥५२३॥

[524] अथ चौरवलयदाने भोजसम्बन्धः।

एकदा भोजः कस्यचिद् द्विजस्य रोरस्य गृहसमीपे रात्रावेकाकी समागात्। तदा एकः स्तेनः तस्मिन् [गृहे] प्रविष्टः तदा ब्राह्मणी प्रबुद्धा पतिं प्रति प्राह—

वासः खण्डमिदं प्रयच्छ, यदि वा स्वाङ्के गृहाणात्मजं।
रिक्तं भूतलमत्र नाथ ! भवतः पार्श्वे पलालोच्चयः॥

दम्पत्योरिति संकथा निशि यदा चौरः प्रविष्टः तदा।
लब्धं [१]कार्पटमन्यतस्तदुपरि क्षिप्त्वा रुदन् निर्गतः ॥१॥

बहिरागतश्चौरः प्राहोच्चैः स्वरं ब्राह्मणं प्रति—निजउदरपूरणेऽपि हि न समर्था येऽवतारिता किं तैः। विप्रोऽवग्—सुसमर्थैरपि किं तैर्ये न परोपकारिणोऽत्र। ततः तस्मै तस्कराय राजा निजं वीरवलयं ददौ प्राह—इदं बहुमूल्यं कृपया मया तुभ्यं दत्तं यतः—

चौरस्य करुणं ज्ञात्वा भोजः प्रमुदितो निशि।
ददौ स वीरवलयं रयात् कुवलयेश्वरः ॥२॥

इति चौरवलयदाने भोजप्रबन्धः ॥५२४॥

[525] अथ खण्डप्रशस्तिकाव्यानयनसम्बन्धः।

एकः कोऽपि यानवाहकः समुद्रमध्ये यानारूढो चलत्, यानं स्खलितं। तत्रैका भित्तिर्दृष्टा, सा च लंकायाः। ततस्तत्रजलेऽपसरिते काव्यानि खण्डप्रशस्तिसम्बन्धीनि ददर्श। तथाहि—

मत्स्यः कूर्म्मो वराहश्च नारसिंहोऽथ वामनः।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्की च [ते] वै दश ॥१॥ इत्यादि

१—वस्त्रम्।

आबाल्याधिगमान्मयैव गमितः कोटिं परामुन्नते-
रस्मत्संकथयैव पार्थिवसुतः सम्प्रत्यसौ लज्जते ॥
इत्थं खिन्न इवात्मजेन यशसा, दत्तावलम्बोम्बुधेः-
र्यातस्तीरतपोवनानि तपसे, वृद्धो गुणानां गणः ॥२॥

इत्यादि काव्यानि गृहीतवान् स तदा चैकं काव्यं अर्द्धमग्रतो यावद् वाचितं तावद् द्वारि समागत—

"इह [अपि] खलु विषमः पुराकृतानां भवति हि जंतुषु कर्म्मणां विपाकः ।"

ततः तानि काव्यानि तेन भोजस्यार्पितानि । तत. भोजेन सर्वेषा पण्डितानां पुरः प्रोक्तं योऽस्य काव्यस्याग्रेतन पदद्वयं कथयिष्यति तस्य बहुधन दातव्य । ततो न केनापि काव्य पूर्णं कृतम् । ततो धनपालेनाग्रेतनमर्द्धं प्रोक्तं—

हरशिरसि शिरांसि यानि रेजुर्हरिहरि तानि लुठन्ति गृध्रपादैः ॥३॥

ततः समुद्रादानपात्रप्रेक्षणपूर्वं अग्रेतन पदद्वयमानीतं यादृग्धनपालेन प्रोक्त तादृगेव, ततो राजा हृष्टो भूरि लक्ष्मीं ददौ । इति खण्डप्रशस्तिकाव्यानयनसम्बन्धः ॥५२५॥

[526] अथ एकं वस्तु अत्रास्ति परत्र नास्तीत्यादिसम्बन्धः ।

एकदा भोजो नृप. पत्तने भीमभूपस्य पुरः स्वमन्त्रिणं प्रेषयामास । स च भीमस्य पुर प्राह-भोजराजराज्ञश्चत्वारि वस्तूनि विलोक्यते स प्राह-१ एक वस्तु अत्रास्ति परत्र नास्ति । २ एकं वस्तु अत्र नास्ति परत्रास्ति । ३ एक अत्रास्ति परत्राप्यस्ति । ४ एक वस्तु अत्र नास्ति परत्रापि नास्ति ।

ततो राज्ञा मन्त्रिणामग्रे प्रोक्तं वस्तुचतुष्टयं भोजेनानायित प्रेष्यताम् यद् भोजेनानायितं तेषु तत्कोऽपि सम्यग् न वेत्ति । तत एक वीरम नामा सुश्राद्धः प्राह-वस्तु चतुष्टयमहं तत्र नेष्यामि यथोद्देशो दीयते स्वामिना । ततो राजा हृष्टोऽवग्-याहि । स ततः प्रच्छन्नं वस्तुचतुष्टयं लात्वा महान्तं सार्थं कृत्वाऽवन्त्यां चलित, राज्ञो ज्ञापित स्वागमन। ततो राजा सार्थमध्ये आयातः आसने उपविष्ट, पृष्ट राज्ञा, वस्तुचतुष्टय आनीत ? मन्त्रिणोक्त-आनीत । राज्ञोक्तं प्रथम वस्तु दर्शय। ततो वेश्या दर्शिता। राजा प्राह एवविधा अत्र परत्रापि सन्ति। मन्त्री प्राह अस्या वर्यभोगेन इहलोकोऽस्ति परलोको नास्ति ।१। द्वितीयवस्तुनि प्रोक्ते साधवो दर्शितास्तेषा परीषहसहनेनेह लोको नास्ति स्वर्गप्राप्त्या परलोकोऽस्ति ।२। तृतीयवस्तुनि श्राद्धा वर्याः पुण्यवन्तो देवान् पूजयन्तो दर्शिता तेषामिह परत्रास्ति अत्र सुखिन परत्रापि सुखिनः ।३। चतुर्थवस्तुनि प्रोक्ते द्यूतकृतो मिथोऽत्यन्त कलिं कुर्वाणा दर्शिता तेषामत्र नास्ति परत्र नास्ति ।४। राजा चमत्कृत. प्राह-यदुच्यते पत्तने सर्वं लभ्यते तत्सत्यं, तत स मन्त्री सम्मानितो वस्त्राभरणादिदानात् । इति एकं वस्तु अत्रास्ति परत्र नास्तीत्यादि सम्बन्धः ॥५२६॥

[527] अथ कपालत्रयपरीक्षासम्बन्धः ।

एकदा पत्तनाद् डामरमन्त्री भोजभूपपार्श्वे कपालत्रयमानीतवान् । राजाऽवग्-मंत्रिन । किमर्थं इदमानीतमस्ति ? मन्त्री प्राह, स्वामिन. सन्ति बहवो बुधास्ते परीक्षामेतेषां कुर्वन्तु । यदा कोऽपि न वेत्ति तदा डामरेण एकस्य कपालस्य कर्णे दवरकः क्षिप्तो वक्त्रेण निर्गत, द्वितीयस्य कर्णे क्षिप्तः कर्णेऽन्यस्मिन् निर्गत । तृतीयस्य कर्णे क्षिप्तः कण्ठे निर्गत । ततो डामरोऽवग्, भावार्थोऽस्य कथ्यतां । यदा कोऽपि न वेत्ति तदा डामर प्राह । १-यस्य कर्णे गुण. क्षिप्त वक्त्रेण निर्गत तस्य कपर्दिमूल्य । श्रुतमात्रस्य दोषादेर्यथा तथा जल्पनाद् । २-योऽस्य गुणः कर्ण क्षिप्तः कर्ण निर्गत तस्य लक्षमूल्य, यतो दोष विस्मारयति श्रुतमश्रुत करोति । ३-यस्य गुण. कण्ठे क्षिप्तः कण्ठस्थाऽधो गत तस्य मूल्यं न, यतो हृदये दोषादि स्थापयति । एव त्रिविधाः मनुष्याः कपालसदृशा भवन्ति, अतो भूपतिभिरन्यैरपि लोकैर्यकपालवत् स्थेय । इति कपालत्रयपरीक्षासंबधः ।।५२७।।

[528] अथ भर्तृहरिवैराग्यसम्बन्धः ।

अवन्त्यां भर्तृहरिराजराज्ये एको विप्रो मुकुंदो निःस्वो देवीं लक्ष्मीहेतवे आरराध । तया तुष्टया तस्याल्पपुण्य मत्वा बीजपूरं ददे । प्रोक्तं च गृहाणेव अनेन बहु जीव्यते नीरोगता च भवति । तव भाग्य नास्ते अतो बीजपूर दत्तमस्ति । स च विप्रो गृहे नीत्वा भोक्तुमिच्छन् दध्यौ । इद बीजपूर बहुजीवितदायितेन य उपकारी जगदाधारः स्यात्तस्य [तस्मै] दीयते । एव विमृश्य राज्ञे दत्त । प्रभावोऽप्युक्तः देवीप्रोक्त. । राजा तदादाय तस्मै पारितोषिक दत्वा भोक्तुमुपविष्टो दध्यौ, मम बहुजीवितेन किं अभीष्टायै राज्यै दत्तं भूपेन प्रभाव प्रोक्त' । तया ध्यात मम बहुजीवितेन कि ? ततस्तया अभीष्टस्य हस्तिपकस्य प्रभावकथनपूर्वं दत्तं । हस्तिपकेन ध्यात मम बहुजीवितेन किं ? अतो मया अभीष्टायै वेश्यायै दीयते ततस्तस्यै दत्त, वेश्यया ध्यात ममानेन भक्षितेन किं प्रजापालाय भूपाय ददामि । ततो वेश्यया भर्तृहरये दत्त । भर्तृहरिस्तत्फलमुपलक्ष्य चकित । पत्न्यादि-पृच्छनतः फलागमनसबध ज्ञातवान् । ततोऽसारससार मत्वा प्राह-

या चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता, साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः ।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या, धिग् तां च त च मदनं च इमा च मां च ॥
सम्मोहयन्ति मदयन्ति विडम्बयन्ति, निर्भर्त्सयन्ति रमयन्ति विषादयन्ति ।
एताः प्रविश्य सदयं हृदयं नराणाम् , किन्नाम वाम-नयनान समाचरन्ति ? ।।२।।

एव ध्यात्वा तृणवद् राज्यं त्यक्त्वा भर्तृहरिर्व्रतं जग्राह—

इति भर्तृहरिवैराग्यसम्बन्धः ।।५२८।।

[529] अथ विक्रमार्कराज्यप्राप्तिसम्बन्धः ।

विक्रमार्को भ्रमन्नन्यदा भट्टमात्रयुतो रोहणगिरौ गतः । तत्र रोहणगिरौ यो 'हा दैवमिति'

प्रोक्त्वा [प्रोच्य] घात ददाति रत्नं सपादलक्षं लभते। विक्रमार्कः साहसी यदा हा दैवमिति न वदति घातं ददाति । भट्टमात्रस्तदा छलात्प्राह भवन्माता मृता श्रुता। एवं श्रुत्वा विक्र ः हा दैवमिति वदन भालमाहत्य कुद्दालमधस्तात्दृढमाहतवान्, तदाऽकस्माद्रत्न प्रादुरासीत्। भट्टमात्रो रत्न विक्रमार्कहस्ते मुक्त्वा प्राह तव माता कुशलिन्यस्ति। मया रत्नप्राप्तिनिमित्तं भवान् [एवं] कारितोऽत्रैव ततो रत्न अधः क्षिप्त्वा विक्रमार्कः प्राह—

"धिग् रोहणं गिरिं दीनदारिद्र्यव्रणरोहणम् ।
दत्ते हा दैवमित्युक्ते रत्नान्यर्थिजनाय यः ॥१॥"

ततो रत्नं तत्रैव त्यक्त्वा तापीतीरे समागतस्तत्र रात्रौ शिवाशब्दं श्रुत्वा भट्टमात्रोऽवक् एषा शिवा वक्ति नदीप्रवाहे [तीरे] साभरणा स्त्री मृता पतितास्ति [स] तत्र गत्वा तां तथावस्था दृष्ट्वा निर्लोभात् त्यक्त्वा पश्चात् सुप्त'। पुनः शिवाशब्दं श्रुत्वा भट्टमात्रोऽवग् एषा शिवा वक्ति विक्रमार्कस्य मासे प्राते अवन्त्या राज्यं भविष्यति ततोऽप्रतश्चलितौ वर्त्मनि भर्तृहरिराज्य स्वरूप ज्ञात्वा भट्टमात्र प्रति प्राह यदि राज्यं भवति तदा त्वं मे प्रधानः। ततोऽवधूतवेषभृत् चचाल अवत्यामागतः । तदा तत्र यो यो राज्ये निवेश्यते तं तं सोऽग्निवेतालो मारयतीत्यादि मत्वा कोऽपि राज्ये नोपविशति। एव श्रुत्वा विक्रमार्को मन्त्रिपार्श्व प्राह अह वैदेशिकोऽस्मि यदि मेले (समेले) समेति च तदाह राज्ये उपविशामि। तैरुक्तोऽग्निवेतालसम्बन्धः। ततो मन्त्रिभिर्मानिते विशेषबलिं कारयित्वा राज्ये उपविष्टो रात्रौ शय्यायां निर्भीः स्थितो। वेताल' समागाव् हन्तु। विक्रमार्को जगौ मे कृतबलिं विलोकय पश्चादहं हन्तव्यः। ततः स बलिं दृष्ट्वा हृष्टो जगौ त्व राजाऽत्र भव चिर सदैव बलिः कार्यः। भूपोऽवग् एव भवतु। ततो वेतालो गतः प्रातः जीवन्त त दृष्ट्वा हृष्टा मन्त्रिण.। द्वितीयदिने बलिं कृत्वा प्रपच्छ मम कियदायुः। ततस्तेनोक्तं वर्षशत। ततो जगौ विक्रमार्कः ९९ वर्षाणि कुरु अथवा १०१। स प्राहाधिकं न्यून न भवति। ततोऽग्रेतने दिने बलिमकृत्वा वेताल जित्वा स्वसेवकं राजा चक्रे। ततः स्वरूपं प्रकटीकृत्य मन्त्रिणो मोदयामास। भट्टमात्रः प्रधानः कृत। इति विक्रमार्कराज्यप्राप्तिसम्बन्धः ॥५२९॥

[530] अथ प्रथमस्वर्णनृप्राप्तिविक्रमार्कसम्बन्धः ।

अवन्त्या एकेनेभ्येन पुष्यार्के कर्मस्थाय कारयता महानावास कारित.। स च देवताधिष्ठितोऽभूत् एकदा वर्यमुहूर्त्ते इभ्य उषितुं रात्रौ स्थितो यावत् आवासे वक्त्यूर्ध्वं "पतामि पतामि" इभ्यो बिभ्यन् प्राह मा पत। एव सदाऽवासो वदति योऽन्यो वसति तस्य पुरोऽप्येत्र वदति तस्यान्तः स शून्य एव स्थितः। ततो राज्ञा विक्रमार्केण लग्न। सर्व दत्वेभ्याय आवासो गृहीतः रात्रौ सुप्तस्तस्मिन्नावासे यावदावासो जगौ पतामि २ विक्रमार्क अतीव साहसी प्राह स्वर्णमयो भूत्वा पत। ततो विक्रमार्कसाहसात् अधः स्वर्णपुरुषः पपात। प्रातर्महोत्सवपूर्वं स्वर्णपुरुष तत्रैव स्थापयामास। प्रतिदिन मस्तक मुक्त्वा छेद छेद स्वर्णं गृह्यते रात्रौ तादृगेव।

एवं प्रथमस्वर्णनृप्राप्ति विक्रमार्कसम्बन्धः ॥५३०॥

[531] अथ विक्रमार्के द्वितीयोरैनर प्राप्ति सम्बन्धः ।

एकदक योगी धूर्त्तं कपटेन विद्या साधनाय विक्रमार्कमेकाकिन श्मशानेऽनैषीत्। तत्र तेन ज्वलदङ्गारभृतं कुण्ड कृतहोम कर्तुं लग्न। ततो मायावी योगी प्राह उत्तरदिग्भागस्थशिंशपावृक्षशाखावलंबित शवमानय यथा तेनात्र होमः क्रियते। ततो विक्रमार्कः शवग्रहणाय तत्र वृक्षे गतो यावद्वृक्षमारुह्य शव हस्ते गृह्णाति तावदग्निवेतालो विक्रमार्कस्य विघ्न भवत् ज्ञात्वा शवमधिष्ठाय प्राह प्रथम मम पृष्टस्योत्तर देहि। ततो नय, तत्र पञ्चविंशति कथाभिर्वेलातिक्रम कृत्वाऽचष्ट शव मां त्व तत्र नयन्नसि, पर त्वया तस्य योगिनो विश्वासो न कार्य। तत स शव स्कन्धे कृत्वा तत्र गतः योगिनोऽग्रे मुमोच, योगी तु विक्रमार्कपार्श्वात् शवस्य पादसंवाहन कारयन् विक्रमार्कं द्वात्रिंशल्लक्षणलक्षितं कुण्डे चिक्षिपन् रैनर सिसाधयिषु मन्त्रजापहोमपरो यावद्विक्रमार्कं कुण्डे क्षिपति तावद् विक्रमार्केण स योगी कुण्डे क्षिप्तः सन् स्वर्णनरो जात ततस्तमपि रैनर सुमहोत्सव स्वपुरमध्येऽनैषीन्नृप। इति विक्रमार्के द्वितीयो रैनरप्राप्तिसम्बन्धः।

[532] अथ औदार्ये [उचितदाने] विक्रमार्कवैतालिकसम्बन्धः।

एकदैक इन्द्रजालिक एक करे खड्ग द्वितीयकरे स्त्रिय दधानो ब्रह्मायुर्ब्रह्मायुरिति वदन् विक्रमार्कसभायां समेत्य प्राह—

राजन्! सारं द्वयं मन्ये, रमारामे अहं स्फुटं।
भारतीं केऽपि मन्यन्ते, तन्मे न रोचते मनाग् ॥१॥

रमारामे यः पश्यति स गृह्णाति एव त्व तु परस्त्रीपराङ्मुखः अतः तेनाहमिमां पत्नीं तव पार्श्वे मुक्त्वा स्वर्गे [स्वर्गं] यास्यामि। तत्र अद्य देवदानवयोर्युद्ध भविष्यति अहमाकारितोऽस्मि, ततः स भूपपार्श्वे पत्नीं मुक्त्वा व्योम्नि चचाल। सा चान्त पुरे स्थापिता भूपेन।

इतः क्षणान्तरे आकाशे रणतूर्याणि वाद्यमानानि राजा शुश्राव। प्राह च, अहो तेन पुरुषेण व्योम्नि गतं इन्द्रसाहाय्यार्थं, क्षणान्तरे वैतालिकस्य पदहस्तमस्तकादयः देहावयवा सभाया पेतु। ततः सा स्त्री तत्रागताऽवग्, मम भर्ता मृतः, तस्य देहावयवा अमी, अह अनेन सम वह्नौ प्रविशामि। ततो वारिताऽपिसा तैरवयवै सम वह्नौ प्रविष्टा। क्षणान्तरे स एव वैतालिकः समागात्। पत्नीं याचते स्म। राज्ञोक्त तव पत्नी त्वां मृतं ज्ञात्वा वह्नौ प्रविष्टा। स प्राह, कूट किं जल्पते भवतामन्तःपुरे स्थापिता मां यितुं मैवं वदन्नस्ति। ततोऽन्तःपुरे तां दृष्ट्वा राजा कृष्णमुखोऽभूत्। ततो वैतालिक प्राह, मयेदं इन्द्रजालिक विद्यया तव दर्शित। ततो राजा तुष्ट तस्मै वैतालिकाय दानं ददौ।

हाटककोट्यष्टिनवतिर्मुक्त नां तुलाः,
पंचाशन्मदगन्धलुब्धमधुपक्रोधोद्धुराः सिन्धुराः।

(१) मत

[1]लावण्यावयवप्रपंचितदृशां वारांगनानां शतं,
दंडे पांड्यनृपेण ढौकितमिदं वैतालिकस्यार्पितं ॥१॥

इति औदार्ये [उचितदाने] विक्रमार्कवैतालिकसम्बन्धः ॥५३२॥

[533] अथ दुष्टास्त्रीविपये मयूरिकासम्बन्धः ।

कोकिलपुरे कोकिलकौलिकस्य मयूरिका पत्नी स्वेच्छाचारिणी वारितापि गृहे न तस्थौ। एकेन वचसा वाक्यं शतं च प्रतिजल्पति । एकदा मित्राय कोकिलोऽवग् यदि पत्नी संध्यायां गृहे न समेष्यति तदा तव [तस्यै] शिक्षा दास्यते । मया [मित्रेण] इङ्कितापि पत्युर्वचो न कुरुते । कोकिलो रुष्टोऽन्यदा रात्रिघटिचतुष्के गते पत्नीमनागतां ज्ञात्वा गृहस्य अररिं दृढ दत्त्वा मध्ये स्थितो दध्यौ । अद्य रडाया गृहे प्रवेशं न दास्ये, ततः सा भ्राम भ्रामं उत्सूरे गृह समायाता द्वारं दत्तं दृष्ट्वा पतिं मध्ये स्थित ज्ञात्वा प्राह। पते ! द्वारमुद्घाटय । स च खुकारकं करोति, द्वारं नोद्घाटयति वक्ति च, त्व च मयोक्त न कुरुषे, अतो नोद्घाटयामि द्वार, पत्नी प्राह—कीटिकाया उपरि किं कटक ? इत्यादि जल्पिते यदा कान्तो द्वारं नोद्घाटयति तदा द्वाराद्बहिरासन्नकूपिकापार्श्वे प्रौढ प्रस्तरं मुक्त्वा जगौ—कांत द्वारमुद्घाटय, नो चेदहं कूपिकायां पतिष्यामि । एव तया प्रोक्त यदा पत्या द्वार नोद्घाटितं तदा कूपिकायां पतिष्यामीति जल्पन्ती प्रस्तरं कूपिकामध्ये चिक्षेप, स्वयं तु पार्श्वे छन्न स्थिता द्वारस्य, सद्युबकं श्रुत्वा पत्नीं कूपिकायां पतितां ज्ञात्वा सद्यो द्वारमुद्घाट्य कूपिकापार्श्वेऽभ्येत्य प्राहोच्चैःस्वर पत्नि ! निस्सर लोका मिलिता, मंचिकामध्ये मुक्ता, पत्नि ! मचिकायामुपविश्य बहिर्निस्सर, इतः सा मयूरिका गृहमध्ये प्रविश्य प्राह तव पिता कूपे पतति अह तु न ["एव द्वार पिहितवती" तदा स च जगौ] यदि शक्तिर्भवति तदा द्वार उद्घाटय अहं किमपि त्वयि प्रतिकूल न करोमि, त्वमेव कुरु । लोकैरुक्तं उद्घाटय उद्घाट्य, सा जगौ अद्य प्रभृति अहमुत्सूरे [सवारे वा] सख्यालयाद्वो स्थित्वाऽयास्यामि, अत परं मम न करोति प्रतिकूल तदा द्वारमुद्घाटयामि ततस्तेनाक्षरेषु दत्तेषु तया द्वारं उद्घाटित । एवं दुष्टास्त्रीविपये मयूरिकासम्बन्धः ॥५३३॥

[534] अथ [2]राटिविषये सोढीसम्बन्धः ।

पद्मपुरी सोढी नारी कलिं सर्वैः सार्द्धं करोति । कलिं विना तस्मिन् दिने धान्यं न जीर्यति । ग्राममध्ये तया सह कोऽपि न जल्पति । ततोऽन्यदा प्रात. प्रातिवेश्मिकगृहे प्राघूर्णिकाः समायाताः ततस्तया ध्यात अद्य को बहिः राटिं कर्तुं यास्यति । अनया प्राघूर्णिकया सम राटिं करोमि । ततो दास्यग्रे तया प्राघूर्णिकायां शृण्वन्त्या प्रोक्तं, भो दासि ! शीघ्र क्षिप्रचटं रधय । ग्रामे गमिष्यते एक मानकधान्यमध्ये पञ्चमानकमितं लवण क्षिप । वयं क्षिप्रचटो भवति त्वरितं प्रष्ठवाह सज्जीकुरु ! तमारुह्य गमिष्यते, प्राघूर्णिका प्राह भगिनि ! एव अयुक्तं किं जल्पसि,

---

(१) अश्वानामयुत प्रपञ्च चतुर । (२) कजीओ लडाई ।

मध्ये पं   क्षेपणं। सोढी-प्राह रे रंडे! किं अहं तव पित्रा जनितास्मि यन्मां भगिनीं वदसि । रंडा धान्येन न धायते परगेहस्यतप्तिं [तातिं] कुरुषे। भगिनीं मां वदती त्रिजाता मां कथयिष्यसि गाली [छलात्] एवं यद्यत्प्राघूर्णिका वदति तत्तत् खण्डयति, ततः प्राघूर्णिका मौनं कृत्वा नष्ट्वा गता। ततः कोऽपि तया समं न वदति । ततः साऽन्यस्मिन पुरे गत्वा चतुरहट्टे तृणपूलकं घटं पयोभृतं मुक्त्वा जगौ, यः को विज्ञो वा भवति स मया समं वादं करोतु। नो चेन्तृणपूलकं भक्षयतु । पानीयं पिबतु, तत कोऽपि वादं न करोति यदा राज्ञा पटहो वादितस्तया समं यो वादं कृत्वा जयं लभते तस्मै ग्राममेकं दीयते. तत. श्रेष्ठिवधू पटहं पस्पर्श। श्रेष्ठिप्राह मम वधूर्जल्पितुं न जानाति । ततो वधू' प्राह । तात, तव प्रासादादहं जेष्यामि । ततो राज्ञोग्रे सर्वे आयाता. श्रेष्ठिवधूः प्राह, भो सोढि, त्वं कया रीत्या वादं करिष्यसि, एक दैवसिक्या, षाण्मासिकया, सांवत्सरिकया, यावज्जीविकया वा ? सोढि प्राहाह विकल्पान् न जाने ततस्तयोक्त कथं तर्हि त्वं वादं करिष्यसि ? यदि विकल्पान् न वेत्सि, विकल्पान् विना वादो न भवति । तदा लोकैरादावेव सोढी हसिता । तत. सोढी प्राह—राटिका[1] दैवसिकी कथं कथ्यते। सा श्रेष्ठिवधू प्राह—भाटकेन शकटं गृह्यते तस्मिन् नारीद्वयमुपविशति भाटकं दत्वा, तदा एका वदति त्वया सकलं शकटं रुद्धं । एका वदति यद्वा तद्वा जल्पसि ? अपरा वदति त्वमपि एका—त्वं परतातिं करोषि अन्या-वदति त्वमपि इत्यादि कलिं कुरुते, द्वे अपि सन्ध्यां यावत् सायं शकटादुत्तरितयो राटिर्निवर्त्तते एषा प्रथमा दैवसिकी राटि ॥१॥ साध्य क्षेत्रं द्वाभ्या क्रियते यदा तदा यावद् धान्यं गृहे नायाति तावद् राटिर्भवति षाण्मासान्तु धान्यं गृह्यते ततो द्वावपि राटिं न कुरुतः ॥२॥ यदा पाटक पट्टको गृह्यते द्वाभ्यां तदा वर्षं यावत् एकामाषाढीमारभ्य द्वितीयामाषाढीं यावत् राटिर्भवति ततो निवर्त्तते राटि ॥३॥ एकस्य पुरुषस्य द्वे पत्न्यौ यदाजायेते तदा यावज्जीवं ते द्वे कलिं कुरुतः स्म, अतो यावज्जीविकाराटिः ॥४॥ श्रेष्ठिवधूचातुर्यं दृष्ट्वा मानं मुक्त्वा सोढी श्रेष्ठिवधूपदयोः पतित्वा प्राह मयात्र हारितं त्वया जितं तत श्रेष्ठिवधू भूपपार्श्वादेकं ग्रामं प्राप्य सूत्सवं (सोत्सवं) स्वगृहे समायाता ।

इति राटिविषये सोढीसम्बन्धः ॥५३४॥

[५35] अथ सिद्धराजप्रशंसितभोजन श्रीहेमसूरिसम्बन्धः ।

एकदा श्रीसि   जजयसिंहो यात्रायां चचाल, सार्द्धं श्रीहेमसूरयोऽप्याकारिता । वर्त्मनि गुरून्प्रति राजा प्राह—भगवन्, रथे उपविश्यतां, दुष्करं पादसंचरणं, गुरुः प्राह—साधूनां रथोपवेशनं पापनिबन्धनं ।

पद्भ्यामध्वनि संचरेयमनिशं भुञ्जीत भैक्ष्यं सकृत्
जीर्णं [2]वासो वसाय[3] भूमिवलये रात्रौ शयीय क्षणं ।
निःसंगत्वमधिश्रिये वसुमती— सयेयानिशं,
ज्योतिस्तत् परमं दधीय हृदये कुर्वीय किं भूभुजा ॥१॥ उक्तं च—

१ कवीमो ——, २ सिकनिवसीय, ३ धरणीतल गतो ।

गुरुर्जंगदिवान् राजन् ! यतीनां नैव युज्यते ।
परपीडाकरत्वेन वाहनाद्यधिरोहणम् ॥२॥

एकदा सूरिं वारां [गोचरचर्यां] कुर्वाणं राजा ददर्श । तदाचाम्लानि कुर्वाणाः साधवो [राज्ञा यतः] वहिःस्थितेन श्रीसिद्धक्ष्माभृता सूरिरैक्ष्यत कांजिकेन भैक्ष्यं भुंजानं सपरिच्छदं । ततो राजा जगौ—

तप्यतेऽमी [तपंत्यमी] तपः कीदृग् महात्मानं यदन्वहं ।
अश्नंत्यन्नं जलक्लिन्नं चांह्रिप्रचारिणः ॥३॥

तदन्यजन्मसामान्यधियाऽमी नाचिताः ।
नापमान्या मया किन्तु, मान्या एव महेशवत् ॥४॥

इति सिद्धराजप्रशंसितभो श्रीहेमसूरिसम्बन्धः ॥५३५॥

[536] स्थापकद्विजसम्बन्धः ।

कृष्णविप्रः कृषिं सदा हलं खेटयतोऽन्यदा तदा किं करिष्यामि हलं भग्नं दिनं पतिष्यति, ततो नन्दनस्याग्रे विप्र· प्राह, देवचन्द्रकौटुम्बिकपार्श्वाद् हलं यिष्यामि । पुत्रोऽवग् स मुधा हलं नार्प्पयिष्यति । पिता प्राह—मम वि तदा यदा पार्श्वाद् मुधा१वचनेन हलमानयिष्यामि ततः स विप्रस्तस्योपान्ते गतः उपदेशं ददाविति । ह स्वर्गाय भवति यतः—

हल्लाया दीयते दान खादिर्यास्तु विशेषतः ।
दानप्रदानेन स्वर्गे हल्लति मल्लति ॥१॥

श्रुत्वैतत् तेन हलं दत्तं । स च विप्रो हलं क्षेत्रे गत्वा [सूनवे] सूनोर्ददौ प्राह च मुधेदं हलमानीतं मया । इति हल्लदानस्थापकद्विज सम्बन्धः ॥५३६॥

[537] अथ स्वहस्तदत्तफलविषये वस्तुपाल सम्बन्धः ।

एकदा वस्तुपालमंत्रिणः पुरो गुरु प्राह—यत् स्वहस्तेन दीयते तद प्राप्यते परहस्तदानस्य फल न भवति । उक्तं च—

यद् वस्तु दीयते भावात्, तत् सहस्रगुणं भवेत् ।
यद् दत्तं सुकृतं पुण्यं, पापे पापं च तद्गुणं ॥१॥

१ प्रतारण ।

किंचान्यद्दीयते यत्तद्, धनिकस्यापचीयते ।
सु ˙ दीयमानं तु धनिकस्योपचीयते ॥२॥

श्राव्यते सुकृतं यावत्प्रान्तकालेऽपि : ।
निजश्रद्धानुमानेन सदेवा न श्रुतेः फलं ॥३॥

ततः श्रावयिता पश्चाद्विधत्ते मानित यदि ।
तदा सोप्यनृणः पुण्यभाग् भवेदन्यथा न तु ॥४॥

ावितोऽपि श्रद्दत्ते सु ˙ यः क्वचिद् गतो ।
जानन् ज्ञानादिभावेन, सोऽपि तत्फलमाप्नुयात् ॥५॥

अन्यदा सुकृतं तन्वन्, नः स्वजनाख्यया ।
व्यवहारप्रीतिभक्तिः एवं ज्ञापयति ध्रुवं ॥६॥

स्वहस्तेन यद्दत्तं लभ्यते संशयः ।
परहस्तेन यद्दत्तं ते वा न लभ्यते ॥७॥

पुण्यवद्भिः स्वहस्तेन धनं व्ययनीयं, श्रुत्वैतन्मंत्री सप्तक्षेत्र्यां धनं व्ययितुं लग्नः, गुरुभिः प्रोक्त तथा व्यापारः कार्यो यथा प्रजा न सीदति, साधुवादः सर्वत्र जायते, तत् व लभते । अतः पुण्यस्मारणविषये एक काव्यं शृणु—

त्रयस्त्रिंशत्कोटित्रिदशमुखवंद्योऽसि जगतां,
त्वयाऽग्ने ! दह्यन्ते चपलपवनप्रेरिततया ।
अमी किं विश्लेषा तिपरा साधुतरवो ।
यदेभ्यो भस्म भ्यात्तदपि मरुतस्ते पुनरघा (?) ॥८॥

इद काव्यं श्रीउदयप्रभसूरिभणित वस्तुपालमंत्री स्मरन् पाप न करोति ।

इति स्वहस्तदत्तफलविषये वस्तुपालसम्बन्धः ॥५३७॥

[६३८] अथ पुण्यलाभालाभसूचकवणिक्त्रयसम्बन्धः ।

एकस्मात् पुरात् त्रयो वणिजो निर्गता धनार्थं । एको मार्गे गच्छन् प्रथमे गतः पद्मपुरे। तत्र व्यवसाय कुर्वन् धनं बहु निर्गमयामास । उद्गरित मार्गे समागच्छन् धाट्या मुषितसपर निर्गमयामास । द्वितीयो द्विगुण लाभं प्राप्यागतः । तृतीयो यावज्ञात्वा गतस्तावलात्वाऽगतः

उक्तं च—जहाय तिन्नि वणीआ, मूलं घित्तूण निग्गया ।
एगो तत्थ लभे लाभं, एगो मूलेण आगओ ॥१॥

एगो मूलं पि हारिता, आगओ तत्थ वाणीओ ।
ववहारे उवमा एसा, एव धम्मे वि आणह ॥२॥
माणुसत्त भवे मूलं, लाभो देवगई भवे ।
मूल छेएण जीवाणं निरयं तिरखत्तण भवे ॥३॥

इति पुण्यलाभालाभद्वचकवणिक्त्रयसम्बन्धः ॥५३८॥

[539] अथ कुसंसर्ग-सुसंसर्गदोषे शुकद्वयसम्बन्धः ।

एकस्यामटव्यां शुकद्वयं जनित, वर्द्धितं। एक. शुको भिल्लेन जिनदत्तगृहे विक्रीतः। द्वितीयस्तु भिल्लैर्गृहीतः । श्रेष्ठिना धर्मशास्त्रं पाठितः, भिल्लै. स्वकला शिक्षिता. । एकदा पल्लीभूपोऽश्वापहृत आगच्छत् शुकेन भिल्लानामग्रे प्रोक्त, भिल्ला धाविता राज्ञा निर्धारिताः । राजा जिनदत्तगृहे गतः, तत्र शुको वक्ति भूप आगतो भक्तिः क्रियते ।. ततो राजा प्राह—शुकस्याग्रे त्वमेवंविधो धर्म्मी, एकः शुको भिल्लगृहे पापी दृष्टः, स शुकः प्राह—

मातप्येका पिताप्येको तस्य च पक्षिणः ।
अहं मुनिभिरानीतः स च नीतो गवाशिभिः[1] ॥१॥
गवाशनानां स[2] गिरः शृणोति, अहं च राजन् मुनिपुंगवानां ।
प्रत्यक्षमेतत् भवतापि दृष्टं, [3]सं तो दोषगुणा भवन्ति ॥२॥
एकइं ठामि व डां एवउ अन्तर होइ ।
अहिडंके [4]महीअल मरइ, मणिव जीवइ सहु कोइ ॥३॥

इति कुसंसर्गसुसंसर्गदोषे शुकद्वयसम्बन्धः ॥५३९॥

[540] अथ मित्रद्वयसम्बन्धः ।

मित्रद्वयं लक्ष्मीमर्जयितुं विदेशगत. शद् दीनारानर्जयामास । द्वितीयः शतं, पश्चाद् वलितौ स्वपुरप्रतोल्यामागतौ । प्रतोली नागदत्ता दृष्ट्वा रात्रौ वनमध्ये देवकुले गतौ । तत्र एक. सुप्तोऽपरो जागर्त्ति । ततो यक्ष मुकुटहारकुंडलाद्याभरणभासुर दृष्ट्वा दध्यौ । दूरं गतो धनं स्तोकमर्जितं, अतो यक्षस्य हारं गृह्णामि दारिद्र्यछिदे । ततो यावद्धारं लातुं ददौ तावद् यक्षेण स्तंभितो वेदनां प्राप, प्राह च अहो महायक्ष ! प्राणा ति मे । यक्षोऽवग् मम हारं त्व लातु हस्तं क्षिपसि मारयिष्यामि त्वां । सः पुमान् प्राह—यद्विलोकते तन्मार्गय यक्षोऽवग् यद्धनं विदेशानीत तत्सर्वं मम भाण्डागारे , ततस्तेन नि [शत् दीनारं]

---

१. ः, २ , ३ संसर्गजा, ४. महीयल चरजीवा ।

तत्कोशे मुक्तं । सुप्तः सः । द्वितीयोप्येवं हार गृह्णन् दीनारशत यक्षेण दण्डित । तत. आद्यः प्राह स्वधन ायोक्त—

दूरि दिसंतरि चालीआ, वडी करी पुण आस ।
आवि दोहिला खंधि चडि, जिम सउ तिम पंचास ॥१॥

अपरो जगौ—

ग्रह अवला विहि वंकडी, दुज्जण पूरउ आस ।
आवि दोहिला खंधि चडि, जिम सउ तिम पंचास ॥२॥

पश्चात् स्वस्वसम्बन्धोज्ञापितो मिथः। एव जीवाः प्रमादादर्जितमपि पुण्यं हारयति । इति भवितव्यतायां दूरिदिसतरि चालीआ ।

इति मित्रद्वयसम्बन्धः ॥१४०॥

[541] अथ शठोपरि शठेतिविषये शुककथा ।

एकः श्रेष्ठी सुपात्रदानं दाता । भूपस्याग्रे वेश्या नृत्य करोति बहुधनं भूपाल्लोकाच्च लभते। श्रेष्ठी कुपात्रत्वात् किमपि न दत्ते, तदा लोकैरुक्त, त्वं बहुलं धनं लासि न श्रेष्ठिनः। ततो वेश्यया नृपे तुष्टे प्रोक्तं ममाद्य स्वप्ने श्रेष्ठिना लक्षद्रव्यमानितं तच्च दापय, ततो राज्ञोक्त, श्रेष्ठिनास्यै स्वप्नमानित देहि, ततः कृष्णमुखं गृहागत.। शुकोऽवग्-श्यामसुख कथ ते । श्रेष्ठिना वेश्योक्त प्रोक्ते शुकेनोक्त एक रत्नमादर्शोर्ध्वं धृत्वा वेश्याग्रे प्रोच्य—त्वया भूपस्य पश्यत, इदं आदर्शमध्यस्थ रत्न गृहाण एव कृते यदा सा वक्ति, इद कथ गृह्यते तदा त्वयाऽऽख्येय [स्वप्न] सदृशमिद रत्नं, तथा कृते वेश्या जिता । वेश्यया शुकधीर्ज्ञाता। तत स शुको मार्गयित्वा गृहीत । शुकस्य पक्षौ छेदयित्वा दास्यग्रे वेश्यावग्, अयं शुकः शाकत्वेन कार्यः कार्यार्थं गता। शुको नष्ट्वा खाळे प्रविष्टः दास्या शुके नष्टे अपर मासं शाकत्वेन कृत, सा च शाक त शुकधिया चखाद, जगाद च भो शुक यत्त्वया मम धन निर्गमित श्रेष्ठिनो बुद्धिदानात् [तत्] कृतफलमेव पश्य, ततस्तदुक्त खालस्थ. शृण्वन् छन्न तस्थौ । भीतः शुकः खालागतमन्नं खादन् जातपक्ष उड्डीय गतो वने, वेश्या तु नर्तितु कृष्णालये समागता । शुकस्तु कृष्णपृष्ठौ स्थित प्राह अहो वेश्ये अह कृष्णस्तुष्टो वर मार्गय, तयोक्त वैकुण्ठ नय मां। तेनोक्त मस्तक भद्रीकृत्य लोकसमुदाययुता नृत्यन्त्यत्रागच्छसि यदा तदाह तत्र नेष्ये। ततस्तथाकृत्वा यदा साऽगता तदा शुको गत्वा वृक्षशाखायां प्राह—

शठोपरि शठं कुर्यादादरोपरि आदरं ।
त्वया मे लुंचितौ पक्षौ, मया ते मुंडितं शिरः ॥१॥

ततः स्ववैरवलनसम्बन्ध प्रोक्त्वा शुको गत. ।

इति शठोपरि-शठेतिविषये शुककथा ॥५४१॥

[542] अथ करहामकरि पापदाने उष्ट्रः सम्बन्धः ।

एकस्मिन् ग्रामे एको द्विजो ग्रहणादौ जायमाने दानं गृह्णाति । तदा भार्या वक्ति । इदं दानं पापनिबन्धनं । ततः क्रमात् विप्रो मृत्वा उष्ट्रोऽभवत् । पत्नी मृत्वा राजपुत्री जाता । क्रमात् सा पुत्री राज्ञा भीमभूपाय दत्ता, स च परिणिन्ये तां तदा स एव उष्ट्रस्तस्मै दत्त. । स भारितउपस्करै मार्गे भीमश्चचाल । बहुभारादुष्ट्रः आरटति भृश, इतोऽकस्मात् तमेव ग्रामं दृष्ट्वा राजपुत्री जातिस्मृतिं प्राप्य प्राग्भवं दृष्ट्वा पश्चाद्भवसवधिनं पतिं जह्रे । ततः प्राह—

करहा मकरि करक्कडो भार घणोघर दूरि ।
तूं लेतो हूं वारती राहु गिलंतइ भूरि ॥१॥

एतत् श्रुत्वोष्ट्रोऽपि जातिस्मृत्या प्राग्भवं ज्ञात्वा पश्चात्तापवान् लात्वाऽनशन स्वर्गं गतः ।

इति करहामकरि पापदाने उष्ट्रः सम्बन्धः ॥५४२॥

[543] अथ कर्मणि कृष्णसागरनीरसम्बन्धः ।

एकस्मिन् ग्रामे कृष्णभूपस्य मलयेन्द्री पत्नी सागरनीरौ पुत्रावभूताम् । गोत्रिभिः समेत्य राज्यं गृहीतम् ।

कृष्णः सकुटुम्बो रात्रौ नष्टः एकस्मिन् पुरे गतः । पत्नी परगेहेषु कर्म कृत्वा सर्वेषामुदराणि भरंति । अन्यदा तत्रागतसार्थवाहेनापहृता, सार्थवाहस्ततोऽचलत् तां पत्नीं कर्तुं तस्याः पुरः प्राह यदा, तदा सा जगौ मया ब्रह्मचर्यव्रतं वर्षत्रयं यावद् गृहीतं तदनु यथारुचिरं करिष्यते । तत स सार्थो हृष्टः, मलयेन्द्री स्व शील पालयति, परं पतिपुत्रवियोगाद् दुःखिनी, इतः कृष्णः पत्नीमदृष्ट्वा ततो निर्गत, अग्रे गच्छतस्तस्य नदी समागता, एकं पुत्र पूर्वनद्याः परकूले मुक्त्वा यावद् द्वितीयं पुत्र नेतुमायाति तावत्मकरेण गृहीतो गिलितश्च । मकरो गच्छन् दूरं मात्सिक-हस्ते चटितो । मात्सिकैर्विदारितः । पुमान् निर्गत । ततस्तैर्मुक्तश्चन्द्रपुरे । समेतो पुरद्वारे रक्षक. कृत ।

इता दैवयोगात् नदीतटयोर्द्वौ सागरनीरौ सौवर्णिकहस्ते चटितौ, सौवर्णिकः स्वपुत्रौ स्थापयामास । क्रमाद् वर्धमानौ अभ्यास कुरुतः । ततः कस्यचित् क्षत्रियस्य अर्पितौ स क्षत्रियो भूपस्य सेवां करोति ।

इतः स सार्थवाहस्तत्रायात. । राज्ञातौ क्षत्रियपुत्रौ रात्रौ रक्षां कर्तुं मुक्तौ तदा नीरसागरौ परस्परं स्वपितृमातृराज्यगमनादिक चरित्रं सांप्रतिकमेव सम्बन्ध प्रोचतुः तदा मलयेन्द्री स्वपुत्रौ जज्ञौ, ततः सा पुत्रयोर्मिलि —

किंहां किहां मलयेन्द्री, सायर किहां नीर ।
दैववसिंइ मलयेन्द्री मिली, नो मिलीओ ॥१॥

तां ताभ्यां वार्ता कुर्वाणां श्रुत्वा सार्थवाहश्चकितो भूपपार्श्वे गत्वा प्राह, अद्य यौ रक्षितौ मुक्तौ तौ कुशीलिनौ, ततो राज्ञा कष्टेन शूलायां क्षेपितुमादिष्टे यदा चलितौ तौ हन्तुं तदा तौ प्रोचतुः—किहां कन्हच ० गाथां श्रुत्वा द्वास्थः

किहां कान्हउ किहां मलयेन्द्रि किहां सायर किहां नीर ।
मिलीया सागर नीर मम, नो मलीया मलयेन्द्रि ॥२॥

एतां गाथां श्रुत्वा पुत्रौ पितरं ज्ञातवन्तौ, पितापुत्रौ ज्ञातवान्, ततो राज्ञो ज्ञापितं सर्वं तैःस्वसंवंध । ततो मळयेन्द्री कृष्णस्यार्पिता, सर्वं कुटुंब मिलितं । ततोऽन्यदा सूरी शत्रावभ्येत्यावग् , अधुना त्वां वरीतु वांच्छामि त्वं स्वपुरे गच्छ, ततः कृष्ण स्वपुर प्रति चचाल, स्तोकबलेन देव्याः सांनिध्यात् गोत्रवैरिणो निर्धाट्य स्व राज्य जग्राह ।

ततो गुरुपार्श्वे धर्मं श्रुत्वा जैन धर्मं प्रतिपद्य स्वर्गं गतः ।

इति कर्मणि कृष्णसागरनीरसंवंधः ॥५४३॥

[544] अथ स्वपक्षहंतरि कच्छपसम्बन्धः ।

एकस्मिन् कूपे कच्छपा बहवस्तिष्ठन्ति स्म । माछिका [मात्सिका] आगच्छंति तान् ग्रहीतु यदा [तेषु] स एकः कच्छपो नि शकमन्य कच्छपं दत्ते, स च याति, तदा वृद्धकच्छपेनोक्त नाप्यते कच्छप., यदा स्तोका कच्छपा भविष्यति तदा त्वामपि ग्रहीष्यन्ति, स च न मन्यते वृद्धोक्तं, क्रमात् स्तोकेषु कच्छपेषु जातेषु, स एव कच्छपो [मात्सिकैः] माछिकैर्गृहीत आक्रन्द करोति स्म, तदा वृद्धेनोक्त—

किं क्रन्दसि कुलांगार, स्वपक्षपरिघातक ।
स्वपक्षे हि परिक्षीणे, कोऽत्र त्राणं करिष्यति ॥१॥

ततो वृद्धः कच्छपो नंष्ट्वाऽन्यत्र गत· ।

इति स्वपक्षहतरि कच्छपसंबंधः ॥५४४॥

[545] अथ स्वार्थसाधने सिंहोन्दिरसंबंधः ।

एकस्यां गुहायां उंदिरो महांस्तिष्ठति । अन्यदा तत्र विवालगुहायां सिंहः समागात् । वयं स्थानकं दृष्ट्वा तत्र तिष्ठति, उंदिरः सिंहस्योपरि हिंडन् कर्करान् पातयति । सिंहस्त हन्तु न शक्नोति ततो दध्यौ, मया हन्तु न शक्यते, ततो बिडालं विना उन्दिरा हन्तु न शक्यते । ततः सिंहो बिडालपार्श्वे गत्वाऽवग्, ममैको वैरी उंदिरो विद्यते, त त्व यदि हसि तदा तुभ्य भक्ष्यं ददामि, तत. सदा सिंहो बिडालाय मांसं दत्ते, यदा हतु उंदिरं याति, तदा पत्नी प्राह, त्वयोत्तरः सदा कार्यः । यदा उंदिरो हतस्ततस्तव किमपि नार्पयिष्यति एव बहवो दिना गताः । एकदा भार्यया वार्यमाणोपि गत उंदिर हन्तु बिडाले नोंदिरो हतः । ततो बिडालो भक्ष्यं मार्गयितु

यदागतः तदा सिंहः प्राह अद्य त्वं आगतो मां मांसं मार्गयितुं, यदि कल्ये समेष्यति तदा हत एव । त्वं गच्छ ? ाने । ततो बिडालः स्वपत्नीपार्श्वे गतो यदा तदा पत्नी प्राह—

निजार्थे निखिलो लोकः सेवतेऽन्यं निरंतरं ।
अतो जीवितमिच्छेश्चेत् तदा तत्र व्रजाद्य मा ॥२॥

उक्तं च—

अपसर्प्पति कार्यार्थी, कृतार्थी नावसर्प्पति ।
दधिकर्णकदुर्बुद्धिः रक्षणीयस्त्वया हतः ॥२॥

इति स्वार्थसाधने सिंहोंदिरसंबंधः ॥५४५॥

[546] अथ पापविषये काष्टश्रेष्टि–वज्रा–गज–संबन्धः ।

भोगपुरे काष्टश्रेष्टिनः पत्नी वज्रा । देवशर्म्मा पुत्रोऽभूत् । गजोद्विजो मित्रं, शुकसारिके वर्णे विद्येते, काष्टश्रेष्ठी गज मित्रं गृहे मुक्त्वा विदेशे लक्ष्मीहेतवे चचाल । गजवज्रयोः परस्पर प्रेम जात, वज्रां गजपार्श्वे यांतीं दृष्ट्वा सारिका वक्ति शुकं, शुक ! विलोकय, श्रेष्ठिपत्नी वज्रा परपुरुषेण सहाभोगदानात् पापिनी पापं कुर्वाणास्ति, ततः सारिका गजेन हता । ततः शुको मौनं चक्रे । एकदा तस्य गृहे साधुयुगं विहर्तुमागात्, एकेन वृद्धेन साधुनोक्तं लघोरग्रे अस्य कुर्कुटस्य मंजरी योऽस्ति स राजा भवति । एतत् श्रुत्वा गजः प्राह–वज्रां प्रति अस्य कुर्कुटस्य मंजरी मह्यं देहि, ततः कुर्कुट हत्वा मंजरी रंधिता, गज स्नानाय गतः । इतः पुत्रो लेखशालातः आगात् भोजनं याचते स्म । मात्रा मंजरी दत्ता विस्मृत्य, लेखशालायां गतः । इतो गज आगतो जेमितुमुपविष्टः, मजरीमदृष्ट्वा पुत्रभक्षितां ज्ञात्वा प्राह- मंजरीं तां देहि, सावग् पुत्र हत्वा दास्यामि, एतत् श्रुत्वा धात्री लेखशालायास्त बालं लात्वा दूरदेशे गता, तत्र राज्यं जात तस्य शिशोः, इतः श्रेष्ठी विदेशात् लक्ष्मीमुपार्ज्य गृहागत पत्नीपुत्रौ अदृष्ट्वा शुकं पप्रच्छ । क गता मे पत्नी ? ततः शुकेन गजवज्रयोश्चेष्टितं प्रोच्योक्त दूरे वज्रागजौ गतौ, वैराग्यं जात दीक्षा गृहीता काष्टेन वज्रागजौ दैवयोगात् पुत्र राज्यपुरे गतौ वास चक्रतुश्च । इतः स काष्टर्षिर्भ्रमन् वज्रागृहे विहर्तुं गतः । वज्रा स्वपतिं उपलक्ष्य दध्यौ एष मा यदि उपलक्षयिष्यति तदा मां गजयुता हनिष्यति ततो भिक्षामध्ये स्वस्वर्णमुद्रा क्षिप्त्वा छन्न पुत्कार चक्रे एष साधुश्चौरो मम गृहांतश्छन्न हेम लात्वा गच्छन् अस्ति, स्तैन्यदोषो दद्दे तया, भूपपार्श्वे गता प्राहाऽयं चौरः । ततो राज्ञा यावद् हन्तुमादिष्टः तावद् धात्र्या पितुः स्वरूप प्रोक्त तवाय पिता, ततो राज्ञा माताऽपि पापिनी पितृहन्त्री ज्ञात्वा कर्षिता । राजा श्राद्धो जात ।

इति पापविषये काष्टश्रेष्टि–वज्रा–गज–सम्बन्धः ॥५४६॥

[547] अथ चतुर्जामातृसम्बन्धः ।

एकस्य विप्रस्य चतस्रः पुत्र्योऽभूवन् । ताश्च परिणायिताः पृथग् ग्रामे । एकदा चत्वारोऽपि जामातर आकारिताः । भक्तिः पक्वान्नादिदानात् सदा तेषां क्रियते । एकोऽपि तेषु जामाता

न चलितुमिच्छति, ततो दिनेदिने बहु घन भक्षित तान् चालयितुं भग्नभाजनानि जेमितुं मण्डितानि। तत उत्थाय चित्रशालायामुपविष्टाः । गोविंदोऽवग् चलयते अपमान कृत श्वशुरेण । तत समुत्कलयित्वा पत्नीं नीत्वा चचाल, "भग्नभाजनो गोविंदः।" यदा न त्रयश्चलन्ति तदा श्वशुरेण तैल पर्यवेपित, ततः माधवनामा सोऽपि अपमान ज्ञात्वा चलित "तिलतैलेन माधव ।" ततो द्वावपि न चलतः ततस्तृणशय्या प्रस्तारिता, ततस्तमपमान ज्ञात्वा विक्रमश्चचाल "विक्रमस्तृणशय्यायां ।" ततो गागिलो यदा न चलति ततो गले धृत्वा कर्षित , "अर्धचन्द्रेण गागिलः । "

भग्नभाजनो गोविंदः, तिलतैलेन माधवः ।
विक्रमस्तृणशय्यायामर्ध–चन्द्रेण गागिलः ॥१॥

एव चत्वारोऽपि जामातरो गता । एव जीवा ससारे कर्मपराभव दृष्ट्वा वैराग्यभाज. केचिद् भवन्ति ।

इति चतुर्जामातृसबंध ॥५४७॥

[548] अथ भाग्ये सुजाण–बूबस–संबंधः ।

श्रीपुरे भीमश्रेष्ठिनः सुजाणबूबसौ पुत्रौ । सुजाणो विज्ञः बूबसो मूर्ख किमपि लेखक न वेत्ति, श्रेष्ठिनो गृहे कोटिद्वय धनस्य । एकदा श्रेष्ठी मृत' । सर्वधनसख्यायाव्यवसायादि सुजाणः करोति ।

एकदा पत्नी प्राह बूबसो प्रति दिन बह्वी श्रिय व्ययति, भवानुपार्जयति, ते पृथक् क्रियते, तत. पत्नीप्रेरितेन सुजाणेन अपृथगीभवन्नपि बलात् बूबसो पृथग् कृत । टकानां सहस्राष्टकं दत्त, तेन सुजाणो हृष्ट पत्नी युतो जातो बहुश्रीस्थितेः, ततो व्यवसाय कुर्वतः क्रमात सुजाणस्य लक्ष्मीस्त्रुटिता बूबसेन शालकपार्श्वात् हट्ट मडापितं दिने दिने यथा लाभो जात यथा स्तोकैरब्दै. कोटिद्वय जातं, सुजाणो निःस्वीभूतो लज्जमानो रत्नद्वीपे ययौ, तत्रापि रोहणाद्रौ व्यवसाय कुर्वतो पिनश्रीर्जाता । ततः यथा स्तोककर्मकरो भूत्वा चन्द्रश्रेष्ठिगृहे स्थितः ।

इतो बूबसो भ्रातरगत ज्ञात्वा दुःखी विदेशादागतान् लोकान् पृच्छ पृच्छ सुजाणगमन जज्ञौ, ततस्तत्र गतो भ्रातुर्मिलित वस्त्रादिदत्त लक्ष्मीर्बह्वी दत्ता सापि त्रुटिता, बूबसेनोक्त गम्यते रोहणाद्रौ। ततस्तत्रगतो भूमिर्गृहीता सुजाणेन भूमि खनिता पर किमपि न प्राप्त । बूबसेन तु प्रथमे कुद्दालिकाघाते सपादलक्षं रत्न प्राप्त, तदपि भ्रात्रे दत्त, ततो व्यवसाय कुर्वन् सुजाणस्तदपि रत्न बुभुजे दु स्थोऽभवत्पुनः, ततो बूबसेनोक्त कृषिः करिष्यते, सज्जे हलादिके कृते सुजाण प्राहाद्य भद्रा विद्यते तेन वर्ये दिने हल खेटयिष्यते। बूबसः प्राह–'भाग्यवतां का भद्रा' एव प्रोक्त्वा हल खेटयत [क्षेत्रे] अकस्मात् निधानं क्षेत्रे बहु धनं निर्गत राज्ञेज्ञापित राज्ञापि तस्मै दत्त, सुजाणो वर्यां वेलां विलोक्य हल खेटयितु लग्नः परमभाग्यात् कुवातादिनाधान्यं किमपि न निष्पन्नम् । ततो दुस्थोऽभवत् भृश, ततो बूबस. स्वभ्रातर स्वपुरे [नीत्वा] भक्ति करोति धान्यादिवस्त्रदानात्, [ततस्तेन] गुरवः प्राग्भवं पृष्टा प्रोचुः बूबस सुजाणयोः पुर ।

सुजाणः प्राग्भवे कृपणोऽभवत् परं ज्ञानपंचमी आराधयामास ते भवविज्ञोऽभूत्, दानाभावात् दरिद्री । बूवसस्तुप्राग्भवे दानं ददौ ज्ञानं नाऽऽराध तेन लक्ष्मीर्वह्वी जाता मूर्खत्वं च इति श्रुत्वा द्वावपि भ्रातरौ धर्मं चक्रतुः ।

इति भाग्ये सुजाण–बूवस–सम्बन्धः ॥५४८॥

[549] अथ दुःस्थतायां राम–ऋषि–सम्बन्धः ।

यदा श्रीरामो वनं प्रति चचाल तदा ऋषेराश्रमपार्श्वे यावदागतः तावद् ऋषिः श्रीरामदृष्टेः पश्चादन्यत्र गत्वा स्थितः ।

ततो राम ऋषिमनो ज्ञात्वा, वनवासे स्थित्वा, रावणं जित्वा, यदा ऋषेराश्रमे समागात् तावत् ऋषयः सम्मुखा आगताः आगतस्वागतं चक्रुः । तदा श्रीरामः प्राह—

स एवाहं स एव त्वं, स एवायं तवाश्रयः ।
आदरं शिथिलीकृत्य पुनरेव किमादरः ॥१॥

ऋषिः प्राह—

धनमर्जय काकुस्थ ! धनमूलमिदं जगत् ।
अन्तरं नैव पश्यामि निर्धनस्य मृतस्य च ॥२॥
जाइ रूवं विज्जा तिन्नीवि निवडंतु कन्दरे विवरे ।
अत्थच्चीयपरिवुढो जेण गुणा पायडा हुंति ॥३॥

इति दुःस्थतायां रामऋषिसम्बन्धः ॥५४९॥

[550] अथ सीताशुद्धिभवनसम्बन्धः ।

श्रीरामो यदा सीता स्वगृहेऽनैषीत् तदा एके जना वदन्ति सीता इयंतं कालं रावणगृहे स्थिता शीलं कथ पालित ? [अभाविं] भाविरडान्यस्त्रियोः को विशेष ? । एवं श्रुत्वा श्रीरामो यदा कृष्णमुखोऽभूत् तदा सीतयोक्तं अहं अग्न्यादौ प्रविश्यात्मान शुद्धं करिष्यामि । तत. खादिरांगारैर्ज्वलद्भि शतहस्तप्रमाणा खानिर्भृता । सीतानुप्राह—

यदि राम मुक्त्वा मया कोऽप्यन्यो मनसि कुबुद्धया भ्रातृबुद्धया च धृवो भवति तदाहं भस्मीभवामि, एव प्रोच्य ततः मनुष्येषु लक्षेषु मिलितेषु स्वहस्ते तप्त गोलकं लात्वा खानिमध्ये पद्भ्यां चलित्वा खानेरपरतट गता पर मनाग् न दग्धा, तत सीता शुद्धा सती श्रीरामं कृष्णमुखं [दृष्ट्वा] मया मुधा समयेऽसमर्यं कारित इति । श्रीरामः कृष्णमुखः दध्यौ मया मुधाऽसमये सपथं कारितेति सीता श्रीरामं प्रति प्राह—

[553] अथ १देलउला श्रीआदिनाथसम्बन्धः ।

दे कग्रामे श्री आदिनाथ सप्रभाव. आराधकस्य मनोरथान् पूरयति। अन्यदा वोवाग्रामबुक्कर. प्रतिमामुत्पाट्य रात्रौ निर्गतः। वर्त्मनि अन्धो जात.। ततो बिभ्यन् रात्रावेव पश्चात् स्वस्थाने मुमोच। तत. पश्यन्नभूत्। एकदा कटीपुरायवनस्तत्राभ्येत्य तां प्रतिमां नीत्वा स्वपुरे गतः। प्रथमे दिने आसना[न्ना]श्वो मृत। द्वितीयदिने पुत्र शूलरोगेण पीडितोऽत्यन्तं यदा मृतप्रायो जातस्तदा ता प्रतिमां श्राद्धानां दत्त्वा भोगनिमित्त सहस्रद्रम्मा दत्ता पश्चात् स्वस्थाने प्रेषिता, तां प्रतिमां सप्रभावां ज्ञात्वा कोऽपि प्रतिकूल न करोति। यस्य यदा यत् कार्यं न सिद्ध्यति, यात्रादौ मानिते तस्य तत्कार्यं सिद्ध्यति।

इति देलउला श्रीआदिनाथसम्बन्धः ॥५५३॥

[554] अथ अभयदेवसूरिकृतनवाङ्गवृत्तिसम्बन्धः ।

श्री अभयदेवसूरयो विहरन्तः थंभणकस्थाने प्राप्ताः महाव्याधिकुष्टरोगपीडिता हस्तमपि चालयितु न शक्नुवन्ति। ततः सन्ध्यायां पाक्षिकप्रतिक्रमणं कृत्वा श्राद्धानामग्रे गुरवः प्रोचुः—शरीरे कुष्टोद्भवा पीडा विद्यते, तावता कल्येऽनशन ग्रहीष्यते, देहपीडया क्षणं स्थातु न शक्यते। एव प्रोक्त्वा रात्रौ पौरुषीं भणित्वा सुप्ता। अत्रान्तरे मध्यरात्रौ शासनदेवी समेत्य प्राह—प्रभो स्वपिषि जागर्षि वा? गुरुणोक्त-जागर्मि। देवी प्राह—उत्तिष्ठ, नवैताः सूत्रकोरवट्टिका [२कुट्टिका] उन्मोह्य, उत्खेलय। गुरुराह-कथमेवंविधशरीरेणोत्खेलयामि। देवी प्राह हस्ते गृहाण त्वं, चिरकालं जीविष्यसि [भक्तान् बोधयिष्यसि] नवाङ्गवृत्तिं विधास्यसि। कथमेवंविधो देहोऽहं विधास्यामि? देवतावग्-स्तम्भनकग्रामे सेढिकातटिनीतटे क्षेत्र विद्यते तत्रासन्नपलाशतरोरधः श्रीपार्श्वनाथप्रतिमा सुप्रभावास्ति नागार्जुनयोगिस्थापिता। तां वंदस्व, तत स्वस्थशरीरो भविष्यसि। एवं प्रोच्य देवी तिरोऽभूत्। प्रातः श्रीसंघेन समं तत्र गताः सूरयः स्तुतिः कृता।

जय तिहुअण वरकप्प रुख, जय जिण धन्नंतरि।
जय तिहुअण कल्लाणकोस दुरिअकरि केसरि ॥१॥
तिहुअण जण अविलंघि आण भुवणत्तय सामिअ।
कुणसु सुहाइ जिणेस पास थंभणपुरट्ठिअ[3] ॥२॥

इत्यादि स्तव कुर्वतिपार्श्वे प्रतिमा प्रकटीजाता [भूता]। सम्पूर्णे स्तवे कृते [4]निरोगं वपुर्जातं। तत्र श्राद्धै प्रासाद. कारितः। तत्र प्रभुरुपवेशितः सूत्सवं लोका महोत्सवं कुर्वन्ति। तत श्रीअभयदेवसूरिणा नवांगवृत्ति. कृता। शासनदेव्या प्रभो. पूर्वभवा अवदाताः गुरो. प्रोक्ता इति। ततः स्तवन कृतम्।

१—देलवाडा। २—कुञ्चिका। ३—E—सञ्ज्ञकप्रतौ इय स्तुति नोपलभ्यते। ४—नीरोगं।

स्तम्भनस्थामहं स्तौमि तां पार्श्वप्रतिमां तथा ।
पूर्वाचार्यैं यथाख्यायि नानास्थाननिवासिना[भिः] ॥१॥
एकादशाब्दलक्षाणि वरुणस्त्वामपूजयत् ।
हरधिकान् (?) सप्तमासान् रामस्तामर्चयत् ॥२॥
ीत्यब्दस णि तक्षकेनापि पूजितः ।
सौधर्मसुरराज्येन चर्चयित्वा चिरं ततः ॥३॥
अदायि वासुदेवाय द्वारवत्यां जिनोत्तमः ।
ततः सागरतः कांत्यां विंशत्यब्दशतानि च ॥४॥
पद्मावत्या ततोऽपूजि पालिताया निदेशतः ।
आनीतः सेटिकानद्यां नागार्जुनेन योगिना ॥५॥
स्वामिंस्ते पुरतस्तेन [1]रसस्तंभो विनिर्ममे ।
स्तम्‍ ख्यं ततस्तीर्थं संजातं ी[ति] श्रुतं ॥६॥
नवांगवृत्तिकारेणाऽऽचार्ये — णाभयसूरिणा ।
नवांगदायको नाथ त्वं पुनः प्रकटीकृतः ॥७॥
दुष्टैर्म्लेंच्छैर्लीढदेशे गुर्जराख्ये परिप्लुते ।
मङ्गलत्र्यंग्निचन्द्राब्दे १३६८ स्तम्भतीर्थमवातरः ॥८॥
प्रातः समुत्थाय जिनाधिनाथं यः स्तोत्रमेतत्पठति प्रवीणः ।
रोगोरगारिग्रहसिंहशंका मुक्त्वा यशःश्रीतिलकायते सः ॥९॥

इति श्रीपार्श्वस्तवः । श्री अभयदेवसूरिकृतनवांगवृत्तिसम्बन्धः ॥५५४॥

[555] अथ पेथडसाधुसम्बन्धः ।

कर्करासन्नग्रामे पेथडसाधुवणिग् उकेशज्ञातीयो वसन्नभूत्, तस्य पद्मिनी पत्नी । झाझणः पुत्रोऽभूत् । स बाल दुस्थावस्थायां सत्या दुःखी जात । इतस्तत्र तपागच्छाधीशा. श्रीधर्मघोषसूरय आगता., तेषां पार्श्वे धर्मं श्रुत्वा परिग्रहपरिमाण गृह्णन् सहस्रटककानामुपरि मम नियमोऽभवत् इत्युक्ते गुरुरत्रक् ज्ञानेन चेष्टया च त्वद्भाग्य महद् वर्तते, एतावता किं भविष्यति ? गुरुणा क्रमात् वर्धिते ज्ञानातिशयात्, पेथड प्राह—भगवन् अधुना मम किमपि विषेशद्रव्य नास्ति, पर कदाचिदग्रे प्राप्नोमि तदा मया पचलक्षटककामामुपरि गृहे न स्थाप्य, धर्मे व्ययनीय

[1]–पारो, इति भाषायाम् ।

सुजाणः प्राग्भवे कृपणोऽभवत् परं ज्ञानपञ्चमी आराधयामास ते भवविज्ञोऽभूत्, दानाभावात् दरिद्री । बूबसस्तुप्राग्भवे दानं ददौ ज्ञानं नाराराध तेन लक्ष्मीर्वृद्धी जाता मूर्खत्वं च इति श्रुत्वा द्वावपि भ्रातरौ धर्मं चक्रतुः ।

इति भाग्ये सुजाण–बूबस–सम्बन्धः ॥५४८॥

[549] अथ दुःस्थतायां राम–ऋषि–सम्बन्धः ।

यदा श्रीरामो वनं प्रति चचाल तदा ऋषेराश्रमपार्श्वे यावदागतः तावद् ऋषिः श्रीरामदृष्टेः पश्चादन्यत्र गत्वा स्थितः ।

ततो राम ऋषिमनो ज्ञात्वा, वनवासे स्थित्वा, रावणं जित्वा, यदा ऋषेराश्रमे समागात् तावत् ऋषयः सम्मुखा आगताः आगतस्वागतं चक्रुः । तदा श्रीरामः प्राह—

स एवाहं स एव त्वं, स एवायं तवाश्रयः ।
आदरं शिथिलीकृत्य पुनरेव किमादरः ॥१॥

ऋषिः प्राह—

धनमर्जय काकुत्स्थ ! धनमूलमिदं जगत् ।
अन्तरं नैव पश्यामि निर्धनस्य मृतस्य च ॥२॥
जाइ रूवं विज्जा तिन्नीवि निवडंतु कन्दरे विवरे ।
अत्थच्चीयपरिवुडो जेण गुणा पायडा हुंति ॥३॥

इति दुःस्थतायां रामऋषिसम्बन्धः ॥५४९॥

[550] अथ सीताशुद्धिभवनसम्बन्धः ।

श्रीरामो यदा सीता स्वगृहेऽनैषीत् तदा एके जना वदन्ति सीता इयतं कालं रावणगृहे स्थिता शीलं कथं पालितं ? [अभावि] भाविरडान्यस्त्रियोः को विशेषः ? । एवं श्रुत्वा श्रीरामो यदा कृष्णमुखोऽभूत् तदा सीतयोक्तं अहं अग्न्यादौ प्रविश्यात्मानं शुद्धं करिष्यामि । तत खादिरांगारैर्ज्वलद्भिः शतहस्तप्रमाणा खानिर्भृता । सीतानुप्राह—

यदि रामं मुक्त्वा मया कोऽप्यन्यो मनसि कुबुद्धया मत्बुद्धया च धृतो भवति तदाहं भस्मीभवामि, एवं प्रोच्य ततः मनुष्येषु लक्षेषु मिलितेषु स्वहस्ते तप्तं गोलकं लात्वा खानिमध्ये पद्भ्यां चलित्वा खानेरपरतटं गता परं मनाग् न दग्धा, तत सीता शुद्धा सती श्रीरामं कृष्णमुखं [दृष्ट्वा] मया मुधा समयेऽसमर्थं कारितं इति । श्रीरामः कृष्णमुखः दध्यौ मया मुधाऽसमये सपथं कारितेति सीता श्रीरामं प्रति प्राह—

मा गा विषादभवनं भुवनैकवीर, निःकारणं विगुणिता किमिय मयेति ।
दैवेन केनचिदह दहने निरस्ता, निस्तारिता नु भवता हृदयस्थितेन ॥१॥

ततो लोकः —

सीतया दुरपवादभीतया, पावके स्वतनुराहुतिः कृता ।
पावकोऽपि जलतामिथाय यत्, तत्र शीलमहिमानिबन्धनम् ॥२॥

इति सीताशुद्धिभवनसम्बन्धः ॥५५०॥

[551] अथ तीर्थप्रभावे सहिजगपुरश्रीशांतिनाथसम्बन्धः ।

सहिजगपुरे श्रीधरश्रेष्ठिनो रात्रौ श्रीशांतिजिनः स्वप्नेऽभ्येत्यावग्–उत्तिष्ठ चउरडीग्रामे , तत्र नद्यास्तटयोरुभयोः पार्श्वः[१] क [घटः पतितोऽस्ति] घटं च पतितमस्ति, तदत्रानीय योजयित्वा प्रासादे स्थापय । भवतो ग्रामस्यास्य वर्यं भविष्यति । ततः सप्ताष्टजना एकं शकटं लात्वा तत्र गत्वा प्रभोः सशीर्षं घट च रथे स्थापयित्वा गच्छन्तो नदीतटे सायं स्थिताः ।

तत्रापि स्वप्नेऽभ्येत्य प्रभु प्राह तस्य, अधुना ग्रामे गच्छत पश्चाद्दुःशक भविष्यति । ततस्ते चलिता यावन्नदीमुत्तीर्णास्तावत्तथा वृष्टो मेघ यथा उभयोः कण्ठयोर्नदीपूर्णा, मेघे वर्षति सा प्रतिमा पुरे प्राप्ता उत्सवः कृत । तत प्रभृति तन्नगरं सुख [सुखि] जातं । अधुना तत्तीर्थं सुप्रभावं विद्यते, तस्मिंस्तीर्थे यो यवन उत्तरति तस्य तुरङ्गमादि म्रियते, ततोऽधुना कोऽपि तस्य तीर्थस्य प्रतिकूल न चिन्तयति । लोकस्य मनोरथान् पूरयति प्रभु ।

इति तीर्थप्रभावे सहिजगपुरशातिनाथसम्बन्धः ॥५५१॥

[552] अथ नवसारीपुर–श्मामलपार्श्वनाथ–सम्बन्धः ।

नवसारीपुरे प्रभु पार्श्वं स्वप्नेऽभ्येत्य श्राद्धानां पुर प्राह—मामितो भूतलात् कर्षयन्तु भवत वर्यं भविष्यत्ति । ततस्तस्माद्भुवस्तलात्प्रभु कर्षितो यदा तदा प्रभोः शरीरे चन्दन–पुष्पाणि अशुष्कितानि दृष्ट्वा लोकश्चमत्कृत स्तुतिः चक्रे । ततः पार्श्वः प्रासादे स्थापित । ततोऽद्यापि चदनपुष्पाणि न शुष्कति । प्रभो शरीरादमृत [झ] गिरति, लोकानां चिन्तितं पूरयति श्रीश्यामलपार्श्वः ।

इति नवसारीपुरश्यामलपार्श्वनाथसम्बन्धः ॥५५२॥

---

१ प्रतिमा इति वाच्यार्थ. ।

[553] अथ [1]देलउला श्रीआदिनाथसम्बन्धः ।

दे   कग्रामे श्री आदिनाथः सप्रभाव आराधकस्य मनोरथान् पूरयति । अन्यदा वोवा-ग्रामबुक्करः प्रतिमामुत्पाट्य रात्रौ निर्गतः । वर्त्मनि अन्धो जात. । ततो बिभ्यन् रात्रावेव पश्चात् स्वस्थाने मुमोच । तत पश्यन्नभूत् । एकदा कटीपुराद्यवनस्तत्राभ्येत्य तां प्रतिमां नीत्वा स्वपुरे गत. । प्रथमे दिने आसना[श्वा]श्वो मृतः । द्वितीयदिने पुत्र शूलरोगेण पीडितोऽत्यन्तं यदा मृतप्रायो जातस्तदा तां प्रतिमां श्राद्धानां दत्त्वा भोगनिमित्त सहस्रद्रम्मा दत्ता पश्चात् स्वस्थाने प्रेषिता, तां प्रतिमां सप्रभावां ज्ञात्वा कोऽपि प्रतिकूल न करोति । यस्य यदा यत् कार्यं न सिद्ध्यति, यात्रादौ मानिते तस्य तत्कार्यं सिद्ध्यति ।

इति देलउला श्रीआदिनाथसम्बन्धः ॥५५३॥

[554] अथ अभयदेवसूरिकृतनवांगवृत्तिसम्बन्धः ।

श्री अभयदेवसूरयो विहरन्तः थभणकस्थाने प्राप्ताः महाव्याधिकुष्ठरोगपीडिता हस्तमपि चालयितु न शक्नुवन्ति । ततः सन्ध्यायां पाक्षिकप्रतिक्रमणं कृत्वा श्राद्धानामग्रे गुरवः प्रोचुः-शरीरे   ऽोद्भवा पीडा विद्यते, तावता कल्येऽनशन ग्रहीष्यते, देहपीडया क्षणं स्थातुं न शक्यते । एवं प्रोक्त्वा रात्रौ पौरुषीं भणित्वा सुप्ता । अत्रान्तरे मध्यरात्रौ शासनदेवी समेत्य प्राह—प्रभो स्वपिषि जागर्षि वा ? गुरुणोक्त-जागर्मि । देवी प्राह—उत्तिष्ठ, नवैताः सूत्रकोरुट्टिका [[2]कुट्टिका] उन्मोह्य, उत्खेलय । गुरुराह-कथमेवंविधशरीरेणोत्खेलयामि । देवी प्राह हस्ते गृहाण त्वं, चिर-कालं जीविष्यसि [भक्तान् बोधयिष्यसि] नवांगवृत्तिं विधास्यसि । कथमेवंविधो देहोऽहं विधास्यामि ? देवतावग्-स्तम्भनकग्रामे सेटिकातटिनीतटे क्षेत्र विद्यते तत्रासन्नपलाशतरोरधः श्रीपार्श्वनाथप्रतिमा सुप्रभावास्ति नागार्जुनयोगिस्थापिता । तां वंदस्व, तत. स्वस्थशरीरो भविष्यसि । एवं प्रोच्य देवी तिरोऽभूत् । प्रातः श्रीसंघेन समं तत्र गताः सूरयः स्तुतिः कृता ।

जय तिहुअण वरकप्परुक्ख, जय जिण धन्नंतरि ।
जय तिहुअण कल्लाणकोस दुरिअकरि केसरि ॥१॥
तिहुअण जण अविलंघि आण भुवणत्तय सामिअ ।
कुणसु सुहाइ जिणेस पास थंभणपुरट्ठिअ[3] ॥२॥

इत्यादि स्तवं कुर्वतिपार्श्वे प्रतिमा प्रकटीजाता [भूता] । सम्पूर्णे स्तवे कृते [4]निरोगं वपुर्जातं । तत्र श्राद्धै प्रासाद. कारितः । तत्र प्रभुरुपवेशितः सूत्सवं लोका महोत्सवं कुर्वन्ति । तत श्रीअभयदेवसूरिणा नवांगवृत्ति. कृता । शासनदेव्या प्रभोः पूर्वभवा अवदाता. गुरोः प्रोक्ता इति । ततः स्तवन कृतम् ।

१-देलवाडा । २-कुञ्चिका । ३-E-सज्ञकप्रतौ इय स्तुति नोपलभ्यते । ४-नीरोगं ।

स्तम्भनस्थामहं स्तौमि तां पार्श्वप्रतिमां तथा ।
पूर्वाचार्यैं यथाख्यायि नानास्थाननिवासिना[भिः] ॥१॥
एकादशाब्दलक्षाणि वरुणस्त्वामपूजयत् ।
हरधिकान् (?) सप्तमासान् रामस्तामर्चयत् ॥२॥
ीत्यब्दसहस्राणि तक्षकेनापि पूजितः ।
सौधर्मसुरराज्येन ष्वर्चयित्वा चिरं ततः ॥३॥
अदायि वासुदेवाय द्वारवत्यां जिनोत्तमः ।
ततः सागरतः कांत्यां विंशत्यब्दशतानि च ॥४॥
पद्मावत्या ततोऽपूजि पालिताया निदेशतः ।
आनीतः सेटिकानद्यां नागार्जुनेन यो ॥५॥
स्वामिँस्ते पुरतस्तेन १रसस्तंभो विनिर्ममे ।
स्तम्भनाख्यं ततस्तीर्थं संजातं जगती[ति] श्रुतं ॥६॥
नवांगवृत्तिकारेणाऽऽचार्ये — णाभयसूरिणा ।
नवांगदायको नाथ त्वं पुनः प्रकटीकृतः ॥७॥
दुष्टैर्म्लेच्छैर्लाढदेशे गुर्जराख्ये परिप्लुते ।
मङ्गलर्त्वग्निचन्द्राब्दे १३६८ स्तम्भतीर्थमवातरः ॥८॥
प्रातः समुत्थाय जिनाधिनाथं यः स्तोत्रमेतत्पठति प्रवीणः ।
रोगोरगारिग्रहसिंहशंका मुक्त्वा यशःश्रीतिलकायते सः ॥९॥

इति श्रीपार्श्वस्तवः । श्री अभयदेवसूरिकृतनवांगवृत्तिसम्बन्धः ॥५५४॥

[555] अथ पेथडसाधुसम्बन्धः ।

कर्करासन्नग्रामे पेथडसाधुवणिग् उकेशज्ञातीयो वसन्नभूत्, तस्य पद्मिनी पत्नी । झाझणः पुत्रोऽभूत् । स बाल दुस्थावस्थायां सत्या दुःखी जात । इतस्तत्र तपागच्छाधीशा• श्रीधर्मघोषसूरय आगता., तेषां पार्श्वे धर्मं श्रुत्वा परिग्रहपरिमाण गृह्णन् सहस्रटककानामुपरि मम नियमोऽभवत् इत्युक्ते गुरुरन्वक् ज्ञानेन चेष्टया च त्वद्भाव्य महद् वर्तते, एतावता किं भविष्यति ? गुरुणा क्रमात् वर्धिते ज्ञानातिशयात्, पेथड प्राह—भगवन् अधुना मम किमपि विषेशद्रव्य नास्ति, पर कदाचिदग्रे प्राप्नोमि तदा मया पचलक्षटककामामुपरि गृहे न स्थाप्य, धर्मे व्ययनीयं

१-पारो, इति भाषायाम् ।

धनं, ततः क्रमाद् गुरुणा प्रत्याख्यानं कारितं। ततः क्रमाद्दुःस्थत्वे पुत्रं शुंडकारूढं[१] कृत्वा मालवकं प्रति पेथडश्चलन् मालवकपन्थौ गतः। तत्र सर्पमग्रे उत्तरंतं दृष्ट्वा यावत् स्थितस्तावदेको मारवः[२] समागात्, तेनोक्तं कथं स्थितं, स च सर्पं दर्शयामास। मारवः सर्पशिरःस्थदुर्गां दृष्ट्वावग्-यदि वहन्त्वग्रे अयास्यः तदा मालवकराज्यमभविष्यत्, तथापि शकुनं मानयित्वा गच्छ मालवके, महाधनी भविष्यसि। ततः स मालवके गतः। गोगादेवभूपस्य मन्त्रिणः सेवकोऽभूत्।

एकदा राज्ञा गृहीतेषु बहुष्वश्वेषु मन्त्री धनं, याचितोऽवग् "मम पार्श्वे [कोशे] नास्ति"। ततो राज्ञोक्तं "लेखकं[३] देहि" स च [निर्मूढो जात] सवालवित्वात्पूर्वं (?) कागद्रान्नारक्षिप्यत् ततो रक्षितो राज्ञा [चारके क्षिप्त.]। मन्त्रिपत्न्या पेथडाग्रे मन्त्रिधरणसम्बन्ध प्रोक्तः। पेथडो राज्ञः पार्श्वे गत्वाऽवक्-"स्वामिन् मन्त्री जेमनाय मोच्यतां"। राजाऽवग्-"लेखकं विना न मोक्ष्ये"। स पेथडः प्राह मन्त्री मुच्यतां, लेखकमहं दास्ये, अहं त्वस्य सेवकोऽस्मि। ततो मुक्तो मन्त्री भुक्त्वा भूपपार्श्वे समागात्। सर्वं लेखकं वर्षसर्वधिनं पेथडो ददौ। ततो मन्त्री मुक्त। क्रमाद्राजा पेथड वर्यं विज्ञ मत्वा मन्त्रिणं चक्रे। ततस्तोकैर्दिनै पचलक्ष [सपत्तिः] मिलिता [ततोऽधिकलाभे] पेथडश्चतुर्विंशतितीर्थंकराणां चतुरशीतिं (८४) प्रासादान् कारयामास। अधिके धने [तस्य] जिनधर्म्मं नाम दत्ते पश्चात् धनं धर्मे व्ययति। गुरोः पुरःप्रवेशे द्वासप्ततिः (७२) सहस्रटंकका व्ययिता। ३२ [द्वात्रिंशद्वर्षवयसि] वर्षे शीलव्रत गृहीतं। शत्रुञ्जयगिरिनारयोरेका ध्वजा स्वर्णरूप्यपट्टकूलमया दत्ता। ५२ द्विपञ्चाशद् घटीस्वर्णेनेन्द्रमाला परिदधे। सारंगराजा कर्पूरच्छलेन हस्तमधः कारितः, इत्यादि बहु धर्मं व्ययितम्।

इति पेथडसाधुसम्बन्धः ॥५५५॥

[556] अथ प्रह्लादनविहारसम्बन्धः।

प्रह्लादनभूपः प्रह्लादनपुरे राज्य कुर्वन्नेकदा अर्बुदाचले ययौ। तत्र कुमारपालप्रासादे जिनप्रतिमां पित्तलमयीं भंक्त्वा अचलेश्वरप्रासादे पित्तलमयं शंड, पित्तलमयं देवगृहोपरि कुंभं इत्यादि कारयामास। ततो गृहे समागात् कुष्टी जात., उपायाबहवः कृताः, रोगो न याति। ब्रह्मा-दीनामपि सेवन कृत तथाप्यधिका वेदना। गुरव' पृष्टा. प्राहु त्वया जिनप्रतिमाया भग. कृतः तेनात्रैतादृग् रोगो जातः, परत्र तु श्वभ्रमेव। राज्ञोक्त कथं याति रोगः। गुरुः प्राह यदत्र श्रीपार्श्वनाथस्य महान् प्रासाद कार्यते तत्र श्रीप्रभुप्रतिमा निवेश्यते, पुन. पूज्यते नित्य, तदा याति रोग.। ततो राज्ञा प्रासादादिसर्वं गुरूक्तं कृत, रोगो गतः, प्रासादे हेमकपिशीर्षाणि कारितानि तानि राज्ञा, ततः सप्रभाव तीर्थं जात, राजा धर्मी जात तस्मिन् देवगृहे प्रति दिनं अक्षता मूढकमिता आयाति एका गोणीपूगानां। ८४ इभ्याः सुखमनस्था देवनत्यर्थमायातिराजा सार्द्धं यं नृपा देववन्दनार्थं प्रतिप्रभात ये समायाति तेषां संख्या न ज्ञायते।

इति प्रह्लादनविहारसंबंधः ॥५५६॥

१-सुंडाया स्थाप्य। २-शाकुनिक.। ३-वही-चोपडो इति भाषाया।

[557] अथ तपागच्छभवनसम्बन्धः ।

श्रीमुनिरत्नसूरिसमीपेऽन्यदा श्रीजगच्चन्द्रसूरय शिष्याः प्रोचुः—भगवन्! सिद्धान्तोक्तक्रिया क्रियमाणा न दृश्यते । गुरुभि. प्रोक्त प्रमादादस्माभि कर्त्तुं न शक्यते । जगच्चन्द्राचार्योः जगुः—अहं यदि सिद्धान्तोक्तां क्रियां करोमि तदा गुरुणां रोचते न वा ? । गुरवो जगुः-अस्माकमनुमतिरेवास्ति । न्द्रगुरु' प्राह—तर्हि मां शिक्षयध्व क्रियाम् । तत श्रीगुरवो प्रोचुः—वय सम्यक् सिद्धान्तोक्तां क्रिया न जानीमः । सिद्धान्तोऽर्थो ज्ञायते तर्हि शिक्षयामि । गुरुणोक्तं—चि[वि]त्रावालोपाध्यायो देवभद्र' क्रियाकुशलोऽस्ति तत्पार्श्वे शिक्षय । ततस्तत्र गताः जगच्चन्द्रसूरय. तेषां पार्श्वे चारित्रोपसंपद ललु । तत श्रीजगच्चन्द्रसूरिभिस्तेषां सूरिपदं ददे । एक गच्छोऽभवत् द्वयोः । श्रीजगच्चन्द्रसूरयो यावज्जीवमाचाम्लाभिग्रह ललुः ।

तत संवत् १२८५ वर्षे तपा नाम जातम् । जगच्चन्द्रसूरिभिर्देवेन्द्रसूरीणां, देवभद्रसूरि-शिष्य विजयचन्द्रसूरीणा सूरिपद ददे क्रमात् । तत आराधनां कृत्वा स्वर्गं गता ।

इति तपागच्छभवनसम्बन्धः ॥५५७॥

[558] अथ वृद्धशालालघुशालाभवनसम्बन्धः ।

श्रीदेवेन्द्रसूरयस्तत्पट्टालंकरणाजाता' लघवो विजयचन्द्रसूरय , श्रीदेवेन्द्रसूरिभिर्दिनकृत्यवृत्तिः, सूत्रवृत्तिः, नव्यकर्मग्रन्थपचकवृत्ति [ति], सिद्धपचाशिकासूत्रवृत्ती[ति], षडावश्यकवृत्ति', धर्म्म-रत्नवृत्तिः, सुदर्शनाचरित्रं, भाष्यत्रय, सिरित्त . वादीन्[दय] चतुर्वेदनिर्णयकर्तार[ग्रन्थाः]श्र-क्रिरे । देवेन्द्रसूरयो मालवके विहार चक्रु श्रीविजयचन्द्रसूरयस्तभतीर्थे गता' । क्रमाद्गुरुपान्ते [गुरुभिः] कथितं दीक्षाप्रतिष्ठादि कुर्वते । क्रमात् श्रीसघ आत्मीयः कृतः । गुरवो मालवका-दागता, यावत् गुरवो धर्मशालायामागताः ससूरिर्यदाभ्युत्थानादि अपि न चक्रे तदा गुरुभि. कर्मबन्धं दृष्ट्वा श्रीसंघः कोऽस्माक विषयेऽस्ति । ततस्त्रयोदश साधवो गुरुसत्का, एका साध्वी, अष्ट कुटुम्बानि श्राद्धानामासन् । तत उकेशवंशश्रृङ्गारसा० साजणपुत्री दीक्षिता । गुरवो लघूपाश्रये स्थिता' । साध्वीद्वय जातम् । क्रमात् तेषां सूरीणां कुमारपालविहारे व्याख्या[न] कुर्वतां १८ [अष्टादश] शतमनुष्या धर्मं श्रोतुमुपविशन्ति । तदा लोका धर्मशालायां [लां] गच्छन्तो जगुः—"वृद्धशालाया गम्यते, लघुशालायां गम्यते । ततो वृद्धशाला-लघुशालानामजाते'। देवेन्द्रसूरयो वृद्धा, विजयचन्द्रसूरयो लघवः । पुन' पौषधशालायाः चारुआवाटकसत्कावृद्धनाम जातम्, ततो गच्छस्यापि ।

इति वृद्धशाला-लघुशालाभवनसम्बन्धः ॥५५८॥

[559] अथ देवेन्द्रसूरि-विद्यानन्दसूरिसम्बन्ध ।

श्रीदेवेन्द्रसूरय प्रह्लादनपुरे प्रह्लादनविहारे श्रीविद्यानन्दसूरीणां सूरिपद . ददु. । तदा देवगृहे कुङ्कुमवृष्टिरभूत् । श्रीदेवेन्द्रसूरयो मालवक[के] स्थिता. । श्रीविद्यानन्दसूरयो विद्यापुरः[रे] स्थिताः । त्रयोदशदिनान्तराले कार्मणवशाद् दिव ययु । गच्छस्ततः सूरिरहितो निराधारो जात. ।

इति देवेन्द्रसूरिसम्बन्धः ॥५५९॥

[560] अथ धर्मघोषसूरिसम्बन्धः ।

ततो लघुतपागच्छे धर्मकीर्तिरुपाध्यायो विद्यानन्दसूरिभ्राता बभूव । ततः संघस्यानुमतिं लात्वा धर्मकीर्तेरुपाध्यायस्य पात्रकम्बलसूरिमन्त्रपानवस्त्रादिदानात् प्रीणयित्वा सूरिपदं दापितम् । ततो धर्मकीर्तिरुपाध्या धर्मघोषसूरिर्नाम दत्तम् । धर्मघोषसूरेः पेथडसाधुर्महान् श्राद्धोऽजनि ।

धर्मघोषसूरयो देवकपत्तने समुद्रोपकण्ठे प्राप्ता बहिर्भूमौ यदा, तदा क्षुल्लेनोक्तम्—समुद्रो 'रत्नाकर' उच्यते, रत्नानि न दृश्यन्ते । ततो गुरुणा ध्यानबलात् समुद्रपार्श्वात् क्षुल्लकस्य रत्नं दर्शितम् । ततो वेलाबलात् समुद्रे गतम् ।

देवकपत्तने गोमुख यक्ष सोमनाथप्रासादे स्थितं हिंसाकुर्वाण कारयन्तं प्रबोध्य शत्रुञ्जयतीर्थे गुरवः स्थापयामासुः ।

एकदा विद्यापुरे दुष्टश्राविकाविहारितानि वटकानि गुरुभिर्दृष्टानि, प्रोक्त साधूनां पुरः, एतानि स्थाप्यतां कल्ये पाषाणा भवन्ति । ततस्तथाकृते तथा दृष्टानि तानि । धर्मघोषसूरीणां व्याख्यानं कुर्वतां तया दुष्टया श्राविकया कण्ठे केशगुच्छनकं विकुर्वितम् । गुरुभिर्विद्याबलान्मुखाद् बहिः कर्षितम् । ततो गुरुभि. मन्त्रितः पट्टकस्तस्याः श्राविकाया उपवेशाय दापितः । स च गुह्यदेशे विलग्नः । वन्दनकदानावसरे अपराऽऽस्तिकाभिरुक्तम्—"उत्तिष्ठ, वन्दनकानि ददस्व ।" सा प्राह—"पश्चाद् दास्यन्ते ।" सर्वासु श्राद्धीषु गतासु गुरूणां पुरो जगौ—"अद्यप्रभृति मया विघ्न न कार्यम्, मुच्यतां मा, प्रसादं कुरु । ततो गुरुभिरभिग्रह ग्राहिता, ततो मुक्ता ।

एकदोज्जयिन्यां गुरवोऽभ्येत्य तस्थु । साधवो बहिर्भूमौ[मिं] गताः, योगिना दुष्टेन प्रोक्ताः । अत्रायातै. स्थिरैः स्थेयम् । साधुभिः स्थिर स्थिता स्मेति प्रोचे-किं करिष्यसि ? तेन साधूनां दन्ता दर्शिता प्रौढाः । साधुभिर्गुरूणां योगिवचः प्रोक्तम् । ततस्तेन योगिना शालायां सर्पा विकुर्विता गुरुभिश्च नकुलाः प्रौढाः । ततो गुरुणा तथा जप्तं यथा रार्टि कुर्वाणो विहित., पर्यस्तिको व्याख्यानावसरे आनीतः । ततो गुरुपादयोः पतितोऽनुकूलः कृतः, श्राद्धैर्मोचित । एकदा गुरुभिरन्यो योगी दुष्ट. सिंहादिरूपैः साधून् भापयन् निषिद्ध ।

एकस्मिन् पुरे गुरुभिर्द्वारमभिमन्त्र्य सुप्यते । अन्यदा विस्मृते द्वारे शाकिनीभिर्गुरुसत्का पट्टिकोत्पाटिता । चतुष्पदे गुरुभिर्ज्ञाता तत्रैव स्तम्भिता वाचा दाने मुक्ता । कस्यचित् सर्पदंशे प्रातः काष्ठभारिकामध्ये विषापहारवल्ली दर्शिता, तया विषमुत्तारितं इत्याद्या बहवोऽवदाता जाताः ।

तत्कृता ग्रन्थाः सङ्घाचारवृत्तिः सुअधम्मकित्तोअतं स्तोत्र, कायस्थिति-भवस्थितिस्तवौ, २४ जिनभवनस्तवाः, २४ शत्राशर्मस्तोत्रं, 'देवेन्द्रैरिति" श्लेषस्तव, यूय युवा त्वा[त्व]मिति श्लेषस्तुतयः ४, केनचित् मन्त्रिणोक्तमष्टयमकमय काव्य प्रोच्योक्तम्—"ईदृग् काव्यमधुना न केनापि क्रियते ।" ततो गुरुभिः प्रोक्तम्—"अनस्तिर्न वाच्य ।" तेनोक्तं तर्हि दर्शयत । गुरुभिः प्रोक्तं कल्ये आगम्यम् । ततो गुरुभिः "जय वृषभनाभि स्तुयसे नि[त्य] नाभिरिति २८ काव्यानि नि, रात्रौ भित्तौ लिखितानि, प्रातस्तस्मै दर्शितानि । स चमत्कृतो गुरून् नत्वा श्राद्धो जातः । तैः सूरिभिः सोमप्रभसूरीणां सूरिपदं दत्तम् । मरणावसरे धर्मघोषसूरिभि. सिद्धान्तपुस्तिका

मन्त्रपुस्तिका दत्ता सोमप्रभसूरिभ्यः । सोमप्रभसूरिभिश्चारित्रपालनाय सिद्धान्तपुस्तिका गृहीता नान्या । ततः सा मन्त्र-तन्त्र-कार्मणाद्यनेककुटिलशास्त्रसम्बन्धिपुस्तिका जले क्षिप्ता पापहेतुका ।

इति धर्मघोषसूरिसम्बन्धः ॥५६०॥

[561] अथ सोमप्रभसूरिशतार्थकथकसम्बन्धः ।

सो सूरयः एकदा भीमपल्ल्यां नगर्यां ११ शतमहेभ्यशोभितायां चातुर्मासीं स्थिता । अधिकमासि द्विकार्तिके तिंके प्रान्ते चतुर्मासीप्रतिक्रमण कृत्वा यदा चेलु तदा एकादशाचार्यास्तत्रस्थाः प्रोचुः—यूय कथमेव प्रतिक्रमण कृत्वा चलथ ? । गुरुभिः प्रोक्तं विघ्न दृष्टमस्ति । ततो लोकैरन्यैः सूरिभिश्चाऽवहीलित सूरिवच । ततः परपाक्षिके रुद्धाऽऽचार्याश्च न चेलु' । केचित् गुरुणा सम चेलुः । ततः परचक्र समागतमकस्मात् । भग्ना भीमपल्ली । धनं गमितम् । सूरिभिरप्यन्यै' पुस्तकादि [रक्षितम्] । श्रीगुरुणां महत्त्व वर्धितम् । तत्कृता ग्रन्थाः यतिजीतकल्प, 'यत्राखिल' स्तुतयः "जनेन" स्तुतयः, श्री धर्मस्तुति[श्च] ।

इति सोमप्रभसूरिशतार्थकथकसम्बन्धः ॥५६१॥

[562] अथ देवसुन्दरसूरिसम्बन्धः ।

श्रीसोमतिलकसूरिशिष्या श्रीदेवसुन्दरसूरयोऽभूवन् । तेषां सूरिपद दत्त पत्तने । सो० प्रथमेन कारितम् १४२० वर्षे च युगप्रधानोपमा विहरन्ति ।

एकदा गुरवो बहिर्भूमौ गच्छन्तो गूंगडी सरसि प्राप्ताः । इतः कणयरीपादयोगिशिष्य उदायिपायोगिना नमस्कृता तदा स० [घपति] नरीआकेन पृष्टम्—"त्वं कुत आगाः ?" । योगी प्राह— रीपादयोगिना मम गुरुणा ज्ञानिना गिरनारस्थेनोक्तं अधुना पत्तने तव गूगडी सरसि यः सूरिर्मिलति स मुक्तिगामी त्वया वन्दनीयः । अतो मया । वन्दिताः । ते [तव] च गुरवो यदा दा खरतर सं०[घपति] गोस ऽभ्येत्योक्तं तैः—"वयं तुर्ये स्वर्गे गताः स्म" यत —

छेवट्ठेण गम्मइ चउरो, जा कप्प कीलीआई सु ।
चउसु दु दु कप्पवुड्ढी, पढमेण जाव सिद्धी वि ॥१॥

तेषां शिष्याः श्रीसोमसुन्दरसूरयोऽभूवन् । इति श्रीदेवसुन्दरसूरिसम्बन्धः ।

[563] अथ श्रीसोमसुन्दरसूरिसम्बन्धः ।

श्रीसोमसुन्दरसूरीणां गच्छे १००० साधवः तच्छिष्याः श्रीमुनिसुन्दरसूरि-श्रीजयचन्द्रसूरि-श्रीभुवनसुन्दरसूरि-श्रीजिनसुन्दरसूरयोऽभूवन् । तेषामादेशात् गुणराजसङ्घेन यात्रा कृता । तस्मिन् सङ्घे १० देवालयाः, ३५०० सेजवालकाः, ५०० पित्तलमयवाहनिका, ५०० घोटकाः, ३५००० ः, आचार्याणां शतानि, मनुष्याणां ल [त्रयं] ।

तारंगगिरौ अजितनाथप्रतिष्ठा मं०[न्त्रि] गोविन्देन कारि[रापि]ता। तत्र मनुष्याणां बहवो लक्षप्रमाणा मिलिताः कल्याणको(?)द्धारो गिरि[नार]गिरौ सं०[घपति] समरसिंहमा　देवाभ्यां कारितः। राणपुरे चतुर्मुखप्रासादः सं०　　न कारितः।

इति श्रीसोमसुन्दरसूरिसम्बन्धः ॥५६३॥

[564] अथ श्रीमुनिसुन्दरसूरिसम्बन्धः।

श्रीमुनिसुन्दरसूरिभिरष्टादशवारं लक्षप्रमाणसूरिमन्त्रो जपितो। यत्र तत्राऽमारिप्रवर्त्तनं राज्ञः पार्श्वात् कारितम्। शान्तिकरस्तवं कृत्वा अमारिर्निवारिता। १०८ हस्तप्रमाणा गुरुविज्ञप्तिका कृता। तत्कृतानेके ग्रन्थाः सहस्राभिधानबिरुदधारका। इत्याद्या बहवोऽवदातास्तेषां बभूवुः।

श्रीजयचन्द्रसूरिभिस्तु देवगिरिगतैः कृष्णसरस्वतीति बिरुदं प्राप्तम्। तच्छिष्याः श्रीरत्नशेखरसूरयोऽभूवन्। तेषां वारके गिरिनारगिरौ पूर्णसिंहकोष्टागारिक संघपति लखा[धा] प्रासादो कारितो। तत्र बिम्बप्रतिष्ठा च कारिता। कुंभलमेरौ समवसरणाकारप्रासादः कारितः। तत्र चतुर्मुखेषु चत्वारि बिम्बानि प्रतिष्ठापयन्। तच्छिष्याः श्रीलक्ष्मीसागरसूरयः सोमदेवसूरयो विजयन्ते।　　इतिश्रीमुनिसुन्दरसूरिसम्बन्धः ॥५६४॥

[565] अथ साधर्मिकभक्तौ कुमारपालभूपसम्बन्धः।

डीसामहास्थाने श्रीहेम[चन्द्र] सूरयो मरुस्थल्यां विहार कुर्वाणाः प्राप्ताः। पुरः प्रवेशोत्सवोऽजनि। गृहे गृहे सङ्घवात्सल्यसङ्घार्चा क्रियन्ते श्राद्धैः। इतस्तत्रैकस्य दुःस्थश्राद्धस्य पत्नी प्राह-गृहे गृहे गुरवः पादौ ददन्ते, आत्मनोपि गृहे आकार्यन्ते, एक कोरकवस्त्रं विद्यते यत्तद् विहार्यते श्रीमान् सङ्घोप्यात्मनो गृहे आयाति। श्रेष्ठी प्राह—गुरूणां श्राद्ध कुमारपालभूपोऽस्ति, यदि ज[ह]　　विहारित पश्यति तदात्मनः का गति ?। गुरवः आत्मनो गृहे दुर्बले कथमायास्यन्ति ?। पत्नी प्राहाऽऽयास्यन्त्येव। ततस्तेन गुरवः ससंघाः स्वगृहे आकारिता। तत् खासरक ज　　गुरुभ्यो दत्तम्। गुरुभि, तद्भाव बाढं ज्ञात्वा विहरितम्। ततो गुरुभिः सकल्पः सीवापित. [तम्]। स [तद्] च पत्तनपुरप्रवेशे परिदधे गुरुभिः। सन्मुखागतैः श्री कुमारपालभूपवाग्भटादिभिर्ध्यात न ज्ञायते कस्माद्धेतोरिदमीदृग् वस्त्र परिदधे। पुरमध्ये धर्मशालायामागताः। उपदेशो दत्तो गुरुभि.। सङ्घे समुत्थिते कुमारपालभूपेन पृष्ट—भगवन्! किमीदृक्ष वस्त्र परिदधे, अपराणि किं न विद्यन्ते ?। गुरवो जगुः—महानुभाग! इदं वस्त्रं एकस्यास्तिकस्यालये गृहवित्तमभूत।

तेन भक्त्या विहारितम्। राजाऽवग्-किमीदृशा दुःस्थाः सन्ति ?। अस्य वस्त्रस्य दाता कुत्रास्ति ?। गुरुभिः तस्य नाम-स्थानादि प्रोक्तं, तस्य गुणाश्च गृहीताः। ततस्तस्याऽऽकारयितुं से　: प्रेषिताः। स च श्राद्धो भीतोऽभूव। भार्याऽवग्-भीर्नानेया, गच्छ तत्र। तत्र गुरुपार्श्वे गतः राज्ञा सम्मानितः, परिधापितः, द्रम्मसहस्र　कानां दत्तम्। ततोऽन्येषां साधर्मिकानां सीदतां

७२ लक्षप्रमाणान् टङ्ककान् दत्ता । [वह्वी श्रीर्दत्ता इत्यपि]

इति साधर्मिकभक्तौ कुमारपालभूपसम्बन्धः ॥५६५॥

[566] अथ परोपकारे विक्रमार्कभूपसम्बन्धः ।

एकदा श्रीविक्रमार्कस्योपान्ते एको द्विजोऽभ्येत्यावग्—त्वं सत्यवान् परोपकार्यसि । मया भैरवगिरौ भैरवसिद्धपुरुषोपान्ते सेवा षण्मासी कृता कायप्रवेशविद्यार्थं, स च न दत्ते । त्वं तां दापय । ततो राजा तत्र गत. । तस्य सेवा तथा चक्रे यथा सद्य स प्रसन्नः प्राह्—मार्गय चित्तेप्सित । राजावग्—अस्मै विप्राय देहि । सिद्धपुमान् प्राह—अनेन मम षण्मासी सेवा कृता पर तादृग् पात्राऽभावाद् विद्या न दत्ता, त्व सुपात्रं विद्यते । ततो बलात्तस्मै विद्या दायिता । ततस्तेन राज्ञेऽपि दत्ता, पश्चाद् वलितौ पुरोपान्ते समागतौ, पट्टहस्तिन मृतं शुश्रुवतु तत. मन्त्र्यादयो दुस्थिता जाताः । तदा परकायप्रवेशविद्या परीक्षणाय स्वांगरक्षायै तत्र पुराद् बहिर्द्विज मुक्त्वा पट्टहस्तिनोंऽगे प्रविश्य स जीवो हस्ती जातः । हृष्टा मन्त्र्यादयो । तदा स द्विजो विक्रमार्कशरीरे प्रविश्य राज्यग्रहणाय पुरमध्ये समागत. । ततोऽखिलो लोको राजानमागतं गज सजीव दृष्ट्वा हृष्टा. । सर्वे मन्त्र्यादयस्त राजानं सेवन्ते । परं स राजा आलापयितुं न जानते । तदा सर्वे जगुः राजा ग्रथिलोऽभूत् । ततः पट्टराज्ञी राजानं न मन्यते असदृश जल्पनात् ।

इतो राजा हस्तो पुराद्बहिर्गतो विप्राङ्गं शिवाभक्षितं ज्ञात्वा वने गतः । वने शुकं म्रियन्तं दृष्ट्वा तस्यांगे प्रविष्ट. । स च शुको व्याधहस्ते उपविश्य जगौ—मां विक्रमार्कपट्टराज्ञ्यै देहि, धनं प्राप्स्यसि । ततस्तेन विक्रमार्कपट्टराज्ञ्यै दत्तः । राज्ञा बहुधन दत्त । राज्ञी तं शुक रमयन्ती जीवितादधिक मेने । कथादिभि काल गमयतः स्म ।

एकदा शुकोऽवग्—यदि कदाचिन्मम प्राणा यान्ति तदा त्वया किं क्रियते ? राज्ञी प्राह्—तव मृतौ मम मृतिः । ततोऽन्यदा शुको भित्तिस्थस्य गृहोलिकस्य म्रियप्राणस्य गते जीवे प्रविष्टः । शुक मृत ज्ञात्वा राज्ञी काष्टभक्षण याचते । विप्रराजाह–त्व कथ जीविष्यसि ? राज्ञी प्राह यदि शुको जीवति तदा मम जीवित । ततो विप्रराजा स्वशरीर मुक्त्वा शुकशरीरे प्रविष्टः । ततो-गृहोलिकाग मुक्त्वा राजा स्वशरीरे प्रविष्टो पूर्ववत् । राज्ञादीनालापयति । सत्य राजान ज्ञात्वा हृष्टा. सर्वे लोका । ततः स शुको धृतः हक्कितः । विक्रमार्केण सर्वमात्मचरित्र जात प्रोक्त । ततः शुक. स्वदेशाद् दूरीकृतो मृतः । राजा तु स्वराज्यमगीकृत्य प्रजाः पालयामास ।

इति परोपकारे विक्रमार्कभूपसम्बन्धः ॥५६६॥

[567] अथ कुमारपालभूपाऽमारि–प्रासादकरण–दानसम्बन्धः ।

कुमारपालभूपालो द्वासप्तति भूपान् स्वां आज्ञां ग्राहयामास ।

कर्णाटे[१] गुर्जरे[२] लाटे,[३] सौराष्ट्रे[४] कच्छ[५] सैन्धवे[६] ।
उच्चाया[७] चैव भंभेर्यां,[८] मालवे[९] मारवे[१०] तथा ॥१॥

कौंकणे[११] च तथा राष्ट्रे,[१२] कारे[१३] जालंधरे[१४] पुनः ।
सपादलक्षे[१५] मेवाडे,[१६] दोपे[१७] कासीतटे[१८] पुनः ॥२॥

एतेषु देशेषु अमारिं थामास भूपः । १४ देशेष्वपरेषु धनदानेन मैत्रीकरणेन च । १४४४ [१४४०] नवीना जिनप्रासादा दंडकलशमंडिताः । १६०० जीर्णोद्धारा भूपेन कारिताः । सप्त तीर्थयात्रा कृता च । २१ ज्ञानकोशा लेखिताः । ७२ लक्ष रुदतीद्रव्यपत्रं पाटितम् । ९८ लक्षद्रव्य औचित्ये [औदार्ये] दत्तम् । भग्नसाधर्मि १००० दीनारदानम् । एकस्मिन् वर्षे कोटिदीनारदानम् । एव १४ वर्षेषु १४ कोटिदानम् ।

इति कुमारपालभूपाऽमारि–प्रासादकरण–दानसम्बन्धः ॥५६७॥

[568] अथ कुमारपालभूपालपरिग्रहग्रहणसम्बन्धः ।

एकदा कुमारपालभूपो धर्मं श्रीहेम[चन्द्र]सूरिपार्श्वेऽशृणोत्—"धर्मं जग्राहेति सम्यक्त्वं प्रथमं जग्राह । त्रिकाल श्रीजिनार्चा, अष्टमीचतुर्दश्योः पौषधोपवासः, पारणकदिने दृष्टिगोचरागतानामास्तिकाना यथार्हं दानेन सन्तोष., सार्द्धं गृहीतपौषधानां सार्द्धं पारणककरणम्, साधूनां सविभागकरणम्, प्रत्यह त्रिभुवनदेवविहारे स्नात्रोत्सव', श्रीहेम[चन्द्र] सूरीणां पादयोर्वंदनकदानम्, ततोऽनुक्रमेण साधुवन्दनम्, पूर्वप्रतिपन्नपौषधाना यथार्हवन्दनम् । प्रथमव्रते अमारिप्रवर्त्तनम् । मारिः केनापि स्वयं च न वक्तव्या, मारिरित्यक्षरे विस्मृत्या जल्पने उपवासः । द्वितीयव्रते विस्मृत्याऽसत्यभाषणे आचाम्लतपः । तृतीयव्रते मृतधनोज्झनम् । चतुर्थव्रतेऽतः परं पाणिग्रहणाऽकरणम् । चतुर्दश्यां शीलम्, परस्त्रीसहोदरः । मव्रते षट्कोटय' कन , तारस्याष्टौ कोटयः, रत्नानां दशशतानि, तुलानाम्, ३२ घृतमणसहस्रम्, ३२ सहस्रमणतैलम्, ३ लक्षमूटकशालिः, युगन्धर्यादिधान्याना प्रत्येकं ११ लक्षाश्व. ११ सहस्रगजाः, २००० उष्ट्राः, १८ लक्षसुभटाः, ५०० यानपात्र[त्राणि], ५०० शकटवाहिन्यः, २०००० गावः, ५०० गृहाणि, ५०० हट्टा., ५०० सभाः इत्यादि ।

षष्ठे व्रते वर्षाकाले प त् दशयोजनात् पुरतो निषेध. । सप्तमे व्रते मद्याऽऽमिषमध्वादिनिषेधः, देवादत्तफलभक्षणनियमः । अष्टमे व्रते सप्तव्यसननिषेधः । नवमे व्रते सामायिकग्रहणं मौनेन, गुरोर्वंजम् । दशमे व्रते चतुर्मासे कटकाऽकरणम् । एकादशमे [व्रते] रात्रौ कायोत्सर्गकरणे मर्कोटकादिभिरचलनम् । द्वादशव्रते गुरुभ्यो दानं दत्त्वा साधर्मिकैः सह जेमनम्, पौषधशालाचिन्ताकारकस्य शततुरङ्गमदानम् ।

इति कुमारपालभूपालपरिग्रहग्रहणसम्बन्धः ॥५६८॥

[569] अथ रावणऋद्धिसम्बन्धः ।

समुद्र खाई, दश , वीस भुजा, ३० सहस्रवर्षायु. ३१ धनुषदेह, त्रैलोक्य कंटक, ९ कोडि राक्षस कुल, ९ कोडि ९९ ९ सहस्र ९ शत नवोत्तर रा , कुम्भकर्ण–

विभीषणप्रमुख १ लाख भाई, मन्दोदरी प्रमुख सवा भार्या, इन्द्रजित् प्रमुख सवा लाख बेटा, सूर्पणखादि २९८ भगिनी, ३ कोडि वेटी, ३ कोडि देव ओलग करइ, ८८ सहस्र ऋषिपर्व भरइ [गर्व धरइ] शिवशांति करइ, बृहस्पति आगमु[म] उद्धरई, नारायण छांवटाउ, गगा-यमुना चामरढ़ारि, नवदुर्गा आरती उतारइ, विश्वकर्मा सूत्रधार, विश्वामित्र आभरण घडावइ, छ ऋतु फूलपगर भरइ, मगल खेत्र खेडानइ, मन्दोदरी प्रमुख ८ अग्रमहिषी, अनन्तवासुकि अमृत झरइ, तक्षक भंडारउ करइं, कुलिक उपकुलिकपग चांपइ, चण्डिका तळारउ करइ, क्षेत्रपाल मसाहणउं (?) धरइ, सरस्वती श्रुति धरइ, गन्धर्व गीत गाइ, महेश्वरो पडहो वजावई, ब्राह्मी वीणा वाई, कृतान्त कोट(रे) छइ, मगल श्रीखण्ड घसइ, बुध सोनुं कसइ, धन्वन्तरि वैद्यकर्म करइ, केतु भामणां भमाडइ, लच्छि वस्त्र आणइ, सांतइ, धनद भण्डारउं करइ, मृत्यु पाताळि घालिउं इत्यादि१-२। इति रावण-ऋद्धिसम्बन्ध ॥५६९॥

[570] अथ इन्द्रऋद्धिसम्बन्धः ।

सौधर्मसभा, रत्नमयभूमि, शक्रसिंहासन, दक्षिणलोकपालस्वामी, ऐरावणगजः, निर्मल वस्त्र, मस्तके छत्रत्रय, कनकदण्डचामर, दिव्य आभरण, ३२ लाख विमानस्वामी, वज्रप्रहरण, ८४ सहस्रसामानिकदेव, ३३ त्रायस्त्रिंशक [त्] देवा, ४ लोकपाला, ८ अग्रमहिषी सोलसहस्र देवीसेविता, १२००० अभ्यन्तरसभातणा देव, १४००० मध्यसभातणादेव, १६००० बाह्यसभा-तणादेव, सातकटक, नाट्य,१ गन्धर्व,२ हय,३ गज,४ रथ,५ वृषभ,६ पदाति७, ३ लक्ष ३६ सहस्र अंगरक्षकदेव इत्यादि। इति इन्द्रऋद्धि सम्बन्धः ॥५७०॥

[571] अथ चक्रवर्तिऋद्धिसम्बन्धः ।

९६ कोडि ग्राम, ७२ लक्ष पाटण (पत्तन), ३६ लक्ष वेलाउल, १६००० रायतन, १८००० सामन्त, १४००० मडहाघा(?), ३२००० मुकुटवद्धभूपाः, ७०० राणा, १२००० महामण्डलेश्वर,

---

१—इतरदर्शनमतेन इद वर्णन सभाव्यते ।

२—भोजप्रबन्धे इत्थमुपलभ्यते—

आवास परिमार्ष्टि वायु ऋतवः पुष्पोत्कर तन्वते
कीनाशो महिषेण वारि वहते, ब्रह्मा पुरोधा पुरः
खट्वाया च नियन्त्रिता ग्रहततिर्निर्णेजकः पावक-
श्चामुण्डा तलरक्षिका गणपतिः शुकीवती चारक ॥१॥
दीपाः सर्पशिरोवसूनि सविता, सूप सुत' शक्रजित्-
लङ्का पू परिखाम्बुधिः परिकरोऽसृक्पास्त्रिकूटो गिरिः ।
देवा दास्यकृतोऽग्निविजयी भ्राता छटादोऽम्बुद' ।
पिष्टा यस्य विधिश्च सोपि गतवान् दुष्टां दशास्यो दशाम् ॥२॥

५०० महाधरा, ४०० चउरासीया, ३६ राजकुली, (९) नवनिधान, १४ रत्न–सुवर्ण–रूप्यादिक आगरा (आकर) इत्यादि । इति चक्रवर्तिऋद्धिसम्बन्धः ॥५७१॥

[572] अथ भोजोक्तसमस्या धनपालपूरित सम्बन्धः ।

एकदा स्त्रीपदयोर्नूपुरं शब्दयन्त, तस्याश्च हृदि हार दृष्ट्वा राजा भोजः धनपालपण्डित-पार्श्वे स । पप्रच्छ—"उ झखइ पयवास ।"

ततो धनपालास्तां पूरयामासेति—

एकइ मंदिरि ऊपनां, एकइ सुन्दरि वास ।
हार पयोधरसिउं रमइ, उ झंखइ पयवास ॥

यत. हार–नूपुरे स्वर्णकृता स्वाऽऽपणे घटिते । हारस्तु तथा हृदि न्यस्त., नूपुरं तु रजोवगुण्ठि पादे । अतो नूपुर नीचं स्थानं वीक्ष्य रुदतीति ति ।

इति भोजोक्तसमस्या धनपालपूरितसम्बन्धः ॥५७२॥

[573] अथ "चैत्रयडि[1]" पुरुषसम्बन्धः ।

एकस्मिन् पुरे एकस्य कौटुम्बिकस्य पुत्रस्य यथा तथा वदतो, यथा तथा कुर्वतो यथा तथा हिण्डतो, यथा तथा वीक्ष्य [क्ष] माणस्य "चैत्रयडि" नाम लोकैर्दत्तम् । स च दूनः सन् यदा सन्मुखं वक्ति तदा लोका जगुः—त्वं यत्र गच्छसि तत्र "चैत्रयडि" भविष्यसि । सोऽवग्—तत्राहं यास्यामि यत्र मां 'चैत्रयदि' कोपि न वदति । अत्र तु मामेव ख्यातिरभूत् । ततो निर्गतः स निदाघे तृषाक्रान्तः कस्यचिद् ग्रामोपान्ते कूपे । जलमागृह्णानां स्त्रीणामन्तराले प्रविश्य इतस्ततो विलोकयन् चुलुकेन जलं पिबन् स्त्रीभिः प्रोचे अयं चैत्रयडि कुत्रागतः ? । सोऽवग्—मां मातरेवं कथं जल्पथ ? । ताः प्रोचु तव लक्षणैः । तत स दध्यौ योजनानां शतमागां अत्रापि मम ज्ञायते । ततः स स्वपुरेऽभ्येत्य "चैत्रयडि" वदत्सु लोकेषु न चुक्रोध ।

इति चैत्रयडिपुरुषसम्बन्धः ॥५७३॥

[574] अथ दानभूषणपञ्चकादिभीमसम्बन्धः ।

एकदा युधिष्ठिरो भीमस्याग्रे प्राह–तथा क्रियते यथा श्रीः स्थिरा भवति । ततो भीमो महतीं शिलामुत्पाट्याधः स्थापयामास । युधिष्ठिरोऽवग् भ्रातः ! अधक्षिप्ताध एव याति । तत आवासस्योपरि स्थापयामास । तत्रापि भूपोऽवग्–अग्न्यादि भयमत्र । भीमोऽवग्–भ्रात., कुत्र न्यासीकरोमि ? । युधिष्ठिरोऽवग्—दान ददस्व । ततः सत्रागार मण्डयित्वा यथा तथा जल्पन्, सकाले कदाचित् विकाले श्रियमर्थिभ्यो दत्ते । राजावग्—भीम ! एवं श्रीः स्थिरा न भवति परं क्रूरजल्पनादिभिर्दानदूषणमेव भवति । भीमोऽवग् कथमेवं प्रोच्यते । राजा प्राह—

---

1 मूर्ख संज्ञाविशेष प्रतीयते ।

अनादरो[1] विलम्बश्च,[2] वैमुख्यं[3] विप्र[4] वच[.] ।
पश्चात्तापश्च[5] दातुः स्यात्, दानदूषणपञ्चकम् ॥१॥

भीमोऽवग्-कथं दास्यामि ? ।

आनन्दाश्रूणि[1] रोमाञ्च,[2] बहुमानं[3] प्रियं वचः[4] ।
तथानुमोदना[5] पात्रे, दानभूषणपञ्चकम् ॥२॥

पद्मपुरे चन्द्रयक्षान्तिके गत्वा दानफलं पृच्छ । ततो भीमस्तत्र गत. विनयपूर्वं दानफलं तस्य पार्श्वेऽप्राक्षीत् । यक्षोऽवग्-महानन्दपुरे अहं पूर्वभवे कर्कशवचो जल्पन् दानमदां तेनात्र भवे मम मुख शूकराकार जातम् । देह तु काञ्चनतुल्यम् । यत —

स्वर्णदानं रत्नदानं मुखेनैव सुभाषितम् ।
तेनेयं काञ्चनीकाया, तेनेदं शौकरं मुखम् ॥३॥

ततो भीमः स्वपुरेऽभ्येत्य पञ्चदूषणवर्जं पञ्चभूषणयुक्त दानं ददौ । ततो राजाऽवग्-भ्रातरेव दानं दत्त भवति । इति दानभूषणपञ्चकादिभीमसम्बन्धः ॥५७४॥

[575] अथ सद्यस्कधीविषये वैष्णवीतापसीसम्बन्धः ।

एकस्मिन् ग्रामे एका मठवासिका नारायणप्रासादे तिष्ठन्ती वर्षाकाले रात्रौ छन्न चूरिमं भक्षयन्ती लोकाग्रे जल्पति—अहं मासक्षपण कुर्वाणाऽस्मि । ततो लोका विशेषाद् वस्त्रदानात् भक्तिं कुर्वन्ति । वर्षाकालात्यये उज्जागरिते हरौ विशेषतो धनं ददन्ते ।

एकदा निशि चूरिम भक्षयन्तीं दृष्ट्वा नारायणस्तापसीं प्रति प्राह—रे रण्डे ! रात्रौ चू (चौ) रिम भक्षयसि, दिवा वक्षि लोकाग्रे अहं मासक्षपणं करोमि । तत सा उत्पन्नमतिः प्राह कृष्ण प्रति त्वमपि मम तुल्योऽसि । लोकाग्रे वक्षिः त्वं अहं वर्षाचतुर्मास्यां स्वपिमि रात्रौ तु लोकचरितानि विलोकयसि । अतोऽहं यादृशी तादृशस्त्वम् । ततः कृष्णो मौन चक्रे । इय मां विगोपयिष्यति । इति सद्यस्कधीविषये वैष्णवीतापसीसम्बन्धः ॥५७५॥

[576] अथ स्पर्द्धायां काक-हंससम्बन्धः ।

हंसेन समं काकः स्पर्द्धां दधान उड्डयति व्योम्नि । ततो द्वावपि समुद्रतटे गतौ । हंसो यावद् वार्द्धिमध्यस्थद्वीपे यियासुरभूत् तदा काकोपि चिचलिषुरजनि । हंसेनोक्त-त्व तिष्ठ । त्वया नोत्तीर्यते.। काकोऽवग्-त्व यथा व्योम्नि गच्छसि तथाहं न गच्छामि। ततो यदा हंसश्चालाब्धौ तदा काकोपि च कियति वारिधौ पश्चान्मुक्ते काकः खिन्नोऽधोमुख ऊर्ध्वपादो जातः । तदा हंसेनोक्तम्—

"जं जाणीइ रे ते कीजइ कागा, तलि मूंडी नइउं पागा ।"

काकोऽवग्—

"जेतइं बोलिउं ते हुं हंसा मज्झहि व जासिइ निश्चइ हंसा ॥१॥

ततः काकोऽवग्—कृपां कृत्वा मामुत्तारय । ततः कृपया हंसेन काकः पश्चान्नीतः, प्रोक्तं च अद्यप्रभृति त्वया स्पर्द्धा केनापि सार्द्धं न कार्या ।

इति स्पर्द्धायां काकहंससम्बन्धः ॥५७६॥

[577] अथ चट्टूछिन्ना न जीवन्तीतिसम्बन्धः ।

एकस्मिन् ग्रामे चत्वारि मित्राणि वसन्ति । ते तु एकदा कस्यचित् स्वकस्य कृपणस्य प्राघूर्णका गताः । तस्य गृहे पत्न्यपि कृपणा विद्यते । यदा सा स्त्री अर्द्धैश्चटुकैः[1] परिवेषयितुं लग्ना, तदा तेषां मध्ये एकेनोक्तम्—

"असिहत्था मसिहत्था, पुत्थयहत्था च ज्ञातपरमत्था ।
सव्वेहत्थ नमपत्था, चट्टूहत्थं पलोअंति ॥१॥

अपरः प्राह—

जीवन्ति खग्गछिन्ना, पव्वयपडीआ वि केवि जीवंति ।
जीवन्ति उदहिपडिआ, चट्टूछिन्ना न जीवन्ति ॥२॥

तृतीयः प्राह—

जीवन्ति अवहिपडीआ, म॰ पडीआ पुणोवि जीवन्ति ।
जीवन्ति खग्गछिन्ना, चट्टूछिन्ना न जीवन्ति ॥३॥

चतुर्थः प्राह—

जीवन्ति अग्गिपडीआ, भक्खिअखेडा वि केवि जीवन्ति ।
जीवन्ति सप्पगसीआ, चट्टूछिन्ना न जीवन्ति ॥४॥

श्रुत्वैतत् तया भृत्वा भृशं चट्टूकैः परिवेषितम् ।

इति चट्टूछिन्ना न जीवन्तीति न्धः ॥५७७॥

[578] अथो –मध्यम–जघन्यमानने 'दंतिल' सम्बन्धः ।

एकस्मिन् ग्रामे राज्ञो दंतिलो मन्त्री मान्योऽभवत् । राज्ञः पुत्रे जाते दानैर्दन्ति-

---

१ दर्वी—"कडछी" इति भाषायाम् ।

लपार्श्वात् सर्वे लोकाः प्रीणिता, पर गोरंभाह्वो भूमिभुग् गेहमार्जनकर्ता मन्त्रिणा गले गृहीत्वा निष्काशितः, स च रुष्टोऽभवत् ।

अन्यदा प्रातर्गेहं मार्जयन् गोरंभो राज्ञि शृण्वति प्राह—दंतिलस्याहो धैर्ष्य "राज्ञीं हस्तेन ति" । राजा श्रुत्वैतत् चकितो रुष्टोऽभवन् मन्त्रिणि । राजा कुदृष्टया दंतिलसन्मुख विलोकयति । ततो मन्त्रिणा ध्यातं-मया तु सर्वे लोका मानिता एव चिन्तयतस्तस्य गोरभ' स्मृतिमागात् । गोरंभः पृष्टो मन्त्रिणा स्वं जल्पितं जगौ । ततो मन्त्री गोरंभाय बहु लक्ष्मीं ददौ । गोरंभोऽवग् त्वया भीर्नानेया, तथाहं करिष्ये यथा राजाऽनुकूलो भविष्यति ।

ततोऽन्यदा गृहं मार्जयन् प्रगेऽहं कूपेऽपतम् । राजा मम लक्ष्मीं दास्यति । देवदत्तेन इदता चिर्भटं भक्षितम् । अहं विषं भक्षयिष्यामि राजा दंडयिष्यति । दंतिल परनारीसहोदर इत्यादि जल्पन् राज्ञा श्रुतो गोरभ' । ततो राज्ञा पृष्टं—भो गोरभ ? एवं असबद्ध किं जल्पसि ? गोरंभोऽवग्—मम वातूलं देहं विद्यते, तत एवं मया सदा जल्प्यते कूट । ततो राजा हृष्टो दंतिलस्योपरि जातः । स्वचिन्तित मारणसम्बन्धं च प्राह ।

यो न पूजयते गर्वादुत्तमाधममध्यमान् ।
भूपासन्नान् स मान्योपि भ्रश्यते दंतिलो यथा ॥१॥

नरपतिहितकर्ता द्वेष्यतां याति लोके, जनपदहितकर्ता त्यज्यते पार्थिवेन्द्रैः ।
इति महति विषादे वर्तमाने समाने, नृपतिजनपदाना दुर्लभः कार्यकर्ता ॥२॥

इत्युत्तममध्यमजघन्यमान्यमानने दंतिलसम्बन्धः ॥५७८॥

[579] अथ बुद्धौ खञ्ज–छागी सम्बन्धः ।

एकस्मिन् वने अजा यूथं चरितुं याति । एकः सिंहो गुहातः निर्गत्य मारं मारमजामेकां भक्षयति । यदा सिंहो धावति, छाग्यो नश्यन्त्यपरा । एकदैका छागी खञ्जा वीक्ष्य यदा पश्चात्स्यो दधाव तदा सा छागी सन्मुखं चलिता । सिंहो दध्यौ—अग्रे मम दृष्टौ सर्वाश्छाग्यः नश्यन्ति, एषा तु सन्मुखमायाति एवं ध्यायन् सिंहो जगौ—कासि त्व ? । छागी दध्यौ-एष मत्तो बिभ्यन्नेवं जल्पन्नसि । तत उच्चै स्वरं प्राह—मां किं नोपलक्षयसि ? । अहं त्वया श्रुतापि न ? ।

सप्तसिंहा मया जग्धा, दश व्याघ्रास्त्रयो गजाः ।
एकं सिंहं वने नष्ट हन्तुमत्रागतास्म्यहम् ॥ १ ॥

श्रुत्वेति सिंहो नष्ट । इति बुद्धौ खञ्जछागी सम्बन्धः ॥५७९॥

[580] अथ कर्मणि- कृष्णवलिपुत्रसम्बन्धः ।

एकदा सहस्रार्जुनभूपो हरमाराराध । तुष्टो हरोऽवग्-मार्गय । राजावग्—मम वर्या पत्नीं वितर । हरश्च वर्यं कंकण वितीर्याह—यस्य हस्ते इदं कंकणं क्षेप्स्यसि सा ते वर्या स्त्री भविष्यति ।

ततो भूपः पप्रच्छ–मम मृतिः कदा भविष्यति ? । हरोवग्—यदा तव मस्तके पुंसो हस्तश्चं- दिका पतिष्यति तदा मृतिस्ते । ततो राजा मार्गे समागच्छन् कृष्णं वीक्ष्य तेन समं वार्ता कुर्वाणः कृष्णहस्ते कंकणमक्षिपत्, स च दिव्या स्त्री जाता । सहस्राजुनः पट्टराज्ञीं चक्रे । क्रमादाधानं जातं तस्याः, कृष्ण विना जगत् दुःखितं जातम् ।

इत एकदाऽकस्मात् सहस्रार्जुनमस्तके तस्या एव पत्न्याः हस्तकंकणे लग्ने सति चंदिका पतिता, ततः स मृतः । पट्टराज्ञी कंकणं यावद् बभञ्ज तावत् कृष्णो जातः । लोका मुदं भेजुः, परं तस्याधानं ज्ञात्वोचुः किं करिष्यते ? । ततो विचार्य सर्वैर्हृदय विदार्य बालः कर्षितः । तस्य बलि नाम दत्तम् । इति कर्मणि कृष्णबलिपुत्रसम्बन्धः ॥५८०॥

[581] अथ गतधनरत्नार्कश्रेष्ठिसम्बन्धः ।

कस्मिंश्चित् पुरे रत्नार्कश्रेष्ठिनः पद्मपुत्रोऽभूत् । स च श्रेष्ठी पुत्रस्य पुरोरहो जगौ—लक्ष्मीं बह्वीं । राजा–वह्नि–चौरा [र] दायादा हरन्ति । अतः श्रीः कियती भुवो मध्ये क्षिप्यते । ततो निधानमर्द्धं लात्वा पुराद् बहिर्गत्वा देवगृहपार्श्वे भुवं खनित्वा यदा धनं स्थापयितुं सज्जी- भूतो रत्नार्कः पुत्रं प्रति प्राह—विलोकय देवगृहं, कोपि पुमान् कदापि धूर्तोऽन्यो वा भविष्यति तदा स धनं लात्वा [यास्यति, तत. पुत्रस्तत्र गत्वा] नरमेकं सुप्तं दृष्ट्वा पितुः पुरः प्राह । पिताऽवग्—कोपि धूर्तो निधिं लातुमागतो मिषं कृत्वा स्थितोऽस्ति । ततः पित्रा प्रेषितो ग , वीक्ष्य मृतप्रायं तं दृष्ट्वा पितुः पुरः प्राह । पिता प्राह—परीक्ष्य जीवतो मृतस्य च कर्णौ आनय तस्य । ततः कर्णौ छुरिकाच्छिच्छेद, स नोच्छ्वसितः । तत. कर्णौ पितुरर्पि [तौ] । पुनः पित्रा नासार्थं प्रेषितः । स च नासाया छिन्नायां नोच्छ्वसित. । ततो मृतं निश्चित्य निधानीकृत्य धनं गृहमागतौ ।

पुनरेकदा वन गतौ तौ पितृपुत्रौ । निधानं गतं दृष्ट्वा उदरं कुट्टयित्वा गृहमागतौ । ज्ञातं च ताभ्यां श्रीस्तेनैव धूर्तेन गृहीता । ततोन्यदा विटनटमध्ये लक्ष्मीं विलसयन्त गतनासिकाकर्णं दृष्ट्वा पुत्रः [पितु पुरः] प्राह । ततः सम्यक् तमुपलक्ष्य राज्ञोग्रे विज्ञप्तं [प्तः] लक्ष्मीगमन- सम्बन्धः । ततो राज्ञा स आकारितः । प्रोक्त, अस्य त्वया [श्री]गृहीता, पश्चादर्पय । स प्राह- मया मुधाऽस्य श्रीर्गृहीता नास्ति, मयास्य कर्णौ नासिके दत्ते, तत. श्रीर्गृहीता मम कर्ण–नासिका ददातु पुनः पश्चाल्लक्ष्मीं लात्वाऽसौ [गच्छतु]। ततो राजा प्राह—श्रेष्ठिन् ? यद् भवता गृहीतं तदर्प्पय । ततः श्रेष्ठी संतोष कृत्वा स्वगृहमगात् ।

इति गतधनरत्नार्कश्रेष्ठिसम्बन्धः ॥५८१॥

[582] अथ श्रीशंखेश्वरपार्श्वसम्बन्धः ।

सध–कृष्णयोः संग्रामे जायमाने जरासंधेन जरा कृष्णकटके मुक्ता । एकावतारिनरौ कृष्ण–बलभद्रौ मुक्त्वाऽन्येषा जरा । ततो नारायणः सः श्रीनेमिनं पप्रच्छ, 'जरासंधः स्वसेनां हनिष्यति, क उपायोस्ति येन स्वसेनाया जरा गच्छति ? ।

नेमिकुमारः प्राह—अत्र पुराद्‌बहिर्वटतरोरधः श्रीपार्श्वप्रतिमाऽस्ति, सा च कर्ष्यते, तस्या विस्तरात् स्नात्रं क्रियते, तेन स्नात्रजलेन स्वशिविरं सिच्यते, ततो जरोत्तरति । ततः कृष्णेन नेमिवचसि कृते सर्वसैन्यं सज्जीभूतम् । ततः कृष्णेन युद्ध कुर्वता शङ्खः पूरितः । प्रभुश्रीपार्श्व-दृष्टौ जरासंधशिविरं भग्नं, ततो जरासंधो यमगृहं प्रेषितः, ततो जयजयारावो जात । सर्वे भूपाः कृष्णं नेमुः । ततस्तत्र शंखपुरं वासितम् । ततः प्रभोः प्रासादः कारितः । तत्र प्रभु स्थापितः । ततः 'शङ्खेश्वर' इति ग्राम-पार्श्वयोर्नाम्नी जाते ।

इति शंङ्खेश्वरपार्श्वसम्बन्धः ॥५८२॥

[583] अथ कर्म्मणि वृषभसम्बन्धः ।

बंगदेशे महापुरे वर्द्धमानो धनी वणिग् दध्यौ–धनं विना नरो न मान्यते । यतः—

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि, यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः ।
य र्थाः स पुमान् लोके, यस्यार्थाः स च जीवति ॥१॥

द्विगुणं त्रिगुणं वित्तं भाण्डक्रयविचक्षणाः ।
प्राप्नुवन्त्युद्यमाल्लोका दूरदेशान्तरं गताः ॥२॥

सुभीताः परदेशस्य बह्वालस्याः प्रमादतः ।
स्वदेशे निधनं यान्ति, काकाः कापुरुषा मृगाः ॥३॥

एवं ध्यात्वा वर्धमानः शुभवेलायां लक्ष्मीमुपार्जनाय शकटं क्रयाणकैर्भृत्वा चचाल । तस्य मार्गे गच्छतः संजीवकनन्दकौ वृषभौ पीनस्कन्धौ वसतः । श्रेष्ठी मनसा विशिष्टचारिपानीयादि ददाति पालयति च । यमुनाया संजीवकः कर्दममग्नस्कन्धोऽसमर्थचरणो जातः । भग्नचरणं मृत प्रायं वृषभ ज्ञात्वा वर्द्धमानो जगौ परिवारस्य पुर., अत्र तु बहवः श्वापदा सन्ति, सार्थ-स्योपद्रवं करिष्यन्ति, तेनास्य वृषभोपान्ते रक्षार्थे जनास्त्रयस्तिष्ठन्तु, अपर. सार्थश्चलति यतः—

न स्वल्पस्य कृते भूरि नाशयेन्मतिमान्नरः ।
एतदेवात्रपाण्डित्यं यत् स्वल्पाद्भूरिरक्षणम् ॥४॥

एवं प्रोक्त्वा [च्य] संजीवकस्य रक्षाकृते नरत्रयं संयोज्य चलितो वर्धमानो परं वृषभं शकटे नियोज्य वसन्तपुरे गत. । इतो बह्वापायं वन दृष्ट्वा ते नराः दिनत्रयं स्थित्वा वसन्तपुरे गत्वा वर्द्धमानश्रेष्ठिन. पुरो जगु—सजीवको मृतो, न श्वसिति, तेन तत्र मुक्तः । श्रुत्वैतत् श्रेष्ठी खेद कृत्वा पुन शोक मुमोच । इतो बहुसिंहव्याघ्रादिजीवेषु दुष्टेष्वपि सत्सु जीवितव्यबलात् यमुनावातै सज्जीभूतो रोचमानां चारिं । चरन् यथे । वारि पिबन् मत्तोऽभूत् । नंदका वृषो गृहे पोष्यमाणोऽपि यत्नेन रक्ष्यमाणो मृतः । ततोऽन्येद्युः श्रेष्ठी पुनरपरौ वृषभौ शकटे नियोज्य ततः पुराच्चलन् यमुनातटे समागतस्तं वृषभं संजीवकं पीन दृष्ट्वा प्राह—

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं, सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति ।
जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः कृतप्रयत्नोऽपि गृहे न जीवति ॥५॥

ततः तं वृषभं स्वगृहे निनाय श्रेष्ठी ।

इति कर्म्मणि वृषभसम्बन्धः ॥५८३॥

[584] अथ परवंचने आषाढभूतिसम्बन्धः ।

देवपुरे देवशर्म्मा परिव्राट् धनी वसति स्म । स च कस्यापि न विश्वसिति धनगमनभयात् । एकदा धूर्त आषाढभूतिस्तत्रागतो मिलति स्म । तस्य प्राह—संसारोऽसारो मया दृष्टस्तेनाहं कस्यापि तापसादेः शिष्यो भविष्यामि । जीवितं तु तृणाग्नितुल्यं, लक्ष्मीश्चपला, संयोगास्तु पक्षिण इव । ततो देवशर्म्मणा वैरागी मत्वा दीक्षितः स्वशिष्यकृतः । परं द्रव्यगमनभयात्त मठी द्वारे शाययति रात्रौ । क्रमादाषाढभूतिना तस्य पार्श्वे धनभृता वासनिका ज्ञाता, लातुं तां ववाञ्छ ।

एकदा देवशर्माणमभ्येत्य यजमानः प्राह—अहं चन्द्रपुरे बहून् जनान् जेमयिष्यामि धनं च दास्यामि तेभ्यः । त्र पादावधारयध्वम् । ततस्तद्वचो मानितं । अन्यदा देवशर्म्मा शिष्ययुतश्चचाल । तां वासनिकां वस्त्रैर्वेष्टयित्वा चलति । अत्रान्तरे नदी समागता । देवशर्म्मा जगौ इदं शंबलं विद्यते तेन त्वं गृहाण, अत्र तिष्ठाहं मलोत्सर्गं कृत्वा समेष्यामि शीघ्रं । देवशर्मणि गते आषाढभूतिस्तां लात्वा नष्टः । देवशर्मा तु हुडयोर्युद्धं विलोकयन् यावत्तत्रागतः तावत्त शिष्यमदृष्ट्वा दुःखं चक्रे, मया मौढ्यादीदृशः शिष्य कृतः ।

इति परवंचने आषाढभूतिसम्बन्धः ॥५८४॥

[585] अथ लौल्ये जंबूकसम्बन्धः ।

एकस्मिन् नदीतटे हुडुयुगं युद्धं कर्तुं लग्न । अथ रोषेण हुडुयुगं दूरमपसृत्यापसृत्य भूयोऽपि समेत्य ललाटपट्टाभ्यां मिथः प्रहरति स्म । तयोर्ललाटयो रुधिरं निर्गच्छदभूत् । इतस्तत्रैको जम्बूकः समागात् । स च लौल्याद् रुधिरधारां पतन्तीं वीक्ष्य द्वयोरन्तरे प्रविश्य रुधिरं पिबति स्म । अथ तयोः शिरःसंपाते मध्यगतो जंबूको मृत । अतो द्वयोः कलिं कुर्वाणयोरन्तरे न प्रवेष्टव्यं जबूकवत् । इति लौल्ये जंबूकसम्बन्धः ॥५८५॥

[586] अथ दंभे कौलिकसम्बन्धः ।

वर्द्धनपुरे एकः कौलिको लक्ष्मीवान् वसति । तस्य मित्रं रथकारोऽस्ति विज्ञ. । एकदा कौलिको देवतायतने गतः । तत्रोत्सवं कृत्वा पश्चादागच्छन् वातायनस्थां राजकुमारीं सुरूपां दृष्ट्वा मोहितः । यतः—

यत्रोदकं तत्र पतन्ति हंसा, यत्रामिषं तत्र पतन्ति गृध्राः ।
यत्रार्थिनस्तत्र रमन्ति वेश्या, यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति ॥१॥

कौलिको गृहागतो राजकन्यागतचेतस्को निश्चेष्टकाष्ठो जातः। मित्रेण तच्चित्तस्थोऽभिप्रायो ज्ञातः। ततो वर्यकाष्ठैर्गरुड वरं घटयित्वा गदाचक्रसुदर्शनादिशस्त्राणि कारयित्वा रथकारेण कौलिकायार्पितानि। प्रोक्त त्वमेवमेव कुरु, तव पत्नी राजकन्या भविष्यति। ततः स कौलिको नारायणवेषशस्त्रभृत् गरुडारूढो वर्यकीलिकासवरणेन च गगने गच्छति स्म। मन्त्राधिष्ठितकीलिकायोगेन स गरुडो व्योम्नि याति। कर्षितायां कीलिकायां भूमौ तिष्ठति। ततो गरुडारूढः कौलिकः कृष्णवेषास्त्रभृत् वातायनस्थराजकुमार्याः पार्श्वगतः। तया च कृष्णः आगतो ज्ञातः, मोहिता च, सावग्-स्वामिंस्त्व मां परिणय। सोवग्-ममाग्रे षोडशसहस्राणि पत्न्यः सन्ति। त्वया किं करोमि। सावग्-अस्मिन् भवे त्वमेवशरण। ततस्तेन गन्धर्वविवाहेन परिणीता। स च कौलिको रात्रावभ्येत्य राजपुत्रीं सेवते स्म। क्रमात् मातृपितृभ्यां पुरुषसेविता पुत्री ज्ञाता। प्रोक्त च मात्रा—

नद्यश्च नार्यश्च समस्वभावास्तुल्यानि कूलानि कुलानि तासां।
तोयैश्च दोषैश्च निपातयन्ति नद्यो हि कूलानि कुलानि नार्यः ॥२॥

पृष्ट च मात्रा, त्वया किं पुत्रि परपुरुषसेवनं कृतम्?। साऽवग्-मया कृष्णः परिणीतोऽस्ति स्वय। ततो राज्या राज्ञी कृष्णमागत दृष्ट्वा हृष्टा, पत्युः पुरः प्रोक्तं च कृष्णागमनं। राजा कृष्णं जामातर ज्ञात्वा हृष्ट.।

एकदा राज्ञो वैरं वैरिभिर्जात। राजानो वैरिण. समागता., पुरं वेष्टितं वैरिभिः। ततो राजा सचिंतोऽभूत्। राज्योक्त—आत्मनो जामाता कृष्णः समस्ति स च वैरिणो जेष्यति। राज्ञा पुत्र्याः पुर प्रोक्त-तव पत्यौ कृष्णे, त्वत्पितुराज्यं यदि वैरिणो ग्रहीष्यन्ति तदा किं ते भविष्यति। ततस्तया पत्यु पुर प्रोक्त। स च सशये पतितोऽपि साहस कृत्वा गरुडमारुह्य वैरिणो जयाय। कौलिकेन ध्यातम्—

निर्विषेणापि सर्पेण कर्तव्या महती फणा।
विषं भवतु मा भूयात् फ[णा]टाटोपो भयङ्करः ॥३॥

तत कृष्णरूपः स प्राह—प्रिये दुःखं न कार्यं, वैरिणो जेष्यन्ते मया। ततो द्वितीयदिने गरुडमारुह्य वैरिण प्रति यदा चचाल कौलिक. तदा कृष्णो दध्यौ कदाचिदयं कौलिको जेष्यते वैरिभिस्तदा लोका गदिष्यन्ति कृष्णो भग्नः। ततः कृष्णः कौलिकशरीरमधिष्ठाय तथा युद्धं चक्रे यथा वैरिणो नष्टा.। केचन सेवका राज्ञो जातः। जयकारोऽभूत्। यत.—

सुप्रयुक्तस्य दंभस्य प्यन्तं न गच्छति।
कौलिको विष्णुरूपेण राजकन्यां निषेवते ॥४॥

इति दभे कौलिकसम्बन्धः ॥५८६॥

[587] अथ उपाये काकीसम्बन्धः।

एकस्य सरस्वतीरे वटवृक्षे काकन्या मालकः कृतः। तस्मिन् मालके काकी अण्डकानि मुञ्चते।

अहो अपूर्वं किमपि याति व्योम्नि, तदा कोलाहलं श्रुत्वा कम्बुग्रीवोऽवग्-भो सुहृदौ ! लोका कोलाहलं किं कुर्वन्ति । त जल्पन्त श्रुत्वा लोका जगुः—अरिष्टमेतत्पुरस्य करिष्यत्यतो हन्यताम् । ततो लोकैर्लेष्टुभिराहत्याहत्य पातितो भुवि खंडश. कृतश्च स । सुहृदौ स्वं जीव लात्वा नष्टौ ।

इति हितवाक्ये कच्छपसम्बन्धः ॥५९०॥

[591] अथ अनागतमति–प्रत्युत्पन्नमति–यद्भविष्यसम्बन्धः ।

कस्मिंश्चिज्जलाशये अनागतविधाना प्रत्युत्पन्नमतिः यद्भविष्यश्च त्रयो मत्स्या वसन्ति । एकदा तस्य सरसः पार्श्वे गच्छद्भि मत्स्यबंधकैरुक्त—अयं ह्रदो बहुमत्स्यपूर्णोऽस्ति तेनात्र मत्स्या गृह्यन्ते । एकेनोक्तं प्रातरत्रागत्य गृहीष्यते मत्स्या । एतदाकर्ण्य अनागतविधाता द्वयोः पुरः प्राह—कल्येऽमी निष्कापयन्ति । आत्मनो धरिष्यन्ति हनिष्यन्ति । प्रत्युत्पन्नमतिः प्राह—सत्योक्तमन्यत्र गम्यते । उक्तं च—

परदेशभयाद्भीता बहुमाया नपुंसकाः ।
स्वदेशे निधनं यान्ति काकाः कापुरुषा मृगाः ॥१॥

यस्यास्ति सर्वत्र गतिः स कस्मात्, एकत्ररात्रेण हि याति नाशम् ।
तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः, क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति ॥२॥

यद्भविष्योऽवग्-तदा हसित्वा अहो भवद्भ्यां सम्यग् चिन्तितं मंत्रितं च वचन श्रुतेः । एतत्पितामहं सरस्त्यक्तुं न युक्तं । आयुःक्षयादन्यत्र गतैरपि न छुट्यते । ततोऽह न यास्यामि । युवयोर्यद् रोचते तत् क्रियते । तत अनागतमतिप्रत्युत्पन्नमति अन्यत्र जलाशये गतौ सपरिवारौ । प्रातर्मनिकैस्तत्रेत्य जल विलोड्य यद्भविष्यः सकुटुंबो धृतः स विनाशितस्तै । उक्तं च—

अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिश्च यः ।
द्वावेतौ सुखमाधत्ते यद्भविष्यो विनश्यति ॥३॥

इति अनागतमति प्रत्युत्पन्नमतियद्भविष्यसम्बन्धः ॥५९१॥

[692] अथ चटिकासम्बन्धः ।

एकस्मिन् वने चटकदंपती वसतः स्म । चटिकया वृक्षे मालक कृतः, प्रसवो जातः । गजेनागत्य तथा धूनितो यथा तस्या अपत्यानि मृतानि । एवं चटिका रोदिति एवं पुनः पुनः मालके भग्ने चटिका प्रति चटकः प्राह—किं क्रियते अत्रान्तरे तत्रागत. कूटः पक्षी, वा वदन्ती प्राह—किं वृथा रुदितेन । च—

नष्टं मृ तिक्रान्तं नानुशोचन्ति पण्डिताः ।
पण्डितानां च मूर्खाणां, विशेषोऽयं : :॥१॥

रोदितव्य, क्रिया कार्या स्वशक्तितः । ममापि संतानमनेन हृतम् । तद् दुःखं ममाप्यस्ति । सावग्-मातुरपत्यानां मृतेरतीव दुःख जायते । काष्ठकूटः प्राह-सत्यमुक्तं त्वया, तत्पश्य मे बुद्धिप्रपञ्चम् । मम सुहृत् वीणारवा मक्षिकास्ति तीक्ष्णतुंडा, तया च गज आकुलः क्रियते । ततो मक्षिका आहूता कार्यं प्रोक्तं तस्या अग्रे । मक्षिकावग्-ते वचः प्रमाणं परं मम मेघनादो भेक सुहृद् वर्तते । स चाकार्यते सोपि भेक आकारितः । चटिकाऽवग्-हननस्वरूपं प्रोक्तं तस्याग्रे । ततः काष्ठकूट प्राह—भो मक्षिके वीणे ! तथा कुरु यथा गजो व्याकुलो भवति । मक्षिकया तत्प्रतिपन्नं काष्ठकूटोऽवग्-तस्य नेत्रे कर्षयिष्यामि । भो भेक ! त्वं गर्तायां गत्वा शब्दं कुरु तथा वारिलोभादंधीभूतो गजस्तस्यां पतित्वा म्रियते । ततो मक्षिकया गजो व्याकुलीकृत । काष्ठकूटेन चंच्वा नेत्रे कर्षिते । ततोंधीभूतो गजः तृषार्तो मेघशब्द श्रुत्वा जलभ्रान्त्या गर्तांध पपात मृत. । उक्तं च—

चटिका काष्ठकूटेन मक्षिका सह दर्दुरैः ।
महाजनविरोधेन कुंजरः प्रलय गतः ॥२॥

इति सामान्येनापि वैरं दुःखाय स्यात् । इति चटिकासम्बन्धः ॥५९२॥

[593] अथ स्वपराभव-समुद्रजयनोपरि टिट्टिभसम्बन्धः ।

समुद्रोपकण्ठे टिट्टिभदम्पती वसतः स्म । अन्यदा टिट्टिभ्योक्त पत्यु पुरः—स्वामिन् ! मम प्रसवावसरोऽस्ति कुत्र स करिष्यते मया । टिट्टिभः प्राह-अत्रैव रुचिर दृश्यते, अन्वे पार्श्वे कि म् । टिट्टिभी प्राह—कदाचिद्वार्द्धिरडकान्यपहरिष्यति तदात्मनो का गतिः ? टिट्टिभोऽवग्-समुद्रो मया सम वैरं न करिष्यति । यतः—

को गृह्णाति फणिमणि ज्वलमान तेजसा भुजंगस्य ।
यो दृष्ट्वैव प्रहरति, दुरासदं कोपयति कस्तम् ॥१॥
यः पराभवसत्रस्तः स्वस्थानं विजहौ (सत्यजेत्) नरः ।
तेन चेत्पुत्रिणी माता तद्वन्ध्या केन कथ्यते ॥२॥

टिट्टिभ्यवग्—सत्यमुक्त, पर वार्द्धि बली विद्यते । टिट्टिभोऽवग्-किं क्रियते वराकेन ? एतत् श्रुत्वा अब्धिर्दध्यौ-अहो गर्वः टिट्टिभस्य वराकस्य । यतः—

स्वचित्तकल्पितो गर्वः शक्यते केन वारितुम् ।
उत्क्षिप्य टिट्टिभः पादौ शेते भङ्गभयाद् भुवः ॥३॥

तन्मया कौतुक विलोकयिष्यते । अन्यदा टिट्टिभी अंडकानि मुक्त्वा चुण्यर्थं गता । समुद्रो वेलाव्याजेन तानि जहार । टिट्टिभी तत्रागता स्वाण्डकानि वार्द्ध्यापहृतानि दृष्ट्वा पतिं प्रति प्राह—स्वामिन् ! मयोक्त समुद्रोऽण्डकानि हरिष्यति, समुद्रेणापहृतानि, त्व तस्य किं करिष्यसि । टिट्टिभः

प्राहेति प्रिये ! मम चेष्टितं विलोकय. तथा करिष्ये यथा बिभ्यन् वार्द्धिरण्डकान्यर्पयिष्यति नः । टिट्टिभी प्राह असमर्थेन पुंसा समर्थस्य किं स्यात् । यतः—

पुंसामसमर्थानां उपद्रवायात्मनो भवेत्कोपः ।
पिठरं क्वथदतिमात्रं निजपार्श्वानेव दहतितराम् ॥४॥

अविदित्वात्मनः शक्तिं परस्य च समुत्सुकः ।
गच्छन्नभिमुखो नाशं याति वह्नौ पतङ्गवद् ॥५॥

टिट्टिभः प्राह—मैवं वद प्रिये ! । उक्तं च—

बालस्यापि रवेः पादाः पतन्त्युपरिभूभृताम् ।
तेजसा सह जातानां वयः कुत्रोपयुज्यते ॥६॥

टिट्टिभी जगौ—कान्त ! कथं महदब्धेः पराभवः स्यात् । टिट्टिभोऽवग्—

अनिर्वेदः श्रियो मूलं, चंचूर्मे लोहसन्निभा ।
अहोरात्राणि दीर्घाणि समुद्रः किं न शुष्यति ॥७॥

दुरधिगमः परभागो यावत् पुरुषेण पौरुषं न कृतम् ।
जयति तुलामधिरूढो भास्वानपि जलदपटलानि ॥८॥

टिट्टिभी प्राह—यद्यब्धिना सह वैरं करिष्यते तदा सर्वान् पक्षिणः आकारय । ततश्चंचुभिर्धूलिं क्षिपाब्धौ । यतः—

बहूनामप्यसाराणां, समुदायो हि दुर्जयः ।
तृणैर्वेष्ट्यते रज्जूर्यया नागोपि बध्यते ॥९॥

ततो टिट्टिभेन बक-सारस-चक्रवाकादयो विहङ्गमा आकारिता । प्रो स्वपराभवसम्बन्धः । ते पक्षिणः प्रोचु'—वयमसमर्थाः, समुद्रः कथं शुष्यते ?, वृथा प्रयत्नेन । उक्तञ्च—

अचलं प्रोन्नतं शत्रुं, यो याति मदमोहितः ।
युद्धार्थं स निवर्तेत, शीर्णदन्तो गजो यथा ॥१०॥

ततः आत्मनः स्वामी गरुडो विद्यते । ततः सुस्वामिबलात् समुद्रस्य शिक्षां ददाति । ततस्तैर्वैनतेयस्य दुःख ज्ञापितम् । अधुनाऽब्धिना पराभवः कृत आत्मजातेः, अन्येपि करिष्यन्ति । यतः—

एकस्य संवीक्ष्य, करोत्यन्योपि गर्हितम् ।
गता तिको लोकः, न लोकः पारमार्थिकः ॥११॥

राजा बंधुरबंधूनां, राजा चक्षुरचक्षुषाम् ।
राजा पिता च माता च, राजा रात्रिहरो (?) गुरुः ॥१२॥

सर्वेषा पक्षिणां राजा, त्वमसि गरुडोत्तम ! ।
कुरुते न तथांभोधिर्यथा शोषं प्रयास्यति ॥१३॥

ततो गरुडः सचिन्तो यावदभूत् तावत् कृष्णस्य दूतो गरुडमाकारयितुमागात् दैत्ययुद्धहेतवे । ततो गरुडः कृष्णपार्श्वे प्राह—टिट्टिभस्य अण्डानि समुद्रेणापहृतानि वालय । यतः—

यो न वेत्ति गुणान् यस्य, न तं सेवेत पण्डितः ।
न हि तस्मात् फलं किंञ्चिद्, सुकृष्टादूपरादिव ॥१४॥

ततः कृष्णोऽवग्—भो गरुडः ! त्वया सत्यमुक्तम् । यतः—

भृत्यापराधे यो दण्डः, स्वामिनो जायते यतः ।
तेन लज्जापितस्योत्था तु भृत्यस्य स्वामिनो भवेत् ॥१५॥

ततो गरुडादिपरिवारयुक् कृष्णः समुद्रकण्ठे गत्वा आग्नेयं शरं धनुषि आरोप्याब्धिं प्रत्यवग्—टिट्टिभस्याण्डकान्यर्पय, नो चेदनेन शरेण त्वां स्थलं करिष्यामि। ततः समुद्रो बिभ्यन् टिट्टिभाण्डानि पश्चाद्दौ, जगौ चाऽतो नापराधं करिष्ये । तत. सर्वे स्वस्वस्थानं ययु. । उक्तं च—

शत्रोर्विक्रममज्ञात्वा, वैरमारभते तु यः ।
स पराभवमाप्नोति, समुद्रः टिट्टिभाद्यथा ॥१६॥

इति स्वपराभव समुद्रजयनोपरि टिट्टिभसम्बन्धः ॥५९३॥

[594] अथ पापे पापबुद्धिसम्बन्धः ।

भीमपुराद् धर्म्मबुद्धिपापबुद्धी सुहृदौ विचार्य धनार्जनाय चलितौ । धनमुपार्ज्य पश्चात् स्वगृहं प्रति चेलतुस्त्वरित । यतः—

प्राप्तविद्यार्थशिल्पानां देशान्तरनिवासिनाम् ।
क्रोशमात्रोऽपि भूभागः शतयोजनवद् भवेत् ॥१॥

मार्गे पापबुद्धिर्धर्मबुद्धिं प्रत्यवग् सर्वं धन गृहे न नीयते । 'विनो बांधवा मार्गयिष्यंति, तेन पुराद्बहि न्यासीक्रियते धनं कियत् । यत —

न वित्तं दर्शयेत् प्राज्ञः कस्यचित् स्वल्पमप्यहो ।
मुनेरपि यतस्तस्य दर्शनाच्चलते मनः ॥२॥

यथामिषं जले मत्स्यैर्भक्ष्यन्ते श्वापदैर्भुवि ।
आकाशे पक्षिभिश्चैव तथा सर्वत्र वित्तवान् ॥३॥

ततस्तौ किञ्चिद् धनं ग्रामाद्‌बहिर्न्यासीकृत्य गृहमागतौ । एकदा रहो रात्रौ पापबुद्धिना तत्र गत्वा धनं गृहीतं । गर्तां पूरयित्वा स्वालये आगात् । अन्येद्युः धर्मबुद्धिः प्राह—धनं विना सीदामि । तेन धनमानीयते । पापधीः प्राह-गम्यताम् । ततो द्वावपि धनं लातुं गतौ । धनस्थानं धनरिक्तं दृष्ट्वा प्रथममेव पापबुद्धिः शिरस्ताडयन्नाह त्वयैव धनं गृहीतं धर्मबुद्धे ! नान्येन । यतोऽन्य. कोपि न वेत्ति । धर्मबुद्धिः प्राह—[भो दुरात्मन्, मैवं वद, नैनश्चौरकर्म करोमि] त्वया गृहीतं मायां कुर्वाणोऽसि त्वं, अहं तु धर्म्मभीः कस्यापि तृणमप्यदत्तं न गृह्णामि । यत.—

मातृवत् परदाराणि परद्रव्याणि लोष्टुवत् ।
आत्मवत् सर्वभूतानि वीक्षन्ते धर्मबुद्धयः ॥४॥

एवं द्वावपि विवदमानौ राजकुले गतौ मिथो दूषणानि प्रोचतुः । अथ धर्म्माधिकारिभिः प्रोक्त-दिव्यं क्रियताम् । तदा पापबुद्धिः प्राह-अहो न दृष्टो न्याय. सम्यग् भवद्भिः । उक्तं च—

विवादे त्वेष्यते पत्रं, तदभावे च साक्षिणः ।
साक्ष्यभावे ततो दिव्यं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥५॥

यदत्रविषये मे वनदेव्येव साक्षिण्यस्ति । सा च सम्यग् वक्ष्यति चौरं । ततस्तैरुक्त मुक्तं त्वया । उक्त च—

अन्त्यजोऽपि यदा साक्षी, विवादे संप्रजायते ।
न तत्र विद्यते दिव्यं, किं पुनर्यत्र देवता ॥६॥

ततो मानितमधिकारिभि. प्रातर्वनदेवता प्रक्ष्यते । पापबुद्धिना रात्रौ छन्नं पिता स्थापितः शमीकोटरे । प्रोक्तं च त्वयैवं प्रोच्यं धर्मबुद्धिर्धनं ललौ । द्वितीयदिने धर्मबुद्धिः पापधी अधिकारिणोऽन्ये बहवो लोकाः वनं गता । वनदेव्याः पूजां कृत्वा प्रोक्त—भो वनदेवते ! येन धनं गृहीतं तत् कथय । ततः शमीकोटरात् शब्दो निस्ससारेति धर्मबुद्धिर्धनं ललौ । ततो यदाधिकारिणो जगुस्त्वया धनं गृहीतं । तदा धर्मबुद्धिना शमी वह्निना ज्वालितः । शमीतरौ ज्वलति अर्धदग्धांग पापधीपिता स्फुटिताक्षः शमीकोटरान्निर्ययौ । ततोऽधिकारिभिः प्रोक्तं—श्रेष्ठिन्नेतत्कि त्वया वृद्धत्वे पाप कृतं । श्रेष्ठ्याह—पुत्रेण कारितोऽहं । ततो हक्कितः पापधीः । सर्वं धनं ददौ धर्मबुद्धिसत्कं । पापबुद्धिसम्बन्धिराज्ञा गृहीतं । पापबुद्धि. स्वदेशान्निष्काशितः । उक्त च—

धर्मबुद्धिः कुबुद्धिश्च द्वावेतौ विदितौ भुवि ।
पुत्रेण मारितः पाप-बुद्धिना धनलोभतः ॥७॥

इति पापे पापबुद्धिसम्बन्धः ॥५१४॥

[595] अथ स्वीयपापभवने बकसम्बन्धः ।

उपायं चिन्तयेत् प्राज्ञस्तथाऽपायं च चिन्तयेत् ।
पश्यतो बकमूर्खस्य, नकुलेन हता बकाः ॥१॥

कस्मिंश्चिद् वने वृक्षे बकास्तिष्ठन्ति । तस्य तरो कोटरे सर्पस्तिष्ठति । स चाहिर्जातमात्रान् बकबालकान् भक्षयति स्म । ततो दुःखितो बको जलाशयतीरे गत्वा रोदिति । कुलीरकोऽवग्-बक ! कथं रुद्यते ? । बकेन तस्य दुःख[स्व]रूपं प्रोक्तं । कुलीरो दध्यौ अयं मम सहजो वैरी विद्यते ततस्तथा वच्मि यथा सत्यानृतं भवति । बका अपि वैरिण क्षयं यान्ति, अहिरपि च । ततो मधुरं प्राह—

नवनीतां समां वाणीं, कृत्वा चित्तं तु निर्दयम् ।
तथा प्रबोध्यते शत्रुः, सान्वयो म्रियते यथा ॥२॥

तत कुलीरोऽवग्-अतो मत्स्यमांसखण्डानि लात्वा नकुलवर्मत सर्पकोटरं यावद् मुञ्च [यथा नकुलस्त दुष्टसर्पं विनाशयति] त्वमपि स्वभक्षणाय गृहाण । ततस्तेन कुलीरोक्तं कृतम् । ततो नकुलो मांसलुब्ध प्रथम सर्पं गृहीत्वा जघान । अतो वैरिणः पुर स्वगुह्यं न [प्र]काश्यम् ।

इति स्वीयपापभवने बकसम्बन्धः ॥५९५॥

[596] अथ मिथश्छले तुलाभार सहस्रसम्बन्ध. ।

पद्मपुरे जीर्णधनश्रेष्ठी क्रमाद् दरिद्रो भूत्वा धनमुपार्जयितु दूरदेशं यियासुरभूत् । यत.—

यत्र देशे[ऽथवा]स्थाने, भोगान् भुक्त्वा स्ववीर्यतः ।
तस्मिन् विभवहीनो यो, वसेत् स पुरुषाधमः ॥१॥

ततो लोहमयीं तुलां भारसहस्रघटितां धनदवणिजो गृहे ग्रहणके मुक्त्वा धनं लात्वा च सोऽचालीत् । ततो विदेशाद्धनमुपार्ज्य यदागतः श्रेष्ठी धनदस्याग्रे प्राह—धन सव्याजं गृहाण, निक्षेपकृता तुला दीयताम् । धनदोऽवग् तुला मूषकैः खादिता । ततः श्रेष्ठी आकारगोपनं कृत्वा धनदपुत्र नीत्वा नदीस्नानकरणमिषेण नद्यां गतः । तत्र वृक्षकोटरे धनदपुत्र दृढं स्थापयित्वा धनदगृहे स्नान कृत्वागात् । धनदोऽवग्-मम पुत्र क्वास्ति । जीर्णः प्राह—स्नानं कुर्वन् नद्यां श्ये[श्ये]नेनापहृतः । धनदोऽवग् जीर्णश्रेष्ठिन्निद कूट किं जल्प्यते ? । बालकः श्येनः कथमुत्पाट्यते । पुत्रमर्पय न चेत् त्वा राजकुले नेष्यामि । जीर्ण. प्राह-यथा मम तुला लोहमयी महती मूषकैः खादिता तथा तव पुत्रोऽपि श्येनेनापहृतः । राजकुले गतौ । तत्रापि न्यायो जात' । द्वयोरग्रे प्रोक्तं धनद त्वमस्मै तुलां वितर । जीर्णस्ततस्तुभ्यं पुत्रं दास्यति । ततो धनदेन तुला दत्ता जीर्णाय । जीर्णेन धनदाय धनदपुत्रो दत्तः ।

तुला भारसहस्रस्य यत्र खादन्ति मूषकाः ।
तत्र श्येनो हरेद्बालं न वि ोऽत्र विद्यते ॥२॥

इति मिथश्छले ।भारसहस्रसम्बन्धः ॥५९६॥

[597] अथ अनागतचिन्तने लोमांतकसम्बन्धः ।

अनागतं यः कुरुते स शोभते [न शोभते] यो न करोत्यनागतम् ।
[1]वने वसन्तस्य जराप्युपागता बिलस्य वाचा न कदापि निसृता ॥१॥

वने सिंहो वसति स्म । स त्वेकदा भक्ष्यं न प्राप । ततो महतीं गुहां दृष्ट्वा दध्यौ—नूनमस्यां गुहायां रात्रौ सत्त्वानि स्थास्यन्ति । ततोऽहं निभृतं तिष्ठामि । ततः सिंहस्तत्राऽस्थात् ।

इतो गुहास्वामी दधिपुच्छोनाम लोमातक [शृगालः] आगतो गुहाद्वारे सिंहपदानि प्रविशन्त्यपश्यत् । न निर्गच्छन्ति । लोमातको दध्यौ—अस्यां गुहायां सिंहो विद्यतेऽधुना, ततो मया सम्यक् कथं ज्ञास्यते । एवं ध्यात्वा स लोमातको द्वारस्थ एव पूत्कर्तुं लग्न इति भो गुहे ! यदि त्वं मामाह्वयसि तदाहं मध्ये ममेष्यामि, नो चेद् द्वितीयस्यां गुहायां यास्यामि । एवं पुनः पुनः जल्पन्तं श्रुत्वा सिंहो दध्यौ—अयमाकारणं विना नैवात्रायाति । ततः सिंहो जगौ—भो लोमातक ? आगच्छ आगच्छ । ततः सिंहशब्दं श्रुत्वान्येऽपि सत्त्वा दूरं नष्टाः । ततो लोमातको जगौ—"अनागतं य कुरुते स शोभते" इदं काव्यं प्रोच्य गुहायां न गतः । ततश्चिरं जिजीव लोमातक । सिंहो बुभुक्षितोऽन्यत्र गतः ।

इति अनागतचिन्तने लोमातकसम्बन्धः ॥५९७॥

[598] अथ स्वजातिनिकन्दनपापे गङ्गदत्तभेकसम्बन्धः ।

बुभुक्षितः किं न करोति पापं, क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति ।
आख्याहि भद्रे प्रियदर्शनस्य, न गंगदत्तः पुनरेति कूपम् ॥१॥

एकस्मिन् कूपे गंगदत्ताह्वो भेकोऽवसत् । अन्यैर्भेकैरुद्वेजितो दध्यौ—इतो निर्गत्य भेकानुपायात् हन्मि । यतः—

आपदि येनाऽपकृतं, येन च हसितं दशासु विषमासु ।
अपकृत्य तयोरुभयोः पुनरपि जातं नरं मन्ये ॥२॥

एवं विमृश्य अरघट्टीमारुह्य भेकः कूपाद्बहिर्निर्गत्य कृष्णसर्पस्य बिले प्रविष्टः । भेकं निर्भयमागच्छन्तो दृष्ट्वा सर्पः प्राह—भो प्रियदर्शनात्रागच्छ किं कार्यं तव । भेकोऽवग्—अहं भेकोऽस्मि गंगदत्ताह्वः त्वत्सकाशे मैत्र्यर्थमागाम् । सर्प प्राह अश्रद्धेयमेतत्—

यो यस्य जायते वध्यः स स्वप्नेऽपि कथंचन ।
न च तत्पार्श्वमभ्येति तत्किमेवं प्रजल्पसि ॥३॥

भेकोऽवग्—सत्यमिदं प्रोक्तं त्वया, परं स्वजात्याहं पराभूतः, ततस्तस्या निकन्दनाय तव पार्श्वे समागमम् । यतः—

[1] वनेऽत्र समागता जरा, बिलस्य वाणी न कदापि मे श्रुता । —इति क्वचिद् ।

सर्वनाशे समुत्पन्ने नामपि संशये ।
अपि शत्रुं प्रणम्योच्चै, रक्षेत् प्राणान् धनानि च ॥४॥

सर्पोऽवग्—वैरिणः कुत्र सन्ति । भेकोऽवग्–कूपे सन्ति । सर्पोऽवग्–तत्र कथं गम्यते । कथं ते दायादाः [भक्षयिष्यते] । भेकोऽवग्–अहं विश्वास्य दर्शयिष्यामि दूरतो यान् तान् त्वया भक्षणीया । ततो भेको गंगदत्त सर्पं अरघट्टघटमार्गेण कूपमध्ये नीतवान् । ततो भेकेन दर्शिता भेका भक्षिता सर्प्पेण । अथ भेकाभावे सर्प्पोऽवग्–तव वैरिणो भक्षिता मया । ततोऽह बुभुक्षितोस्मि, प्रयच्छ भक्ष्य, यतोऽहं त्वयानीतोऽस्मि । गगदत्तोऽवग्–भद्रं कृतं मत्कार्यं, त्वं स्वस्थाने गच्छारघट्टघटोमार्गेण । सर्पः प्राह–मदीयं विलमन्यै रुद्धं भावि, तेनात्रस्थस्य मम स्ववर्गादेकैकं भेकं प्रयच्छ प्रतिदिन नो चेत् सर्वानपि भक्षयामि [भक्षयिष्यामि] । ततो गंगदत्तो बिभ्यन् दध्यौ–मया किमकार्यं कृतम् । असौ वैरी अत्रानीतो मौढ्यात् यदि किं जल्पते सन्मुखं तदा सर्वान् मया सह भक्षयत्यहि । यतः—

अमित्रं ते मित्रं वीर्याभ्यधिकमात्मनः ।
स करोति निःसंदेहः स्वयं च विषभक्षणम् ॥५॥

तत्र न्येकैक सर्प्पायास्मै प्रतिदिनं । उक्तं च—

सर्वनाशे त्पन्ने, अर्द्धं त्यजति पण्डितः ।
न स्वल्पस्य कृते सर्वं नाशयेन् मै ास्थितः ॥६॥

एवं ध्यात्वा स्वजातित एकमेकं भेक सर्प्पाय ददाति गंगदत्तः । परोक्षे अपरमपि सर्प्पोऽवसरे भक्षयति । एकदा गंगदत्तपुत्रोपि बुभुक्षितेन भक्षितोऽहिना तत् ज्ञात्वा गंगदत्तो विलापान् करोति । ततो गंगदत्तपत्न्याभिहितं—कान्त ! असौ सर्प्पो यथा निष्काश्यते मार्यते वा तथा कुरु, किं रोदनेन । वैरी स्वगृहे आनीतो मुधा स्वजातिर्निष्ठापिता । कालेन गच्छता एको गंगदत्त उद्धरितः । सर्पेणोक्त भक्ष्यं देहि बुभुक्षितोऽस्म्यहम् । त्वयाहमत्रानीतोऽस्मि । गंगदत्त. स्वजीवितरक्षणाय विचिन्त्याह—भो मित्र ! त्वमत्र तिष्ठ, अहमन्यस्मात् कूपात् विश्वास्य विश्वास्य भेकानानेष्यामि त्वया ते भक्षणीयाः । एवं प्रोक्त्वा गंगदत्तोऽरघट्टघटोमार्गेण निर्गत्यापरकूपे गत । स च भेको यदा नायाति तदा सर्पो गोधां प्रति प्राह—गंगदत्तं विश्वास्यात्रानय । सा च गोधा पश्यन्ती गंगदत्ताधिष्ठिते कूपे ययौ जगौ च—भो गंगदत्त ! तव सुहृद् सर्प्पः तव वर्त्मं विलोकयन्नस्ति । तव विरहात्तस्य प्राणा यान्ति । ततो गंगदत्तोऽवग् गच्छ गोधे ! कथय मम मित्राय "बुभुक्षितः किं न करोति पापं ।"

इति स्वजातिनिकन्दनपापे गगदत्तभेकसम्बन्धः ॥५९८॥

[६99] अथ मुग्धत्वे रासभसम्बन्धः ।

आगतश्च गतश्चैव दृष्ट्वा सिंहपराक्रमम् ।
अकर्णहृदयो मूर्खो यो गत्वा पुनरागतः ॥१॥

[597] अथ अनागतचिन्तने लोमांतकसम्बन्धः ।

अनागतं यः कुरुते स शोभते [न शोभते] यो न करोत्यनागतम् ।
[1]वने वसन्तस्य जराप्युपागता बिलस्य वाचा न कदापि निसृता ॥१॥

वने सिंहो वसति स्म । स त्वेकदा भक्ष्यं न प्राप । ततो महतीं गुहां दृष्ट्वा दध्यौ–नूनमस्यां गुहायां रात्रौ सत्त्वानि स्थास्यन्ति । ततोऽहं निभृतं तिष्ठामि । ततः सिंहस्तत्राऽस्थात् ।

इतो गुहास्वामी दधिपुच्छोनाम लोमातक [शृगालः] आगतो गुहाद्वारे सिंहपदानि प्रविशन्त्यपश्यत् । न निर्गच्छन्ति । लोमातको दध्यौ–अस्यां गुहायां सिंहो विद्यतेऽधुना, ततो मया सम्यक् कथं ज्ञास्यते । एवं ध्यात्वा स लोमातको द्वारस्थ एव पूत्कर्तुं लग्न इति भो गुहे ! यदि त्वं मामाह्वयसि तदाहं मध्ये समेष्यामि, नो चेद् द्वितीयस्यां गुहायां यास्यामि । एवं पुनः पुनः जल्पन्तं श्रुत्वा सिंहो दध्यौ–अयमाकारणं विना नैवात्रायाति । ततः सिंहो जगौ—भो लोमातक ? आगच्छ आगच्छ । ततः सिंहशब्दं श्रुत्वान्येपि सत्त्वा दूरं नष्टाः । ततो लोमातको जगौ—"अनागतं य कुरुते स शोभते" इदं काव्यं प्रोच्य गुहायां न गतः । ततश्चिरं जिजीव लोमातक । सिंहो बुभुक्षितोऽन्यत्र गतः ।

इति अनागतचिन्तने लोमातकसम्बन्धः ॥५९७॥

[598] अथ स्वजातिनिकन्दनपापे गङ्गदत्तभेकसम्बन्धः ।

बुभुक्षितः किं न करोति पापं, क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति ।
आख्याहि भद्रे प्रियदर्शनस्य, न गंगदत्तः पुनरेति कूपम् ॥१॥

एकस्मिन् कूपे गंगदत्ताह्वो भेकोऽवसत् । अन्यैर्भेकैरुद्वेजितो दध्यौ–इतो निर्गत्य भेकानुपायात् हन्मि । यतः—

आपदि येनाऽपकृतं, येन च हसितं दशासु विषमासु ।
अपकृत्य तयोरुभयोः पुनरपि जातं नरं मन्ये ॥२॥

एवं विमृश्य अरघट्टीमारुह्य भेकः कूपाद्बहिर्निर्गत्य कृष्णसर्पस्य बिले प्रविष्टः । भेकं निर्भयमागच्छन्तो दृष्ट्वा सर्पः प्राह—भो प्रियदर्शनात्रागच्छ किं कार्यं तव । भेकोऽवग्—अहं भेकोऽस्मि गंगदत्ताह्वः त्वत्सकाशे मैत्र्यर्थमागाम् । सर्प. प्राह अश्रद्धेयमेतत्—

यो यस्य जायते वध्यः स स्वप्नेऽपि कथंचन ।
न च तत्पार्श्वमभ्येति तत्किमेवं प्रजल्पसि ॥३॥

भेकोऽवग्—सत्यमिदं प्रोक्तं त्वया, पर स्वजात्याहं पराभूत, ततस्तस्यां निकन्दनाय तव पार्श्वे समागमम् । यतः—

[1] वनेऽत्र समागता जरा, बिलस्य वाणी न कदापि मे श्रुता । —इति क्वचिद् ।

सर्वनाशे समुत्पन्ने नामपि संशये ।
अपि शत्रुं प्रणम्योच्चैः, रक्षेत् प्राणान् धनानि च ॥४॥

सर्पोऽवग्—वैरिण' कुत्र सन्ति । भेकोऽवग्-कूपे सन्ति । सर्पोऽवग्-तत्र कथं गम्यते । कथं ते दायादाः [भक्षयिष्यते] । भेकोऽवग्-अहं विश्वास्य दर्शयिष्यामि दूरतो यान् तान् त्वया भक्षणीया । ततो भेको गंगदत्त. सर्प्पं अरघट्टघटमार्गेण कूपमध्ये नीतवान् । ततो भेकेन दर्शिता भेका भक्षिता सर्प्पेण । अथ भेकाभावे सर्प्पोऽवग्-तव वैरिणो भक्षिता मया । ततोऽहं बुभुक्षितोस्मि, प्रयच्छ भक्ष्य, यतोऽहं त्वयानीतोऽस्मि । गगदत्तोऽवग्-भद्रं कृतं मत्कार्यं, त्वं स्वस्थाने गच्छारघट्टघटीमार्गेण । सर्पः प्राह-मदीयं बिलमन्यै रुद्धं भावि, तेनात्रस्थस्य मम स्ववर्गादेकैकं भेकं प्रयच्छ प्रतिदिनं नो चेत् सर्वानपि भक्षयामि [भक्षयिष्यामि] । ततो गंगदत्तो बिभ्यन् दध्यौ-मया किमकार्यं कृतम् । असौ वैरी अत्रानीतो मौढ्यात् यदि किं जल्पते सम्मुखं तदा सर्वान् मया सह भक्षयत्यहि । यतः—

अमित्रं ते मित्रं वीर्याभ्यधिकमात्मनः ।
स करोति निःसंदेहः स्वयं च विषभक्षणम् ॥५॥

तत्प्रयच्छाम्येकैक सर्प्पायास्मै प्रतिदिन । उक्तं च—

सर्वनाशे त्पन्ने, अर्द्धं त्यजति पण्डितः ।
न स्वल्पस्य कृते सर्वं नाशयेन् मौढ्यमास्थितः ॥६॥

एवं ध्यात्वा स्वजातित एकमेक भेकं सर्प्पाय ददाति गगदत्तः । परोक्षे अपरमपि सर्प्पोऽवसरे भक्षयति । एकदा गगदत्तपुत्रोपि बुभुक्षितेन भक्षितोऽहिना तत् ज्ञात्वा गगदत्तो विलापान् करोति । ततो गगदत्तपत्न्याभिहितं—कान्त ! असौ सर्प्पो यथा निष्काश्यते मार्यते वा तथा कुरु, किं रोदनेन । वैरी स्वगृहे आनीतो मुधा स्वजातिर्निष्ठापिता । कालेन गच्छता एको गंगदत्त उद्धरितः । सर्पेणोक्त भक्ष्यं देहि बुभुक्षितोऽस्म्यहम् । त्वयाहमत्रानीतोऽस्मि । गंगदत्त. स्वजीवितरक्षणाय विचिन्त्याह—भो मित्र ! त्वमत्र तिष्ठ, अहमन्यस्मात् कूपात् विश्वास्य विश्वास्य भेकानानेष्यामि त्वया ते भक्षणीयाः । एवं प्रोक्त्वा गंगदत्तोऽरघट्टघटीमार्गेण निर्गत्यापरकूपे गतः । स च भेको यदा नायाति तदा सर्पो गोधां प्रति प्राह—गंगदत्तं विश्वास्यात्रानय । सा च गोधा पश्यन्ती गंगदत्ताधिष्ठिते कूपे ययौ जगौ च—भो गंगदत्त ! तव सुहृद् सर्प्पः तव वर्त्म विलोकयन्नस्ति । तव विरहात्तस्य प्राणा यान्ति । ततो गंगदत्तोऽवग् गच्छ गोधे ? कथय मम मित्राय "बुभुक्षितः किं न करोति पापं ।"

इति स्वजातिनिकन्दनपापे गगदत्तमेकसम्बन्धः ॥५९८॥

[599] अथ मुग्धत्वे रासभसम्बन्धः ।

आगतश्च गतश्चैव दृष्ट्वा सिंहपराक्रमम् ।
अकर्णहृदयो मूर्खो यो गत्वा पुनरागतः ॥१॥

वने सिंहस्य शृगालो मित्रं । एकदा सिं हरि सह युध्यतः शरीरं जर्जरं जातम् । गन्तुं न शक्नोति । ततो बुभुक्षितो मित्रं प्रति प्राह—सत्त्वमेकमानय, क्षा , प्राणा यास्यन्ति । ततः शृगालो भ्रमन् कुम्भ रासभं दृष्ट्वा अवग्–भो लम्बकर्ण ! क्षामः कथं त्वम् ! सोऽवग् कुम्भकृद् भारं वाहयति परं किमपि न दत्ते । स्वयं शुष्कानि तृणानि भक्षयित्वा निर्वा करोमि तेनाहं क्षामोऽस्मि । शृगालो –यदि मदुक्तं कुरुषे तदा तथा करोमि यथा प्रचुरं भक्ष्यं तव भवति । ततो लंबकर्णः शृगालेन सह चचाल । अग्रे सिंहस्य नीतस्तदा सिंहश्चपेटां दातुमुद्यतोऽभूत् । तदा रासभो नष्टः स्वस्थाने गतः । सिंहोऽवग्–शृगालं मित्रं प्रति, बुभुक्षा लग्ना । किं करिष्यते । शृगालोऽवग्–मया तु भक्ष्यं आनीतं, त्वया स भक्षितुं न शक्यः किं क्रियते । सिंहोऽवग् पुनरानय तं तथा करिष्येऽहं यथा न पश्चाद् ति । ततः शृगालो रासभपार्श्वे भो मित्र ! त्व कथं नष्टः । स रासभोऽवग्–सिंहो मां हन्तुं धावितस्तेनाहं नष्टः । शृगालोऽवग्–न सिंहोऽयं किन्तु रासभी त्वामालिंगितुमनुरागत्वाद्धाव । त्वं तु नष्टः ततः ति सा रासभी त्वां विना न शेते । ततः स्वदर्शनेन तां प्रीणय । ततो रासभेन मुग्धत्वात् शृ ः प्रतिपन्नं । गतः सिंहेन चपेटया हतः भक्षि । ततोऽन्यैरुक्तं आ गत । इति मुग्धत्वे रासभसम्बन्धः ॥५९९॥

[600] अनुचितजल्पने भकारसम्बन्धः ।

स्वा त्सृज्य यो दंभी सत्यं ब्रूते सुमंदधीः ।
सः थाद् यते कुम्भ रो युधिष्ठिरो यथा ॥१॥

भीमपुरे युधिष्ठिरः कुम्भकारः कस्मिंश्चिदुत्सवे गच्छतो कर्परं टे हढं । पृथ्वीचंद्रिका पतिता द् रुद्धा ।

अथ कदाचिद् दुर्भिक्षे पतिते परदेशे चन्द्रपुरे चन्द्रभूपस्य मिलितः । ललाटे महाकारां चद्रिकां दृष्ट्वा स सेवकः कृत, द्विगुणो ग्रासः कृतो राज्ञा। अन्यदा परचक्रे समागते राज्ञोक्तं– वैरिणं सम्मुख गत्वा युद्धं वैरिणनाशय, त्वया पुरापि युद्धं कृतमस्ति । ततः स प्राह— वा प्रोच्यते । राज्ञोक्त सत्यमेव जल्प । ततस्तेन स्वललाटे चंद्रिकापतनस्वरूपं प्रोक्तम्। ततो राज्ञा अर्धचन्द्रदानेन सर्वग्रास गृहीतः सः ।

इति वसरोचितजल्पने अनुचितजल्पने च कुम्भकारसम्बन्धः ।

[601] अथ मातृहितोपरि सिंहीसम्बन्धः ।

कस्मिंश्चिद्वने सिंहदम्पती तिष्ठत. स्म । अपत्यानि न भवन्ति । एकदा सिंहेन बालः शृगालो दृष्टः । स च पुत्रो ममायमिति पत्न्यै दत्तः । उक्तं च—त्वया पुत्रवदयं पालनीयः । ततः सिंही यामास तं । क्रमात्सिंह्या पुत्रद्वयं जनितं । त्रयोऽपि सोदरीभूत्वा तिष्ठन्ति गच्छन्ति । एकदा त्रिभिर्मत्तो गजो दृष्टः । ततः सिंहपुत्रौ धावितु लग्नौ । तदा तृतीयः सिंहीपुत्रः प्राह–भो सोदरौ!

अयमात्मनो वैरी नो हनिष्यति । ततस्त्रयोऽपि स्थिताः । गजो गतो । ततः सिंहजौ मातापित्रोः पुरः प्रोचतुः—गजप्राप्ति–स्वरूपं । आवयोरय भ्राता गजात् कथं बिभेति ? शृगाल-तयोरुपरि रुष्टोऽत्यन्तं । ततः सिंह्याकार्य शृगा(ल)पुत्रं प्रति प्रोचे । तव सोदराविमौ तयो. पुत्रयोः पुर. प्रोक्तम्—अयं युवयोर्भ्राता मिथः कलहं मा कुरुध्वं । ततः शृगालपुत्रो मातुः पार्श्वे प्राह—मातरहं एताभ्यां भ्रातृभ्यां हीनबलः कथं । माता —

शूरोऽसि कृतविद्योऽसि दर्शनीयोऽसि पुत्रक ।
परं यत्र त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते ॥१॥

इति मातृहितोपरि सिंहीसंबंधः ॥६०१॥

[602] अथ अविमृश्यवाग्विकरणे रासभसम्बन्धः ।

सुगुप्तं रक्ष्यमाणोऽपि दर्शयेद्दारुणं वपुः ।
व्याघ्ररूपधरस्तादृग् वाक्कृते रासभो हतः ॥१॥

पद्मग्रामे रजकस्य शुद्धपटस्य गर्द्दभो घासाभावात् कृशोऽभूत् । इतो रजकेन व्याघ्रचर्मप्राप्तं । ततो व्या परिधाप्य रासभशरीरो व्याघ्रतुल्य रासभ कृत्वा यवक्षेत्रेषु यवान् चारयामास रजकः । ततः क्षेत्रेषु लोका व्याघ्र दृष्ट्वा दूर नश्यन्ति । स च रासभः पीनतनुर्दूरादपि शब्दम-क[रो]त् । ततो यवपालकै रासभो ज्ञातो व्याघ्ररूपभृत् । एवं सम्यग् ज्ञात्वा व्या ो रासभस्तैर्हत ।

आत्मनो मुखदोषेण बध्यन्ते शुकसारिकाः ।
बकास्तत्र न बध्यन्ते मौनं सर्वार्थसाधकम् ॥१॥

इति अविमृश्यवाग्विकरणे रासभसम्बन्धः ॥६०२॥

[603] अथ मौनं वर्यमिति एकतादितापससम्बन्धः ।

एकस्मिन्नदीतटे एकत, द्वित, त्रितं नामानो भ्रातरस्तपस्तपन्ति । तेषां तपसा धौतपोतिकाः आकाशे निराधारा तिष्ठति । अत्रान्तरे मध्यंदिने गृध्रेण केनचि लेन मांसिका धृता । तां धृतां दृष्ट्वा गृध्रं प्रति एकत प्राह—मुञ्च मुञ्चेमां । तत धौतपोतिकाशाद् भूमौ पपात । द्वितेनापि तदा प्रोक्त मा तस्यापि सा पपाताध । ततस्तृतीयो मौन चक्रे ।

मुञ्च मुञ्च पतत्येको मा मुञ्च पतितोऽपरः ।
उभौ तौ पतितौ दृष्ट्वा मौनं सर्वार्थसाधकम् ॥१॥

इति मौनं वर्यमिति एकतादितापससम्बन्धः ॥६०३॥

[604] अथ स्वजातिवल्लभेति मूषिकासम्बन्धः ।

यमुनानद्यां शालकायनमुनेस्तपः कुर्वतः स्नानं च । एकदा तस्य पश्यत श्येनो मूषिकां

छली । तां श्येनगृहीता दृष्ट्वा णस्तापसः प्राहेति— `मां वराकिकां । तामसुंचानं श्येनं प्रति ततः प्रस्तरान् तापसः प्राक्षिपत् । सोऽपि श्येनः पाषाणहतो भूमौ पपात । मूषिका-मुनेः शरणं प्राप्ता । श्येनोऽपि लब्धचैतन्योऽवग्—भो मुने ! मदीय भक्ष्यं उद्दालितं त्वया विधिना दत्तम् । ततस्तव तपः कृतं निष्फलं भविष्यति । शालंकायनो जगौ—एनां शरणागतां प्राणात्य-येऽपि न मु यहम् । ततः श्येनो गतः । मूषिकाथ प्राह–मां स्वाश्रय नय नोचेदपरो हनिष्यति । ततस्तेन ऋषिणा सा मूषिका कुमारी कृता पुत्रीतिकृत्वा स्थापिता । क्रमाद् यौवनं प्राप्ता । ऋषिर्वरं विलोकयते । यतः—

च शीलं च ाथता च विद्या च वित्तं च वपुर्वयश्च ।
एतान् गुणान् सप्त परीक्ष्य देया, कन्या बुधैः ` मचिन्तनीयम् ॥१॥

ततो मुनिना वरो रविरानीतः । स च तापकत्वात् ः । ततो मेघ आनीतो मुनिना स च कृष्णत्वात् तया न वरितः । ततो वायुरानीतोऽपि मुनिना चपलत्वान्नांगीचक्रे । ततो मुनि ` आनीतः कठिनत्वान्नांगीचक्रे । ततो मुनिना पुनः सा मूषिका । यतः—सूर्य-मेघवायुपर्वतमूषका कर्मं बलिनः, अतो मूषकपत्नी जाता । र तिं संतुष्टाभूत् सा, यतः—

भर्तारमुत्सृज्य मारुतं गिरिम् ।
स्वयोनिं मूषिका प्राप्ता जातिर्दुरति ः ॥१॥

इति ातिवल्लभेति मूषिकासम्बन्धः ॥६०४॥

[605] भये वणिक्–प्रियासम्बन्धः ।

या मामुद्वि ते नित्यं, सा मामवगूहति ।
प्रिय क ! भद्रं ते, यन्ममास्ति हरस्व तत् ॥१॥

हीरग्रामे धीरो वणिग् बभूव । तस्य वृद्धत्वेन पत्नी मृता । अपरा परिणीता च तेन । सा च वृद्धत्वात्तमति न मन्यते । एकदा चौरः प्रविष्टः । तं च प्रविष्टं दृष्ट्वा भयभीता पतिपार्श्वे गत्वा प्राह—स्वामिन् ! चौरः प्रविष्टः मां अपहरिष्यति । रक्ष रक्ष मां । ततो वणिजा तां स्थिरीकृत्य चौ `प्रोक्तं । भद्रस्त्वं भयं मा कार्षीः । यन्मम वन तत्तवैव य । ममोपकार-ः, यन्मम पत्नी मयि जल्पन्ती कृता त्वया । कल्ये अभ्येत्य प्रोक्तव्यं–"भो श्रेष्ठिन् ! तव पत्नी-मपहरिष्यामि सहस्रदीनारान् गृहीयाः ।" ततो द्वितीयदिने सा विशेषतो भीता चौरेण पतिभक्ता स्त्री जाता । यतः—या मामुद्विजते नित्यं ।

इति भये वणि प्रिया न्वः ॥६०५॥

[606] अकार्यकरणे हालिकस्त्री–मृगारि सम्बन्धः ।

वालिग्रामे हालिकपत्नी हालिकं त्यक्त्वान्यं पतिं चिकीर्षुरभूत् । एकदा तस्याः परविचाप-

हारको मिलित.। तेन सम प्रीतिर्जाता। हालिक उवाच मम पार्श्वे बहु धनं विद्यते तद्गृही गम्यते। तत आवाभ्यां सुखेन स्थीयते। ततः सा रात्रौ पतिं सुप्तं मुक्त्वा बहुवस्त्राभरणादि लात्वा तेन सह चचाल। मार्गे नदी समेता। चौरश्चिन्तयामास—किमनया स्त्रिया यया पति : सा च मम पार्श्वे न स्थास्यति अतो वञ्चयित्वैना यामि। ततस्तां प्रति प्राह—नदी अगाधा विद्यते, प्रथम दि मह्यमर्प्पय। नद्याः परकूले मुक्त्वा त्वां नेष्यामि। तत एक त्रुटितं जीर्णवस्त्र परिधानाय रक्षयित्वा परं तस्यार्प्पितम्। स च सर्वं लात्वा नदीमुत्तीर्य नष्ट. यदा स नागच्छति तदा शीते पतति एकाकिनी निर्वस्त्रा गल्लदत्तहस्ता साभूत्।

इतस्तत्र तटैका शृगालिर्मांसपिंडं लात्वाऽऽगात्। तदा जलान्निर्गत्य मत्स्यो मांसपिंडलोलुपो मृतप्रायो भूत्वा स्थितः। तं लातुकामा शृगालिका स्वा त् मांसपिंडमधो मुक्त्वा] गृहीतुमधावत्। अत्रान्तरे व्योम्नः गृध्रोऽभ्येत्य मांसपिण्ड लात्वाकाशे गतः। मत्स्योऽपि नदीजले गतः। ततस्तां शृगालीं व्यर्थश्रमां गृध्रसम्मुखमवलोकयंतीं सवेल किंयंतीं दृष्ट्वा स्त्रिया तयोक्त शृगालीं प्रति—

गृध्रेणापहृतं मांसं, मत्स्योऽपि सलिलं : ।
मत्स्यमांसपरिभ्रष्टे किं निरीक्षसि जंबुके ॥१॥

शृगालिका प्रत्युत्तरं जगौ—

यादृशं पाण्डित्यं तादृशं द्विगुणं तव ।
न जारो न च भर्त्तारो किं निरीक्षसि नग्निके ॥२॥

ततः सा स्त्री चिरं दुःख प्राप्ताऽकायकरणात्।

इति अकार्यकरणे हालिकस्त्रीशृगालिका न्धः ॥६०६॥।

[607] अथ स्वदेश—स्वजनसुखे श्वानसम्बन्धः ।

सुभिक्षाणि च सर्वत्र, शिथिलाश्चापि योषितः ।
एको दोषो विदेशे स्यात्, स्वजातिश्च विरुध्यते ॥१॥

एकस्मिन् ग्रामे चित्राङ्गः श्वानस्तिष्ठति। तत्र दुर्भिक्षे पतिते सर्वे लोका अन्नाभावात् दुःखि जाताः। अत्रान्तरे चित्रांगः क्षुत्क्षामः सुभिक्ष श्रुत्वा तत्राऽचलत्। वगदेशे गतः। तत्रै गृहे शिथिला पत्नी यथा तथान्न क्षिपति। स च तदन्न भक्षयन् तृप्तोऽभूत्। पर बहिर्निर्गतोऽन्यैः श्वानैः पराभूतः। ततः श्वा दध्यौ—अहो वर स्वदेशस्तत्र दुर्भिक्षेपि स्वेच्छया हिण्डते स्थास्यते तत श्वाऽसौ स्वदेशे गतः। देशान्तरायातः स चान्यै. पृष्ट.—भो चित्रांग ! कथय देशान्तरवार्ता। स प्राह—सुभिक्ष, शिथिला स्त्रियः, पर तत्र देशे सुहृद्-स्वजनः कोपि न। अन्ये श्वानोऽन्य देशान्तरायात कदर्थयन्ति। स्वजातिर्न सुखावहाऽन्यत्र।

इति स्वदेश—स्वजनसुखे श्वानसम्बन्धः ॥६०७॥

[608] तृष्णार्या परीक्षितपरीक्षादौ नापितसम्बन्धः ।

कुदृष्टं कुपरिज्ञातं, कु ... कुपरीक्षितम् ।
तन्नरेण न ...व्यं, नापितेनाऽत्र यत्कृतम् ॥१॥

पाटलिपुरे मणि... श्रेष्ठी धने क्षीणे सुप्तो दध्यौ—

शीलं शौचं क्षान्तिर्दाक्षिण्यं मधुरता कुले जन्म ।
न विराजन्ते हि सर्वे, वित्तविहीनस्य पुरुषस्य ॥२॥

गगनमिव नष्टतारं, शुष्कमिव सरः ...ानमि... रौद्रम् ।
प्रियदर्श... ...पि रूक्षं, ...ति गृहं धनविहीनस्य ॥३॥

इत्येवं संप्रधार्य रात्रौ सुप्तो दध्यौ—प्रातरनशनेन प्राणत्यागं करिष्यामि । माणिभद्रे सुप्ते पद्मनिधिनिधानदेवोऽभ्येत्याऽवग्—मरणं मा कुरु, तव पूर्वकृतशुभ[क]र्मणा कल्ये मध्याह्ने क्ष... रूपभृदहं तवालये समेष्यामि, त्वयाहं लकुटप्रहारेण ताडितव्यः शिरसि पादयोश्च । ततोऽहं कनकमयोऽक्षयनिधिर्भविष्यामि । एवं प्रोक्त्वा स गतः । प्रातर्दध्यौ श्रेष्ठी—

व्याधितेन सशोकेन चिन्ताग्रस्तेन जन्तुना ।
कामार्त्तेन च मत्तेन दृष्टः स्वप्नो न विद्यते ॥४॥

अयं स सत्य एव दृश्यते । ततो लकुटानयनादि सामग्री कृता श्रेष्ठिना । अत्रान्तरे पत्न्या नखप्रक्षालनाय नापित आकारितः स्वगृहे । इतः पद्मनिधिः क्षपण... : समागात् । अथ स तमालोक्य प्रहृष्टमना भोजनं कारयित्वा यथासन्नकाष्ठदण्डेन तं शिरस्यताडयत् । स हेममयः पुरुषोऽभवत् । ततस्तं गृहमध्ये मुक्त्वा श्रेष्ठी प्राह नापितं प्रति, दीनारशतं त्वया ... कस्याप्यग्रे न प्रोच्यम् ।

ततो नापितो निजगृहे गतो दध्यौ । क्षपणका लकुटाहताः ... मयाः पुरुषा भवन्ति । ततोऽहमपि क्षपणकं भोजयित्वा लकुटप्रहारदानात् कनकपुरुषं कृत्वा सुखीभविष्यामि । ततः प्रातः क्षपणकपार्श्वे गत्वा नापितोऽवग्—अद्यास्मद्गृहे भिक्षा सपरिवारेण कार्या । तेनोक्तं भो श्रावक धर्मज्ञ त्वं, वयमेवं कस्यापि गृहे यथा—तथा भिक्षां न करिष्यामः तेन भाव्यमेव । ततो नापितोऽप्याह—प्रभूत ...ार्हा वयं, सर्वसामग्री कृता, यद्यस्मद्गृहे न समेष्यति [भवान्] तदा मया न भोक्तव्यं । पुस्तकलि ... यद्धनं विलोकयिष्यते तदहं दास्ये । एका वर्या शर्वरी आनीताऽस्ति [तत् सर्वथा कालोचितं कार्यम्] । ततो मध्याह्ने क्षपणकं स्वगृहे नीत्वा वर्याहारैश्चर्यां कारयित्वा नापितः क्षपणकं दृढलकुटप्रहारैः शिरसि पादयोः पुनः पुनराजघान । [क]पाटयुगलं दृढं दत्ते । (बहिः) निस्सर्तुमशक्तः उच्चैः पूत्कारं चकार । लोका मिलिताः, राजाप्यागतः, जर्जरगात्रं क्षपणकं दृष्ट्वा प्रोचु... । कथमयमेवं कुट्टितः । स च यथा दृष्टं माणिभद्रश्रेष्ठिकृतं कनकपुरुषप्राप्ति(प्र)युतं[वृत्तं] जगौ । ततः श्रेष्ठी पृष्टो राज्ञा, पद्मनिधिदेववरप्राप्तिं जगौ । ततः सर्वैरपि प्रोक्तं—

एकाकी त्यक्तसकेतः पाणिपात्रो दिगम्बरः ।
सोऽपि संबाध्यते लोके तृष्णया पश्य कौतुकम् ॥५॥

नापिताग्रे चोक्त—कुदृष्टं कुपरिज्ञातं ।

इति तृष्णायां कुदृष्टकुपरीक्षितपरीक्षादौ नापितसम्बन्धः ॥६०८॥

[609] अथ लोभे मस्तकच मपुरुषसम्बन्धः ।

द् ग्रामाद् चत्वारोऽपि सुहृदः धनार्जनाय निर्गताः । क्रमाद् रत्नद्वीपोपान्ते गताः । यदा ते धनप्राप्तिकामा वनमध्ये गताः तदा एकः सिद्धपुमान् हस्ते एकैका दीपिका ददौ प्राह च—यस्य दीपिका यत्र पतति तत्र खनित्वा धन ग्राह्यं । ततस्तेषामग्रे चलतामेकस्य हस्ताद्दीपिका पतिता तत्र ताम्रं निर्गतम् । तेन ताम्रपोट्टलको बद्धः । अन्ये कथयन्ति वय ताम्रं न गृह्णामः । द्वितीयस्याग्रे ग . द्वितीयह त्र दीपिका पतिता तत्र रुप्यं जग्राह् । वतो तदग्रे ग – स्तृतीयस्य यत्र दीपिकाऽपतत्तत्र हेम निर्गतम् । चतुर्थो लोभाद् बहु परं दीपिका न पतति ।

तत्रैकः पुमान् मस्तकस्थचक्रो भ्रमन् दृष्टः । स च नं पृष्टो यदा तस्य मस्तकाच्चक्रं तस्य के चटति स्म । ः पुभान् वर्षं कान्मुत्कलोऽभूत् । स च मस्तकस्थचक्रः पूर्वपुरुष इव भ्रमितु लग्नः । अन्ये तं तथास्थं लोभाद् भ्रमन्तं पूर्वपुरुषाद् ज्ञात्वा स्वस्वकर्म्मार्जितं धनं लात्वा स्वगृहं जग्मुः ।

अतिलोभो न कर्त्तव्यो लोभं नैव परित्यजेत् ।
अतिलोभाभिभूतस्य चक्रं भ्रमति के ॥१॥

इति लोभे मस्तकच मपुरुषसम्बन्धः ॥६०९॥

[610] अथ अज्ञाने हितोपदेशा रणे खरसम्बन्धः ।

एकस्मिन् ग्रामे रजकस्य उद्धतो रासभो दिवा रजकगृहे कर्म कृत्वा रात्रौ स्वेच्छया चरति भक्षयति स्म । बन्धनभयात् प्रातः स्वयमायाति । एकदा खरस्य शृगालेन सह मैत्री जाता । द्वावपि रात्रौ स्वेच्छया वाट्यां प्रविश्य कर्कटिका भक्षयतः स्म । प्रातः स्वस्वस्थाने यातः स्म ।

एकदा रात्रौ खरेणो[क्तम्]—भो भगिनीसुत ! निर्मला रात्रिर्विद्यते । तेनाहं गीतं वयँ करोमि त्वं शृणु कतमेन रागेण च । शृगालः प्राह—अल गीतेन, वयं चौराः । चौरैः निभृतं स्थीयते । उक्त च—

कासं विसर्जयेच्चौराः निद्रालुश्चेत् स चोरिकाम् ।
जिह्वालौल्य तु रोगार्तो जीवितं योऽत्र वांछति ॥१॥

उच्चैः कठोरं गीत तव श्रुत्वा क्षेत्रपः सुप्त उत्थाय आवयोर्वधबन्धनं च करिष्यति । तद्भक्षय कर्कटिका शनैः । तत खरोऽवग्—त्व न वेत्सि गीतरसम् । शृगाल प्राह—माम ! त्वं गीतभेदान् न वेत्सि । तर्हि कथ गीत करोषि । खरोऽवग्—अहं गीतभेदान् वेद्मि । तथाहि—

सप्त यो , मूर्च्छनास्त्वेकविंशतिः ।
ताला स्त्वेकोनपञ्चाशत्, तिस्रो मात्रा लयास्त्रयः ॥२॥
नत्रयं यतीनां च स्यानि रसा नव ।
वर्णाः षट्त्रिंशद् भावा द्विचत्वारिंशत् स्मृताः ॥३॥
[रागाः षट्त्रिंशतिर्भावाः द्विचत्वारिंशत् ततः स्मृताः ॥३॥]
पंचाशीत्यधिकं द् गीताङ्गानां शतं स्मृतम् ।
स्वयमेव पुरा प्रोक्तं, भरतेन श्रुतेः प्रियम् [परम्] ॥४॥

इत्यादितो गीतर पमहं जानामि । तत. शृगालः प्राह—यदि त्वं गीतं गायसि तदाह वृत्तेर्बहिस्थस्त्वदुक्त गीतं शृणोमि । त्वं तु स्वेच्छया गाय । ततो रासभो रटितुं लग्न उच्चैः । तदा जागरितः क्षेत्रपः क्रोधात् धावित्वा खरं लकुटैराहत्योदूखले बंधयित्वा क्षेत्रपः । स खरः प्रहारपीडितोपि गतवेदन उत्थाय उदूखलयुतो वृत्तिं चूर्णयित्वा बहिर्निर्गतः । तदा मातुलमाग खरं दृष्ट्वा शृगालः प्राहोपहासं ।

साधु मातुल ! गीतेन मया प्रोक्तोऽपि न स्थितः ।
कंठेऽपूर्वो मणिर्बद्धः, संप्राप्तं गीतजं फलम् ॥

इति अज्ञाने हितोपदेशाकरणे खरसम्बन्धः ॥६१०॥

[611] अथ वृद्धहितवाक्ये वृद्धवानरसम्बन्धः ।

भीमपुरे चंद्रचूडभूपस्य पुत्रा वानरैः सह क्रीडां कुर्वन्ति । तेषां ळायाहारं ददन्ति । तेषां वानराणां वृद्धो वानरो विचक्षणो विद्यते । एकदा वृद्धवानरेण प्रोक्त—महानसमध्ये रसवतीं बलाद्भक्षयितुं मेषयूथादेकोऽजः प्रविश्य लौल्याद् र ीं भक्षयति यदा तदा सूपकार उल्मुकं लात्वा तं ताडयति । स च सम्मुखो भवति यदा तदा पृष्ठौ ताडयति मिथः कलहः सदा जायते हुडसूपकारयोः । राजवल्लभत्वात् कोऽपि तस्योपद्रव मरणान्तं न करोति । वृद्ध-रस्तं कलह दृष्ट्वा वानराणां पुत्राणां पुरः सूपकार-हुडकलिं प्राह । कदाचित् सूपकारेणोल्मुकेन ज्वलता हुड आहतो भविष्यति यदा तदास्य हुडस्योर्णा लगिष्यति । स च अश्वतृणकुटीरमध्ये यास्यति । अश्वतृणकुटीराणि ज्वलिष्यंति । अश्वा अजल्पति दग्धा भविष्यन्ति तदा च वैद्याः तेषामश्वानां चिकित्साकरणाय वानरतैलमादिशति । तदा राजा भवतो हत्वा वानरतैलं कारयिष्यन्ति । अतः सकाले एवान्यत्र गम्यते तदा वर । वानरैरुक्तम् त्व वृद्धो ग्रथिलोऽभूः । त्वं गच्छ, वयं कुत्रापि न यास्यामः । वृद्धो वानरोऽन्यत्र वने अश्रुपात मुञ्चन् गतः । ततो हुडोर्णा ज्वलताश्वशालाज्वलिता, अश्व दौ च जाते वानरतैलेनाश्वानां चिकित्सा कारिता राज्ञा । तदा केचिन् नष्ट्वा पितु. पार्श्वे ये गतास्ते जीविता अन्ये वानरा मारिताः एवं वृद्धोक्त ये न कुर्वन्ति ते वानरा इव मरणं गच्छन्ति ।

इति वृद्धहितवाक्ये वृद्धवानरसम्बन्धः ॥६११॥

[612] अथ मातुर्वचःपालने द्विजसम्बन्धः ।

एकः स्वादु न भुञ्जीत नैकः स्वार्थान् प्रचिंतयेत् ।
एको न हि व्रजेन्मार्गे नैकः सुप्तेषु जागृयात् ॥१॥
एकः कापुरुषो मार्गे द्वितीयः क्षेमकारकः ।
कर्कटेन द्वितीयेन सर्पात् पान्थः प्ररक्षितः ॥२॥

पद्मपुरे ब्रह्मदत्तो नाम द्विज. प्रतिवसति स्म । एकदा विप्रो गुरुकार्यत्वाच्चन्द्रपुर गन्तुं यावल्लग्न तावन्मात्रोक्तं पुत्र ! न त्वया एकाकिना गम्यम् । एकाकिनो गच्छत कदाचिद्विघ्नं जायते । पुत्रोऽवग् मात मा भैषी, निरुपद्रवाः सर्वे मार्गाः । मातुः पितुः गुरो' प्रसादात् अधुना द्वितीयः पुमान् कोऽपि सहायो न दृश्यते । माताऽवग्–अय [कर्कटः] सहेलकः सहायोऽस्तु ते । स च मातृगौरवात् त कर्कटं सहेलकं कर्पूरादिवस्तुग्रंथिमध्ये दृढ कृत्वा चचाल । एकस्मिंस्तरोस्तले मध्याह्ने विश्रामार्थं स तस्थौ । तत भक्षयित्वा सहेलक तत्र मुक्त्वा सुप्तः स । इतः कोटरात्सर्प्पो निर्गतः । तेन सम युद्ध कुर्वता सहेलकेन सर्प्पस्य पुच्छ मुखे गृहीत्वा स्ववपु पंजरे प्रविष्टः । सर्प्पस्ते शूलाभिर्विद्धो मृतः । स द्विजो जागरित. । सर्प मृत दृष्ट्वा दध्यौ अयाहं मातुः कथितं नाकार्षं तदाहमद्य मृतोऽभविष्यम् । तेन गुरूणां यः कथितं करोति स सुखी भवति । यतः—

मन्त्रे तीर्थे तथा देवे, दैवज्ञे गुरुभेषजे ।
यादृशी भ । यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी ॥३॥
सर्प्पाणां च ानां च सर्वेषां दुष्टचेतसां ।
अभिप्राया न रि यन्ति तेनेदं वर्त्तते जगत् ॥४॥

इति मातुर्वचःपालने द्विजसम्बन्धः ॥६१२॥

[613] अथ लोभे "क्षिणिक्षिणि पाहिं चिणि चिणि मली" सम्बन्धः ।

एकस्मात् पुरात् एकः क्षत्रियो वर्यवहुवक्रोऽश्वारूढो वर्त्मनि चचाल । मार्गे एको द्विजो मिलितः सन् आशीर्वादमेवं ददौ—

वदान्यः क्षत्रियोत्तंसः कर्णवि सन्निभः ।
चिरं जयास्तु ते दीर्घमायुर्लक्ष्मीर्बहुः पुनः ॥१॥
उपानद्भ्यां विना तीक्ष्णकण्टकैश्चरणौ मम ।
दुखितस्तेन मह्यं त्वं, वितरोपानहौ द्रुतम् ॥२॥

ततस्तेनोपानहौ दत्तौ । ततस्तेन मार्गिता पादशीर्षिका दत्ता । ततो धौतिकं, ततो जल-भाजनम् । ततो द्विजोऽग्रतो गच्छन् यद्यहमश्वममार्गयिष्यं तदा स तमपि मह्यमदास्यत एवं पुनर्विमृश्य खिणिखिणि दधानः पश्चाद् वलितः सन् [तस्य यजमानपार्श्वे घोटकं याचते स्म] ततः ताजनकेन द्विजपृष्ठिं ताडयन् प्राह—गृहाण घोटकान् बहून् । तव मौक्तिकघूघरिका सर्वा वा विद्यन्ते । एतैर्दत्तैर्न वांछा पूर्णा । ततो विप्रोऽवग्–खिणिखिणिपाहिं चिणिचिणिभली । क्षत्रियोऽवग्–त्वयैवं किमुच्यते ? । विप्रोऽवग्—अहं तव पाश्वा दीनि द्वेलया प्राप्याग्रतो गच्छन् दध्यौ—यदि घोटकममार्गयिष्यं तदा क्षत्रियस्तमपि अदास्यत् एवं क्षिणिक्षिणिरभूत् । सा अनया ताजनचणिचणिकया भग्ना । अतो मयोच्यते क्षिणिक्षिणिपाहिं चिणिचिणि भली वर्या । ततः क्षत्रियोऽवग्–बहुलोभो न क्रियते । यद्यपि द्विजा लोभिनो सन्ति तथा स्तोक एव क्रियते । यतः—

धनेषु जीवितव्येषु [स्त्रीषु] चाहारकर्मसु ।
अ प्राणिनः सर्वे याता यास्यंति यांति च ॥२॥

ततो विप्रः "खिणिखिणि पाहिं चिणि चिणि भली" इति चचाल ।

इति लोभे "क्षिणिक्षिणि पाहिं चिणिचिणि ी" ॥६१३॥

[614] अथ मुल्लाण ने देपालकविसम्बन्धः ।

एकदा देपालकविना योगिनीपुरस्थेन श्रुतं यः काश्मीर देशे गत्वा सरस्वतीं स्तौति तस्मै सा सर्वां विद्यां दत्ते। तदनु देपालः काश्मीरदेशं प्रत्यचालीत् । तदा सरस्वत्या देपालमागच्छतं ज्ञात्वा स्वसेवकानां पुरः प्रोक्तं—यः कल्ये मम पादौ नत्यर्थं नरः समायाति स देवगृहमध्ये न मो ो, दृढं ज्ञेयमिदम् । ततस्तथांगीकृते तैर्देपालः सरस्वत्या देवगृहद्वारे आगात् । प्राह च पूजारकाणामग्रेऽहं दूरदेशादभिग्रहबद्धोऽत्रागतोऽस्मि देवीनमस्करणार्थम् । देवीदर्शनं विना [न] भोक्ष्ये। तैरुक्तं—देव्यादेशो नास्ति ते मोचनाय । ततो देपालस्य विंशतिर्लंङ्घनानि जातानि, तथापि ते तस्य तत्र प्रवेशं न ददन्ति [ते] । भाग्ययोगेनैकविंशतितमे दिने छलात् प्रासादमध्ये प्रविश्य णि दत्त्वा सरस्वत्याः समीपं गत्वोक्त–भो देवि ! मह्यं वरं देहि, नो चेत् त्वा लोष्टेन चूर्णयिष्यामि । देव्या ध्यातं यद्यस्मै नाहं प्रत्यक्षीभवामि तदासौ मा चूर्णयिष्यति । ततो देव्या क्षीभूयोक्तं- ऽहं वरं याचस्व । देपालोऽवग्—मह्यं विद्यां देहि । देव्योक्त–यत् किमप्यतीतं वर्तमानं सांप्रतिक योजयिष्यसि तत् सर्वं ज्ञानवशात् तव मेले समेष्यति । ततो देपालः कृत-पारणको देवीं पुष्पैः प्रपूज्य स्तुत्वा च प्राप्तवरो योगिनीपुरं समागात् ।

एकदा मुख्यमसीते म्लेच्छानां गुरवः उपवि ः सन्ति । तदास्मिन् मार्गे देपालः गात् तदा चाकस्मात् भूतेळ प्रचण्डः समागात् तदैकेन कलंदरेन [ण] देपालः प्रोक्तः—अयं वंतोळः कस्माद् करोत्यत्र। देपालो वृद्धकलंदरः प्रत्युत्तरयतु पश्चादहं । ततो कलंदरः

प्राह्—अयोगोवरहो (?) [अयोगोलक] मृत्वा अस्मद्धर्मं विना भूतेलो जातः । अतो न क्वापि प्रवेश लभते ।

देपालेनोक्तं—त्वं सत्य न वेत्सि । असौ मुशलमानो खडशरीरः किरतारपार्श्वे गतः । किरतारोऽवग्–त्वमग्निप्रवेशं विना चाशुद्धोऽत्र कथ समागात् । यदि त्व तत्र गत्वा स्वशरीरं वह्निना शुद्धं कृत्वाऽऽगच्छसि तदात्र स्थातुं तव दास्ये । तत स्वशरीरस्य शुद्धयर्थं भ्रमन्नस्ति । सवत्र स्वगोहरिमध्ये ? [स्वं वह्निमध्ये] स्वांगस्य दाहं कर्तुमशक्तोऽस्ति ।

इति मुलाणजयने देपालकविसम्बन्धः ॥६१४॥

[615] अथ देपालकविप्रीणित दिल्लीपुरस्थयोगिनीप्रीणनसम्बन्धः ।

एकदा योगिनीपुरे महान् रोग उत्पन्नः । तदा पाटकादौ बहवो मनुष्या म्रियन्ते । ततो [लो]कैः पुराद्बहिर्वास कृत । तदा सारंगसाधुप्रभृतिव्यवहारिभिर्देपालस्याग्रे प्रोक्तं–भो देपाल ! तथा कुरु यथा ६४ योगिनीस्थानं महद्विवरयुतमस्ति तत्र योगिनीविवरमध्ये ६४ योगिनीप्रतिमाः साधिष्ठायिकाः सति । ततस्तत्र गत्वा तथा पूजोपहारस्तुत्यादिभिस्ता प्रीणय यथा यथा पुरे रोगोपशांतिर्भवति । ततो देपालः सुमुहूर्ते वयंपुष्पकस्तूरिकादिवलि लात्वा देव्या भवनद्वारे गत. । ततः सर्वे लोकास्तत्र मुक्त्वा स्वयं निर्भयो देपालो विवरेण प्रविश्य प्रभाते यावद्देवीनां भक्ति चक्रे । ताः प्रीता देपालवचसा पुरमध्ये रोगोपशान्ति चक्रुः । ततो देपालो व्यवहारिभिर्मानितो भृश धनेन ।

ततो देपालेन भरहेसरबाहुबलिप्रबन्ध १, जावड प्र० २, कालिकसूरि प्र० ३, श्रेणिक प्र० ४, रोहिणक प्र० ५, आर्द्रकुमारप्रबन्ध० ६ इत्यादि अनेकशो ग्रन्थाः कृताः ।

इति देपालकविप्रीणित दिल्लीपुरस्थयोगिनीप्रीणनसम्बन्धः ॥६१५॥

[616] अथ श्रीयशोभद्रसूरिणैकलग्नप्रतिष्ठितपंचपुरप्रतिष्ठाधिकारः ।

एकदा आघाटपुरे यशोभद्रसूरिरस्ति । करहेटकपुरे १ कविलाणकपुरे २ सयभरिपुरे ३ मडोरपुरे ४ भेसराणपुरे ५ पच जिनप्रासादाः निष्पन्नाः तदा गुरुणा यशोभद्रेण पंचसु पुरेषु जिनप्रतिष्ठायै एक लग्नं दत्तं । प्रोक्त च—अहं प्रतिष्ठां सर्वत्र करिष्यामि स्वशयेन । तदा लोकाश्चमत्कृता दध्यु–रे ते गुरवः कथ पञ्चसु प्रासादेषु प्रतिष्ठां करिष्यन्ति । तेभ्य पुरेभ्यः सुआकारणं समागतं । ततो गुरुणा स्वांगस्य देवशक्त्या द्वाभ्यां २ अंशाभ्यां चत्वारि रूपाणि कृतानि । पंचमं सहज रूपं च । ततो व्योम्नि गत्वा तत्र सर्वत्र प्रतिष्ठा कृता गुरुणा ।

कविलाणके बहुजनसमुदाये मिलिते नीरं त्रुटितं । श्राद्धेषु तृषया पीडितेषु गुरुणा शुष्ककूपे नखेन चदन क्षिप्त । तत्र[त्रा]मृतोपमं जलं बहु जात । ततः श्रीस मत्कृतः सुस्थितो जातः । तत्राद्यापि 'नखामृताख्य' कूपो विद्यते ।

इति श्रीयशोभद्रसूरि[णैकल]ग्नप्रतिष्ठितपंचपुरप्रतिष्ठाधिकारः ॥६१६॥

[616] श्रीकर्ण्ण[मूल]र मरणक ादि श्रीयशोभद्रसूरि न्धः ।

[तपस्वी न् धीरः कुलीनः शीलदार्ढ्ययुक् ।
षट्त्रिंशद्गुणाढ्योऽभू–च्छ्रीयशोभद्रसूरिराट् ॥१॥]

एकदा संघेन सह श्रीयशोभद्रसूरयः पत्तने प्राप्ताः । श्रीमूलराजा गुरुं सुप्र ज्ञात्वा वंदनार्थं गतः । धर्म्मदेशना श्रुता । राजा रंजितः प्राह मम प्रसत्त्यात्रपुरे स्थेयम् । गुरुणोक्तम्—साधवो नैकत्र तिष्ठन्ति । ततो राजा स्वगृहे स्वगृहपवित्रीकरणायाकारितवान् । राजा तु गुरून् भ । प्रवीण्य स्वगृहान्तरे स्थापितवान् द्वारं दत्तवान् । गुरुणा ध्यातं राजानुबलेन मां स्थापयिष्यति यत् तन्न युक्तम् । ततो वर्त्मनि श्रीसंघवहमानं कारयित्वा कपाटछिद्रेण लघुरूपं कृत्वा निर्गत्य च संघस्य गुरवो मिलिताः । भद्रमुखेनाशीर्वादं ददौ राज्ञो ज्ञापयामासुश्च । राज्ञा ध्यातम्—अपवरकमध्यात् कथं गुरवः सङ्घमध्ये प्राप्ताः । ततो गृहमध्ये गुरूनदृष्ट्वा गुरुपार्श्वे राजाभ्येत्य प्राह—भगवन् ! यूयं सुप्रभावाः । मयापराधः कृतः क्षम्यताम् । गुरुणा प्रोक्तं—साधवो बलेन न रक्ष्यन्ते । ततो राज्ञा स्वायुः पृष्टम् । गुरुणा षण्मासाः प्रोक्ताः । धर्म्मौषधं । ततो राजा न् प्रणम्य पश्चाद् धनेन बहुजनान् संतोष्य स्व पुत्रं राज्ये [अभिषि] गुरूक्तदिने धर्म्मकर्म्मपरः स्वर्गं जगाम राजा, गुरवोऽप्यतः शत्रु दौ यात्रां चक्रुः ।

इति श्रीकर्ण्ण[मूल]राजमरण नादि श्रीयशोभद्रसूरिसंबंधः ॥६१७॥

[618] अथ चन्द्रोदयोपशांतिसम्बन्धः ।

आघाटपुरे उल्लूरनृपमान्यो गणधरामात्यो राजव्यापारं चल । राजानुमत्या महान्तं प्रासादं कारयामास । श्रीयशोभद्रसूरिं चित्रकूटाचलतः आकार्य प्रासादे श्रीपार्श्वबिंबं प्रातिष्ठिपत् गुरुर्नृपामात्यश्रीसंघयुतश्चैत्यपाटीं करोति स्म ।

अत्रावसरे कोप्यवधूतो गुरुं दृष्ट्वा स्वहस्तेनाननं पस्पर्श । गुरुणा तन्मनोभिप्रायं ज्ञात्वा स्वपाणी घृष्ट्वा श्यामौ दर्शितौ सबाढं चमत्कृतः राजापि च । एष महान् कलावानिति मत्वा स नत्वा प्रयातः । राजामात्यादिभिर्गुरवः पृष्टाः—किमेतद् गुरुणा कृतम् ? गुरु प्राह–उज्जयिन्यां महाकालप्रासादे प्रदीपेन चन्द्रोदयो लग्नोऽनेन च देवप्रभावात् तं ज्ञात्वास्माकं ज्ञापितं सर्वज्ञपुत्रा एते इति । अतोऽस्माभिः करौ घृष्ट्वा श्यामौ दर्शितौ तस्य । ततः सङ्केते प्राप्ते सति नतः स गतः । ततो राजा विशेषतश्च तः राज्ञोक्तं प्रकटं गुरोः [गुरो ?] कथय । ततो गुरुणा महाकालदीपलग्नादिसम्बन्धः प्रोक्तोऽस्माभिः स विध्यापितः । राजा तत्रोज्जयिन्यां स्वनरान् प्रेष्य प्रत्ययाय । तद्दि दिने चन्द्रोपनज्वलनं तच्छांतिभवनं च ज्ञातवान् । ततो हृष्टः । श्रीयशोभद्रसूरिपार्श्वे जिनधर्म्ममङ्गीचक्रे ।

इति चन्द्रोदयोपशान्ति ः ॥६१८॥

[619] अथ विजयमंत्रमहिमा ।

एकदा श्रीजिनप्रभसूरि. सुरत्राणेन पृष्टोऽधुना कोऽपि मन्त्रः सुप्रभावो विद्यते न वा ?। सूरिणोक्त विजयमन्त्रोऽस्ति । तदनु पंचविंशतिभिः द्रम्मैः सचित्रे लिखितः [लेखितः]। स च सुरत्राणायार्पित' । प्रोक्त च यत्रायं तिष्ठति तत्र वैरी न प्रभवति । ततः सुरत्राणेन स्वछत्रे बद्धः। छत्रछायाया अध आखुर्मुक्तः। मार्जारी आनीता ग्रै । ततश्छत्रछायाया अधो नायाति । सूरिणोक्त-यस्याङ्गे बध्यते तस्य प्रहारो न लगति । तदनु सुरत्राणेन छागमानाय्य तस्यांगे विजयमन्त्रो बद्धः । बहव. खड्गप्रहारा दत्तास्तस्यैको न लग्नः ।

इति विजयमन्त्रमहिमा ॥६१९॥

[620] अथ बलमुनिना बौद्धगृहीतश्रीरैवततीर्थमोचनसम्बन्धः ।

श्रीशालिसूरिर्यदा सूरिपदे उपविष्टः तदा बलभद्रो इश्रि अपर्वते गुहायां स्थितोऽव्यक्त वेषधारी छागीवृन्दमौषधीश्चारयन् तत्पुरीषेण होम करोति । इतो महान् [एकः] संघः श्री शत्रुञ्जये देवान् वन्दित्वा रैवततीर्थे प्राप्तः। तदा बौद्धै खेंगारभूपबलेन तीर्थं गृहीतम्। श्वेताम्बराः देवं नन्तुं न शक्ताः । क्रमाच्चतुरशीतिः संघा. मिलिताः । यो बौद्धो भवति स वदते नेमिं नान्यः । १२वर्षाणि जातानि। ततः शासनदेव्योक्तं यदि यशोभद्रसूरिशिष्यो बलभद्रमुनिरत्रायाति तदा तीर्थं मोचयति । ततः श्रीसघेन बलभद्रमुनिमाकारयितुं भृत्या प्रेषिताः। मुनिस्तीर्थं बुद्ध-गृहीत श्रुत्वा प्रतिज्ञां चक्रे—"तदा विकृतिर्गाह्या यदा तीर्थं वालयामि खेंगारनृपं स्वपदे पातयामि" ततस्तत्रैत्य श्रीसघस्य मिलित्वा श्रीसघमेकत्र कृत्वा परितोऽग्निप्राकारमकरोत्। ततो मन्त्रबलादग्नेः पुरतो जलपूर्णामगाधां खातिकां चक्रे । ततः कणवीरक[वां] लात्वा माषाक्षतांश्च पार्श्वे कृत्वा मुख्यश्राद्धैः सह राज्ञ. पार्श्वे गत्वाशीर्वाद ददौ, प्राह च मुनिः—"इदं गिरनारतीर्थं जैनं बौद्धै-र्गृहीत त्वद्बलात्, पश्चाद्दापय नो चेत्तवाऽकुशल भविष्यति ।"

ततो राजा रुष्ट प्राह—रे मुड पाखंडिन् ! मदग्रे मा जल्प एव । मृतेः किं न बिभेषि ! बौद्धीभूय तीर्थं वदस्व नो चेद्धनिष्यसे त्वम् । ततो रुष्टो मुनिः प्राह—रे दुष्ट भूप ! मैव जल्प, पापजल्पनफलमिह परत्र च लभिष्यसे [लप्स्यसे] इत्युक्त्वा राज्या उपरि माषाक्षतान् प्राक्षिपत्। राज्या अङ्गे तीव्रस्फोटका जाता वेदना च । तज्ज्ञात्वा राज्ञा सेनानी मुनिं श्वेताम्बरसघ मार-यितुमादिष्टः । सेनानी सघस्य परतोऽग्निजलयोवप्र प्रेक्ष्य मुनेरपि परतः तथा दृष्ट्वा जगाद । ततो राज्ञा मन्त्री प्रोक्तः—किमत्र करिष्यते । मन्त्र्याह देव ! न कोऽपि सामान्यो जैनमुनिर्जैन-सघश्च त्वयापमानितः । तेनासौ न पराभूयते संघिरेव कृता वीक्ष्यते ।

ततो राज्ञादिष्टो मन्त्री मुनिपार्श्वे गत्वा जगौ-भो मुने ! यदि वह्न्यपः सारणात् मार्गं ददस्व तदा तवोपान्तेऽभ्येत्य विज्ञापयामि । वह्निजलयोरपसारिते मन्त्री मुनिपार्श्वे गत्वावग् त्वं क्षमावान् तेन तव राज्ञा सम विरोधो न युक्तः । विग्रहे कृते च तव विघ्न भविष्यति । मत्वैवन्मुनिर्ज । ततो रक्तकणवीरकंवामादाय गिरिमारोढु व्रजन् मन्त्रिण प्रति जगौ-मत्कृतं

प्रथमं विलोकय, पश्चात्संधिः कार्या । कंबां संहारेण भ्रामयित्वा वृक्षशीर्षाणि बहूनि मुनिः पातयामास । प्राह च यथा वृक्षशीर्षाणि पातितानि तथाहं वैरिशीर्षाणि यिष्यामि, पर दयां कुर्वाणोस्मि । जैनद्विष्टस्य योऽपराधः क्रियते स मुक्तये भवति । चकितो मंत्री प्राह—मूषकोपि ढकनिका पातयति [पातने शक्तः न तूद्धरणे] । यदि तव सामर्थ्य क्षा वृक्षशीर्षाणि वृक्षेषु योजय । ततो मुनिः सृ[मु]ष्टया कंबां भ्रामयित्वा वृक्षशीर्षाणि यथास्थाने अयोजयत् ।

एवं मुनेर्बलं राजा मंत्री च दृष्ट्वा चमत्कृतौ । ततो राजा जगाद—त्वं धन्योऽसि, राज्याः पीडामपसारय । मुनिः प्राह—यदि त्वं राज्ञीयुतः श्वेताम्बरसंघं नेमिं नन्तु गिरेरुपरि याथः बौद्धान् दूरीकुरुत तदा राज्ञीं सज्जां करोमि । ततो राज्ञा सर्वं मुन्युक्तमङ्गीकृतं । ततो राजा बौद्धान् दूरीचकार । ततो राजा खेंगारः श्रीबलभद्रमुनिः श्रीसंघयुतो महोत्सव कुर्वाणस्तीर्थस्योपरि चटति स्म । श्रीनेमिमभ्यर्च्य पुष्पकेसरकर्पूरादिभिः स्नात्रं कृत्वाऽऽरात्रिकमगळप्रदीपादि चक्रे श्रीश्रीसघः । ततो राजा खेंगारो जिनधर्म्मानुरागी जातः ।

बलभद्रयशोभद्रौ शासनस्य प्रभावकौ । जातौ तौ प्रत्यहं वंदे स्तौमि भक्तिगुणान्वितः ॥१॥

इति बलमुनिना बौद्धगृहीतश्रीरैवततीर्थमोचनसंबन्धः ॥६२०॥

[621] अथ जिनशासनप्रभावनाया देवसूरिसम्बन्धः ।

भृगुपुरे श्रीदेवसूरिपार्श्वे कान्हडयोगी ८४ सर्प्पकरण्डकयुत आगात् वादार्थं, प्राह च वाद त, नो चेदासनं त्यजत । गुरुभिरासनोपविष्टैरेव परितः सप्त रेखा कृत्वोचे- न् । तेनैकोऽहिर्मुक्तः एकां रेखामाक्रम्य ववले । द्वितीयोऽहिर्द्वितीयां रेखाम् । एवं बहवोऽपि मुक्ताः परं षष्ठी रेखा केनापि ना । । योगी भूमावुपविशत्येकशः । सूरिः प्राह—किं भूम्युपवेशनेन यः स्वं मुञ्चेत्युक्ते नि आकृष्य रक्तः संदूरिकोऽहिर्मुक्तः । स च दृष्टया कदलीपत्राणि ीकरोति । वाहनसर्पो रेखां न लङ्घते । सदूरिक सप्तमीं रेखां जिह्वया स । वाहनाहेरु- परिस्थस्य प्रेरणाया बलाद् गुरोरासनपादोपरि चटितु लग्न. । जने हाहाकारे जाते गुरवो ध्याने स्थिता तावदकस्मादागत्य शकुनिकया सर्पद्वयमुत्पाट्य दूरे क्षिप्तम् । जितो योगी । ततः टोडर- मुत्तार्य गुरोरंह्री विलग्याऽवग्—ममैतदेवाजीविका तेन स सर्प्पो दीयताम् । सूरिः प्राह— नर्मदानदीतीरेऽस्ति । रात्रौ ""म्बादेव्याऽगत्याऽऽचष्ट—माघचतुष्टय संमुखवटादि या [न्या]त्यानं श्रुतं तव मया, तत्कथ प्रभूणामुपद्रव द्रष्टुं शक्नोमि । अतो मया सर्पोऽपहृतः । गुरुभिः स्तुति- रूप काव्यं प्रोक्तम् । [देव्योक्त-] इद कोशे तिष्ठतु, न प्रकाश्यम् । प्रातरिद काव्यत्रय लिखितं यस्तुतिरूप यः पठति तस्य सर्पोपद्रवो न भवतीति प्रोच्य गता देवी । "ॐ घंटाकर्णोमहावीर" इत्यादि । ततः स योगी कान्हडो जिनधर्मं प्रपेदे, गुरुभक्तिपरोऽभूत् ।

इति जि प्रभावनायां देवसूरिसम्बन्धः ॥६२१॥

[622] विमलमन्त्रीकृतार्बुदप्रासादसम्बन्धः ।

अन्यदा अम्बिका-श्री या(?) निमन्त्रितार्बुदाद्री । जिनप्रासादं विना मम

स्थितिर्न शोभते। तेन श्रीमातया बकुलचम्पकयोरध ७२ द्रम्मलक्षयुता भूरर्पिता। ततोऽम्बिका-वचनात् जीर्णा ऋषभप्रतिमा भूमिमध्यगता कर्षिता। ततोऽम्बिकागिरा चन्द्रावतीशविमलदण्ड-नायकेन पुत्राप्ति-जिनप्रासादनिर्मापणयोः प्राप्तिर्नास्ति, एकतरं वरं वृणु। इत्युपवासत्रयाराद्धा-ऽम्बिकातो लब्धवरेण पुत्रात् [प्रासादो] वरमिति तत्त्वं विमृश्य कुङ्कुमगूहलीचिह्नेन प्रासादः कार्यते। परं दिवा कृतो रात्रौ पतति। एवं षड्मासाः। स्मृता देवी चागत्याह—एतस्या भुवो नेता वालीनाह (?) नाग उपवासत्रयेण पूजोपहारयुतेन त्वया चाराध्य। निरवद्यनैवेद्यं याचते तदा देयम्। मद्यादि तु न दास्यते, खड्गमाकृष्य भापनीयः। खड्गेन भापनात् वालीनाहो नष्टः। क्षेत्रपालीवचसा भूयः स्थितः। निर्विघ्नं प्रासादे निष्पन्ने १०८ रीरीमयबिम्बं ऋषभस्य नागेन्द्रादिभिः सूरिभिः प्रतिष्ठितम्।

ततो विमलः पत्तनेशभीमभूपेन छत्रचामरादि दत्त्वा नृपतिः कृतः। तत्पुत्रेण चाहिलेन तत्र रंगमण्डपः कारितः। अत्र चारणोक्तिः एव—

मुंडी मुरकीरइ करइ, छंडीम सग्गाह।
विमल डिखाडउं कढ्ढिउ, नाठउ वालीनाह ॥१॥

इति विमलमन्त्रीकृताऽर्बुदप्रासादसम्बन्धः ॥६२२॥

[623] अथ अर्बुदतीर्थे लूणिगवसतिनिष्पत्तिसम्बन्धः।

पूर्वं धवलक्के लूणिग–मालदेव–वस्तुपाल–तेजपाला भ्रातरो वसन्ति निर्द्रव्याः। लूणिगस्य मरणसमये पुण्यव्ययेन नमस्कारा लक्षा मानितास्तैः। प्रोक्तं चापरं याचस्व। लूणिगोऽवग्-विमल-वसतौ देवकुलिकाकरणे मनोरथो विद्यते मम। भ्रातृभिः प्रोक्तं यदि लक्ष्मीर्भविष्यति तदा तव मनोरथः पूरयिष्यते। तदनु व्यापारे जाते अर्बुदे तीर्थे भ्रातृमनोरथपूरणाय श्रीमाताचैकस्य बोडाकस्य चन्द्रावतीशधारावर्षराणकस्य च पार्श्वात् तत्र भूर्द्रम्मैराच्छाद्य गृहीता। ३६ द्रम्ममूढका विस्तारिता भूग्रहणाय। तैरुक्तं भरटकैरय द्रम्मैः पर्वतं समग्रं ग्रहीष्यति ततो न ददाति। ततस्तत्र १२८३ वर्षे प्रासादारम्भः, १२९२ वर्षे पूर्णः। द्रव्यकोटि १२, लक्ष ५३ लग्नम्। लूणिगवसतीति नाम दत्तम्।

लूणिगवसतिप्रतिष्ठायां समाहूताः ८४ राणकाः, २० मडलिकाः, ४ महाधराः, ८४ महाजनाः। जावालिपुरेश श्रीउदयननृपप्रधानमन्त्री यशोवीरो मन्त्रिवस्तुपालप्रासादगुणदोषान् प्रपच्छ। माह च शोभनदेवसूत्रधारः शोभनः। परं तन्मातुः कीर्तिस्तम्भे हस्तोत्तंभनमयुक्तम्।

तत्र स्तम्भस्थबिम्बानामाशातना। गर्भगृहप्रवेशे सिंहाभ्यां तोरणं देवस्य विशेषपूजानाशाय। पूर्वजमूर्तीनां जिनपृष्ठे[आ]रोपणात् सततीनां ऋद्धिनाशः। आकाशे मुनिमूर्तिरोपणं त्वस्त. परं दर्शनपूजाऽल्पत्वाय। रङ्गमण्डपे पुत्तलिकाविन्यासः अर्हच्चैत्ये नार्हः। सोपानानि ह्रस्वानि। भारपट्टाः लघवः। कृष्णा गूंहलिका। प्रासादपृष्ठे हस्तिशाला इत्यादि दोषाः। तदा सर्वैः सत्यमित्युक्तम्। भवितव्यताग्रे कोपि न छुटति।

इति अर्बुदतीर्थे लूणिगवसतिनिष्पत्तिसम्बन्धः ॥६२३॥

[624] भ दारसंतोषे यतिशुद्धाहारग्रहणे भूपयतीसम्बन्धः ।

श्रीपुरे भूपस्य पद्मावती पत्नी बभूव । कुमारदेवचन्द्रौ पुत्रौ अभूताम् । पितरि मृते कुमारदेवो राज्ये निविष्टः । कुमारदेवभूपः स्वदारसंतोषी मनोविना भोगसुख भवति स्म । चन्द्रो दीक्षां प्राप्य ाहारं नो बभूव ।

एकदा विहारं कुर्वन् श्रीपुरासन्नदेवकुले समेत्य तस्थौ । तदा राजा वंदित्वा गतः । राज्ञी चन्द्रयतिं देवं वदित्वा जिमिष्यामीत्यभिग्रहं ललौ । राज्ञी यदा वदितु यतिं गता तदान्तरा नदी जलपूर्णा जातोपरिजलदवृष्टित । राज्ञी नदीमुत्तरितु न शक्नोति तदा राज्ञोक्तं—गच्छ, नद्याः उपकंठं गत्वा त्वयेति वक्तव्यम्—

यदि मम भर्ता शील शुद्ध पालयन् विद्यते तदा [नदी नदि ?] त्व मार्गं देहि । ततः सा दध्यौ अहं तु पत्यु' शीलसम्बन्ध जानन्नस्मि तथापि भर्तुवचो मान्यं देवचन्द्र इव इति ध्यात्वा पत्युः वचो जल्पन् युक्त्या नदीपार्श्वे गता पत्युक्त [विनयेन] यदोक्तं–तदा नद्या मार्गो दत्तः । देवकुले गत्वा देवर वन्दित्वा स्वजेमनाय शुद्धाहारेण सार्थमानीतेन देवर प्रतिलाभितवती । ततः सा स्वय बुभुजे । पश्चाद् गन्तुकामा यदाभूत् तदा यतिना प्रोक्त—गच्छ नदीकूले, जल्पनीयं च—भो नदि ! मम देवरेण दीक्षाग्रहणादनु उपवासा एव कृता स्युः तदा मार्गं देहि । एतच्छ्रुत्वा तया ध्यात अधुनैव मम हस्तदत्ताहारेण बुभुजे, एवं कथ भवतीति दध्यौ सा । यद्यतिनोच्यते तन्मन्यते सत्यमेव ततो यतिवचसा नदी तयोत्तीर्णा । ततो भर्ता पृष्टः शीलादिसम्बन्धः प्राह—अह मनो विनैव र अह भोगं करोमि अतो मे शीलम् । यतः 'मन एव प्रमाणम्' । ततो यतिः पृष्टः प्राह—मया शुद्धाहारो धर्मार्थ गृहीत अतो नद्या मार्गो दत्तः । ततश्चोक्तम्—

विरयाविरयसहोदर उदगस्समरेण भरि रिअए ।
भणीआइ सावीआ दिन्नो मग्गत्ति भावबस ॥१॥

इति भाव—स्वदारसंतोषे यति ाहारग्रहणे भूपयतिसम्बन्धः ॥६२४॥

इति श्रीसोमसुन्दरसूरि पट्टालङ्करण श्रीमुनिसुन्दरसूरि श्रीजयचन्द्रसूरि पट्टालङ्करण श्री रत्नशेखरसूरि पट्टालङ्करण श्रीलक्ष्मीसागरसूरि श्रीसोमदेवसूरि श्रीरत्नमण्डनसूरिशिष्य पं० शुभशीलगणिविरचित [प्रबन्ध] पञ्चशतीसम्बन्धे चतुर्थोऽधिकारः स. ॥ छ ॥

वि ार्काद् विधुद्वीषुचन्द्र (१५२१) प्रमितवत्सरे ।
अमुं व्यधात् प्रबन्धं तु शुभशीलाऽभिधो बुधः ॥



श्रीसिद्धाचले प्रासादादिवर्णनम् ।

श्रीसिद्धाचलप्रासादं, सोपानादिस्फुरत्प्रभम् ।
कुम्भशृंगध्वजयुक्त—महंन्तं तं स्तवाम्यहम् ॥१॥

तावल्लीलाविलासं कलयति मलयो विन्ध्यशैलोऽपि तावत्,
धत्ते मत्तेभगर्वं तुहिनधरणिभृत् तावदेवाभिरामः ।
तावन्मेरुर्महत्त्वं वहति हरिगिरिर्गाहते तावदामां,
यावत्तीर्थाधिराजो न तु नयनपुटैः पीयते पर्वतेन्द्रः ॥२॥

एकदा श्रीतपागच्छाधिराजश्रीसोमतिलकसूरयो महता श्रीसंघेन समं श्रीशत्रुञ्जये जिनान् वन्दितु ययौ । तत्रैव—

संवत् १३९...... वर्षे देवास्तैर्वन्दिताः । मुखप्रासादे गर्भगृहे पुण्डरीकप्रतिमाद्वयम् । ५६ जिनानन्यांश्च वन्दन्ते स्म[1] ।

ततस्त्रिद्वारप्रासादे ४६२ जिनान्, ततो मोढेरकशंखेश्वर-सत्यपुर-समलिकाविहारेषु १००८ त्रिद्वारप्रासादवलानकं यावत् ।

ततः समरसिंहवसहिकायां ३३ जिनान् ।

ततः कोडाकोडिप्रासादे २९१ जिनान् ।

ततः श्रीवीरप्रासादे ६८ जिनान् ।

ततो पदावतारे देवकुलिकायां कुन्तीयुतपञ्चपाण्डवप्रतिमाः ।

ततो मठमध्ये १५ जिनान् ।

ततो घोषावसहिकायां ९५ प्रतिमाः ।

ततो राजादनीतले, सेरीसाऽवतारे, कलिकुण्डावतारे, गृहिकापत्रकस्तंभद्वारेषु च १४२५ (१४२१) जिनान् ।

ततो जिन द्वारे बहिस्तोरणशिखरे देवगृहिकायुगे २९ जिनान् ।

ततः प्रासादसंमुखासु देवगृहिकासु ४० प्रतिमाः ।

ततः पश्चिममण्डपसहितनन्दीश्वरावतारे १९४ जिनान् ।

ततो वस्तुपालमन्त्रिभगिनीसप्तककारित-सप्तदेवकुलिकासु ४२ जिनान् ।

---

१ "वन्दन्ते स्म" इति सर्वत्र योज्यम् ।

ततः स्तम्भनकावतारे इन्द्र पे च २४८ जिनान् ।

ततो वस्तुपालमंत्रिकारित-गिरनारा रे १६ जिनान् ५२ जिनांश्च ।

ततः खरतरवसहिकायां १०५४ जिनान् ।

ततः स्वर्गारोहणप्रासादे नमि-विनमिसेवकसहितश्रीयुगादिजिनप्रतिमायुतान् १६ जि न् ।

ततोऽजितनाथविहारे अणुपमसरः सरीरस्थ (?) [समीपस्थ] देवगृहिकायुगे, श्रेयांस-जिनभवने च ९१ जिनान् ।

ततश्चिल्लतलावल्लिकासमीपस्थदेवगृहे ६ प्रतिमाः ।

ततः श्रीनेमिनाथभवने २८ जिनान् । श्रीवीरभवने ३६ जिनान् ।

ततः कपर्दियक्षभवने ७१ जिनान् ।

तत्रासन्नदेवगृहिकायुगे १८ जिनान् ।

ततो मणूआविहारे २९ जिनान् ।

ततः छिपावसहिकायां १३ जिनान् ।

ततो मरुदेवीभवने मरुदेवीमातरं ११ जिनांश्च ।

ततः श्रीशान्तिनाथप्रासादे २४ जिनान् ।

ततः चिल्लतलावल्लीसमीपे क्षुद्रदेवकुलिकायां, अजितनाथभवने, जीरापल्लीपार्श्वभवने १४ जिनान् । न्यानपि लघुजिनान् बहून् ।

सर्वाङ्केन ५८४२ जिनान्, अन्यान्यपि बहूनि वन्दन्ते स्म श्रीसोमतिलकसूरयः ।

एवं जिनाना यानि बिम्बानि भवन्ति, बभूवुः, भविष्यन्ति वान्यहं सोमतिलकसूरिर्वन्दे भावेन ।

इति श्रीशत्रुञ्जयमहातीर्थे श्रीसोमतिलकसूरिवन्दितबिम्बसंख्या संक्षेपात् मया कृता ।

समाप्तोऽयं ग्रन्थः

ग्रन्थाग्रं ७९४१

ाद्यनुक्रमेण पद्यनिर्देशि





अकारादिक्रमेण विशेषनाम्नां सूचिः

